RAMDIN READERSHIP LECTURES : 1930-31

THE ORIGIN AND GROWTH OF THE HINDI LANGUAGE AND ITS LITERATURE

BY

PANDIT AYODHYA SINGH UPADHYAYA
Professor of Hindi, Hindu University, Benares.

PUBLISHED BY
THE PATNA UNIVERSITY

1934

ॐ

हिन्दी भाषा

और उसके

साहित्य का विकास।

अर्थात्

बाबू रामदीनसिंह रीडरशिपके सम्बन्धमें पटना यूनीवर्सिटीमें दियेगये

पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय (हरिऔध)

प्रोफेसर हिन्दू यूनीवर्सिटी बनारस

के

व्याख्यानों का संग्रह

मुद्रक

बाबू मानिक लाल.

दी युनाईटेड प्रेस. लिमिटेड. भागलपुर।

परिशिष्ट ।

इस ग्रंथ के पृष्ठ १३ में मैंने यह प्रतिपादन किया है, कि आर्य-जातिका मूल निवास-स्थान भारतवर्ष ही है, वह किसी दूसरे स्थान से न तो आई है, और न वह उसका उपनिवेश है। इसकी पुष्टि के कुछ और प्रमाण नीचे लिखे जाते हैं—

विद्वद्वर श्रीनारायण भवनराव पावगी मराठी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् हैं, उन्हों ने अंगरेज़ी में एक गवेषणापूर्ण ग्रंथ लिखा है, उसका नाम है 'दि आर्यावर्टिक होम एण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिंधु। इस ग्रंथका अनुवाद हिन्दी भाषा में हो गया है, उसका नाम है 'आर्य्यों का मूल स्थान, उसके कुछ अंश ए हैं—

'एम० लुई जैकोलिअट लिखते हैं, भारत संसार का मूल स्थान है, वह सब की माता है। 'भारत, मानव-जाति की माता, हमारी सारी परम्पराओं का मूल स्थान प्रतीत होता है, इस प्राचीन देशके सम्बन्ध में, जो गोरी-जाति का मूल-स्थान है, हमने सत्य बात का पता पाना प्रारंभ कर दिया है। पृष्ठ ३५

फ़रासीस विद्वान क्रूज़र स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—

"यदि पृथ्वी पर ऐसा कोई देश है, जो मानव-जाति का मूल-स्थान या कमसे कम आदिम सभ्यता का लीलाक्षेत्र होने के आदर का दावा न्यायतः कर सकता है, और जिसकी वे समुन्नतियां और उससे भी परेविद्याकी वे न्यामतें जो मनुष्य जाति का दूसरा जीवन हैं, प्राचीन जगत के सम्पूर्ण भागों में पहुंचाई गई हैं, तो वह देश निस्सन्देह भारत है" पृष्ठ ७३

एक दूसरे स्थान पर उक्त फ़रासीस विद्वान् जैकोलिअट यह लिखते हैं—

"भारत संसार का मूल-स्थान है, इस सार्वजनिक माता ने अपनी सन्तानको नितान्त पश्चिम ओर भी भेजकर हमारी उत्पत्ति सम्बंधी अमिट प्रमाणों में, हमलोगों को अपनी भाषा, अपने कानून, अपना चरित्र, अपना साहित्य और अपना धर्म प्रदान किया है" पृ० ७४

मिस्टर म्यूर कहते हैं—

"जहांतक मैं जानता हूं, किसी भी संस्कृत पुस्तक में, अत्यन्त प्राचीन पुस्तक में भी भारतीयों की विदेशी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख या संकेत नहीं है" पृ० १८२ *

मोशियोलुई जैकोलिअट एक दूसरे स्थान पर यह लिखते हैं—

'योरप की जातियां भारतीय उत्पत्ति की हैं, और भारत उनकी मातृ-भूमि है, इसका अखण्डनीय प्रमाण स्वयम् संस्कृत भाषा है। वह आदिम भाषा (संस्कृत) जिससे प्राचीन और अर्वाचीन मुहावरे निकले हैं। 'पुरातन देश (भारत) गोरी-जातियों का उत्पत्ति स्थान था, और जगत का मूल स्थान है'। पृष्ठ २७३

गंगा मासिक पत्रिका के पुरा तत्वांक में जो माघ सम्वत् १९८९ में निकली है, डाक्टर अविनाशचन्द्र दास एम० ए०, पी० एच० डी० का एक लेख आर्य्यों के निवास-स्थान के विषय में निकला है, उसमें एक स्थान पर वे यह लिखते हैं—

"आधुनिकनृतत्ववित् पाश्चात्य पण्डितों का मत है कि वर्त्तमान पंजाब और गांधार देश मानव-जाति का उत्पत्ति-स्थल है। प्रसिद्ध नृतत्ववित् अध्यापक सर आर्थर कीथ का मत है कि भारत के उत्तर पश्चिम सीमान्त प्रदेश में मानव-जाति की उत्पत्ति हुई है। दूसरे नृतत्ववित् अध्यापक

---

* That is so far as I know none of the Sanskrit books not even the most ancient contain any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indians. Muir's Sanskrit text book vol. 2 P. 323.

जे० बी० हाल्डेन ने लण्डन की 'रायल इन्सटिट्यूशन नामक सभा में २१-२-३१को यह व्याख्यान दिया था † पृथ्वीके भिन्न भिन्न चार केन्द्रों में मानव-जाति की उत्पत्ति हुई थी। उनमें पंजाब और अफगानिस्तान का मध्यवर्त्ती प्रदेश भी मानव-जनन का एक केन्द्र है। भिन्न भिन्न केन्द्रों में (जैसे चीन और मिश्र में) भिन्न भिन्न जातियों की उत्पत्ति हुई है। पंजाब और गांधार में जिस मानव-जाति की उत्पत्ति हुई थी उसके वंशधर गण आज कहां हैं? ऋग्वेद के अति प्राचीन मंत्रों की आलोचना करनेसे मेरे विचार में ऐसा आता है कि पंजाब और गांधार में ही आर्य्यों की उत्पत्ति हुई थी एवं यही प्रदेश इनकी आदि उत्पत्ति का स्थान (Cradle) है। अपने सृष्टि-काल में आर्य्य-जाति यहीं वसती थी पीछे भिन्न भिन्न प्रदेशों में फैली।" पृष्ठ ८४, ८५

† "The origin of civilisation occurred independently in different places one probably in Egypt and another some where between Afghanistan and the 'Punjab". He further said that it was generally belived that the cradle of the human race was one particular place namely, the garden of Eden and perhaps in Egypt, China or else where. It now seemed probable however that humanity began in four different places with each race distinct from the others.

विषय-सूची ।

हिन्दीभाषा
और
उसके साहित्य का विकास।
प्रथम खण्ड
प्रथम प्रकरण
भाषा की परिभाषा

भाषा का विषय जितना सरस और मनोरम है, उतना ही गंभीर और कौतूहल जनक। भाषा मनुष्यकृत है, अथवा ईश्वरदत्त, उसका आविर्भाव किसी काल विशेष में हुआ, अथवा वह अनादि है। वह क्रमशः विकसित होकर नाना रूपों में परिणत हुई, अथवा आदि कालमें ही अपने मुख्य रूप में वर्त्तमान है। इन प्रश्नों का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जाता है। कोई भाषा को ईश्वरदत्त कहता है, कोई उसे मनुष्यकृत बतलाता है। कोई उसे क्रमशः विकाश का परिणाम मानता है, और कोई उसके विषय में 'यथा पूर्वमकल्पयत' का राग अलापता है। मैं इसकी मीमांसा करूंगा। मनुस्मृतिकार लिखते हैं—

सर्वेषांतु सनामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थांश्च निर्ममे।१।२१।
तपो वाचं रतिं चैव कामं च क्रोधमेव च।
सृष्टिं ससर्ज चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमा प्रजाः।१।२५।

'ब्रह्मा ने भिन्न भिन्न कर्मों और व्यवस्थाओं के साथ साथ सारे नामों का निर्माण सृष्टि के आदि में वेदशब्दों के आधार से किया'। प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से परमात्मा ने, तप, वाणी, रति, काम और क्रोध को उत्पन्न किया।

पवित्र वेदों में भी इस प्रकार के वाक्य पाये जाते हैं—यथा

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः"

'मैने कल्याणकारीवाणीमनुष्यों को दी'

अध्यापक मेक्समूलर इस विषय में क्या कहते हैं, उसको भी सुनिये-"भिन्न भिन्न भाषा परिवारों में जो ४०० या ५०० धातु उनके मूलतत्व-रूप से शेष रह जाते हैं, वे न तो मनोराग व्यञ्जकध्वनियाँ हैं, और न केवल अनुकरणात्मक शब्द ही। हम उनको—वर्णात्मक शब्दों का सांचा कह सकते हैं। एक मानसविज्ञानी या तत्वविज्ञानी उनकी किसी प्रकार की व्याख्या करे-भाषाके विद्यार्थी के लिये तो ये धातु अन्तिम तत्व ही हैं। प्लेटो के साथ हम यह कह सकते हैं कि वे स्वभाव से ही विद्यमान हैं, यद्यपि प्लेटो के साथ हम इतना और जोड़देंगे कि, 'स्वभाव से' कहने से हमारा आशय है 'ईश्वर की शक्ति से'" १

प्रोफ़ेसर पाट कहते हैं—

"भाषा के वास्तविक स्वरूप में कभी किसी ने परिवर्तन नहीं किया, केवल बाह्य स्वरूप में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, पर किसी भी पिछली जाति ने एक धातु भी नया नहीं बनाया। हम एक प्रकार से वही शब्द बोल रहे हैं, जो सर्गारम्भ में मनुष्य के मुंह से निकले थे" २ जेक्सन-डेविस कहते हैं—भाषा भी जो एक आन्तरिक और सार्वजनिक साधन है, स्वाभाविक और आदिम है। "भाषा के मुख्य उद्देश्य में उन्नति होना कभी संभव नहीं। क्यों कि उद्देश सर्वदेशी और पूर्ण होते हैं, उनमें किसी प्रकार भी परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सदैव अखण्ड और एक रस रहते हैं"। २

इस सिद्धान्त के विरुद्ध जो कहा गया है, उसे भी सुनिये—

डार्विन और उसके सहयोगी, 'हक्सले' 'विजविड' और 'कोनिनफ़ार' यह कहते हैं "भाषा ईश्वर का दिया हुआ उपहार नहीं है, भाषा शनैः शनैः ध्वन्यात्मक शब्दों और पशुओं की बोली से उन्नति करके इस दशा को पहुंची है"

देखो मैक्समूलर—के 'लेकचर्स आन दि साइन्स आफ़लांगवेज का पृष्ट ४३९

देखो अक्षर, विज्ञान, का पृष्ट ३३-३४

'लाक' 'एडम्‌स्मिथ' और 'ड्यूगल्ड स्टुअर्ट' आदि की यह सम्मति है-

"मनुष्य बहुत काल तक गूंगा रहा, संकेत और भ्रूप्रक्षेप से काम चलाता रहा, जब काम न चला तो भाषा बना ली और परस्पर सम्वाद कर के शब्दों के अर्थ नियत कर लिये" १

तुलनात्मक भाषा शास्त्र के रचयिता अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १९९ और २०० में इस विषय में अपना यह विचार प्रकट करते हैं---

"पहिला सिद्धान्त यह है कि पदार्थों के और क्रियाओं के पहले नाम जड़-चेतनात्मक वाह्य जगत की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर रखे गये। पशुओं के नाम उनकी विशेष आवाज़ों के ऊपर रखे गये होंगे। कोकिल या काक शब्द स्पष्ट ही इन पक्षियों के बोलियों के अनुकरण से बनाये गये हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक या जड़ जगत् की भिन्न भिन्न ध्वनियों के अनुसार जैसे वायु का सरसर बहना, पत्तियों का मर्मर रव करना, पानीका झरझर गिरना या बहना, भारी ठोस पदार्थों का तड़कना या फटना इत्यादि के अनुकरण से भी अनेक नाम रखे गये। इस प्रकार अनुकरण के आधार पर मूल शब्दों का पर्याप्त कोश बन गया होगा। इन्हीं बीज रूप मूल शब्दों से धीरे २ भाषा का विकास हुआ है। इस सिद्धान्त को हम शब्दा-नुकरण-मूलकता-वाद नाम दे सकते हैं।

दूसरे सिद्धान्त इस प्रकार हैं। हर्ष शोक आश्चर्य आदि के भावोंके आवेगमें कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुंह से निकल पड़ती हैं, जैसे हाहा, हाय हाय! वाह वाह इत्यादि। इस प्रकार की स्वाभाविक ध्वनियाँ मनुष्यों में ही नहीं और प्राणियों में भी विशेष विशेष रूप की पाई जाती हैं। प्रारम्भ में ये ध्वनियाँ बहुत करके हमारे मनोरागों की ही व्यञ्जक रही होंगी, विचारों की नहीं। भाषा का मुख्य उद्देश्य हमारे विचारों को प्रकट करना होने से इन ध्वनियों ने भाषा के बनाने में जो भाग लिया, उसके लिये यह आवश्यक था, कि ये ध्वनियां मनोरागों के स्थान में विचारों की द्योतक समझी जाने लगी हों। इन्हीं ध्वनियों के दोहराने, कुछ देर तक बोलने, और स्वरके उतार चढ़ाव द्वारा इनके अर्थ या अभिधेय का क्षेत्र

१ देखो हारमोनिया भाग ० पृष्ठ ७३

विस्तीर्ण होता गया होगा। धीरे धीरे वर्णात्मक स्वरूप को धारण करके यही ध्वनियां मानवीभाषा के रूपको प्राप्त हो गई होंगी। इस प्रकार हमारी भाषा की नींव आदि में इन्हीं स्वाभाविक ध्वनियों पर रखी गई होगी। इस सिद्धान्त का नाम हम मनोराग-व्यञ्जक-शब्द-मूलकता-वाद रख सकते हैं"।

उभय पक्षने अपने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में ग्रन्थ के ग्रन्थ लिख डाले हैं, और बड़ा गहन विवेचन इस विषय पर किया है। परन्तु आजकल अधिकांश सम्मति यही स्वीकार करती है कि भाषा मनुष्यकृत और क्रमशः विकास का परिणाम है। श्रीयुत बाबू नलिनी मोहन सान्याल एम० ए० अपने भाषा विज्ञान की प्रवेशिका में यह लिखते हैं—

"मैक्समूलर ने कहा है कि हम अभी तक नहीं जानते कि भाषा क्या है—यह ईश्वर दत्त है, या मनुष्यनिर्मित या स्वभावज। परन्तु उन्होंने पीछे से इसको स्वभावज माना है, और बाद के दूसरे विद्वानों ने भी इसको स्वभावज प्रमाणित किया है"।

भाषा चाहे स्वभावज हो अथवा मनुष्यकृत, ईश्वर को उसका आदि कारण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि स्वभाव उसका विकास है और मनुष्य स्वयं उसकी कृति है। मनुष्य जिन साधनों के आधार से संसार के कार्यकलाप करने में समर्थ होता है, वे सब ईश्वरदत्त हैं, चाहे उनका सम्बंध बाह्य जगत् से हो अथवा अन्तर्जगत् से। जहां पंचभूत और समस्त दृश्यमान जगत में उसकी सत्ता का विकास दृष्टिगत होता है, वहां मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ज्ञान विवेक विचार आदि अन्तः प्रवृत्तियों में भी उसकी शक्ति कार्य करती पाई जाती है। ईश्वर न तो कोई पदार्थविशेष है, न व्यक्तिविशेष, वरन जिस सत्ता के आधार से समस्त संसार, किसी महान् यंत्र के समान परिचालित होता रहता है, उसीका नाम है ईश्वर। संसार स्वयं विकसित अवस्था में है, किसी बीज ही से इसका विकास हुआ है, इसी प्रकार मनुष्य भी किसी विकास का ही परिणाम है, किन्तु उसका विकास संसार विकास के अन्तर्गत है। कहने वाले कह सकते हैं कि मनुष्य लाखों वर्ष के विकास का फल है, अतएव वह ईश्वर कृत नहीं। किन्तु यह कथन ऐसा ही होगा, जैसा बहुवर्ष व्यापी विकास के परिणाम किसी पीपल के प्रकाण्ड वृक्ष को देख कर कोई

यह कहे कि इसका सम्बन्ध किसी अनन्तकाल व्यापी बीज से नहीं हो सकता। भाषा चिरकालिक विकास का फल हो, और उसके इस विकास का हेतु मानव समाज ही हो, किन्तु जिन योग्यताओं और शक्तियों के आधार से वह भाषा को विकसित करने में समर्थ हुआ, वे ईश्वर दत्त हैं, अतएव भाषा भी ईश्वर कृत है, वैसे ही जैसे संसार के अन्य बहुविकसित पदार्थ। भगवान् मनु के ऊपर के श्लोकों का यही मर्म्म है। प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से जिस प्रकार परमात्मा ने तप, रति, काम, और क्रोध को उत्पन्न किया, उसी प्रकार वाणी को भी, यही उनका कथन है। जैसे कोई तप और काम को आदि से मनुष्य कृत नहीं मानता, उसी प्रकार वाणी को भी मनुष्य कृत नहीं कह सकता। मनुष्य की वाणी ही भाषा की जड़ है, वाणी ही वह चीज़ है, जिससे भाषा पल्लवित हो कर प्रकाण्ड वृक्ष के रूप में परिणत हुई है, फिर वह ईश्वर कृत क्यों नहीं ?

'यथेमां वाचं कल्याणी मा वदानि जनेभ्यः, इस श्रुति में भी 'वाचं शब्द है, भाषा शब्द नहीं। प्रथम श्लोक के वेद शब्देभ्य, वाक्य में भी शब्द का ही प्रयोग है, उस शब्द का जो आकाश का गुण है, और आकाश के समान ही व्यापक और अनन्त है। वाणी मनुष्य समाज तक परिमित है, किन्तु शब्द का सम्बन्ध प्राणिमात्र से है, स्थावर और जड़ पदार्थों में भी उसकी सत्ता मिलती है। यही शब्द भाषा का जनक है, ऐसी अवस्था में यह कौन नहीं स्वीकार करेगा। कि भाषा ईश्वरीय कला की ही कला है। कोलरिक, कहता है—

भाषा मनुष्य का एक आत्मिक साधन है, इसकी पुष्टि महाशय ट्रीनिच ने इस प्रकार की है "ईश्वर ने मनुष्य को वाणी उसी प्रकार दी है, जिस प्रकार बुद्धि दी है, क्यों कि मनुष्य का विचार ही शब्द है, जो बाहर प्रकाशित होता है" १

• मैं ने मनुभगवान के विचारों को स्पष्ट करने और भाषा की स्टष्टि पर प्रकाश डालने के लिये अब तक जो कुछ लिखा है; उससे यह न समझना'

१ देखो स्टडी आफ़ वर्डस् आर. सी. ट्रीनिच. डी. डी.

चाहिये कि ईश्वर और मनुष्य की कृति में जो विभेद सीमा है, मैं उसको मानना नहीं चाहता। गजरे को हाथ में लेकर कौन यह न कहेगा कि यह माली का बनाया है, परंतु जिन फूलों से गजरा तैयार हुआ उनको उसने कहां पाया, जिस बुद्धि विचार एवं हस्तकौशल से गजरा बना, उन्हें उसने किससे प्राप्त किया। यदि यह प्रश्न होने पर ईश्वर की ओर दृष्टि जाती है और उसके प्राप्त साधनों और कार्यों में ईश्वरीय विभूति देख पड़ती है, तो गजरे को ईश्वर कृत मानने में आपत्ति नहीं हो सकती, मेरा कथन इतना ही है। अनेक आविष्कार मनुष्यों के किये हैं, बड़े २ नगर मनुष्यों के बनाये और बसाये हैं। उसने बड़ी बड़ी नहरें निकालीं; बड़े बड़े व्योमयान बनाये, रेल तार आदि का उद्भावन किया, ऊंची ऊंची मीनारें खड़ी कीं; सहस्रों प्रकाण्ड प्रकाशस्तम्भ निर्माण किये, इसको कौन अस्वीकार करेगा। मनुष्य विद्याओं का आचार्य्य है, अनेक कलाओं का उद्भावक है, वरन यह कहा जा सकता है कि ईश्वरीय सृष्टि के सामने अपनी प्रतिभा द्वारा उसने एक नयी सृष्टि ही खड़ी कर दी है, यह सत्य है, इसको सभी स्वीकार करेगा। परन्तु उसने ऐसी प्रतिभा कहां पाई, उपयुक्त साधन उसको कहां मिले, जब यह सवाल छिड़ेगा, तो ईश्वरीय सत्ता की ओर ही उंगली उठेगी, चाहे उसे प्रकृति कहें या और कुछ। इसी प्रकार यह सत्य है कि संसार की समस्त भाषायें क्रमशः विकास का फल हैं, देश काल और आवश्यकतायें ही उनके सृजन का आधार हैं, मनुष्य का सहयोग ही उनका प्रधान सम्बल है, किन्तु सब में अन्तर्निहित किसी महानशक्ति का हाथ है यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। ऐसा कह कर न तो मैंने ईश्वर दत्त मनुष्य की बुद्धि और प्रतिभा आदिका तिरस्कार किया, और न उनकी महिमा ही कम की। न वादग्रस्त विषय को अधिक जटिल बना दिया और न सुलझे हुये विषय को और उलझन में डाला। वरन वास्तविक बात बतला, जहां मानव की आन्तरिक प्रवृत्तियों को ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न कहा, और इस प्रकार उन्हें विशेष गौरव प्रदान किया। वहां दो परस्पर टकराते और उलझते हुये विषयों के बीच में ऐसी बातें रखीं जिनसे वर्द्धमान जटिलता बहुत कुछ कम हो सकती है, और उभयपक्ष अधिकतर सहमत हो सकते हैं। संसार में जितनी भाषायें

यथा समय विकसित होकर इस समय जीवित, और कर्मक्षेत्र में, उतर कर रातदिन कार्य्यरत हैं, उन्हों में से एक हमारी हिन्दी भाषा भी है। यह कैसे विकसित हुई, इसमें क्या क्या परिवर्तन हुए, इसकी वर्तमान अवस्था क्या है? और उन्नति पथ पर वह किस प्रकार दिन दिन अग्रसर हो रही है, मैं क्रमशः इन बातों का वर्णन करूंगा। आशा है यह वर्णन रोचक होगा।

दूसरा प्रकरण

हिन्दीभाषा का उद्गम

आदि भाषा कौन है? सृष्टि के आदि में एक ही भाषा थी, अथवा कई। इस समय संसार में जितनी भाषायें प्रचलित हैं, उनका मूल स्रोत एक है! अथवा भिन्न भिन्न? आजतक इसकी पूरी मीमांसा नहीं हुई। इस समय जितनी भाषायें संसार में प्रचलित हैं, उनमें इण्डो यूरोपियन एवं सेमिटिक भाषा की ही प्रधानता है, इन्हीं दोनों भाषाओं का विस्तार अधिक है, और इन्हीं के भेद उपभेद अधिक पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त हेमिटिक और चीनी भाषा आदि और भी छ भाषायें ऐसी हैं, जो भिन्न भिन्न वर्ग की हैं, और जिन में एक का दूसरे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। अब प्रश्न यह होता है कि इन भाषाओं का आधार एक है या वे स्वतंत्र हैं। क्या मनुष्यों का उत्पत्ति स्थान भिन्न भिन्न है? यदि भिन्न भिन्न है तो क्या भाषायें भी भिन्न भिन्न रीति से ही, भिन्न भिन्न अवसरों पर आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुई हैं? क्या मनुष्य मात्र एक मा बाप की ही सन्तान नहीं हैं, यदि हैं तो भाषा भी उनकी एकही होनी चाहिये। जैसे देश काल के अनुसार मनुष्यों में भेद हुआ, वैसे ही काल पा कर भाषा में भी भेद हो सकता है। परंतु आदि में ही मनुष्यों और भाषाओं की भिन्नता उपपत्ति-मूलक नहीं ज्ञात होती। संसार के समस्त धर्म-ग्रन्थ एक स्वर से यही कहते हैं कि आदि में एक पुरुष एवं एक स्त्री से ही संसार का आरम्भ हुआ। यह विचार इतना व्यापक है, कि अबतक इसका विरोध सम्मिलित कण्ठ से बलवती भाषा में वह मान्य प्रणाली द्वारा नहीं हुआ। इसी कारण अनेक विद्वानों की यह सम्मति है, कि सृष्टि के आदि में मनुष्य जाति की उत्पत्ति

एक ही स्थान पर एक ही माता पिता से हुई, और इसलिये आदि में भाषा भी एक ही थी। मेरा विषय भाषा सम्बन्धी है, अतएव मैं देखूंगा कि क्या कुछ विद्वान् ऐसे हैं कि जिनकी यह सम्मति है कि आदि में भाषा एक ही थी, और काल पा कर उसमें परिवर्तन हुये हैं।

अक्षर विज्ञान के रचयिता लिखते हैं--(पृष्ट ४०)

सेमिटिक भाषाओं को आर्यभाषा से पृथक बतलाते हुये भी मैक्स मूलर आगे चल कर कहते हैं कि आर्यभाषाओं के धातु रूप और अर्थ में सेमेटिक अगाल-आटक, बन्टो और ओशीनिया की भाषाओं से मिलते हैं, अन्त में कहते हैं कि 'निस्सन्देह हम मनुष्य की मूलभाषा एक ही थी,,

मिस्टर बाप कहते हैं "किसी समय संस्कृत सम्पूर्ण संसार की बोल-चाल की भाषा थी,* एण्ड्रो जकसन डेविस कहते हैं "भाषा भी जो एक आन्तरिक और सार्वजनिक साधन है, स्वाभाविक और आदिम है। भाषा के मुख्य उद्देश में कभी उन्नति का होना संभव नहीं, क्यों कि उद्देश सर्वदेशी और पूर्ण होते हैं, उनमें किसी प्रकार भी परिवर्तन नहीं हो सकता, वे सदैव अखण्ड और एक रस रहते हैं,, (हारमोनिया भाग ५ पृष्ट ७३—देखो अक्षर विज्ञान पृष्ट ४) आज कल यह सिद्धान्त आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता। और इसके पक्ष विपक्ष में बहुत बातें कही गई हैं। मैंने यहां इसकी चर्चा इसलिये की कि इस प्रकार के कुछ विद्वान हैं जो आदि में किसी एक ही भाषा का होना स्वीकार करते हैं, यदि यह मान लें तो आगे के लिये हमारा पथ बहुत प्रशस्त हो जाता है, फिर भी मैं इस वादग्रस्त विषय को छोड़ता हूं। मैं उस इण्डोयोरोपियन भाषा को ही लेता हूं, जो संसार की सब से बड़ी और व्यापक भाषा है। संस्कृत ही आदि में समस्त संसार की भाषा थी और वही कालान्तर में बदल कर नाना रूपों में परिणत हुई, यद्यपि इसका प्रतिपादन अनेक विद्वानों ने किया है, हाल में श्रीमान् शेषगिरि शास्त्रीने एक पृथक पुस्तक लिखकर भली प्रकार सिद्धकर दिया है, कि उन द्रविड़ भाषाओं की उत्पत्ति भी संस्कृत से हुई है, जो अन्य वर्ग की

---

* "At one time Sanskrit was the one language spoken all over the world" Edinburgh Rev. Vol. XXXIII, 3. 43.

भाषायें मानी जाती हैं, तो भी इण्डोयोरोपियन भाषा की चर्चा ही से हम प्रस्तुत विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डाल सकते हैं, इसलिये इसी भाषा को लेकर आगे बढ़ते हैं। कहा जाता है द्राविड़ भाषाओं को छोड़ कर भारत वर्ष की समस्त भाषायें इण्डोयोरोपियन भाषा वर्ग की हैं, और उन्हीं से प्रसूत हुई हैं,। हिन्दी भाषा भी इन्हीं भाषाओं में से एक है, अतएव विचारना यह है कि वह किस प्रकार इण्डोयोरोपियन भाषा से क्रमशः विकसित हो कर इस रूप को प्राप्त हुई। इण्डोयोरोपियन भाषा से प्रयोजन उस वर्ग की भाषा से है, जिसका विस्तार योरोप के अधिकांश देशों, फ़ारस और भारतवर्ष के अधिकतर प्रदेशों में है। पहले इसको इण्डोएरियन भाषा कहते थे, परन्तु अब यह नाम बदल दिया गया है। कारण यह बतलाया गया है कि अबतक यह प्रमाणित नहीं हुआ कि योरोप वाले अपने को आर्य मानते थे अथवा नहीं। भारत वाले और ईरान वाले अपने को आर्य कहते थे, इसलिये इनदेशों में जो इण्डोयोरोपियन भाषा की शाखायें प्रचलित हैं, उनको आर्य परिवार की भाषा कह सकते हैं। आगे हम इन भाषाओं की चर्चा आर्यपरिवार के नाम से ही करेंगे।

आर्यपरिवार भाषा का आदिम रूप वैदिक संस्कृत में पाया जाता है। यद्यपि अनेक योरोपियन विद्वानों ने इस वैदिक संस्कृत को ही योरोपियन भाषाओं का भी मूल आधार माना है, परन्तु आजकल उसके स्थान पर एक मूल भाषा, लिखना ही पसन्द किया जाता है जिसकी एक शाखा वैदिक संस्कृत भी मानी जाती है। इसका विशेष विवेचन आगे मिलेगा, यहां यह विचारणीय है कि वैदिक संस्कृत की भाषा साहित्यिक है, अथवा बोलचाल की। इस विषय में अपने 'पालिप्रकाश' (पृष्ट २७-२८) नामक ग्रन्थ में बंगाल प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान श्री विधुशेखर शास्त्रीने जो लिखा है उसका अनुवाद मैं आपलोगों के सामने रखता हूं— 'परिवर्तन शीलता बोलचाल की भाषा का स्वभाव है। वह चिरकाल तक एक भाव से नहीं रहती। देश काल और व्यक्ति भेद से भिन्न भिन्न रूप धारण करती है। वैदिक भाषा में यह बात पाई जाती है, उसमें एक वाक्य का भिन्न प्रयोग देखा जाता है। उस समय कोई कहता क्षुद्रक कोई कहता क्षुल्लक। एक

बोलता युवाम् तो दूसरा युवम् । किसी के मुख से पश्चात् सुना जाता और किसी के मुखसे पश्चा कोई युष्मासु और कोई युष्मे कहता । इसी प्रकारदेवाः देवासः-श्रवण-श्रोणा-अवद्योतयति, अव ज्योतयति इत्यादि भिन्न प्रकार का व्यवहार होता । कोई किसी २ स्थान पर प्रातिपदिक शब्दों के बाद विभक्तियों का प्रयोग बिलकुल नहीं करता (जैसे परमेव्योमन) कोई करता । कोई किसी शब्दका कोई अंश लोप करके उसका उच्चारण करता जैसे ("त्मना"),कोई ऐसा नहीं करता । कोई विशेषण के अनुसार विशेषण के लिङ्गादि को भी ठीक करके उसका व्यवहार करता, कोई इसकी परवा नहीं करता, जिसमें सुविधा होती वही करता (जैसे 'वहुलाप्रथूनि' भुवनानि विश्वा') कभी कोई संयुक्त वर्ण के पूर्वस्थित दीर्घस्वर को ह्रस्व करके उच्चारण करता (जैसे रोदसिप्राम्) और अनेक अवस्थाओं में ऐसा नहीं करता । एक मनुष्य किसी अक्षर को जैसे उच्चारण करता दूसरा उसको उसे दूसरे प्रकार से कहता । एक ड किसी स्थान पर ल और कहीं ळ् उच्चरित होता (देखो ऋ० प्रा० १-१० ११) पदान्त में वर्गके तृतीय वर्ण को और दूसरे उसके प्रथम वर्णको उच्चारण करते । जिनका वैदिक भाषा के साथ थोड़ा परिचय भी है, वे भलीभांति जानते हैं कि वैदिक भाषा में इस प्रकार प्रयोगों की कितनी भिन्नता है । यह बात भलीभांति प्रमाणित करती है कि वैदिक भाषा बोलचाल की भाषा थी" ।

संभव है कि यह विचार सर्व सम्मत न हो, परन्तु प्रश्न यह है कि जो मूल भाषा की पुकार मचाते हैं, उनसे यदि पूछा जावे, कि आप की 'मूल भाषा का' रूप कहीं कुछ पाया जाता है तो वैदिक मंत्रोंको छोड़ वे किसकी ओर उंगली उठावेंगे । ऋगवेद ही संसार की लाइब्रेरी में सबसे प्राचीन पुस्तक है, जो उसमें मूल भाषा प्रति फलित नहीं, तो फिर उसका दर्शन किसी दूसरी जगह नहीं हो सकता । दूसरी बात यह कि साहित्यिक होने से किसी भाषा का रूप बिलकुल नहीं बदल जाता उसकी विशेषतायें उसमें मौजूद रहती हैं अन्यथा वह उस भाषा की रचना हो ही नहीं सकती । क्या ग्राम साहित्य की रचनाओं में बोलचाल की भाषा का

वास्तविक रूप नहीं मिलता। साहित्यगत साधारण परिवर्तन भाषा के मुख्य स्वरूप का बाधक कदापि नहीं।

योरोपियन विद्वान् कहते हैं कि वैदिककाल से पहले एक विशाल जाति मध्य एशिया में रहती थी, जब यह विभक्त हुई तो इसमें से कुछ लोग योरोप की ओर गये, और कुछ ईरान एवं भारतवर्ष में पहुंचे, और अपने अपने उपनिवेश वहां स्थापित किये। किन्तु भारतीय आर्य साहित्य में इसका पता नहीं चलता। वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का भाण्डार बड़ा विस्तृत है, उसमें साधारण से साधारण बातों का वर्णन है, किन्तु इस बात की चर्चा कहीं नहीं है, कि आर्यजाति बाहर से भारतवर्ष में आई। इसलिये अनेक आर्य्य विद्वान् योरोपियन सिद्धान्त को नहीं मानते उनका विचार है कि आर्यजाति का आदि निवास स्थान भारतवर्ष ही है, और यहीं से वह दूसरे स्थानों में गई है। हिन्दू सुपीरियरटी, में इसका अच्छा वर्णन है। बम्बई के प्रसिद्ध विद्वान खुरशेदजी रुस्तमजी ने बम्बई की ज्ञान प्रसारक मण्डली के उद्योग से एकबार 'मनुष्यों का मूलजन्म स्थान कहां था, इस विषय पर एक व्याख्यान दिया था, उसका सारांश यह है:—

"जहां से सारी मनुष्य जाति संसार में फैली। उस मूल स्थान का पता हिन्दुओं, पारसियों, यहूदियों और क्रिश्चियनों के धर्म पुस्तकों से इस प्रकार लगता है कि वह स्थान कहीं मध्य एशिया में था। योरोप निवासियों की दन्त कथाओं में वर्णित है कि, हमारे पूर्व राजा कहीं उत्तर में रहते थे पारसियों की धर्म पुस्तकों में लिखा है कि जहां आदि सृष्टि हुई, वहां दस महीने सर्दी और दो महीने गर्मी रहती है। स्टुअर्ट, एलफिन्स्टन, बरनस आदि यात्रियों ने मध्य एशिया में भ्रमण करके बतलाया है कि हिन्दूकुश और उसके निकटवर्ती पहाड़ों पर १० महीने सर्दी और दो महीने गर्मी होती है। उनके ऊपर से चारों ओर नदियां बहती हैं। इस स्थान के ईशान कोण में 'वाल्र्तांग, तथा 'मुसावरा' पहाड़ है। ये पहाड़ 'अलबुर्ज' के नाम से पारसियों की धर्मपुस्तकों और अन्य इतिहासों में लिखे हैं। 'वाल्र्तांग, से 'अमू' अथवा 'आक्सस' और जेक जार्टस नाम की नदियां 'अरल' सरोवर में होकर बहती हैं। इसी पहाड़ में से निकल कर 'इन्डस' अथवा 'सिन्धु

नदी दक्षिण की ओर बहती है। इसी ओर के पहाड़ों में से प्रसूत होकर बड़ी बड़ी नदियां पूर्व ओर चीन में और उत्तर ओर साइबेरिया में प्रवेश करती हैं। ऐसे रम्य और शान्त स्थान में पैदा हुये लोग अपने को आर्य कहते थे, और 'स्वर्ग' कहकर उसका आदर करते थे" ?

यह प्रदेश भारतवर्ष के उत्तर में है, और हिन्दूकुश से तिब्बत तक फैला हुआ है, इसी के अन्तर्गत, सुमेरु तथा कैलाश जैसे पुराण प्रसिद्ध पर्वत और मानसरोवर समान प्रशंसित महासरोवर है। यहीं किन्नर और गन्धर्व रहते हैं, जो स्वर्ग निवासी बतलाये गये हैं। तिब्बत का दक्षिणी भाग हमारे आराध्य हिमालय का ही एक अंश है, इसीलिये उसका संस्कृत नाम भी स्वर्ग का पर्यायवाची है—अमर कोशकार लिखते हैं

स्वरव्ययं स्वर्ग नाक त्रिदिव त्रिदशालया। सुरलोको द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टप॥

ऋग्वेद में कंधार निवासी आर्य समुदाय के राजा दिवोदास और सिंधु नद के समीप बसने वाली आर्य जनता के राजा सुदास का वर्णन मिलता है, उसके उपरान्त गंगा यमुना कूल के मंत्रों की रचना का पता चलता है। इससे पाया जाता है कि कंधार अथवा गांधार से ही आर्यलोग पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़े, यदि गांधार के पश्चिमोत्तर प्रदेश से वे आगे बढ़ते तो उनका वर्णन ऋग्वेद में अवश्य होता। किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये इसी सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ता है कि आर्य जाति की उत्पत्ति हिमालय के पवित्र अंक में ही हुई है, और वहीं से वे भारत के और प्रदेशों में फैले हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थ प्रकाश में यही लिखा है

"आदि सृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई"

यदि यह तर्क किया जावे कि फिर आर्य जाति का प्रवेश योरोप में कैसे हुआ ? तो इसका उत्तर यह है कि जो जाति अपने जन्मस्थान से पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ी, क्या वह पश्चिम और उत्तर को नहीं बढ़

१ देखो अक्षर विज्ञान पृ० ३१, ३१

सकती, हिमालय पर्वत से निकली हुई नदियां यदि साइबीरिया तक पहुंच सकती हैं, तो उस प्रदेश में निवास करने वाली जनता योरोप में क्यों नहीं पहुंच सकती। भले ही हिमालय समीपवर्त्ती प्रान्त मध्य एशियामें न हों, किन्तु क्या वे मध्य एशिया के निकटवर्ती नहीं। किसी विद्वान् ने निश्चित रूपसे अबतक यह नहीं बतलाया कि मध्य एशिया के किसस्थान से आर्यलोग पूर्व और पश्चिम को बढ़े। अबतक स्थान के विषय में तर्क वितर्क है, कोई किसी स्थान की ओर संकेत करता है, कोई किसी स्थान की ओर। ऐसी अवस्था में यदि हिमालय प्रदेश को ही वह स्थान स्वीकार कर लिया जावे, तो क्या आपत्ति हो सकती है। महाभारत और पुराणों में ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनमें भारतीय जनों का योरोपीय और अमरीका आदि जाने की चर्चा है। राजा सगरने अपने सौ लड़कों को क्रुद्ध होकर जब भारतवर्ष में नहीं रहने दिया, तब वे देशान्तरों में गये, और वहां उपनिवेश स्थापित किये। इसी प्रकार की और कथायें हैं, उनकी चर्चा बाहुल्य मात्र होगा।

चाहे हम यह मानें कि मध्य एशिया से आर्यलोग भारतवर्ष में आये, चाहे यह कि वे हिमालय के उत्तर पश्चिम भाग में उत्पन्न हुये और वहीं से भारतवर्ष में फैले, दोनों बातें ऐसी हैं, जो बतलाती हैं, कि ज्यों ज्यों वे भारतवर्षमें फैलने लगे होंगे, त्यों त्यों उनकी बोल चालकी भाषा में स्थान और जल-वायु के विभेद से अन्तर पड़ने लगा होगा। ऋग्वेद में इस बात का भी वर्णन है कि इन आर्यों का संघर्ष भी उनलोगों से बराबर चलता रहा, जो उस समय भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में वास करते थे। इन लोगों की भी कोई भाषा अवश्य होगी, इसलिये दोनों की भाषाओं का परस्पर संमिश्रण भी अनिवार्य था। धीरे धीरे काल पाकर वैदिक भाषा के अनेक शब्द विकृत हो गये, क्यों कि उनका शुद्ध उच्चारण सर्व साधारण द्वारा नहीं हो सकता था। एक शब्द को लोग पहले भी विभिन्न प्रकार से बोलते थे, अब इसकी और वृद्धि हुई। आवश्यकतानुसार अनार्य भाषा के कुछ शब्द भी उसमें मिल गये, इसलिये काल पाकर बोलचाल की एक नई भाषा की सृष्टि हुई। इसी को पहली प्राकृत अथवा आर्य प्राकृत कहा

गया है। इसी प्राकृत का अन्यतम रूप पाली अथवा मागधी है। कहा जाता है कि इस भाषा में वैदिक संस्कृत के शब्दों को बेतरह विकृत होते देखकर आर्य विद्वानों को विशेष चिन्ता हुई, अतएव उन्होंने उसकी रक्षा और उसके संस्कार का प्रयत्न किया। और इस प्रकार लौकिक संस्कृत की नीव पड़ी। अनेक विद्वानों ने इस लौकिक संस्कृत से ही सब प्राकृतों की उत्पत्ति मानी है। यह बड़ा वादग्रस्त विषय है, अतएव मैं इसपर विशेष प्रकाश डालना चाहता हूं। पालीभाषा अथवा मागधी के विषय में भी तरह तरह की बातें कही गई हैं, वे भी विचारणीय हैं,। अतएव मैं अब इन्हीं विषयों की ओर प्रवृत्त होता हूं। जहां तक विचार किया गया, निम्न लिखित तीन सिद्धान्त इस विवाद के आधार हैं—

१—यह कि समस्त प्राकृतों की जननी संस्कृत भाषा है—

२—यह कि प्राकृत स्वयं स्वतन्त्र और मूल भाषा है, वह न तो वैदिक भाषा से उत्पन्न हुई, न संस्कृत से —

३—यह कि प्राचीन वैदिक भाषा ही वह उद्गम स्थान है, जहां से समस्त प्राकृतभाषाओं के स्रोत प्रवाहित हुये हैं, संस्कृत भी उसी का परिमार्जित रूप है।

सबसे पहले प्रथम सिद्धान्त को लीजिये उसके प्रतिपादक संस्कृत और प्राकृत भाषा के कुछ वावदूक विबुध और हमारी हिन्दी भाषा के धुरन्धर विद्वान हैं वे कहते हैं—

"प्रकृतिः संस्कृतम् तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्"

वैयाकरण हेमचन्द्र

"प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतम् स्मृतम्"

प्राकृतचन्द्रिकाकार

"प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतम्योनिः"

प्राकृत संजीवनीकार"

यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि प्रकृति संस्कृत होने पर भी कालान्तर में 'प्राकृत एक स्वतंत्र भाषा मानी गई" स्व० पण्डित गोबिन्द नारायण मिश्र

"संस्कृत प्रकृति से निकली भाषा ही को प्राकृत कहते हैं"

स्व० पं० बदरी नारायण चौधुरी

अब दूसरे सिद्धान्त वालों की बात सुनिये। इनमें अधिकांश बौद्ध और जैन विद्वान् हैं। अपने 'पयोग सिद्धि' ग्रन्थ में कात्यायन लिखते हैं—

"सा मागधी मूल भासा नरायायादि कप्पिका'
ब्राह्मणो च स्सुतालापा सम्बुद्धा चापिभासरे।"

आदि कल्पोत्पन्न मनुष्यगण, ब्राह्मणगण, सम्बुद्धगण, और जिन्होंने कोई वाक्यालाप श्रवण नहीं किया है, ऐसे लोग जिसके द्वारा बातचीत करते हैं, वही मागधी मूल भाषा है।

'पतिसम्भिध अत्थ्रय, नामक ग्रन्थ में लिखा है—

"मागधी भाषा देवलोक, नरलोक, प्रेतलोक, और पशुजाति में सर्वत्र प्रचलित है। किरात, अन्धक, योणक, दामिल, प्रभृति भाषायें परिवर्तनशील हैं, किन्तु मागधी आर्य और ब्राह्मणगण की भाषा है। इसलिये अपरिवर्तनीय और चिरकाल से समानरूपेण व्यवहृत है"।

महारूपसिद्धिकार लिखते हैं—' मागधिकाय स्वभाव निरुत्तिया" मागधी स्वाभाविक (अर्थात मूलभाषा) है।

अपने पाली भाषाके व्याकरण की अंग्रेज़ी भूमिका में श्रीयुत सतीश चन्द्र विद्याभूषण लिखते हैं

* "धीरे धीरे मागधी में जो इस देशमें बोली जाती थी, बहुत से परिवर्तन हुये, और आजकल की भाषायें, जैसे बंगाली, मरहठी, हिन्दी और उड़िया इत्यादि उसी से उत्पन्न हुई हैं"।

जैनेरा अर्ध मागधीभाषा केई आदि भाषा बलियामने करेन

जैन लोग अर्द्ध मागधी भाषा को ही आदि भाषा मानते हैं"

बंगला विश्वकोश पृ० ४३८

* In course of time this Magadhi the spoken language of the country underwent immense changes, and gave rise to the modern vernaculars such as Bengali, Marahati, Hindi, Uriya, etc.

अब तीसरे सिद्धान्त वालों का बिचार सुनिये। यह दल समधिक पुष्ट है, इसमें पाश्चात्य विद्वान् तो हैं ही, भारतीय विद्वानों की संख्या भी न्यून नहीं हैं। क्रमशः अनेक विद्वानों की सम्मति मैं आपलोगों के सामने उपस्थित करता हूं। जर्मन विद्वान् वेबर कहते हैं "वैदिक भाषा से ही एक ओर सुगठित और सुप्रणाली बद्ध होकर संस्कृत भाषा का जन्म, और दूसरी ओर मानव प्रकृति सिद्ध और अनियत वेगसे वेगवान प्राकृत भाषा का प्रचलन हुआ। प्राचीन वैदिक भाषा ही क्रमशः बिगड़ कर सर्व साधारण के मुखसे प्राकृत भाषा हुई"— बंगला विश्वकोश पृष्ट ४३३

श्रीमान् विधुशेखर शास्त्री अपने पालि प्रकाश नामक बंगला ग्रन्थमें क्या लिखते हैं उसे भी देखिये—

"आर्यगण की वेदभाषा और अनार्य्यगण की साधारण भाषा में एक प्रकार का संमिश्रण होने से बहुत से अनार्य शब्द वर्तमान कथ्य वेद भाषा के साथ मिश्रित हो गये, इस संमिश्रणजात भाषा का नाम ही प्राकृत है" पालि प्रकाश प्रवेशक पृष्ट ३६

हिन्दीभाषा के प्रसिद्ध विद्वान श्रीमान पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी की यह अनुमति है -

"हमारे आदिम आर्य्यों की भाषा पुरानी संस्कृत थी, उसके कुछ नमूने ऋग्वेद में वर्त्तमान हैं, उसका विकास होते होते कई प्रकार की प्राकृतें पैदा हो गई, हमारी विशुद्ध संस्कृत किसी पुरानी प्राकृतसे ही परिमार्जित हुई है"

अब मैं देखूंगा इन तीनों सिद्धान्तों में से कौनसा सिद्धान्त विशेष उपपत्ति मूलक है। शब्द शास्त्र की गुत्थियों को सुलझाना सुलभ नहीं, लोग जितना ही इसको सुलझाते हैं, उलझन उतनी ही बढ़ती है। बहुत कुछ छान-बीन हुई, किन्तु भाषा-विज्ञान का अगाध रत्नाकर आज भी विना छाने हुये पड़ा है। उसे सौ सौ तरह से छाना गया, किन्तु रत्न का हाथ आना सबके भाग्य में कहां! मैं इस उद्योग में नहीं हूं, न मुझमें इतनी योग्यता है, न मैं इस घनीभूत अन्धकार में प्रवेश करने के लिये सुन्दर आलोक प्रस्तुत कर सकता हूं, केवल मैं विचारों का दिग्दर्शन मात्र करूंगा। प्रथम सिद्धांत के

विषय में मैं कुछ विशेष नहीं लिखना चाहता, वेदभाषा को प्राचीन संस्कृत कहा जाता है, कोई कोई वेदभाषा को वैदिक और पाणिनि काल की और उसके बादके ग्रन्थों की भाषाको लौकिक संस्कृत कहते हैं। प्रथम सिद्धान्त वालोंने संस्कृत से ही प्राकृत की उत्पत्ति बतलाई है यदि संस्कृत से वैदिक संस्कृत अभिप्रेत है, तो प्रथम सिद्धान्त तीसरे सिद्धान्त के अन्तर्गत हो जाता है, और विरोध का निराकरण होता है। परन्तु वास्तव बात यह है कि प्रथम सिद्धान्त वालों का अभिप्राय वैदिक संस्कृत से नहीं वरन लौकिक संस्कृत से है क्यों कि षड्भाषा चन्द्रिकाकार यह लिखते हैं

भाषा द्विधा संस्कृता च प्राकृती चेति भेदतः।
कौमार पाणिनीयादि संस्कृता संस्कृता मता।
प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृता मता।

अतएव दोनों सिद्धान्तों का परस्पर विरोधी होना स्पष्ट है। आइये प्रथम सिद्धान्त की सारवत्ता का विचार करें। शिक्षा नामक वेदांग के पाँचवें अध्याय का यह अर्द्धश्लोक कि "प्राकृते संस्कृते वापि स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवा" इस विषय को बहुत कुछ स्पष्ट करता है। इसका अर्थ है स्वयं आदि पुरुष प्राकृत अथवा संस्कृत बोलते थे। इस श्लोक में प्राकृत को अग्र स्थान दिया गया है, जो पश्चाद्वर्ती संस्कृत को उसका पश्चाद्वर्ती बनाता है। इसलिये लौकिक संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। दूसरी बात यह कि प्राकृत भाषा में अनेक ऐसे शब्द मिलते हैं कि जिनका लौकिक संस्कृतमें पता तक नहीं चलता। परन्तु वे शब्द वैदिक संस्कृत अथवा वैदिक भाषा में पाये जाते हैं। इससे यह बात स्वीकार करनी पड़ती है, कि प्राकृत की उत्पत्ति यदि हो सकती है, तो वैदिक भाषा से हो सकती है, लौकिक संस्कृत से नहीं। शब्द व्यवहार की दृष्टि से प्राकृत भाषा, जितनी वेद भाषा की निकटवर्ती है, संस्कृत की नहीं। बोलचाल की भाषा होनेके कारण वैदिक भाषा में वे शब्द मिलते हैं, जो प्राकृत में उसी रूप में आये, परन्तु संस्कार हो जानेके कारण लौकिक संस्कृत में उनका अभाव हो गया। यदि संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति हुई होती, तो इस प्रकार के शब्द उसी में

अवश्य मिलते, जब नहीं मिलते तब संस्कृत से उसकी उत्पत्ति मानना युक्ति संगत नहीं। इस प्रकार के कुछ शब्दों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

प्राकृत में पद का आदि वर्ण गत 'र' और "य" प्रायः लोप हो जाता है। जैसे संस्कृत ग्राम प्राकृत में गाम होगा, और व्यवस्थित होगा ववत्थित। वैदिक भाषा में भी इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है, जैसे—अप्रगल्भ के स्थान पर अपगल्भ (तै० स० ४, ५, ६, १) त्रि+ऋच् से त्र्यच् पद न होकर त्रिच और तृच होता है (शत० ब्रा० १, ३, ३, ३३) कात्यायन श्रौत सूत्र में भी इस प्रकार का प्रयोग देखा जाता है। यास्क कहते हैं—"अथापि द्विवर्ण लोपस्तृचः" (नि० २, १, २) अर्थात् यहाँ त्रिशब्द के रकार और इकार दोनों लोप हो गये।

प्राकृत में संयुक्त वर्ण का पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो जाता है। जैसे—मात्रा, मत्ता इत्यादि। वैदिक भाषा में भी इस प्रकार का प्रयोग देखा जाता है। जैसे रोदसीप्रा रोदसिप्रा (ऋ० स० १०, ८८, १०) अमात्र-अमत्र (ऋ० स० ३। ३६। ४)—

प्राकृत में अनेक स्थानों पर संयुक्त वर्ण के स्थान पर एक व्यञ्जन का लोप करके पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है जैसे कर्तव्य-कातव्य, निश्वास-नीसास, दुहरि-दूहार। वैदिक भाषा में भी ऐसा होता है, जैसे—दुर्दभ-दूडभ, (ऋ० स० ४, ९, ८) दुर्नाश-दूणाश (श्रु० प्रा० ३, ४३)

प्राकृत में बहुत स्थान पर ऋकार के स्थान पर उकार होता है, जैसे ऋतु--उतु अथवा उदु इत्यादि, वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार प्रयोग अलभ्य नहीं है—यथा बृन्द-बुन्द (द्रष्टव्यनि० ६-६-४-६)

प्राकृत में बहुत स्थान पर दकार डकार हो जाता है। जैसे दहति-डहति, दण्ड-डण्ड। वैदिक साहित्य में भी ऐसा होता है—जैसे दुर्दभ-दूडभ (वा० स० ३, ३६) पुरोदाश-पुरोडाश (श्रु० प्रा० ३, ४४ शत०) प्रा० १, ५, १, ५)

प्राकृत में अव के स्थान पर उकार और अय के स्थान पर एकार हो जाता है। जैसे अवहसति उहसित, नयति-नेति। वैदिक साहित्य में भी

इस प्रकार का बहुत अधिक प्रयोग मिलता है। यथा—श्रवण-श्रोण, (तै० ब्रा० १, ५, १, ४—५, २, ९) अन्तरयति-अन्तरेति (शत० ब्रा० १, २, २, १८,)

प्राकृत में 'य' के स्थान पर 'ज' होता है, और प्राकृत नियमानुसार स्थान-विशेष में यह जकार द्वित्व को प्राप्त होता है। यथा—द्युति-जुति, विद्या-विज्जा। वैदिक भाषा में इस प्रकार का प्रयोग बहुत अधिक पाया जाता है, अन्तर केवल इतना है, कि यहां 'य' कार का लोप नहीं होता। जैसे—द्योतिस, ज्योतिस, द्योतते-ज्योतते, द्योतय-ज्योतय (व्यथ० स० ४, ३७, १०) अवद्योतयति अवज्योतयति (शत० ब्रा० १, २, ३, ३, ३६) अव द्योत्य-अवज्योत्य (का० श्रो० ४, १४, ५)। †

दूसरा सिद्धान्त क्या है, मैं उसका परिचय दे चुका हूं। वह मागधी को आदि कल्पोत्पन्न मूलभाषा, आदिभाषा और स्वाभाविक भाषा मानता है। यदि इस भाषा का अर्थ वैदिक भाषा के अतिरिक्त सर्व साधारण में प्रचलित भाषा है, तो वह सिद्धान्त बहुत कुछ माननीय है। क्योंकि महर्षि पाणिनि के प्रसिद्ध सूत्रों में वेद अथवा उसमें प्रयुक्त भाषा, छन्द, मंत्र, निगम आदि नामों से अभिहित है, यथा—विभाषाछन्दसि (१, २, ३६ अयस्मयादीनिछन्दसि (१, ४, २० नित्यं मन्त्रे (६, १, १०) जनितामन्त्रे (९, ४, ५३) वावपूर्वस्यनिगमे (६, ४, ९) ससूवेति-निगमे (७, ४, ७४) ! * परन्तु भाषाओं के लिये लोक, लौकिक, अथवा भाषा शब्द का ही उपयोग उन्होंने किया है यथा—विभाषा भाषायाम (९, १, ८१) स्थेच भाषायाम् (६, ३, २०) प्रथमायाश्चद्विवचने भाषा-याम् (७, २, ८८) पूर्व तु भाषायाम् (८, २, ९८) परन्तु वास्तव बात यह नहीं है, वरन वास्तव बात यह है कि मागधी को मूलभाषा अथवा आदि भाषा कह कर वेद भाषा पर प्रधानता दी गई है, क्योंकि वह

---

† देखो—पालि प्रकाश पृष्ट—४०, ४१, ४२, ४३ प्रवेशिका।

* संस्कृतं प्राकृतं चैवापभ्रंशोथ पिशाचकी। मागधी शौरसेनीच षड्भाषाश्च प्रकीर्तिता। प्राकृत लक्षणकार टी०।

अपरिवर्तनीय मानी गई है। और कहा गया है कि नरलोक के अतिरिक्त उसकी व्यापकता देव लोक तक है, प्रेतलोक और पशु जाति में भी वह सर्वत्र प्रचलित है। धार्मिक संस्कार सभी धर्मवालों के कुछ न कुछ इसी प्रकार के होते हैं, ऐसे स्थलों पर वितण्डावाद व्यर्थ है, केवल देखना यह है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से यह विचार कहां तक युक्ति संगत है, और पुरातत्ववेत्ता क्या कहते हैं। वैदिक भाषा की प्राचीनता, व्यापकता और उसके मूल भाषा अथवा आदि भाषा होने के सम्बन्ध में कुछ विद्वानोंकी सम्मति मैं नीचे उद्धृत करता हूं, उनसे इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा। निम्नलिखित अवतरणों में संस्कृत भाषा से वैदिक संस्कृत अभिप्रेत है, न कि लौकिक संस्कृत।

"सर्व ज्ञात भाषाओं में से संस्कृत अतीव नियमित है, और विशेषतया इस कारण अद्भुत है कि उसमें योरप की अद्यकालीन भिन्न भिन्न भाषाओं और प्राचीन भाषाओं के धातु हैं" मिस्टर कूवियर *

"यह देख कर कि भाषाओंकी एक बड़ी संख्या का प्रारम्भ संस्कृत से है, या यह कि संस्कृत से उसकी समधिक समानता है, हमको बड़ा आश्चर्य होता है, और यह संस्कृत के बहुत प्राचीन होने का पूरा प्रमाण है। रेडियर नामक एक जर्मन लेखक का यह कथन है कि संस्कृत सौ से ऊपर भाषाओं और बोलियों की जननी है। इस संख्या में उसने बारह भारतवर्षीय, सात मिडियन फारसी, दो आरनाटिक अलबानियन, सात ग्रीक, अट्ठारह लेटिन, चौदह इस क्रेवानियन और छः गेलिक केल्टिक को रखा है।"

लेखकोंकी एक बड़ी संख्या ने संस्कृत को ग्रीक और लेटिन एवं जर्मन भाषा की अनेक शाखाओंकी जननी माना है। या इन में से

* "It is the most regular language known and is especially remarkable, as containing the roots of various languages of Europe, and the Greck, Latin, German, of Scalvonic—Baron Cwiver—Lectures on the Natural Sciences.

कुछ को संस्कृत से उत्पन्न हुई, किसी दूसरी भाषा द्वारा निकला पाया है, जो कि अब नाश हो चुकी है। सरविलियम जोन्स और दूसरे लोगों ने संस्कृत का लगाव पारसी और ज़िन्द भाषासे पाया है।

हालहेडने संस्कृत और अरबी शब्दों में समानता पाई है, और यह समानता केवल मुख्य मुख्य बातों और विषयों में ही नहीं वरन् भाषा की तह में भी उन्हें मिली है। इसके अतिरिक्त इण्डोचाइनीज़ और उस भाग की दूसरी भाषाओंका भी उसके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है।"

मिस्टर एडलिंग

"पुरातन ब्राह्मणों ने जो ग्रन्थ हमें दिये हैं, उनसे बढ़ कर निर्विवाद प्राचीनता के ग्रन्थ पृथ्वी पर कहीं नहीं मिलते" मिष्टर हालहेड *

"ज़िन्द के दश शब्दों में ६ या ७ शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं" मिस्टर हैमर

"ज़िन्द और वैदिक संस्कृत का इतना अन्तर नहीं जितना वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का है" मैकडानैल

ईश्वरीयज्ञान पृ-६३, ६४, ६६, ६७

---

* The great number of languages which are said to owe their origin, or bear a close affinity to the Sanskrit, is truly astonishing, and is another proof of its high antiquity. A German writer (Rudiger) has asserted it to be the parent of upwards of a hundred languages and dialects, among which he enumerates twelve Indian, seven Median-Persic, two Arnantic-Albanian, seven Greek, eighteen Latin, fourteen Sclavonian, and six Celtic-Gallic.

A host of writers have made it the immediate parent of the Greek, and Latin, and German families of languages, or regarded some of these as descended from it through a language now extinct. With the Persian and Zend it has been almost identified by Sir William Jones and others. Hälhed notices the similitude of Sanskrit and Arabic words, and this not merely in technical and metapherical terms, but in the main ground work of language. In a contrary direction the Indo-Chinese, and other dialects in that quarter, all seems to be closely allied to it."—Adeling Sans. Litareture. H. 30—40.

"The world does not now contain annals of more indisputable antiquity than those delivered down by the ancient Brahmans.—Halhed, Code of Hindu Laws.

संसार की आर्यजातीय भाषाओं के साथ वैदिक भाषा का सम्बन्ध प्रकट करने के लिये, मैं यहां कुछ शब्दों को भी लिखताहूं।

संस्कृत	मीडी	यूनानी	लैटिन	अंगरेज़ी	फ़ारसी
पितृ	पतर	पाटेर	पेटर	फ़ादर	पिदर
मातृ	मतर	माटेर	मेटर	मदर	मादर
भ्रातृ	ब्रतर	फाटेर	फेटर	ब्रदर	बिरादर,
नाम	नाम	ओनोमा	नामेन	नेम	नाम
अस्मि	अह्मि	ऐमी	एम	ऐम	अस

अवतरणों को पढ़ने और ऊपर के शब्दों का साम्य देखकर यह बात माननी पड़ेगी, कि वैदिक भाषा अथवा आर्य जाति की वह भाषा जिसका वास्तव और व्यापक रूप हमको वेदों में उपलब्ध होता है, आदि भाषा अथवा मूल भाषा है। आज कल के परिवर्तन और नूतन विचारों के अनुसार यदि संसार भर अथवा योरोपियन भाषाओं की जननी उसे न मानें तो भी आर्य परिवार की जितनी भाषायें हैं, उनकी आधार भूता और जन्मदात्री तो उसे हमें मानना ही पड़ेगा। और ऐसी अवस्था में मागधी भाषा को मूल भाषा अथवा आदि भाषा कहना कहां तक युक्ति संगत होगा आप लोग स्वयं इसको सोच सकते हैं।

पालि प्रकाश कार एक स्थान पर लिखते हैं "पालि भाषा का दूसरा नाम मागधी है, और यह उसका भौगोलिक नाम है, (पृष्ठ १३) दूसरे स्थान पर वे कहते हैं, "मूलप्राकृत जब इस प्रकार उत्पन्न हुई, तो उसके अन्यतम भेद पाली की उत्पत्ति का कारण भी यही है, यह लिखना वाहुल्य है (पृष्ठ ४८)" इन अवतरणों से क्या पाया जाता है, यही न कि पालि अथवा मागधी से मूल प्राकृत को प्रधानता है, ऐसी अवस्था में वह आदि और मूल भाषा कैसे हुई! तत्कालिक कथ्य वेद भाषा के साथ अनार्य भाषा का सम्मिश्रण होने से जो भाषा उत्पन्न हुई उसे वे मूल प्राकृत मानते हैं (देखो पृष्ठ० ३६) अतएव मूल प्राकृत भाषा कथ्य वेद भाषा की पुत्री हुई अतः वेद भाषा उसकी भी पूर्ववर्ती हुई, फिर पालि अथवा मागधी मूल

भाषा किम्वा आदि भाषा कैसे कही जा सकती है। विश्वकोषकारने वैदिक संस्कृत से आर्ष प्राकृत, पालि, और उसके बाद की प्राकृत का सम्बन्ध प्रकट करनेके लिये शब्दों की एक लम्बी तालिका पृष्ठ ४३४ में दी है, उनके देखने से यह विषय और स्पष्ट हो जावेगा। अतएव उसके कुछ शब्द यहां उठाये जाते हैं। विश्वकोषकार ने पालि प्रकाशकार के मूल प्राकृत के स्थान पर आर्ष्य प्राकृत लिखा है, यह नामान्तर मात्र है—

संस्कृत	आर्ष प्राकृत	पाली	प्राकृत
अग्निः	अग्गि	अग्गि	अग्गी
वुद्धिः	वुद्धि	वुद्धि	वुद्धी
मया	मये, मे	मया	मये, मइये, ममए
त्वम्	तां, तुमन्	तां, तुवम्	तं, तुमं, तुवम्
पोडश	सोलस	सोलस	सोलह
विंशति	वीसा	वीसति, वीसम्	वीसा
दधि	दहि, दहिम्	दधि	दहि, दहिम्

प्राकृत लक्षणकार चण्डने आर्ष प्राकृत को, प्राकृत प्रकाशकार वररुचिने महाराष्ट्री को, पयोगसिद्धि कार कात्यायनने मागधी को, और जैन विद्वानों ने अर्ध मागधी को आदि प्राकृत अथवा मूल प्राकृत लिखा है। पालि प्रकाश कार एक स्थान पर (पृष्ठ ४८ , पालि को सब प्राकृतों से प्राचीन बतलाते हैं, कुछ लोग पालि और मागधी को दो भाषा समझते हैं, अपने कथन के प्रमाण में दोनों भाषाओं के कुछ शब्दोंकी प्रयोग भिन्नता दिखलाते हैं, ऐसे कुछ शब्द नीचे लिखे जाते हैं —

संस्कृत	पाली	मागधी
शश	ससा	मो
कुक्कुट	कुक्कुटो	गे
अश्व	अस्स	सांगा
श्वान	सुनका	साच
व्याघ्र	व्यग्घो	वी

जो अभेदवादी हैं, वे इन शब्दोंको मागधी भाषा के देशज शब्द मानते हैं। जो हो किन्तु अधिकांश विद्वान् पालि और मागधी को एक ही मानते हैं। कारण इसका यह है कि बुद्धदेवने अपने उपदेश अपनी ही भाषा

में दिये हैं। उनकी भाषा मागधी ही थी, क्योंकि मगध प्रान्त ही उनकी लीला भूमि थी। बुद्धदेवके समस्त उपदेश पहले पाली भाषा में ही लिखे मिलते हैं, वरन् कहा जाय तो यह कहा जा सकता है, कि बौद्ध साहित्य का प्रधान और सर्वमान्य वृहदंश पालि ही में मिलता है, ऐसी दशा में दोनों भाषाओं का अभेद स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु पाली जब मागधी नाम ग्रहण करती है, तब अपनी व्यापकता खो कर सीमित हो जाती है। पाली ही ऐसी प्राकृत है, जो वैदिक भाषा की अधिकतर निकटवर्ती है, इसीलिये उसको आर्ष प्राकृत का अन्यतम रूप कहा जाता है। अन्य प्राकृत भाषायें उसके बाद की हैं—कुछ प्रमाण पालि प्रकाश ग्रन्थ से नीचे दिये जाते हैं -

अकारान्त शब्द के तृतीया बहुवचन में पालि भाषामें केवल विसर्ग मात्रका त्याग करके वैदिक प्रयोग ही रक्षित रहता है। यथा-देवेभिः प्रयोग के स्थान में पालि में देवेभि और विकल्प में भ के स्थान पर ह का प्रयोग करके देवेहि पद बनता है, किन्तु प्राकृत में भ का प्रयोग बिल्कुल लुप्त हो जाता है, केवल देवेहि रह जाता है, आगे चल कर वह देवेहिं और देवेहिँ भी हो जाता है।

क्लीव लिंग चित्त शब्द का प्रथमा बहुवचन पालि में चित्ता और चित्तानि दोनों होता है, और यह दोनों रूप ही वेद मूलक हैं। जैसे विश्वा और विश्वानि (ऋ० १०, १६९, ३) परन्तु बाद की प्राकृतिक भाषाओं में ऐसा व्यवहार नहीं होता, उन में चित्तानि, चित्ताइं चित्ताइँ आदि पाया जाता है।

शानच् प्रत्यय के स्थान पर पालि में प्राचीन वैदिक भाषा के अनुसार आन और मान दोनों प्रत्यय ही प्रयुक्त होते हैं—जैसे भुञ्ज से भुञ्जान और भुञ्जमान दोनों रूप बनता है, किन्तु प्राकृत में केवल मान अथवा माणका प्रयोग होता है। इसका एक मात्र कारण यही है, कि प्राकृत, मूल भाषा से पालि की अपेक्षा बहुत दूर हट गई, और इस कारण समस्त रूपोंको रक्षित न रख सकी।

पालि में पारगू (पारग) आदि शब्द भी पाये जाते हैं, ए समस्त शब्द वैदिक भाषा में से ही उस में आये हैं, यथा अग्रग अर्थ में अग्रगू आदि (पाणिनि ६, ४, ४०) ।

वैदिक भाषा में तुम अर्थ में तवै, तवेङ् प्रत्यय का प्रयोग अधिकता से देखा जाता है (पा० ३, ४, ९) जैसे पातु के अर्थ में 'पातवै' इत्यादि। पालि में भी इस प्रकार का प्रयोग विल्कुल लुप्त नहीं हो पाया है ।

इन बातों पर दृष्टि देने से पालि की प्राचीनता निर्विवाद है, अन्य प्राकृत भाषायें उसके बाद की हैं । ये विशेषतायें मागधी में नहीं हैं, और उसका नाम प्रान्त विशेष से भी सम्बन्ध रखता है । इसलिये कुछ लोग उसको पाली नहीं मानते, किन्तु अधिकतर विद्वानों की सम्मति वही है, जिसका उल्लेख मैंने पहले किया है ।

कुछ विद्वान् गाथा से पालि की उत्पत्ति मानते हैं । पालि प्रकाशकार लिखते हैं—(पृ० ४८, ५०)

"गाथा की भाषा के सम्बन्ध में पूर्वकालके पण्डितगणने बहुत आलोचना की है । इनमें भारतके सुप्रसिद्ध प्राच्य तत्वविद्यावित् डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने उसके विषय में जो आलोचना की है, उसको अध्यापक मैक्समूलर और डाक्टर वेबर प्रमुख विद्वानोंने भी स्वीकार किया है ।"

"मिस्टर वर्न उफ़ कहते हैं, कि गाथा विशुद्ध संस्कृत और पालि की मध्यवर्ती भाषा है डाक्टर मित्रने इसको माना है, और वे सोचते हैं कि यह गाथा ही शाक्यसिंह के जन्म ग्रहण के पूर्व देशभाषा थी । संस्कृत से गाथा और गाथा से पालि की उत्पत्ति हुई है" *

गाथा के विषय में ऐसा विचार होने का कारण यह है कि उसमें संस्कृत वाक्यों का बड़ा अशुद्ध प्रयोग हुआ है । उसकी भाषा न तो

---

*"The language of the Gatha is believed, by M. Burnouf, to be intermediate between the Pali and the pure Sanskrit........... it would not be unreasonab'e to suppose that the Gatha, which preceded it, was the dialect of the millions at the time of Sakya's advent and for sometime before it." Indo-Aryan, Vol. VI, p. 295.

शुद्ध संस्कृत है, और न प्राकृत, उसमें दोनोंका विचित्र संमिश्रण देखा जाता है, इसी लिये उसको संस्कृत और प्राकृतका मध्यवर्ती कहा गया है, और यही कारण है कि सब से प्राचीन प्राकृत पालि की उत्पत्ति उस से मानी गई है। गाथा का एक श्लोक देखिये।

अध्रुवम् त्रिभवम् शारदभ्रनिभम्।
नटरंग समाजगि जन्मिच्युति।
गिरिनद्य समम् लघु शीघ्र जवम्।
व्रजतायुजगे पथ विद्युनभे।

संस्कृत के नियम के अनुसार दूसरे चरण के नटरंगसमा को नटरंग समम्—जगिजन्मिच्युति के स्थान पर जगति जन्मच्युतिः होना चाहिये। तीसरे चरण में गिरिनद्य समम् को गिरिनदी समम् और चतुर्थ चरण को 'व्रजत्यायुर्जगति पथविद्युद्नभसि, लिखना ठीक होगा। परन्तु उस समय भाषा ऐसी विकृत हो रही थी, कि इन अशुद्ध प्रयोगों का ध्यान बिल्कुल नहीं किया गया। यह सब होने पर भी पालि प्रकाशकार ने एक लम्बा लेख लिख कर और बहुत से अकाट्य प्रमाणों को देकर यह सिद्ध किया है कि गाथा की रचनायें अपभ्रंश काल के लगभग हुई हैं जो सब से अन्तिम प्राकृत है। ऐसी अवस्था में वह पालिभाषा की पूर्ववर्ती नहीं हो सकती, और न उससे उस की उत्पत्ति मानी जा सकती है। उनके प्रमाणों को मैं विस्तार भय से नहीं उठाता हूं। किन्तु उन को पढ़ने के उपरान्त यह स्वीकार करना असंभव हो जाता है कि गाथा से पालि की उत्पत्ति हुई। यदि डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र इत्यादि की सम्मति मान ली जावे तो पालि भाषा उसके बाद की प्राकृत ठहरती है, और ऐसी अवस्था में उसका मूल भाषा होना और असंभव हो जाता है, मागधी की बात ही क्या। अब तक मैं जो कुछ लिख आया उससे पाया जाता है कि पालि अथवा मागधी किसी प्रकार मूल भाषा नहीं हो सकती। उसका आधार वैदिक भाषा है, जो अनेक सूत्रों से प्रतिपादित किया जा चुका है।

इस प्रकार के मतभेद और खींचतान का आधार कुछ धार्मिक विश्वास और कुछ आपेक्षिक ज्ञान की न्यूनता है। बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है—

"यदि माता पिता अपनी भाषा बच्चे को न सिखलावें तो वह स्वभावतया मागधी भाषा को ही बोलेगा। इसी प्रकार एक निर्जन वन में रखा हुआ आदमी यदि स्वभाव-वश बोलने का प्रयत्न करे तो उसके मुख से मागधी ही निकलेगी। इसी भाषा का प्राधान्य तीनों लोकों में है, अन्यान्य भाषायें परिवर्तनशील हैं, यही सदा एक रूप में रहती है। भगवान् बुद्धने अपने तिपिटक की रचना भी इसी सनातन भाषा में की है" १.

इस प्रकार के विचारों के विषय में कुछ अधिक कथन करना व्यर्थ है। केवल एक कथन की ओर आप लोगों की दृष्टि में और आकर्षित करूंगा, वह यह कि कुछ लोगों का यह विचार है कि मागधी को देश भाषा मूलक मान कर मूलभाषा कहा गया है। किन्तु यह सिद्धान्त मान्य नहीं, क्यों कि यदि ऐसा होता तो द्राविड़ी और तेलगू आदि देश भाषाओं के समान वह भी एक देश भाषा मानी जाती, परन्तु उस को किसी पुरातत्ववेत्ता ने आज तक ऐसा नहीं माना, वह आर्य भाषा संभवा ही मानी गई है, इस लिये यह तर्क सर्वथा उपेक्षणीय है। आर्यभाषा संभवा वह इस लिये मानी गई है, कि उसकी प्रकृति आर्यभाषा अथवा वेदभाषा मूलक है। प्राकृत भाषा के जितने व्याकरण हैं, उन्हों ने संस्कृत के शब्दों और प्रयोगों द्वारा ही प्राकृत के शब्द और रूपों को बनाया है। प्राकृत भाषा का व्याकरण सर्वथा संस्कृतानुसारी है। संस्कृत और प्राकृत के अधिकांश शब्द एक ही झोले के चट्टे बट्टे अथवा एक फूल के दो दल अथवा एक चने की दो दाल ज्ञात होते हैं, थोड़े से ऐसे शब्द नीचे लिखे जाते हैं—

---

१ दे० M. Müller: Lectures on the Science of Language, भाग १, ० १४९।

"Even Buddhaghosa (reminding one of Herodotus' story) says that a child brought up without hearing the human voice would instinctively speak Magadhi (Alw. I. cvii)—Childers, Dictionary of the Pali Language, p. xiii.

दे० पालिप्रकाश- पृ० ९६।

संस्कृत	मागधी	संस्कृत	मागधी
कृतं	कतं	ऐश्वर्यम्	इस्सरियन
गृहं	गहं	मौक्तिकं	मुत्तिकम्
घृतं	घतं	पौरः	पौरो
वृत्तान्तः	वुत्तन्तो	मनः	मनो
चैत्रः	चित्तो	भिक्षुः	भिक्खु
क्षुद्रं	खुदं	अग्निः	अग्गी

केवल कुछ शब्दों के मिल जाने से ही किसी भाषा का आधार कोई भाषा नहीं मानी जा सकती, उन दोनों की प्रकृति और प्रयोगों को भी मिलना चाहिये। वैदिक संस्कृत और मागधी अथवा पालि की प्रकृति भी मिलती है, उनका व्याकरण सम्बन्धी प्रयोग भी अधिकांश मिलता है— नीचे के श्लोक इसके प्रमाण हैं। संस्कृत श्लोक के नीचे जो दो श्लोक हैं, उनमें से पहला शुद्ध मागधी और दूसरा अर्ध मागधी है। देखिये उनमें परस्पर कितना अधिक साम्य है —

रभसवश नम्र सुरशिरो विगलित मन्दार
राजितांघ्रि युगः।
वीर जिनः प्रक्षालयतु मम सकल मवद्य जम्बालम्।
लहश वश नमिल शुल शिल विअलिद मन्दाल
लायिदंह्रि युगे।
वील धिणे पक्खालदु मम शयल मयय्य यम्वालम्।
लभश वश नमिल शुल शिल विअलिद
मन्दाल लाजिदाई युगे।
वील जिणे पक्खालदु मम शयल मवज्ज जम्बालम्।

ऐसी अवस्था में यदि प्राकृत भाषा अर्थात् पालि और मागधी आदि वैदिक भाषा मूलक नहीं हैं, तो क्या देश भाषा मूलक हैं? वास्तव में मागधी अथवा अर्ध मागधी किम्बा पालि की जननी वैदिक संस्कृत है।

और यही तीसरा सिद्धान्त है, जिस को अधिकांश भाषा विज्ञान वेत्ता स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में दूसरे सिद्धान्त की अप्रौढ़ता अप्रकट नहीं। जितनी बातें पहले कही जा चुकी हैं वे भी कम उपपत्ति मूलक नहीं हैं।

एक बात और है वह यह कि इण्डो योरोपियन भाषा की छानबीन के समय भारतीय भाषाओं में से संस्कृत ही अन्य भाषाओं की तुलना मूलक आलोचना के लिये ली गई है, पालि, अथवा मागधी किम्बा अन्य कोई प्राकृत नहीं, इससे भी संस्कृत की मूल भाषा मूलकता सिद्ध है। निम्न लिखित पंक्तियाँ इस बात को और पुष्ट करती हैं—

"यथार्थ वैज्ञानिक प्रणाली से भाषा की चर्चा पहले पहल भारतवर्ष में ही हुई इसके सम्बन्ध में एक अंग्रेज विद्वान् के कथन-१ का सारांश यह है कि भारतीयों ने ही सर्व प्रथम भाषा को ही भाषा का रूप दिया। भारतीय ऋषियों ने सैकड़ों वर्ष तक वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा को मथ कर व्याकरण शास्त्र का उत्कर्ष विधान किया। पाणिनि का व्याकरण इन गवेषणाओं का ही सार है" भाषाविज्ञान (पृष्ठ ३२)।

योरोप के प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर क्या कहते हैं उसे भी सुनिये—

"मानव भाषा समुद्र में देशभाषायें द्वीप की भांति इधर उधर बिखरी पड़ीं थीं वे सब मिलकर महाद्वीप का स्वरूप नहीं धारण कर पाती थीं। प्रत्येक विज्ञान के इतिहास में यह आपत्तिपूर्ण समय सामने आता है। यदि अचानक वह आनन्द मूलक घटना न घटी होती, जिसने इन बिखरे अंशों को बिजली की तरह चमक कर एक नियंत्रित रूप से प्रकाश में ला दिया, तो यह अनिश्चित था कि भाषा के विद्यार्थियों का हार्विज और एडेलंग की भाषा सम्बंधिनी लम्बी सूचियों में अनुराग बना रहता या नहीं। यह

---

1 "The native grammarians of India had at an early period analyzed both the phonetic sounds and vocabulary of Sanskrit with astonishing precision and drawn up far more scientific system of grammar than the philologist of Alexandria or Rome had been able to attain.

ज्योति दान करनेवाली बिजली आर्यजाति की प्राचीन और आदिम भाषा संस्कृत है" २

अन्य प्राकृत भाषायें और हिन्दी

मैं पहले लिख आया हूं, मूल प्राकृत अथवा आर्ष प्राकृत का अन्यतम रूप पाली है, अतएव सबसे प्राचीन अथवा पहली प्राकृत पाली कही जा सकती है। आर्ष प्राकृत में उल्लेख योग्य कोई साहित्य नहीं है, कारण इसका यह है कि आर्षप्राकृत, परिवर्तनशील वैदिक भाषा के उस आदिम रूप का नाम है, जब उसमें देशज शब्दों का मिश्रण आरम्भ हो गया था, उसके शब्द टूटने फूटने लग गये थे. और उनका अन्यथा व्यवहार होने लगा था। काल पाकर यह विकृति दृष्टि देने योग्य हो गई, और इतनी बढ़ गई, कि भिन्न रूपमें प्रकट हुई। उस समय उसका नाम पाली पड़ा। यथा समय यह पाली साहित्य की भाषा भी बनी, और उसका व्याकरण भी तैयार हुआ। कुछ काल तक अनेक विद्वानों का यह विचार था कि गाथा से पाली की उत्पत्ति हुई। और इस गाथा की भाषा ही आर्ष प्राकृत है। परन्तु आजकल यह विचार नहीं माना जाता है। यदि गाथा को वैदिक भाषा और पाली की मध्यवर्तिनी मान लें, तो आर्ष प्राकृत में भी साहित्यका

2 The languages as have been very beautifully described by Max Muller, floated about "like islands on the ocean of human speech, they did not shoot together to form themselves into larger continent. This is the most critical period in the history of every science, and if it had not been for a happy accident, which like an electric spark caused the floating elements to crystalize into a regular form it is more than doubtful whether the long list of languages and dialects enumerated and described in the works of Harnes and Adelung could long have sustained the interest of the students of languages. The electric spark was the discovery of Sanskrit the ancient language of the Hindus".

अभाव न रह जावेगा, और ऐसी अवस्था में पहली प्राकृत वही होगी, बोल चाल पर दृष्टि रखकर उसको एक पृथक् भाषा स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु प्रायः विद्वानों ने उसके अन्यतम रूप पाली को ही आदि और सब से प्राचीन प्राकृत होने का गौरव दिया है, अतएव मैं भी इसको स्वीकार कर लेता हूं। पाली भाषा का साहित्य बड़ा विस्तृत है प्राकृत भाषा का पहला व्याकरण पाली में ही है, और वह कात्यायन का बनाया हुआ है। पालि प्रकाशकार कहते हैं (पृ० १०१) कि पालि व्याकरण समूह संस्कृत के आदर्श पर ही रचित है, कात्यायन व्याकरण के अनेक सूत्र, कातन्त्र के संस्कृत व्याकरण के सूत्रों के साथ अधिकतर सम्बन्ध रखते हैं। अनेक सूत्र उसमें पाणिनि के भी लिये गये हैं। इस दृष्टि से भी पालि भाषा को पहली प्राकृत कहा जा सकता है, क्योंकि वह अधिकतर संस्कृतानुवर्तिनी है।

अशोक के जितने स्तम्भ प्राप्त हुये हैं, उनमें से अधिकांश की भाषा पाली ही है। यद्यपि स्तम्भ के लेखों में कहीं कहीं भाषा भेद दृष्टिगत होता है, और इसलिये कुछ विद्वानों की सम्मति है, कि अशोक के समय में ही पालीभाषा में परिवर्तन होने लग गया था, क्योंकि यह अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक स्तम्भ की भाषा उस स्थान के प्रचलित भाषा से सम्बन्ध रखती है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि उस समय प्रधानता पाली को ही थी। चाहे वह दो प्रकार की हो, चाहे चार प्रकार की। मैं पहले कह आया हूं कि पाली का दूसरा नाम मागधी भी है, यद्यपि यह कथन सर्वसम्मत नहीं, फिर भी अधिकांश भाषा मर्मज्ञ यही स्वीकार करते हैं। अर्द्धमागधी का नाम ही उसको मागधी का अन्यतम रूप बतलाता है, इसलिये अशोक के जो शिला लेख मागधी अथवा अर्द्धमागधी में लिखे माने जाते हैं, उनको पालीभाषा का रूपान्तर कहना असंगत न होगा। ऐसी अवस्था में शिला लेखों पर विचार करने से भी पाली को ही पहली प्राकृत मानना पड़ेगा।

पाली के अनन्तर हमारे सामने कुछ ऐसी प्राकृत भाषायें आती हैं, जिनका नाम देश परक है। वे हैं, मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री और

शौरसेनी, इनको हम दूसरी प्राकृत कह सकते हैं। यदि हम पाली को ही मागधी मान लें तो मागधी के विषय में कुछ लिखना आवश्यक नहीं, क्योंकि पाली को हम पहली प्राकृत कह चुके हैं। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि मागधी नाम देशपरक है, मगध प्रान्त की भाषा का नाम ही मागधी हो सकता है, इसलिये यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मागधी की उत्पत्ति मगध देश में ही हुई। फिर पाली का नाम मागधी कैसे पड़ा? इसका उत्तर हम बाद को देंगे, इस समय देखना यह है कि पाली और मागधी में कोई अन्तर है या नहीं? पालि प्रकाशकार (प्रवेशिका पृ० १३, १४) लिखते हैं—

"प्राकृत व्याकरण और संस्कृत के दृश्यकाव्य समूह में मागधी नाम से प्रसिद्ध एक प्राकृत भाषा पाई जाती है, आलोच्य पाली से यह भाषा इतनी अधिक विभिन्न है, कि दोनों की भिन्नता उनके देखते ही प्रकट हो जाती है। पाठकगणों को दोनों मागधी का भेद जानना आवश्यक है, इसलिये उनके विषय में यहां कुछ आलोचना की जाती है। आलोचना की सुविधा के लिये हम यहां पाली को वौद्ध मागधी और दूसरी को प्राकृत मागधी कहेंगे"

"प्राकृत लक्षणकार चण्ड ने प्राकृत मागधी का इतना ही विशेषत्व दिखलाया है, कि इसमें रकार के स्थान पर लकार और सकार के स्थान पर शकार होता है। जैसे—संस्कृत का निर्झर प्राकृत मागधी में निज्झल होगा, इसी प्रकार माष होगा माश और विलास होगा विलाश। परन्तु वौद्ध मागधी में इनका रूप यथाक्रम, निज्झर, मास, विनास होगा। प्राकृत मागधी में अकारान्त प्रातिपदिक पुल्लिङ्ग के प्रथमा विभक्ति का एक वचन एकारयुक्त होता है, जैसे—माषः—माशे विलासः—विलासे निर्झरः—निज्झले। वौद्ध मागधी में इसका रूप यथाक्रम मासो, विनासो, और निज्झरो होगा।"

"इसी प्रकार के कुछ और उदाहरण देकर पालि प्रकाशकार लिखते हैं (पृ० १६-१७) वौद्ध मागधी और प्राकृत मागधी में परस्पर और अनेक भेद हैं। वाहुल्य भयसे उन सबको पूर्णतया यहां नहीं दिखलाया गया। किन्तु जितना दिखलाया गया, उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों भाषायें परस्पर कितनी भिन्न हैं"

"मृच्छ कटिक नाटक में शकार का अधिकतर कथन विशुद्ध प्राकृत मागधी में रचित है। प्राकृत मागधी का मूल शौरसेनी है, इसलिये उसमें शौरसेनो तो मिलती ही है, स्थान स्थान पर महाराष्ट्री के शब्द भी देखे जाते हैं। इसीलिये कहीं कहीं शकार की भाषा को अर्द्धमागधी कहा गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल में रक्षिपुरुष और धीवर की भाषा प्राकृत मागधी है। वेणीसंहार नाटक और उदात्तराघव के राक्षस की भाषा भी प्राकृत मागधी है। मुद्राराक्षस आदि में भी इसका व्यवहार देखा जाता है। किन्तु प्रायः इसके साथ भिन्न जातीय प्राकृत का सम्मिलन पाया जाता है"।

इन सब बातों को लिखकर पालिप्रकाशकार १८ पृष्ठ में यह लिखते हैं—

"जो कुछ कहा गया उसको पढ़कर हृदय में स्वभावतः यह प्रश्न उदय होता है, कि 'मागधी, नाम से प्रसिद्ध होकर भी पाली, (बौद्धमागधी), एवं प्राकृतमागधी में परस्पर इतना भेद क्यों है ? ए एकही स्थान की भाषायें हैं, यह बात इनका साधारण नाम ही स्पष्टभाव से बतलाता है। तो क्या ए दोनों भाषायें, विभिन्न प्रदेश की हैं ? अथवा दोनों के मध्य में दीर्घकाल का व्यवधान होनेके कारण एकही अन्य रूप में परिवर्तित हो गई है। या विस्तृत मगध प्रदेश के अंश विशेष में एक, और अन्य विभाग में दूसरी प्रचलित थी ? इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है ?"

इन प्रश्नों का उत्तर ६६ पृष्ठ में वे यह देते हैं

"पहले हमने बौद्धमागधी, और प्राकृतमागधी के स्थान और काल के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया था। यह प्रश्न पाठकों के निकट इसी रूप में रहा। विषय इतना गुरुतर है, कि इस सम्बन्ध में मैंने जो अनुसन्धान किया है, वह इस समय प्रकाश योग्य नहीं है। समयान्तर में मैं इसका उत्तर देने की चेष्टा करूंगा"

कम से कम इन पंक्तियों को पढ़ कर यह तो स्पष्ट हो गया, कि मागधी दो प्रकार की है, और उनमें परस्पर बहुत बड़ा अन्तर है। इन पंक्तियों द्वारा यह भी विदित होता है, कि बौद्धमागधी ही पाली है, और बुद्धदेव ने

इसी भाषा में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। अशोक के शिलालेख अधिकतर इसी मागधी अथवा उसके अन्यतम भेद अर्द्धमागधी में लिखे पाये जाते हैं। इसलिये यदि पहली प्राकृत हो सकती है, तो वौद्धमागधी। प्राकृत मागधी को ऐसी अवस्था में दूसरी प्राकृत मान सकते हैं। देशपरक नाम निस्सन्देह वौद्धमागधी को भी निर्विवाद रूप से पाली मानने का वाधक है, और इसी विचार से ज्ञात होता है कि एक वौद्ध विद्वान् ने मागधी की यह व्युत्पत्ति की है, 'सोच भगवा मागधो मगधे भवत्ता साच भासामागधी। अर्थ इसका यह है कि मगध में उत्पन्न होने कारण भगवान् वुद्ध को मागध कह सकते हैं, इसलिये उनकी भाषा को मागधी कहा जा सकता है। किन्तु इस विचार का खण्डन यह कह कर किया गया है कि भाषा का नाम देश-परक होता है. व्यक्ति विशेष परक नहीं। क्योंकि ऐसा कहना अस्वाभाविक और उस प्रत्यक्ष सिद्धान्त का वाधक है, जिसके आधार से अन्य देशभाषाओं का नामकरण हुआ १। यह बहुत बड़ा विवाद है, अबतक छानबीन हो रही है, इसलिये मैं स्वयं इस विषय में कुछ निश्चितरूप से कहने में असमर्थ हूं। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी की सम्मति आपलोगोंके अवलोकन के लिये यहां उद्धृत करता हूं-वे लिखते हैं—

"महाराज अशोक के समय में एक नई साहित्यिक भाषा भारत से सिंहल में फैली, यह पालि भाषा है। पहले पण्डित लोग सोचते थे कि पालि की जड़ पूर्व में—मगध में थी, क्योंकि इसका एक और नाम मागधी है। अब पालि के सम्वन्ध में पण्डितों की राय बदल रही है। अव विचार है कि पालि पूर्व की नहीं, वलिक पछांह की—अर्थात् मध्य देश की ही बोली थी। वह शौरसेनी प्राकृत का प्राचीनरूप थी। वुद्धदेव के उपदेश पूर्व की बोली प्राच्य प्राकृत में हुये, जो कोशल काशी और मगध में प्रच-लित थी। फिर वे इस प्राच्य प्राकृत से और प्राकृतों में अनुदित हुये। मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका नाम दिया गया 'पालि'। सिंहल में जब इस अनुवाद का प्रचार हुआ, तब वहां के लोग भूल

१ देखिये पालि प्रकाश पृष्ट १३

से इसे मागधी के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि पालि वुद्ध वचन था, और भगवान वुद्ध ने मगध में अपने जीवन का बहुत अंश बिताया। इस कारण वुद्ध वचन या पालि से मगध का सम्वन्ध सोचकर उसका नाम मागधी रखा। सिंहल से ब्रह्मदेश तथा श्याम और कम्वोज में यह पालि भाषा फैली। इस प्रकार दो हजार वर्ष से पहले मध्यदेश की भाषा, वहिर्भारत के वौद्धों की धार्मिक भाषा बनी" २

डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी 'ओरिजिन एण्ड डिवलेपमेंट आफ् दी बंगाली लांगवेज, नामक प्रसिद्ध और विशाल ग्रन्थ के रचयिता और आर्य-भाषा शास्त्र के पण्डित हैं, उनको डी० लिट् की उपाधि भी प्राप्त हो चुकी है, इसलिये उन्हों ने जो कुछ लिखा है, उसकी प्रामाणिकता अधिकतर ग्राह्य एवं निर्विवाद है। परन्तु उनके लेख के कुछ अंश ऐसे हैं, जो तर्करहित नहीं। वे कहते हैं—"वुद्धदेव के उपदेश पूर्व की वोली (प्राच्य प्राकृत) में हुये, जो कोशल काशी और मगध में प्रचलित थी" इसके वाद वे यह लिखते हैं "फिर वे (उपदेश) इस प्राच्य प्राकृत से और प्राकृतों में अनुदित हुये, मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ उसका नाम दिया गया पालि" उनके कथन के इन अंगों को पढ़कर यह प्रश्न होता है कि जिस प्राच्य प्राकृत में वुद्धदेव ने उपदेश दिये, उसका क्या नाम था? उसका नाम 'पालि, तो हो नहीं सकता, क्योंकि 'पालि, तो प्राच्य प्राकृत के उस अनुवाद का नाम है, जो मथुरा और उज्जैन में वोली जानेवाली भाषा (प्राकृत) में हुआ। क्या उसका नाम मागधी था! निसन्देह उसका नाम मागधी होगा, और उस समय यह भाषा कोशल और काशी में भी वोली जाती होगी। यह वात निश्चित है कि वुद्धदेव ने अपने उपदेश देशभाषा में ही दिये, उनका उपदेश मगध, कोशल और काशी में ही अधिकतर हुआ है, इसलिये उनकी भाषा का नाम मागधी होना ही निश्चित है। वौद्ध लोग इसीलिये कहते हैं—

"मागधिकाय सभाव निरुत्तिया, अथवा 'सा मागधी मूलभासा, इत्यादि।

ऐसी अवस्था में वौद्धमागधी को ही पहली प्राकृत मानना पड़ेगा, और

२ देखो विशालभारत भाग ७ अंक ६ का पृष्ट ८४०

पाली को स्थानच्युत होना पड़ेगा। आज दिन भी मागधी और उसके थोड़े परिवर्तित रूप अर्धमागधी को प्राच्य प्राकृत ही माना जाता है, स्थान भी उनका अबतक वही है जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है। अशोककाल के शिलालेख भी अधिकतर इन्हीं भाषाओं में पाये जाते हैं, इसलिये एक प्रकार से यह वात निर्विवाद रूप से स्वीकृत होती है कि वुद्धदेव ने जिस भाषा में उपदेश दिये, वह मागधी ही थी। रहा पाली का स्थान च्युत होना मेरा विचार यह है कि 'पाली' शब्द के नामकरण पर विचार करने से इस जटिल विषय पर वहुत कुछ प्रकाश पड़ जाता है। पालि प्रकाशकार प्रवेशिका के पृष्ठ ३ में लिखते हैं—

"उल्लिखित उदाहरण समूहद्वारा यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि पालि शब्द से पहले वौद्धधर्मशास्त्र की पंक्ति अथवा मूलशास्त्र त्रिपिटक, समझा जाता। इसके वाद कालक्रम से धीरे धीरे त्रिपिटक के साथ सम्वद्ध अर्थ-कथा, और साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से उससे सम्बद्ध कोई ग्रन्थही पालि शब्द से अभिहित होने का सुयोग पा सका। जैसे मूल संहिता और उससे सम्वन्धित ब्राह्मण ग्रन्थ दोनों ही वेद माने जाते हैं, और जैसे प्राचीन मनु इत्यादिक धर्मशास्त्र और उससे सम्वद्ध आधुनिक ग्रन्थकार का ग्रन्थ, दोनों ही स्मृति कहकर गृहीत होते हैं, उसी प्रकार वौद्धसाहित्य में पहले त्रिपिटक, उसके उपरांत अर्थ-कथा और तदनन्तर उससे सम्वद्ध अपर ग्रन्थ-समूह 'पालि' नाम से प्रसिद्ध हुये किन्तु जिन ग्रन्थों के साथ 'पालि' (त्रिपिटक आदिक) का कोई सम्बन्ध नहीं था, उस समय वे पालि नाम से अभिहित नहीं हुये। केवल ग्रन्थ कहलाकर ही वे परिचित होते थे। मूल-शास्त्र को पालि कहते थे, इसीलिये उसकी भाषा का नाम भी पालिभाषा अथवा कालक्रम से संक्षेप में केवल "पालि" हुआ। इन सव वातों पर विचार करने से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि पालि भाषा का आदिम अर्थ 'पालि' की अर्थात् वौद्धधर्म के मूल शास्त्र की भाषा है।"

ज्ञात होता है कि इन्हीं वातों पर दृष्टि रखकर किसी पाश्चात्य विद्वान् ने पालि को कृत्रिम अथवा साहित्यिक भाषा लिखा है, परन्तु पालि प्रकाशकार

उनके इस विचार का खण्डन करते हैं. वे प्रवेशिकाके पृष्ठ ९८ में लिखते हैं—

"किसी पाश्चात्य विद्वान् ने पालि को बिल्कुल कृत्रिम भाषा बतलाया है, किन्तु यह सर्वथा असंगत है, यह कहना ही बाहुल्य है"

वे ऐसा कहते तो हैं, परन्तु उन्हों ने जो पहले स्वयं लिखा है, वही उनके इस उत्तर कथन का विरोधी है। डाक्टर चटर्जी महोदय ने जो कथन किया है, उसे आप पहले पढ़ चुके हैं, वे कहते हैं, 'पाली' मथुरा-प्रान्त की भाषा है, जो शौरसेनी का पूर्वरूप है, और जिसे भूल से सिंहल-वालों ने मागधी कहा। लेख इच्छा के विरुद्ध बहुत विस्तृत हो गया, किन्तु मतभिन्नता का निराकरण न हो सका। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि आदि अथवा पहली प्राकृत वह है, जिसके उपरान्त देशपरक नामवाली प्राकृतों की रचना हुई। इस पहली प्राकृत को पाली कहिये चाहे बौद्धमागधी अथवा आर्ष प्राकृत।

देशपरक नाम की दृष्टि से मागधी को दूसरी ही प्राकृत मानना पड़ेगा, चाहे वह बौद्धमागधी न होकर प्राकृतमागधी ही क्यों न हो। ऐसी दशा में बौद्ध मागधी को प्राकृत मागधी का पूर्वरूप मानना पड़ेगा। जैसा मैं पहले दिखला आया हूं, उससे यह बात स्पष्ट हो गई है, कि बौद्धमागधी ही बाद को पाली कहलाई। पाली नाम की कल्पना बौद्धोंद्वारा ही हुई है, वे ही इस नाम के उद्भावक हैं, और बौद्धशास्त्र की पंक्ति उसका आधार है। यह जान लेनेपर यह बात समझ में आ जाती है कि क्यों पाली का पर्यायवाची नाम मागधी है। यह मैं स्वीकार करूंगा कि डाक्टर चटर्जी महोदय का कथन इस उक्ति का विरोधी है, और जैसा उन्हों ने बतलाया है. उससे पाया जाता है, कि वर्तमानकाल के विद्वानों का मत ही उनका मत है। तथापि सब बातों पर दृष्टि रख कर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा, कि इन दोनों नामों का जो अभिन्न सम्बन्ध है, उसके पक्ष में ही प्रबल प्रमाण हैं। और यह मान लेनेसे ही सब विचारों का समन्वय हो जाता है, कि बौद्ध-मागधी अथवा पाली पहली प्राकृत है. और प्राकृतमागधी दूसरी प्राकृत।

अर्द्धमागधी भी दूसरी प्राकृत है। जो भाषा मगध प्रान्त में बोली जाती

थी वह मागधी कहलाई, किन्तु काशी और कोशल प्रदेश की भाषा अर्द्ध-मागधी कही गई है। अर्द्धमागधी शब्द ही बतलाता है, कि इस भाषा की शब्द सम्पत्ति इत्यादि का अर्द्धांश मागधी है। यहाँ प्रश्न यह होगा कि दूसरा अर्द्धांश क्या है? इसका उत्तर क्रमदीश्वर यह देते हैं, 'महाराष्ट्री मिश्रार्द्ध मागधी, अर्थात् जिस मागधी में महाराष्ट्री शब्दों का मिश्रण हो गया है, वह अर्द्धमागधी है। किन्तु मारकण्डेय यह कहते हैं—

"शौरसेन्याविदूरत्वादियमेवार्धमागधी" अर्थात् शौरसेनी के सन्निकट होने के कारण इसका नाम अर्द्धमागधी है। प्रयोजन यह कि जिस मागधी पर शौरसेनी का प्रभाव पड़ गया है, वह अर्द्धमागधी है। इन दोनों सिद्धान्तों में प्रथम सिद्धान्त के पोषक अधिक लोग हैं, और वे कहते हैं कि अर्द्धमागधी पर अधिक प्रभाव महाराष्ट्री का ही है। मागधी भाषा में यदि बौद्धों के धर्मग्रन्थ हैं, तो अर्द्धमागधी में जैनों के। वह यदि बुद्धदेव के प्रभाव से प्रभावित है, तो यह महावीर स्वामी के गौरव से गौरवित। कहा जाता है कि अशोक के समय में यदि मागधी राजभाषा होने कारण विशेष सम्मानित थी, तो अर्द्धमागधी का समादर भी कम न था, पूर्ण सम्मान का अर्द्धांश उसको भी प्राप्त था। अशोक के स्तम्भों पर पाली अथवा मागधी को यदि स्थान दान किया गया है, तो अर्द्धमागधी भी इस सम्मानसे वंचित नहीं हुई, अनेक शिलालेख अर्द्धमागधी में लिखे पाये गये हैं।

महाराष्ट्री भी देशपरक नाम है, और यह भी दूसरी प्राकृत है। परन्तु स्वर्गीय पण्डित बदरीनारायण चौधरी ने अपने व्याख्यान में लिखा है "महाराष्ट्री शब्द से प्रयोजन दक्षिण देश से नहीं किन्तु भारतरूपी महाराष्ट्र से है" 'प्राकृत प्रकाशकार' वररुचि भी इसी विचार के हैं। किसी समय यह प्राकृत देशव्यापिनी थी, कहा जाता है महाराष्ट्र शब्द से ही महाराष्ट्री का नामकरण हुआ है। कुछ लोगों ने सर्व प्राकृतों में इसी को प्रधान माना है, क्योंकि प्राकृत भाषा के व्याकरण रचयिताओं ने उसी के विषयमें विशेष रूप से लिखा है। प्रायः व्याकरणों में देखा जाता है कि अन्य प्राकृतों के कुछ विशिष्ट नियमों को लिखकर शेष के विषय में लिख दिया

गया है, कि महाराष्ट्री के समान उनका आदेशादि होगा। इसका साहित्य भी विस्तृत है।

शौरसेनी के विषय में श्रीयुत डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी महोदय यह लिखते हैं—

"सारे उत्तर भारत में जिस समय प्राकृत या प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित हुईं, तब प्रान्तीय प्राकृतों में अन्तर्वेद—विशेषतया ब्रह्मर्षि देश या कुरु पंचाल की प्राकृत शौरसेनी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। संस्कृत नाटकों में श्रेष्ठ सद्वंशज पात्र बात करने में इस शौरसेनी ही का प्रयोग करते थे। इससे यह साबित होता है कि प्राकृतयुग में शौरसेनी का स्थान क्या था। गाने में महाराष्ट्रीय प्राकृत का प्रयोग था, यह ठीक है, परन्तु इसका कारण इतना ही मालूम होता है कि महाराष्ट्रीय प्राकृत में स्वर बहुत होने से वह शौरसेनी से श्रुतिमधुर मानी जाती थी, और गाने में शायद इसीलिये लोग इसे अधिक पसन्द करते थे।"

"ईस्वी सदी के प्रारम्भ से संस्कृत के बाद उत्तरमें शौरसेनी भद्र समाज में बोली जाती थी, इसका प्रभाव दूसरी प्राकृत बोलियों पर भी पड़ा। भाषातत्व के विचार से ग्रियर्सन आदि पण्डितों ने, राजस्थान, गुजरात, पंजाब और अवध की प्राकृत बोलियों पर शौरसेनी का विशेष प्रभाव स्वीकार किया है। राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और अवधी के विकास में शौरसेनी ने बहुत काम किया है"

शौरसेनी की गणना भी दूसरी प्राकृत में ही है, यह कहना बाहुल्यमात्र है। 'प्राकृत लक्षण' कार 'चण्ड' ने चार प्राकृत मानी है 'प्राकृत, 'अपभ्रंश, 'पैशाचिकी, और मागधी। प्राकृत लक्षण के टीकाकार षड्भाषा मानते हैं, वे उपर्युक्त चार नामों के साथ संस्कृत और शौरसेनी का नाम और बढ़ाते हैं। वररुचि महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी, चार और हेमचन्द्र 'मूलप्राकृत, शौरसेनी, मागधी. पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश छः प्राकृत बतलाते हैं। अध्यापक लासेन यह कहते हैं—

"वररुचि वर्णित महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची, इन चार प्रकार के प्राकृतों में शौरसेनी और मागधी ही वास्तव में स्थानीय भाषायें हैं। इन दोनों में शौरसेनी एक समय में पश्चिमाञ्चल के विस्तृत प्रदेश की बोलचाल की भाषा थी। मागधी अशोक की शिलालिपि में व्यवहृत हुई है, और पूर्व भारत में यही भाषा किसी समय में प्रचलित थी। महाराष्ट्री नाम होने पर भी यह महाराष्ट्र प्रदेश की भाषा नहीं कही जा सकती। पैशाची नाम भी कल्पित मालूम होता है" विश्वकोष पृ० ४३८

ऊपर के वर्णन में जहां प्राकृतों में केवल 'प्राकृत; और 'मूल प्राकृत' लिखा गया है, मेरा विचार है वहां उनका प्रयोग आर्ष-प्राकृत अथवा पाली के अर्थ में किया गया है। जिनके विषय में पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अपभ्रंश तीसरी प्राकृत है, उसका वर्णन आगे होगा। शेष रही चूलिका पैशाची उसका वर्णन थोड़े में किया जाता है।

'संस्कृत साहित्य में पिशाच शब्द का प्रयोग अधिकतर दानवों के अर्थ में हुआ है, क्योंकि वे मांसाशी थे, परन्तु वास्तव में भारत के पश्चिमोत्तर में रहनेवाली एक विशेष जाति पिशाच कहलाती है। संस्कृत अथवा प्राकृत के वैयाकरणों ने पैशाची को प्राकृत का एक रूप बतलाया है, हेमचन्द्र ने उसका वर्णन विशेषतया किया है, उन्होंने कहा है यह मध्य प्रान्त की भाषा थी, और उसका साहित्य भी है। मारकण्डेय ने वृहत्कथा से शब्द उद्धृत करके यह कहा कि वह केकय प्रान्त की भाषा है, जो भारत के पश्चिमोत्तर में स्थित है। परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि पैशाची वास्तव में उस प्रदेश में बसनेवाली पिशाचों की भाषा थी या क्या? हेमचन्द्र की पैशाची बिल्कुल भारतीय भाषा है, उत्तर पश्चिम की वर्त्तमान पिशाचभाषा इस प्राकृत से भिन्न है। यह संभव हो सकता है कि पिशाच जब मध्यएशिया से आये तो अभारतीय (अर्थात ईरानियन इत्यादि) विशेषताओं को भूल गये और उन विशेषताओं को सुरक्षित रखा जिससे पैशाची प्राकृत मानी जा सके।

वर्तमान पिशाच भाषायें शुद्ध भारतीय नहीं हैं, उनमें उच्चारण के बहुत

से नियम ऐसे हैं, जो कि इण्डोएरियन भाषाओं से उनको अलग करते हैं। जैसे वर्त्तमान पिशाची में 'र' का उच्चारण। यद्यपि अन्य विषयों में वे साधारणतः इण्डोएरियन भाषाओं के समान हैं, तथापि कभी कभी उनमें ईरानियन विशेषतायें भी झलक जाती हैं। इनमें से कुछ ईरानी विशेषतायें ऐसी हैं, कि जिनको देखकर 'कोनो' ने यह विचार प्रगट किया कि पैशाची में वशगली भाषा ईरानी भाषा की वर्त्तमानकालिक प्रतिनिधि है। इस बात का विचार करते हुए कि कुल पिशाची भाषाओं में कुछ ईरानियन विशेषताओं का अभाव है, मेरी राय यह है कि पिशाच भाषायें न तो शुद्ध भारतीय हैं और न शुद्ध ईरानियन। शायद उन्हों ने इण्डोएरियन भाषाओं की उत्पत्ति के बाद आर्यभाषा को जो उसके मा बाप हैं छोड़ दिया। परन्तु ज्ञात होता है कि अवेस्ता के ईरानियन विशेषताओं के विकास होने के पहले ही ऐसा हुआ। आर. जी. भाण्डारकर की राय यद्यपि अन्य शब्दों में प्रकट की गई है, परन्तु उससे भी यही भाव प्रकट होता है। वे कहते हैं "यह पैशाची प्राकृत शायद आर्य-जाति की उस शाखा की भाषा है जो कि अपनी जातिवालों के साथ बहुत दिन तक रही, परन्तु भारत में पीछे आई, और किनारे पर बस गई। या यह भी हो सकता है कि वह अपनी जातिवालों के साथ ही भारत में आई, परन्तु किनारे के पहाड़ी प्रदेशों में स्वतंत्रतापूर्व्वक बस जाने के कारण अपनी भाषा सम्बन्धी उच्चारण विशेषताओं का ऐसा विकास किया कि जिससे मैदान की सभ्य भाषा से घनिष्ठता प्राप्त कर सकी। इसी कारण उनकी भाषाओं के उच्चारण में वे परिवर्तन नहीं हुये, जो कि संस्कृत से उत्पन्न होनेवाली प्राकृतों में हो सके" अन्त में मैं यह सोचता हूं कि वर्तमान पिशाच भाषा कुछ विषयों में तलचह भाषासे मिलती जुलती है, जिससे यह अनुमान होता है कि इसके बोलनेवाले अपने वर्तमान स्थान पर भारत के मैदान से नहीं वरन् सीधे पामीर से आये। और दूसरे लोग जो कि शुद्ध इण्डोएरियन के बोलनेवाले थे भारत के मैदान में पश्चिम से पहुंचे। यदि वास्तविक घटना ऐसी ही है, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आर्य्यों के मुख्य दलों से इनका दल अलग था।*

Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institute

तीसरी प्राकृत अपभ्रंश है। संसार परिवर्तनशील है, जैसे यथाकाल उसके समस्त पदार्थों में परिवर्तन होता है, वैसे ही भाषा में। मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री और शौरसेनी में जब अधिक परिवर्तन हुये, और एक प्रकार से उनका व्यवहार सर्व साधारण के लिये असंभव हो गया, तब अपभ्रंश भाषा सामने आई। यह कोई अन्य भाषा नहीं थी, पूर्व कथित भाषायें ही बदल कर अपभ्रंश बन गईं। इस समय भारतवर्ष के उत्तरीय प्रदेश और महाराष्ट्र प्रान्त में जितनी आर्य भाषा सम्बन्धिनी भाषायें बोली जाती हैं, उनमें से अधिकांश भाषाओं का आधार अपभ्रंश ही है। अपभ्रंश ही रूप बदल कर अब देशभाषा के रूप में विराजमान है। प्रायः यह कहा जाता है कि जब कोई भाषा साहित्यिक हो जाती है, अर्थात् जब उसमें साहित्यिक विशेषतायें आ जाती हैं, तो वह बोलचाल की भाषा नहीं रह जाती। यह कारण निर्देश युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। किसी भाषा का साहित्य में गृहीत हो जाना, उसके बोलचाल से वहिष्कृत होने का हेतु नहीं है। यह प्राकृतिक नियम है कि चिरकाल तक किसी भाषा का एक रूप ही नहीं रहता, विशेष कारणों से उसमें यथा समय ऐसा परिवर्तन हो जाता है, कि वह लगभग उससे इतनी दूर पड़ जाती है, कि उसका उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं ज्ञात होता। भाषामर्मज्ञ लोग भले ही सूक्ष्म-दृष्टि से उनके पारस्परिक सम्बन्ध को देखते रहें, परन्तु यह सम्बन्ध सर्व साधारण का बोधगम्य नहीं रह जाता। इसीलिये बोलचाल की भाषा स्वयं उससे अलग हो जाती है, और पूर्ववर्ती भाषा का रूप साहित्य में रह जाता है। ऐसा सहस्रों वर्ष के उपरान्त ही होता है, परन्तु होता है अवश्य। अपभ्रंश भाषा ऐसे ही परिवर्तनों का फल था। यह बात स्पष्ट है कि जो भाषा बोलचाल की होती है, जनता की शिक्षा की दृष्टि से बाद को उसमें ही ग्रन्थ-रचना होने लगती है, और धीरे धीरे बोलचाल की भाषा ही साहित्य का रूप ग्रहण कर लेती है। अपभ्रंश भाषा भी ज्यों ज्यों पुष्ट होती गई, त्यों त्यों उसको साहित्यिक रूप मिलने लगा। इस भाषा में बहुत अधिक साहित्य है।

कोषकारों ने अपभ्रंश का अर्थ कुत्सित अथवा अपभाषा किया है—

एक स्थान से भ्रंश होकर जिसका पतन होता है, वही अपभ्रंश कहलाता है (दे० प्रकृतिवाद पृ० ४२) आर्ष शब्दों के बिगड़ने से ही, प्राकृत-भाषा, और अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई है. इसीलिये उनका उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में इसी रूप में किया गया है। गरूड़ पुराण में तो यहां तक लिख दिया गया है—

(पूर्व खण्ड ६८, १७)—

' लोकायतम् कुतर्कश्च प्राकृतं म्लेच्छभाषितम् ।
न श्रोतव्यं द्विजेनैतदधोनयति तद् द्विजम् ॥

एक स्थान पर अपभ्रंश के लिये यह लिखा गया है—

आभीरादि गिरः काव्ये अपभ्रंशगिरः स्मृताः ।

परन्तु स्वाभाविक नियम का प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। अपभ्रंश का बहुत अधिक प्रचार हुआ, और उसमें रचनायें भी हुईं। कुछ काल तक उसकी ओर पठित समाज की अच्छी दृष्टि नहीं रही, परन्तु ज्यों ज्यों उसका प्रसार होता गया, त्यों त्यों दृष्टिकोण भी बदलता गया, और उसको साहित्य में स्थान मिलने लगा। कुछ विद्वानों का विचार है कि दूसरी शताब्दी में उसकी रचना आरम्भ हो गई थी, और उस काल की कुछ प्राकृत रचनाओं में वह मिलती है, परन्तु अधिक लोग इस सम्मति को नहीं मानते। इन लोगों का कथन है कि अपभ्रंश की साहित्यिक रचनायें छठी शताब्दी से ही प्रारम्भ होती है। श्रीमान् पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी डाक्टर ग्रियर्सन के लेखों के आधार पर बनी अपनी 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में यह लिखते हैं—

"छठे शतक में अपभ्रंश भाषा में कविता होती थी। ग्यारहवें शतक के आरम्भ तक इस तरह की कविता के प्रमाण मिलते हैं। इस पिछले अर्थात् ग्यारहवें शतक में अपभ्रंश भाषाओं का प्रचार प्रायः बन्द हो चुका था।"

"सम्वत् ६६० में देवसेन नामक एक जैन ग्रन्थकार हो गये हैं, दोहों में उनके बने दो ग्रन्थ पाये जाते हैं. एक का नाम है 'श्रावकाचार' और दूसरे का 'दब्बसहावपयास' इन दोनों ग्रन्थों की भाषा अपभ्रंश कही जा

सकती है। अपभ्रंश की अधिकांश रचना दोहों में ही मिलती है।

बौद्धमत के महायान सम्प्रदाय की एक 'सहजिया' नामक शाखा है. यह शाखा विक्रमी चौदहवें शतक में मौजूद थी, उनकी कुछ पुरानी पोथियों का संग्रह महा० म० श्रीहर प्रसाद शास्त्री ने "बौद्धगानओ दोहा" नाम से निकाला है, उसमें कन्ह और सरह के दोहे अपभ्रंश भाषा में लिखे गये प्रतीत होते हैं।

हेमचन्द्र प्राकृत भाषा के बहुत बड़े वैयाकरण हो गये हैं, वे विक्रमी बारहवें शतक में मौजूद थे, उन्हों ने 'सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन, नामक प्राकृत भाषा का एक बड़ा व्याकरण बनाया है, उसमें अपभ्रंश भाषा के अनेक दोहे उदाहरण में लिखे गये हैं, उन दोहों में से कुछ उनके पहले के भी हैं।

विक्रमी तेरहवें शतक में (१२४१) सोमप्रभसूरि नामक एक जैन विद्वान् ने 'कुमार प्रतिबोध' नामक एक ग्रन्थ लिखा है, उसमें भी अपभ्रंश भाषा के दोहे मिलते हैं, जिनमें से कुछ उनके बनाये हैं और कुछ प्राचीन हैं।

विक्रमी चौदहवें शतक (१३६१) में जैनाचार्य मेरुतुंग ने 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ बनाया, इसमें भी बीच बीच में अपभ्रंश भाषा के दोहे मिलते हैं। स्थान स्थान पर मालवराज मुंजके रचे अपभ्रंश दोहे भी इसमें देखे जाते हैं।

नलसिंह भट्ट भी चौदहवें शतक में हुआ है, इसका बनाया 'विजयपाल रासो' अपभ्रंश में लिखा गया है। पन्द्रहवें शतक में मैथिल कोकिल विद्या-पति ने भी दो ग्रन्थ अपभ्रंश भाषा में लिखे, 'कीर्तिलता, एवं 'कीर्तिपताका' परन्तु इनकी रचनाओं में उनके समय में प्रचलित देशभाषा का ढंग भी पाया जाता है, उसमें प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्द भी मिल जाते हैं, जो प्राकृत परम्परा के विरुद्ध हैं।,, *

इन अवतरणों से पाया जाता है कि ग्यारहवें शतक में ही अपभ्रंश का

* देखो हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ट ७ ता० १७

व्यवहार बन्द नहीं हो गया था, वरन चौदहवें शतक तक चलता रहा, और पन्द्रहवें शतक में भी उसमें पुस्तकें लिखी गईं, चाहे उनकी संख्या कितनी ही अल्प क्यों न हो। यह मैं पहले लिख आया हूं कि इस समय जितनी भाषायें भारतवर्ष में आर्य परिवार की बोली जाती हैं, वे प्रायः अपभ्रंश से ही विकसित हुई हैं, अब मैं उनका उल्लेख पृथक् पृथक् डा० जी० ए० ग्रियर्सन की सम्मति के अनुसार करता हूं। इधर जो आविष्कार हुए हैं, अथवा जो छानवीन की गई है, बाद को उनका उल्लेख भी करूंगा।

सिन्ध नदीके आस पास जो प्रदेश है, उसमें ब्राचड़ा नाम की अपभ्रंश भाषा प्रचलित थी, आधुनिक सिन्धी एवं लहँडा की उत्पत्ति उसी से हुई। कोहिस्तानी और काश्मीरी भाषा जिस अपभ्रंश से निकली, यह पता नहीं, परन्तु ब्राचड़ा अपभ्रंश से वह अवश्य प्रभावित होगी।

दाक्षिणात्य प्रदेश में बोली जानेवाली भाषाओं का सम्बन्ध वैदर्भी और महाराष्ट्री अपभ्रंश से बतलाया जाता है, इसी प्रकार उत्कली अपभ्रंश उड़िया भाषा की जननी कही जाती है।

मागधी अपभ्रंश मगही आदि वर्त्तमान विहारी भाषाओं का आधार है, यही मागधी बंगाल में पहुंच कर प्राच्या अथवा गौड़ी कहलाई, और उसी के अपभ्रंश से बंगला भाषा और आसामी की उत्पत्ति हुई। मागध अपभ्रंश का बड़ा विस्तृत रूप देखा जाता है, उत्कल अपभ्रंश भी उसी के प्रभाव से प्रभावित है, और पूर्व में ढक्की भाषा पर भी उसका अधिकार दृष्टिगत होता है। वह उत्तर दक्षिण और पूर्वमें ही नहीं बढ़ी, उसने पश्चिम में भी अपना विकास दिखलाया और अर्द्धमागधी कहलाई। कि जिसके अपभ्रंश ने अवधी, बघेलखण्डी, और छत्तीसगढ़ी को सृजन किया।

पश्चिमी भारत की वर्त्तमान भाषाओं का सम्बन्ध नागर अपभ्रंश से है, उसका एक रूप शौरसेनी है और दूसरा आवन्ती। शौरसेनी का विस्तार पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी में देखा जाता है। और आवन्ती का प्रभाव राजस्थानी और गुजराती में। कहा जाता है पंजाब से लेकर नैपाल तक के पहाड़ी प्रदेशों में जो भाषा इस समय बोली जाती है, उसका सम्बन्ध भी

उज्जैन प्रान्त की आवन्ती भाषा के अपभ्रंश से ही है, क्योंकि राजस्थानी भाषाओं का जनक वही है, और राजस्थानी भाषाओं का ही अन्यतम रूप इन पहाड़ी भाषाओं में पाया जाता है।

श्रीयुत् डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी महोदय इस अपभ्रंश भाषा के विषय में क्या कहते हैं, उसे भी सुनिये—*

"ईस्वी प्रथम सहस्र वर्षों के बीच में प्राचीन भारतवर्ष में एक नवीन राष्ट्र या साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। यह अपभ्रंश भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत का एक रूप थी। अपभ्रंश भाषा—अर्थात् यह शौरसेनी अपभ्रंश पंजाब से बंगाल तक और नैपाल से महाराष्ट्र तक साधारण शिष्टभाषा और साहित्यिक भाषा बनी। लगभग ईस्वी सन् ८०० से १३ या १४ सौ तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचारकाल था। गुजरात और राजपुताने के जैनों के द्वारा इस में एक बड़ा साहित्य बना। बंगाल के प्राचीन बौद्ध सिद्धाचार्यगण इसमें पद रचते थे, जो अन्तमें भोट (तिब्बती) भाषामें उल्था किये गये। इसके अतिरिक्त भारत में इस अपभ्रंश में एक विराट लोक-साहित्य बना। जिसके टूटे फूटे पद और गीत आदि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्राकृत पिंगल और छन्दोग्रन्थ में पाये जाते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश के प्रतिष्ठा के कई कारण थे। ईस्वी प्रथम सहस्रक की अन्तिम सदियों के राजपूत राजाओं की सभा में यह भाषा बोली जाती थी, क्योंकि यह भाषा उसी समय मध्यदेश और उसके संलग्न प्रान्तों में—आधुनिक पछांह में—सधारणतः घरेलू भाषास्वरूप में इस्तेमाल होती थी। द्वितीय कारण यह है कि इस समय गोरखपंथी आदि अनेक हिन्दू समुदाय के गुरु लोग जो पंजाब और हिन्दुस्तान से नवजाग्रत हिन्दूधर्म की वाणी लेकर भारत के अन्य प्रदेश में गये, वे भी इसी भाषा को बोलते थे, इसमें पद आदि बनाते थे, और इसी में उपदेश देते थे। उसी समय उत्तर भारत के कन्नौजिया आदि ब्राह्मण बंगाल आदि प्रदेश में ब्राह्मण आचार और संस्कृति ले उपनिविष्ट हुये। इन सब कारणों से आज से लगभग एक हज़ार साल

---

* देखिये—विशाल भारत भाग ७ अंक ६ का पृष्ट ८४१

आगे, जिसे हम हिन्दी का पूर्वरूप कह सकते हैं, वही शौरसेनी अपभ्रंश, ठीक उसी प्रकार जैसे आजकल हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी है, एक राष्ट्रीय, साहित्यिक तथा धार्मिक भाषा हुई थी"

अब तक जो कुछ लिखा गया, उससे यह बात प्रकट हुई कि किस प्रकार प्राचीन संस्कृत अथवा वैदिक भाषा से प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति हुई. और फिर कैसे प्राकृत भाषाओं से अपभ्रंश भाषाओं का उद्भव हुआ। यह भी बतलाया जा चुका है, कि अपभ्रंश भाषाओं का परिवर्तित रूप ही वर्त्तमानकालिक बोलचाल की भाषायें हैं, जो आजकल भारतवर्ष के अधिकांश भाग में बोली जाती हैं। हमारी हिन्दी भाषा उन्हीं भाषाओं में से बोल-चाल की एक भाषा है। अपना पूर्वरूप बदलकर वह वर्त्तमान रूप में हमारे सामने है। उसका पूर्वरूप क्या था, उसकी कुछ रचनायें देखिये—विदग्ध मुखमण्डनकार ने अपभ्रंश भाषा की निम्नलिखित कविता बतलाई है—

रसि अह केण उच्चाडण किज्जइ।
जुयदह माणसु केण उविज्जइ।
तिसिय लोउ खणि केण सुहिज्जइ।
एह पहो मह भुवणे विज्जइ।

रसिकों का उच्चाटन किस प्रकार किया जा सकता है, युवतियों का मन किस प्रकार उद्विग्न होता है, तृषितलोक क्षणभर में किस प्रकार सुखी बनाया जा सकता है, हमारा यह प्रश्न भुवन को विदित हो।

रसिअह=रसिकों, केण=क्यों, उच्चाडन=उच्चाटन, किज्जइ=किया जाय, जुयदह=युवति, माणस=मानस, उविज्जइ=ऊबना. तिसिय=तृषित, लोउ=लोक, खणि=क्षण, सुहिज्जइ=सुखित, एह=यह. पहो=प्रश्न, मह=मम, भुवणे=भुवने, विज्जइ=विदित।

वैयाकरण हेमचन्द्र ने अपभ्रंश भाषा का यह उदाहरण दिया है—

बाह बिछोड़वि जाहि तुहुँ हउँ तेवइँ को दोसु।
हिय पट्ठिय जइ नीसरहिं जाणउँ मुंज सरोसु॥

विछोड़बि=छुड़ाना, जाहि=जाते हो, तुहँ=तू, हऊँ=हौं=हम, तेवइं=तिवई=त्रिया, को=कौन, दोसु=दोष, पट्टिय=पट्टी, जद=यदि, नीसरहिं=निकले, जाणउँ=जानूं, सरोसु=सरोष।

ज्ञात होता है हिन्दी भाषा का निम्नलिखित दोहा, इसी पद्य को आधार मानकर रचा गया है, देखिये दोनों में कितना साम्य है

बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहि।
हियरे सों जब जाहुगे सबल बखानों तोहि।

दोनों दोहों का भाव लगभग एक है, परन्तु शब्द विन्यास में अन्तर है। पहले दोहे के जितने शब्द हैं, सभी परिचित से ज्ञात होते हैं। उसके अनेक शब्द ऐसे हैं, जो अबतक हिन्दीमें प्रयुक्त होते हैं, विशेष कर ब्रजभाषा की कविता में।

एक पद्य और देखिये—

अग्गिएं उण्हउ होइ जगु वाएं सीअलु तेंव।
जो पुणु अग्गिं सीअला तसु उण्हत्तणु केंव।

जग अग्नि से ऊष्ण और वायु से शीतल होता है। जो अग्नि से शीतल होता है, वह फिर ऊष्ण कैसे होगा।

अग्गिएं=अग्नि से, उणहउ=उष्ण, होइ=होता है, जग=जगत, वाएं=वायु सीअलु=शीतल, तेंव=त्यों, पुणु=पुनि तसु=सो, केंवँ=क्यों।

अपभ्रंश भाषा की रचनाओं को पढ़कर उसके शब्दों का मैंने जो अर्थ लिख दिया है, उनको देखकर आपलोगों को यह ज्ञात हो जावेगा कि किस प्रकार हिन्दी का विकास अपभ्रंश भाषा से धीरे धीरे हुआ। इस समय हिन्दी भाषा का रूप बहुत विस्तृत है, उसका प्रसार बिहार से पंजाब तक और हिमालय से मध्यप्रदेश तक है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि उस पर दूसरी प्राकृतों के अपभ्रंश का कुछ प्रभाव नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि उसकी उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से हुई है। चिरकाल

तक हिन्दी भाषा का परिचय केवल भाषा कहकर ही दिया जाता रहा। हिन्दी भाषा के प्राचीन साहित्य ग्रन्थों में उसका भाषा नाम ही मिलता है, गोस्वामीजी रामायण में लिखते हैं 'भासाभणिति मोरि मत थोरी, अब भी पुराने विचार के लोग और प्रायः संस्कृत के पण्डित उसे भाषा ही कहते हैं। नागरी यद्यपि लिपि है, परन्तु पहले क्या अब भी बहुत से लोग 'हिन्दी' को नागरी कहते हैं, और नागरी शब्द को हिन्दी का पर्यायवाची शब्द मानते हैं। परन्तु हिन्दी संसार का पठितसमाज कम से कम पचास वर्ष से उसको 'हिन्दी' ही कहता है, और साधारणतया हिन्दी संसार क्या अन्यत्र भी अब वह इसी नाम से परिचित है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि इस हिन्दी नाम की कल्पना क्या आधुनिक है! वास्तव में यह कल्पना आधुनिक नहीं है, चिरकाल से उसका यही नाम है. परन्तु यह सत्य है कि इस नाम के प्रयोग में भ्रान्ति होती आई है, और अब भी कभी कभी वह अपना प्रभाव दिखलाये बिना नहीं रहती। मुसलमान जब भारतवर्ष में आये, और उन्हों ने जब दिल्ली एवं आगरे को अपनी राजधानी बनाई तो अनेक कार्य्य सूत्रसे उनको अपने आसपास की देशी भाषा का नाम करण करना पड़ा। क्योंकि फ़ारसी, अरबी, अथवा संस्कृत तो देशभाषा को कह नहीं सकते थे और वास्तव में वह फ़ारसी, अरबी अथवा संस्कृत थी भी नहीं, इसलिये उन्हों ने देशभाषा का नाम 'हिन्दी' रखा। यह नाम रखने का हेतु यह हुआ कि वे भारतवर्षको 'हिन्द' कहते थे, इसलिये इस देशकी भाषा को उन्हों ने 'हिन्दी' कहना ही उचित समझा। कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दू शब्द से ही हिन्दी शब्द बना, किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि हिन्दू शब्द भी हिन्द शब्द से ही बना है। यद्यपि कुछ लोग यह बात नहीं मानते, और अन्य प्रकार से हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं, परन्तु बहुमान्य सिद्धान्त यही है कि 'हिन्द' शब्द से ही हिन्दू शब्द बना है। क्यों यह सिद्धान्त बहुमान्य है, इस विषय में अपने एक व्याख्यान का कुछ अंश यहां उठाता हूं –

"हिन्दी शब्द उच्चारण करते ही, हृदय उत्फुल्ल हो जाता है, और नस नस में आनन्द की धारा बहने लगती है। यह बड़ा प्यारा नाम है, कहा जाता है, इस नाम में घृणा और अपमान का भाव भरा हुआ है, परन्तु जी इसको

स्वीकार नहीं करता। हिन्दू शब्द से हिन्दी का सम्बन्ध नहीं है, वरन् हिन्द शब्द उसका जनक है—हिन्द शब्द देशपरक है, और भारतवर्ष का पर्य्याय-वाची शब्द है। यदि हिन्दू शब्द से ही उसका सम्बन्ध माना जावे तो भी अप्रियता की कोई बात नहीं। आज दिन हिन्दू शब्दही इक्कीस करोड़ संख्या का सम्मिलन सूत्र है, यह नाम ही ब्राह्मण से लेकर अस्पृश्य जाति के पुरुष तक को एक बन्धन में बाँधता है। आर्य नाम उतना व्यापक नहीं है, जितना हिन्दूनाम, यह कभी बिष रहा हो, पर अब अमृत है। वह पुण्य सलिला सुरसरी जल विधौत, सप्तपुरी पावन रजकणपूत और पुनीत वेद मंत्रों द्वारा अभिमंत्रित है क्या अब भी उसमें अपावनता मौजूद है। इतना निरा-करण के लिये कहा गया, इस विषय में मेरा दूसरा सिद्धान्त है। यह सत्य है कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों अथवा पुराणों में हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं है, यह सत्य है कि मेरुतंत्र का "हीनश्च दूषयत्वेव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये" और शिव रहस्य का "हिन्दूधर्म प्रलोप्तारोभविष्यन्ति कलौयुगे" आधुनिक श्लोक खण्ड हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि विजेता मुसल्मानों ने बलपूर्वक हिन्दुओं से हिन्दूनाम नहीं स्वीकार कराया। यदि बलात् यह नाम स्वीकार कराया गया होता, तो चन्दवरदाई ऐसा स्वधर्माभिमानी अब से सात सौ बरस पहले, अपने निम्न लिखित पद्य में हिन्दुवान, शब्द का प्रयोग न करता। वह लिखता है—

"हिन्दुवान रान भय भान मुखगहिय तेग चहुँआन अब"

वास्तव बात यह है कि फ़ारस निवासी चिरकाल से भारत को हिन्द कहते आये हैं अब से लगभग पांच सहस्र वर्ष की पुरानी पुस्तक ज़िन्दावस्ता में इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है उसकी १६३वीं आयत यह है—

"चूं व्यास हिन्दी बलख आमद
गुस्तास्पज़रतुश्तरा बख्वाँद" "

यह हिन्द नाम सिन्धु के सम्बन्ध से पड़ा है, क्योंकि फ़ारसी में हमारा 'स' 'ह' हो जाता है, जैसे सप्त से हफ़्त, असुर से अहुर, सोम से होम बना

वैसे ही सिंध से हिंध अथवा हिन्द बन गया और इसी हिन्द से ही हिन्दू शब्द की वैसे ही उत्पत्ति है, जैसे इण्डस से इण्डिया और इण्डियन की। जब मुसल्मान जाति विजेता बनकर भारत में आई, तो वह यहां के निवासियों को इसी प्राचीन नाम से ही पुकारती रही, अतएव उसके संसर्ग और प्रभाव से यह शब्द सर्व साधारण में गृहीत हो गया। इस सीधी और वास्तविक बात को स्वीकार न करके यह कहना कि हिन्दू माने काफ़िर के हैं, अतएव वलात् यह नाम हिन्दुओं से स्वीकार कराया गया, अनुचित और असंगत है"।

डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन क्या कहते हैं उसे भी सुनिये—

"यूरोपियन लेखकों ने 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग बड़ी लापरवाही के साथ किया है। यह फ़ारसी शब्द है, और इसका अर्थ है, भारत का अथवा भारत से सम्बन्ध रखनेवाला। परन्तु लोग इसका सम्बन्ध हिन्दू शब्द से वतलाते हैं, जो ठीक नहीं। पुराने समय में भी मध्यभारत की भाषा, भारत में सब से महत्व की होती थी। यह स्थानीय भाषा ही नहीं है, वरन् एक प्रकार से 'हिन्दुस्तानी' है—जो कि उत्तरी और पश्चिमी भारत के बोलचाल की भाषा है" * मुसल्मान लोग हमारी देश भाषा को बहुत पहले से हिन्दी कहते आये हैं, इसका प्रमाण खुसरो की रचनाओं में मौजूद है। खुसरो ईस्वी तेरहवें शतक में हुये हैं—उन्हों ने हिन्दी भाषा में भी रचना की है। हिन्दुओं को फ़ारसी सिखलाने के लिये उन्हों ने खालिकबारी नाम की एक पुस्तक लिखी है— उसमें वे कहते हैं—

* The term " Hindi " is very laxly employed by European writers. It is a Persian word, and properly means " of or belonging to India," as opposed to " Hindu," a person of the Hindu religion......As also was the case in ancient times, the language of this tract (i. e. Madhyadesha) is by far the most important of any of the speeches of India. It is not only a local vernacular, but in one of its forms, "Hindustani," it is spoken over the whole of the north and west of continental India as a lingua franca......"-Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institute. pp. 50-5 (§ 6)

मुश्क काफ़ूरस्त कस्तूरी कपूर ।
हिन्दवी आनन्द शादी औसरूर ।
सोज़नो रिश्ता ब हिंदी सूई ताग ।

इसका अर्थ हुआ मुश्क को कस्तूरी, काफ़ूर को कपूर, शादी और सरूर को आनन्द, एवं सोज़न और रिश्ताको हिन्दी में सूई तागा कहते हैं।

अपनी हिन्दी रचना में एक जगह वे यह कहते हैं—

फ़ारसी बोली आईना । तुर्की ढूंढी पाईना ।
हिन्दी बोली आरसी आए । खुसरो कहे कोई न बताये।

इसका अर्थ हुआ फ़ारसी में जिसे आईना कहते हैं, हिन्दी में उसको आरसी । मालिक मुहम्मद जाईसी भी हिन्दी को हिन्दवी ही कहते हैं—

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि ।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहै ताहि ।

इन पद्यों से यह स्पष्ट हो गया कि अब से छः सात सौ बरस पहले से हमारे मध्यवर्ती देश की भाषा हिन्दी कहलाती है । परन्तु यह अवश्य है कि हिन्दुओं में यह नाम बहुत पीछे गृहीत हुआ है, जैसा मैं ऊपर लिख आया हूं । पहले हिन्दवी अथवा हिन्दुई को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था । हिन्दुई शब्द गँवारी बोलचाल अथवा साधारण कोटि की भाषा के लिये प्रयुक्त होता था । इसीलिये उच्च हिन्दी अथवा उसकी साहित्यिक रचनाओं का नाम भाषा था । परन्तु जब यह भाषा बहुत व्यापक हुई, और उसमें अनेक अच्छे अच्छे ग्रन्थ निर्मित हुए, सुदूर प्रान्तों से सुन्दर सुन्दर समाचार-पत्र निकले तब विचार बदला और उस समय से हिन्दी भाषा कहकर ही उसका परिचय दिया जाने लगा । आज दिन तो हिन्दी अपने नाम के अर्थानुसार वास्तव में हिन्द की भाषा बन रही है ।

चौथा प्रकरण ।

आर्य्य भाषा परिवार ।

हिन्दी के विकास के विषय में और बातों के लिखने के पहिले यह आवश्यक जान पड़ता है कि आर्यभाषा परिवार की चर्चा की जावे। क्योंकि इससे हिन्दी सम्बन्धी बहुतसी बातों पर प्रकाश पड़नेकी सम्भावना है। डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन ने लन्दन के एक बुलेटिन में इस विषय पर एक गवेषणापूर्ण लेख सन् १६१८ में लिखा है, उसी के आधार से मैं इस विषय को यहां लिखता हूं, कुछ और ग्रन्थों से भी कहीं कहीं सहायता ली गई है।

भारत की भाषाओं के तीन विभाग किये जा सकते हैं, वे तीन भाषायें ये हैं—

१ आर्यभाषायें २ द्रविड़भाषायें ३ और अन्य भाषायें। अन्य भाषाओं के अन्तर्गत मुण्डा और तिब्बत बर्मन भाषायें हैं, द्राविड़ भाषा मुख्यतः दक्षिण में बोली जाती है। आर्यभाषा उत्तरी मैदानों में फैली हुई है, गुजरात और महाराष्ट्र प्रान्त में भी उसका प्रचलन है, उसके अन्तर्गत अधिकांश पहाड़ी भाषायें भी हैं। हिन्दूकुश के दक्षिणी पहाड़ी देशों में एक चौथी भाषा भी पाई जाती है, जिसको डार्डिक अथवा वर्तमानकालिक पिशाचभाषा कहते हैं।

१ मध्यदेशीय भाषा उत्तरीय भारत के मध्य में और उसके चारों ओर फैली हुई है, साधारणतया यह पश्चिमी हिन्दी कहलाती है। बांगड़ू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, और बुन्देलखण्डी भाषायें इसके अन्तर्गत हैं। बांगड़ू या हरियानी यमुना के पश्चिम में पूर्व दक्षिणी पंजाब की भाषा है, यह मिश्रित भाषा है, जिसमें हिन्दी, पंजाबी और राजस्थानी सम्मिलित हैं। ब्रजभाषा मथुरा के चारों ओर और गंगा दोआबा के कुछ भागों में बोली जाती है, इसका साहित्य भाण्डार बड़ा विस्तृत है। कन्नौज के आस पास

और अन्तर्वेद में कन्नौजी भाषा का प्रचलन है, यह भाषा उत्तर में नैपाल की तराई तक फैली हुई है इसमें और व्रजभाषा में बहुत थोड़ा अन्तर है। बुन्देलखण्ड की बोली बुन्देली है, जो दक्षिणमें नर्वदा की तराई तक पहुंचती है, यह भाषा भी व्रजभाषा से बहुत मिलती है।

पश्चिमी हिन्दी का एक रूप वह शुद्ध हिन्दी भाषा है, जो मेरठ और दिल्ली के आसपास बोली जाती है, इसको हिन्दुस्तानी भी कहते हैं। गद्य हिन्दी साहित्य और उर्दू रचनाओं का आधार आजकल यही भाषा है, आजकल यह भाषा बहुत उन्नत अवस्था में है, और दिन दिन इसकी उन्नति हो रही है। इसका पद्यभाग उर्दू सम्बन्धी तो बहुत बड़ा है, परन्तु हिन्दीमें भी आजकल उसका विस्तार बढ़ता जाता है। अधिकांश हिन्दी भाषा की कवितायें आजकल इसी भाषामें हो रही हैं, इसको खड़ी बोली कहा जाता है।

बांगड़ू जिस प्रान्त में बोली जाती है, उस प्रान्त का नाम बांगड़ा है, इसी सूत्र से उसका यह नामकरण हुआ है। हरियाना प्रान्तमें इसे हरियानी कहते हैं—करनाटक में यह जाटू कही जाती है, क्योंकि जाटों की वह बोलचाल की भाषा है।

कन्नौजी में साहित्य का अभाव है, इसलिये दिन दिन यह भाषा क्षीण हो रही है, और उसका स्थान दूसरी बोलियाँ ग्रहण कर रही हैं। बुन्देल-खण्डी भाषा में कुछ साहित्य है, परन्तु व्रजभाषा का ही उसपर अधिकार देखा जाता है। साहित्य की दृष्टि से इन सब में व्रजभाषा का प्राधान्य है, जो कि शौरसेनी की प्रतिनिधि है।

'पंजाबी' हिन्दीभाषा के उत्तर-पश्चिम ओर है, और इसका क्षेत्र पंजाब है। पूर्वीय पंजाब में हिन्दी है, और पश्चिमी पंजाब में लहँडा, जो बहिरंग भाषा है। पंजाबी के वर्ण राजपुताने के महाजनी और काश्मीर के शारदा से मिलते जुलते हैं। इसमें तीन ही स्वरवर्ण हैं, व्यञ्जनवर्ण भी स्थान स्थान पर कई ढंग से लिखे जाते हैं। गुरु अंगदजी ने इसका संशोधन ईस्वी सोलहवें शतक में किया, उसी का परिणाम 'गुरुमुखी' अक्षर हैं। अमृतसर

के चारों ओर उच्च-पंजाबी भाषा बोली जाती है। यद्यपि स्थान स्थान पर उसका कुछ परिवर्तित रूप मिलता है, पर वास्तव में भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। 'डोगरी' जम्मूस्टेट और कुछ परिवर्तन के साथ कांगड़ा जिले में बोली जाती है। पंजाबी साहित्य कम है। दोनों ग्रन्थसाहब यद्यपि गुरुमुखी अक्षरों में लिखे गये हैं, परन्तु उनकी भाषा पश्चिमी हिन्दी है, कोई कोई रचना ही पंजाबी भाषा में है। पंजाबी भाषा में सँस्कृत शब्दों का बाहुल्य नहीं है, यद्यपि शनैः शनैः उसमें संस्कृत तत्सम का प्रयोग अधिकता से होने लगा है।

पंजाबियों की यह सम्मति है कि अमृतसर जिले की माझी बोली ही ऐसी है, जिसमें पंजाबी का ठेठ रूप पाया जाता है। मुसल्मानों ने गुजरात और गुजरानवाला में बोले जानी वाली पंजाबी के आधार से अपने साहित्य की रचना की है। इनकी भाषा हिन्दू लेखकों की अपेक्षा अधिक ठेठ है। इनकी भाषा में पश्चिमी हिन्दी का रंग भी पाया जाता है, इस भाषा में अब भी साहित्य की रचना होती है, इस मिश्रित भाषा का पुराना साहित्य भी मिलता है।

मौलवियों और पादरियों ने भी अपने धर्म का प्रचार करने के लिये पंजाबी भाषा में रचना की है, इन में से अबदुल्ला आसो का बनाया हुआ 'अनवाअ बाराँ' बहुत प्रसिद्ध है।

मुसल्मानों ने कुछ जंगनामे और यूसुफ़जुलेखा की कहानी भी पंजाबी भाषा में पद्यबद्ध की है। हीररॉंझे की प्रसिद्ध कथा भी पंजाबी पद्य का सुन्दर ग्रन्थ है, इसकी रचना सय्यद वारिस शाह ने की है, इसकी भाषा ठेठ पंजाबी समझी जाती है।

पंजाबी के दक्षिण में 'राजस्थानी' है, राजस्थानी द्वारा हिन्दी दक्षिण पश्चिम में फैली, हिन्दी 'राजस्थानी' के क्षेत्र में पहुँच कर गुजरात के समुद्र तक बढ़ी और वहाँ गुजराती बन गई। इसीलिये राजस्थानी और गुजराती बहुत मिलती है। राजस्थानी में कई भाषायें अथवा बोलियां हैं, परन्तु उनके चार मुख्य विभाग हैं। उत्तर में 'मेवाती' दक्षिण पूर्व में 'मालवी'

पश्चिम में "मारवाड़ी" और मध्यप्रदेश में 'जयपुरी' का स्थान है। प्रत्येक की बहुतसी उपभाषायें हैं 'दो महत्वपूर्ण विशेषताओं के कारण 'मारवाड़ी' और 'जयपुरी में भेद है। 'जयपुरी' में सम्वन्धकारक का 'चिन्क हो' और क्रिया का पुराना धातु 'अछ' है। परन्तु 'मारवाड़ी' में सम्बन्धकारक का चिन्ह 'रो' और "है" धातु है। गुजराती में कोई निर्देश योग्य अवान्तर भेद नहीं है, परन्तु उत्तरी गुजराती दक्षिणी गुजराती से मुख्य बातों में भेद रखती है। 'राजस्थानो' का स्थान समस्त राजपुताना और उसके आसपास के कुछ विभाग हैं, और गुजराती का स्थान गुजरात और काठियावाड़ हैं, जिनका प्राचीन नाम सौराष्ट्र है।

राजस्थान की बोलियों में 'मारवाड़ी' और 'जयपुरी' ही ऐसी हैं, जिनमें साहित्य पाया जाता है, 'मारवाड़ी' का साहित्य प्राचीन ही नहीं विस्तृत भी है। जिस मारवाड़ी भाषा में कविता लिखी गई है उसे 'डिङ्गल' कहते हैं, इसमें चारणों की बड़ी ओजस्विनी रचनायें हैं। 'जयपुरी' में दादूदयाल और उनके शिष्यों की वाणियां हैं। और इस दृष्टि से उसका साहित्य भी मूल्यवान है। ब्रजभाषा की कविता को पिंगल कहते हैं, उससे भेद करने के लिये ही 'डिंगल' नाम की कल्पना हुई है।

गुजराती साहित्य बड़ा विस्तृत है, इसके निर्माण में जैन साधुओं ने भी हाथ बँटाया है, उन्हों ने धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं लिखे, बड़े बड़े काव्यों की भी रचना की है, जिन्हें रासो अथवा रास कहते हैं। गुजराती साहित्य में पारसी और मुसलमानों की भी रचनायें मिलती हैं, परन्तु उनमें फ़ारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग अधिकतर हुआ है। गुजराती भाषा का प्रतिष्ठित और अधिक प्रसिद्ध कवि नरसिंह मेहता हैं, जो ईस्वी पन्द्रहवें शतक में हुये हैं। ये जाति के नागर ब्राह्मण थे, इनकी रचना भावपूर्ण ही नहीं भक्तिमयी भी है।

मध्यदेशके पूर्व में पूर्वी हिन्दी' है। पूर्वीय हिन्दी पर मध्यदेशीय अथवा पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव बराबर पड़ता रहा है। साथ ही बाहरी भाषाओं के संसर्ग से भी वह नहीं बची, इसलिये उस पर दोनों का अधिकार देखा

जाता है। साधारणतः इसकी संज्ञाओं और विशेषणों का रूप पूर्व की बहिरंग भाषाओं से मिलता जुलता है, और क्रियाओं एवं धातुओं का रूप मध्यदेशीय हिन्दी से। पूर्वीय हिन्दी में तीन प्रधान भाषायें हैं। 'अवधी' 'बघेली' और 'छत्तीस गढ़ी'। अवधी को बैसवाड़ी भी कहते हैं. यह भाषा अवध के दक्षिण पश्चिम में बोली जाती है। कहा जाता है यह बैसवाड़ी राजपूतों की भाषा है। अवधी का दूसरा नाम 'कोशली' है। अवधी और बघेली में बहुत कम अन्तर है। छत्तीसगढ़ी पहाड़ी भाषा है, और अधिक स्वतंत्र है, उस पर कुछ उत्कल भाषा का प्रभाव भी पाया जाता है। यदि पश्चिमी हिन्दी की व्रजभाषा भगवान् कृष्णचन्द्र की गुण गाथाओं से पूर्ण है, तो पूर्वी हिन्दी की अवधी भगवान् रामचन्द्र के कीर्तिकलाप से उद्भासित है। यदि पश्चिमी हिन्दी के सर्वमान्य महाकवि प्रज्ञाचक्षु सूरदास जी हैं, तो पूर्वी हिन्दी के सर्वोच्च महाकवि गोस्वामी तुलसीदास हैं। यदि उन्होंने प्रेमसिद्धान्त की पराकाष्ठा अपनी रचनाओं में दिखलाई, तो इन्होंने भक्तिरस की वह धारा बहाई, जिससे समस्त हिन्दी संसार आप्लावित है। अवधी भाषा के मलिक मुहम्मद जायसी भी आदरणीय कवि हैं, उनका 'पद्मावत' अवधी भाषा का बहुमूल्य ग्रन्थ है, उसमें अधिकतर बोलचाल की भाषा का प्रयोग देखा जाता है, अवधी भाषा में कुछ और ग्रन्थ भी पाये जाते हैं, परन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं है। कबीर साहब को भी अवधी भाषा का कवि माना जाता है, उन्होंने स्वयं लिखा है, 'बोली मेरी पुरब की, परन्तु उनकी रचनाओं के देखने से यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। उनके पद्यों की विचित्र भाषा है, उसमें किसी भाषा का वास्तव रूप नहीं दिखलाई देता। नागरी प्रचारिणी सभा से जो उनकी ग्रन्थावली निकली है, और जो उनके समय में लिखित पुस्तक के आधार से सम्पादित हुई है, उसमें पंजाबी भाषा का ढंग ही अधिक देखा जाता है। अवधी भाषा में साहित्य है, परन्तु व्रजभाषा के समान वह विस्तृत और विशाल नहीं है। गोस्वामी तुलसीदास और कविवर सूरदास को छोड़कर हिन्दी संसार के जितने कवि और महाकवि हुये हैं, उन सबकी अधिक रचनायें व्रजभाषा में ही हैं। एक से एक बड़े कवियों का सहारा पाकर पांच सौ वर्ष में व्रजभाषा का

साहित्य-भाण्डार जितना बड़ा और विशाल हो गया है, उतना बड़ा भाण्डार किसी दूसरी देशभाषा का नहीं है।

दक्षिण भारत में मराठी ही एक ऐसी भाषा है, जिसको आर्यभाषा परिवार की कह सकते हैं। मराठी को महाराष्ट्री प्राकृत की जेठी बेटी कह सकते हैं। वह दक्षिणी उपत्यका, पश्चिमीघाट और अरब समुद्र के मध्य भाग में बोली जाती है। यह बरार और उसके पूर्व के कुछ प्रदेशों की भी भाषा है, इसका प्रचार मध्यप्रान्त में भी देखा जाता है, परन्तु वहां उसका शुद्ध रूप अधिक सुरक्षित नहीं मिलता। बस्तर राज्य में से होते हुये, यह उड़िया भाषा की कुछ भूमि में भी प्रवेश कर जाती है। इसके दक्षिण में द्राविड़ भाषायें हैं, और उत्तर पश्चिम में राजस्थानी, गुजराती, और पूर्वी एवं पश्चिमी हिन्दी हैं। मराठी अपने पूर्व की छत्तीसगढ़ी हिन्दी से बहुत कुछ समानता रखती है।

मराठी में तीन प्रधान भाषायें अथवा बोलियाँ हैं। पहली देशी मराठी है, जो पूना के चारों ओर शुद्धतापूर्वक बोली जाती है। उत्तरी और मध्य कोकण में यही भाषा अनेक रूपों में दिखलाई देती है, पर सच्ची कोकणी ही दूसरी भाषा है जो कोकण के दक्षिण भाग में पाई जाती है, और इन सबों से भिन्नता रखती है। तीसरी बरारी और नागपुरी है जो बरार और मध्यप्रान्त के कुछ भाग में प्रचलित है, शुद्ध मराठी में और इसमें उच्चारण सम्बन्धी भिन्नता है। बस्तर में बोली जानेवाली भाषा को 'हलाबी कहते हैं, इसमें मराठी और द्राविड़ी का मिश्रण देखा जाता है। पहली मराठी ही शिष्टभाषा समझी जाती है, और साहित्य इसी भाषा में है। मराठी साधारणतः नागरी अक्षरों में लिखी जाती है, कोकणी भाषा के लिखने में कनारी वर्णों से काम लिया जाता है। मराठी का साहित्य-भाण्डार बड़ा है, और इसमें मूल्यवान कविता पाई जाती है। एक बात में मराठी कुल आर्य-परिवार की भाषाओं से पृथक् है, वह यह कि मराठी के उच्चारण पर वैदिक-काल का प्रभाव देखा जाता है, जब कि अन्य भाषाओं ने अपने उच्चारण को स्वतंत्र कर लिया है।

मराठी का पुराना रूप ताम्रपत्रों और शिला-लेखों में पाया जाता है, ईस्वी बारहवें शतक के कुछ ऐसे ताम्रपत्र और शिलालेख पाये गये हैं। ईस्वी चौदहवें शतक में ज्ञानदेव नामक एक प्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं. उन्होंने भगवद् गीता पर मराठी में ज्ञानेश्वरी टीका लिखी है। उन्हीं के समय में नामदेवजी भी हुये, जिनकी हिन्दी रचना भी पाई जाती है। मराठी के अभंगों के रचयिताओं में एकनाथ और तुकाराम का नाम अधिक प्रसिद्ध है। स्वामी रामदास का 'दासबोध' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ईस्वी उन्नीसवें शतक में मोरोपन्त एक बड़े प्रसिद्ध कवि हो गये हैं।

पूर्वी हिन्दी के पूर्व में बिहारी भाषा है, आजकल बिहारी भाषा भी हिन्दी ही मानी जाती है। बिहारी कुल बिहार छोटानागपुर और संयुक्त-प्रान्त के कुछ पूर्वी भागों में बोली जाती है। अबतक इसमें मागधी प्राकृत की दो विशेषतायें पाई जाती हैं। 'स' का श में बदल जाना और अकारान्त शब्दों का एकारान्त हो जाना। बिहारी की तीन प्रधान भाषायें हैं, मैथिली, मगही और भोजपुरी। ईस्वी पन्द्रहवीं शताब्दी से मैथिली में कुछ साहित्य पाया जाता है। 'मगही' प्राचीन मागधी प्राकृत की प्रतिनिधि है, और उसी के अपभ्रंश से वर्त्तमान रूप में परिणत हुई है। मैथिली और मगही के व्याकरण और शब्दों में बहुत समानता है, पर मगही में साहित्य का अभाव है। भोजपुरी का इन दोनों से अधिक अन्तर है. यह दोनों से सीधी है। मगही को तिरहुतिया भी कहते हैं। हार्नल महोदय ने बिहारी को पूर्वी हिन्दी कहा है।

मैथिल कोकिल विद्यापति मैथिली भाषा के बहुत बड़े कवि हुये हैं, इनकी रचनायें बड़ी ही मधुर एवं भावमयी हैं। उनकी पदावली बहुत ही सरस है, उसमें श्रीमती राधिका के मधुर भावों का बड़ा हृदयग्राही चित्रण है। उनकी रचना की जितनी ममता हिन्दी भाषावालों को है, उतनी ही बँगला भाषियों को। व्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग उनकी रचनाओं में बड़ी ही रुचिरता के साथ किया गया है। भोजपुरी में भी साहित्य नहीं मिलता, परन्तु इस भाषा में लिखे गये ग्रामीण गीत प्रायः सुने जाते हैं, जो बड़े ही

मनोहर होते हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने हाल में जो ग्राम्य गीतों का संग्रह प्रकाशित किया है, उसमें भोजपुरी गीतों का भी पर्याप्त संग्रह हो गया है।

बिहारी के दक्षिण पूर्व में बोलीजानेवाली भाषा उड़िया कहलाती है। मागधी अपभ्रंश से ही इसकी उत्पत्ति भी मानी जाती है, जहां पर यह मराठी भाषा के समीप पहुंचती है, वहां इसमें उसका मिश्रण भी देखा जाता है। बंगाल के समीप पहुंच कर यह बंगाली भाषा से भी प्रभाविन है। उड़िया को उत्कली और उड़ी भी कहते हैं। इसमें साहित्य भी पाया जाता है और इस भाषा के भी अच्छे अच्छे कवि हुये हैं। अधिकांश रचनायें इसकी कृष्णलीलामयी हैं, और उनमें यथेष्ट सरसता है।

यह भाषा उड़ीसा में, बिहार, मद्रास' एवं मध्यप्रान्त के कुछ भागों में बोली जाती है, महाराज नरसिंह देव द्वितीय के एक शिला लेख में इसके प्राचीन स्वरूप का कुछ पता चलता है, यह शिला लेख विक्रमी चौदहवें शतक का है। इसका आदि कवि उपेन्द्र भञ्ज समझा जाता है। कृष्ण दास का रसकल्लोल नामक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। इस भाषा का आधुनिक साहित्य भी विशेष उन्नत नहीं है।

बंगाल की भाषा बँगला है। ईस्वी चौदहवें शतक के उपरान्त, इसका साहित्य बढ़ने लगा, और इस समय बहुत ही समुन्नत है। इसकी बोल चाल की भाषा के प्रधान रूप तीन हैं पूर्वी, पश्चिमीय और उत्तरीय। प्रत्येक में अलग २ कई बोलियां हैं। हुगली के चारों ओर पश्चिमीय है, और गंगा के उत्तर प्रदेश में उत्तरीय, जो कि उड़िया भाषा से मिलती जुलती है। ढाका के आस पास पूर्वीय भाषा है, जो स्थान स्थान पर परस्पर बड़ी भिन्नता रखती है। रंगपुरी भाषा आसाम के पश्चिमी छोर पर है, और उत्तरी बंगाल से लगे हुये हिस्सों में बोली जाती है। चटगाँव के आस पास उच्चारण की विशेषताओंके कारण बिल्कुल एक नये ढंगकी बोली बन गई है, जो कठिनता से बँगला कही जा सकती है। बँगला में 'स' का उच्चारण 'श' होता है इस विषय में वह मागधी से मिलती है। प्राचीन बंगाली कविता में मागधी प्राकृत के कर्ता का चिन्ह 'ए' भी सुरक्षित पाया जाता है। जैसे 'इष्टदेव'

और 'नयनम्' के स्थान पर नयने' आदि। यह चिन्ह वर्त्तमान बँगला गद्य में भी पाया जाता है।

बँगला भाषा इस समय आर्य परिवार की समस्त भाषाओं से उन्नत है। उसका साहित्य भाण्डार सर्व विषयों से परिपूर्ण है। प्रत्येक विषय के ग्रन्थों की रचना उसमें हुई है, और होती जा रही है। विश्वकवि श्री युत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनाओं से उसको बहुत बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जैसे कृतविद्य लेखक इस समय बँगला भाषा में हैं, भारतीय किसी भाषा में नहीं हैं। बँगला के साहित्य में मानिकचन्द के गीत सब से प्राचीन हैं। चण्डी दास और कीर्तिवास भी बहुत बड़े कवि हो गये हैं। आधुनिक कवि और लेखकों में बाबू बंकिमचन्द्र चटर्जी और माइकेल मधुसूदनदत्त आदि ने भी बड़ी कीर्ति पाई है।

आसाम में बोलीजानेवाली भाषा आसामी कहलाती है, यह आर्य्य-परिवारकी एक भाषा है। इसदेश में रहनेवाली बहुतसी जातियाँ तिब्बती वर्मन भाषा में बातचीत करती हैं। मगध की मागधी प्राकृत का पता तीन धाराओं से लगाया जा सकता है। पहली धारा है दक्षिण में बोलीजानेवाली उड़िया, दूसरी है दक्षिण और पूर्व की पश्चिमीय और पूर्वीय बँगला, तीसरी उत्तर पूर्व की आसामी। बँगला भाषा ही अधिक उत्तर पूर्व में पहुंच कर आसामी बन गई है। यद्यपि कि आसामी तिब्बती वर्मन भाषा के प्रभाव और संसर्ग के कारण व्याकरण और उच्चारण दोनों में बँगला से बहुत भिन्नता रखती है, परन्तु बँगला से परिवर्तित होकर वर्त्तमान रूप धारण करनेके प्रमाण उसमें बहुत अधिक मौजूद हैं। इस का साहित्य भी उन्नत है, और इसमें बहुत से ऐतिहासिक ग्रन्थ हैं, जिनको आसामी 'बूरंजी, कहते हैं। कुछ काल तक पादरियों की चेष्टा से आसामी भाषा अपने मुख्यरूप में बँगला से अधिक उन्नत हो गई थी, पर अब फिर उसमें संस्कृत शब्दों का अधिक प्रवेश हो रहा है।

आसाम को ही संस्कृत में कामरूप कहा गया है, बंगाली उसे 'ओशोम. कहते हैं, इसी 'ओशोम' से पहले 'ओशोमी' और बाद को आसामी उसकी भाषा का नाम पड़ा। इसमें दूसरे प्रकार के साहित्य भी हैं। आसामी भाषा

का सब से प्राचीन ग्रन्थ भागवत का अनुवाद है, जो कि ईस्वी चौदहवें शतक में हुआ था। श्री शंकर नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुवाद किया था।

कुछ पहाड़ी भाषायें भी ऐसी हैं कि जिनका सम्बन्ध आर्यपरिवार की भाषा से है। इस प्रकार की भाषायें तीन हैं. और वे पूर्व में नैपाल से लेकर पश्चिम में पंजाब की पहाड़ियों तक फैली हुई हैं। इनकी संज्ञा है— (१) पूर्वीय पहाड़ी (२) मध्यपहाड़ी (३) और पश्चिमीय पहाड़ी।

योरोपियन लोग नैपाली भाषा को पूर्वीय पहाड़ी भाषा कहते हैं परन्तु यह ठीक नहीं। नैपाल की भाषा का नाम 'नेवारी' है। पूर्वीय पहाड़ी के और भाषाओंका नाम, पार्वतीय, पहाड़ी भाषा और खसकुरा है। यह 'खसकुरा. खसों की भाषा है, और नागरी लिपि में लिखी जाती है।

गढ़वाल और कुमायूं के ब्रिटिश जिलों की और गढ़वाल रियासत की भाषा मध्यपहाड़ी कहलाती है। इसकी दो प्रधान शाखायें हैं. कमायूनी और गढ़वाली। इन दोनों भाषाओं में साहित्य बहुत कम है, इनी गिनी पुस्तकें ही इसमें मिलती हैं।

शिमला और उसके आस पास की पहाड़ियों में एक दूसरे से मिलती जुलती कई भाषायें हैं, जिन्हें पश्चिमी पहाड़ी कहते हैं। इन भाषाओं में कोई साहित्य नहीं है। इनका क्षेत्र पश्चिमोत्तर प्रदेश में जौंसार और बावर से प्रारंभ होकर पंजाब की रियासतों सिरमौर, मण्डी, चम्बा. तथा शिमला पहाड़ी, और कुल्हू होते हुये पश्चिममें काश्मीर तक विस्तृत है। इन भाषाओं में, जौंसारी, किउँथली. कुलहुई, चमिआल्ही आदि प्रधान हैं।

ए पहाड़ी भाषायें राजस्थानी भाषासे मिलती जुलती हैं। इनमें गुजराती भाषा का भी पुट है। कारण इसका यह है कि सोलहवें ईस्वी शतक में और उससे कुछ पहले भी विशेष कर मुसलमानों के समय में राजस्थान अथवा गुजरात से कुछ विजयिनी जातियां मुख्यतः राजपूत इन प्रदेशों में आये, और वहां की मुण्डा तथा तिब्बती बर्मन आदि जातियों को जीत

कर वहां अपना राज्य स्थापित किया। उनके प्रभाव से ही जनता में उनका धर्म और भाषा भी फैली। कुछ कालोपरान्त इस प्रदेश में लगभग सभी हिन्दू धर्मावलम्बी हो गये और सभी की भाषा थोड़े परिवर्तन से राजस्थानी बन गई। मैं पहले लिख आया हूं कि गुजराती और राजस्थानी में थोड़ा ही अन्तर है, यही बात यहां के भाषा में भी पाई जाती है।

उत्तरी पश्चिमीय समूहकी भाषा लहन्दी और सिन्धी भी आर्य परिवारकी है। लहन्दा पश्चिमी पंजाब की भाषा है, उसको पश्चिमीय पंजाबी, जाटकी, उच्ची और हिन्दकी भी कहते हैं। लहन्दा का शब्दार्थ है, सूर्य्य का डूबना, अथवा पश्चिम। जटकी का अर्थ है जाटों की भाषा। उच्ची का अर्थ है उच्च नगर की भाषा। 'हिन्दकी, हिन्दुओं की भाषा है, यह पश्चिमी भाग में बोली जाती है, यहां पश्तो बोलनेवाले मुसलमान रहते हैं।

लहन्दा की तीन बोलियां हैं। दक्षिणीय या मुलतानी, उत्तरीय पूर्वी या पोठवारी, उत्तरीय पश्चिमी या धन्नी। लहन्दा में ग्राम्यगीतके अतिरिक्त और कोई साहित्य नहीं है। ईस्वी सोलहवें शतककी लिखी हुई गुरु नानक देवकी एक जन्म साखी (जीवन चरित्र) और कुछ साधारण कवितायें जहां तहां मिल जाती हैं। मुसल्मानों की कुछ रचनायें पोठहारी बोली में पाई जाती हैं। परन्तु उसको लोग पंजाबी भाषा में लिखी गई मानते हैं।

सिन्धी सिन्ध की भाषा है, दक्षिणमें यह समुद्र तक फैली हुई है, उत्तरमें आकर यह लहन्दा से मिल जाती है। सिन्ध में प्राचीन काल का व्राचड़ देश था, प्राकृत वैयाकरणोंने यहां व्राचड़ अपभ्रंश और व्राचड़ पैशाची का होना स्वीकार किया है। सिन्धी की पांच भाषायें हैं, १- विचोली, सिराइकी, लाड़ी, थरेली, और कच्छी। विचोली भाषा मध्य सिंध की है, साहित्यिक यही भाषा है, और इसी में साहित्य है। सिरइकी— विचोली का एक रूप है, वास्तव में उसकी भिन्न सत्ता नहीं है। केवल थोड़ा बहुत उच्चारण का अन्तर है। सिंधी सिराइकी को सब से शुद्ध समझते हैं। लाड़ी लाड़ प्रदेश की भाषा है— इसमें भद्दापन है। लाड़ का शब्दार्थ है ढालुवां। विचोली और इसमें यह अन्तर है कि इसमें बहुत से प्राचीन रूप पाये जाते हैं,

वर्त्तमान पिशाच भाषा की विशेषतायें भी इसमें मिलती हैं । थरेली और कच्छी दोनों मिश्रित भाषायें हैं । पहली भाषा थारू में बोली जाती है, और यह परिवर्तनशील है, क्योंकि सिंधी भाषायें धीरे धीरे राजस्थानी मारवाड़ी द्वारा प्रभावित होती जाती हैं । कच्छी कच्छ में बोली जाती है, इसमें सिन्धी और गुजराती का मिश्रण है । सिन्धी में साहित्य है, परन्तु थोड़ा । थरेली को 'बरोची, और ढाटका भी कहते हैं, थलसे थरु शब्द बना है, इस थरु में बोले जाने के कारण ही 'थरेली, नाम की रचना हुई है । सिरादकी को कुछ सिंधी पृथक् बोली मानते हैं । अब्दुल लतीफ़ नाम का एक प्रसिद्ध कवि ईस्वी अठारहवीं सदी में हो गया है । उसने जो ग्रन्थ रचा है, उसका नाम 'शाहजो रिसालो, है । इसमें सूफ़ी मत के सिद्धान्तों की छोटी छोटी कथायें लिख कर समझाया गया है । सिंधी इसको सिंध का हाफ़िज़ कहते हैं । इस भाषा में वीररस की कुछ सुन्दर कवितायें भी मिलती हैं ।

पैशाची भाषाके विषय में पहले कुछ चर्चा हो चुकी है, उसके सम्बन्ध की विशेषता यहां लिखी जाती है । वर्त्तमान पिशाच भाषा के बोलनेवाले दक्षिण में काबुलनदी के पास और उत्तर पश्चिम और हिमालय की नीची श्रेणियों में और उत्तर में हिन्दूकुश एवं मुस्तग श्रेणियों के बीच में रहते हैं । इसके तीन विभाग हैं, काफिर, खोआर और डर्ड । काफ़िरके बोलनेवाले काफिरिस्तान में रहते हैं, बशगली इनकी प्रसिद्ध भाषा है, डेविडसन ने इस पर एक अच्छा व्याकरण लिखा है, कोनो ने इस भाषा का एक कोश भी लिख दिया है । इसके बोलनेवाले काफिरिस्तान की बशगल नामक तराई में रहते हैं, इसीसे इसका नाम बशगली है । इसके दक्षिण में वाई—काफ़िर रहते हैं, जिनकी बोली वाई-अला है, इसमें और बशगली में बड़ी घनिष्टता है । 'वेरों' बशगली के पश्चिम की दुर्गम घाटियों में रहनेवाले प्रेशुओं की भाषा है, इसमें और बशगली में बड़ा अन्तर है । वेरों में जैसी कि स्थिति संकेत करती है, अन्य भाषा की अपेक्षा ईरानियन प्रभाव ही अधिक है—जैसे कि 'ड' का 'ल' में बदल जाना । परन्तु दूसरी ओर यह उच्चारण में डार्ड भाषा से मिलती है, जो बात और काफ़िर भाषाओं में नहीं पाई जाती । गबरवटी या गब्रभाषा गबेरों की भाषा है जो कि

नसरत देश की एक जाति है, यह देश बशगल और चित्राल नदियों के संगम पर है 'कलाशा' कलाशा—काफ़िरों की भाषा है, यह भी इन्हीं दोनों नदियों के दोआबमें बोली जाती है। विडलफने गवरबटी भाषाका शब्दकोष बनाया है, लेटनर का डार्डिस्तान, कलाशा के विषय में बहुत कुछ बतलाता है। 'पशाई' पैशाची से निकली है, और लगमन के देहकानोंकी बोली है। पशाई पर जो कि सबसे दक्षिण की भाषा है, पश्चिमी पंजाब के एण्डोएरियन भाषाओं का प्रभाव है। दूसरी ओर कलाशा लोअर भाषा से प्रभावित है। कुल काफ़िर भाषाओं पर पास की पश्तो भाषा का बहुत बड़ा असर देखा जाता है।

खोआर 'खोयाको' जाति की भाषा है, इसका स्थान वर्त्तमान पिशाच भाषाओं के काफ़िर और डार्ड समूह के मध्य में है। यह अपर चित्राल और यासीन के एक भाग की भाषा है। इसे चित्राली या चत्रारी भी कहते हैं। लेटनर के डार्डिस्तान' नामक ग्रन्थ में इसके विषय में बहुत कुछ लिखा हुआ है, इस भाषा पर विडल्फ और ग्रीयेन ने व्याकरण भी बनाया है।

डार्ड भाषा समूह में सबसे प्रधान शिना है। यह शिन जाति की भाषा है। ये लोग काश्मीर के उत्तर के रहनेवाले हैं। विडल्फ की ट्राइव्स आव दि हिन्दूकुश और लेटनर, के 'डार्डिस्तान' के देखने से इस बड़ी जाति और इसकी भाषा के विषय का पूरा ज्ञान होता है। मेगस्थिनीज़ ने इनको 'डरडेई' कहा है, और महाभारत में इन्हें डारडस लिखा गया है। शिना की बहुत सी बोलियां हैं, उनमें सबसे मुख्य 'जिलजित' घाटी की 'जिलजित' भाषा है। अस्तोर घाटी में बोली जाने वाली भाषा अस्तोरी कहलाती है। चिलासी, गुरेज़ी, ट्रास और डाहहनू की दो दो भाषायें हैं, जिनके साथ 'बालती' का व्यवहार भी किया जाता है। यूरोपियनों ने 'डार्ड' शब्द का प्रयोग हिन्दूकुश के दक्षिण में बोलीजानेवाली कुल इण्डोएरियन भाषाओं के लिये किया है। डार्डिक शब्द इसी से निकला है, जो वर्त्तमान पिशाची भाषा का भी बोधक है।

काश्मीरी अथवा काशीरू काश्मीर की भाषा है, इसका आधार शिना

की तरह की एक भाषा है। काश्मीरी के बहुत से शब्द—जैसे व्यक्तिवाचक, सर्वनाम अथवा घनिष्टताबोधक—प्रायः शिना के समान हैं। बहुत पहले से ही संस्कृत के प्रभाव में रहकर इसने अपने साहित्य का विकास अधिक किया है, इस कारण इसके शब्द भाण्डार पर संस्कृत या उसके अन्य अंगों का बहुत प्रभाव पड़ा है। विशेष करके पश्चिम पंजाब की लहन्दा भाषा का जो कि काश्मीर के दक्षिणी सीमा पर प्रचलित है। ईस्वी चौदहवें शतक से अट्ठारहवें शतक के आरम्भ तक काश्मीर मुसलमानों के अधिकार में रहा है। इन पांच सौ वर्षों में बहुत लोग मुसलमान हो गये, और इसी सूत्र से काश्मीरी भाषा में अनेक अरबी, फ़ारसी के शब्द भी सम्मिलित हो गये इसका प्रभाव बचे हिन्दुओं की भाषा पर भी पड़ा है। काश्मीरी में आदरणीय साहित्य है। १८७५ ई० में ईश्वर कौल ने संस्कृत भाषा के व्याकरणकी प्रणाली पर काश्मीर शब्दामृत नामक एक व्याकरण भी बनाया है। इन्हों ने इस भाषा की उच्चारण प्रणाली को बहुत सुधारा है, फिर भी वह सर्वथा निर्दोष नहीं हुई है। स्थान स्थान पर काश्मीरी भाषामें भिन्नता भी है. इसकी सबसे प्रधान भाषा काष्टवारी है। स्थानीय भाषाओं के नाम 'दोड़ी' रामबनी और 'पौगुली' है। काश्मीरी ही एक ऐसी पैशाची भाषा है, कि जिसके लिखने के वर्ण निजके हैं, उसे शारदा कहते हैं। प्राचीन पुस्तकें इसी वर्ण में लिखी हुई हैं।

'मैया' एक और भाषा है. जो वास्तवमें बिगड़ी हुई शिना है, यही नहीं. कोहिस्तान में शिनाके आधारसे बनी हुई, बहुतसी बोलियां बोली जाती हैं। परन्तु दक्षिणी भागमें लहन्दा और पश्तो का अधिक प्रभाव देखा जाता है। ये सब भाषायें कोहिस्तानी कहलाती हैं, परन्तु इनमें 'मैया' को प्रधानता है। इन भाषाओं का उल्लेख विडल्फ ने अपने ग्रन्थ ट्राइब्स आव दि हिन्दूकुश, में किया है। इनमें से किसी में न तो साहित्य है. और न लिखने के वर्ण। कोहिस्तान पर बहुत समय तक अफ़ग़ानों का अधिकार रहा है, इसीलिये वहां अब पश्तो का ही अधिक प्रचार है, कोहिस्तानी उन मुसलमानों की ही भाषा रह गई है, जिनको अपनी प्राचीन भाषा से प्रेम है।

सिंध नदी के इस कोहिस्तान के पश्चिम में स्वातनदी का कोहिस्तान है, यहां की प्रधान भाषा भी पश्तो ही है, पर यहां भी अब तक कुछ ऐसी जातियां हैं, जो शिना के आधार पर बनी हुई बोलियाँ बोलती हैं। प्रधान भाषा गरबी, और अन्य भाषायें तोरवाली या तोरवल्लाव और वाश्कारिक हैं। बिडल्फ ने इन बोलियों का भी वर्णन किया है। मैया और गरबी दोनों मिश्रित भाषायें हैं।

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि प्राचीन पैशाची के बहुत से शब्द और रूप वर्तमान पैशाची की बिविध शाखाओं में अब तक थोड़े से परिवर्त्तन के साथ पाये जाते हैं। जैसे कलाशा में ककबक, बेरों में ककोकु, वशगली में ककक इत्यादि, इस शब्द का अर्थ है चिड़िया। वैदिक संस्कृतमें इसको 'कृकवाकु कहते हैं। खोआरमें द्रोखम शब्द मिलता है, जो संस्कृत का द्रम है, जिसका अर्थ है चांदी। संस्कृत क्षीर वशगली का शीर है, जिसका अर्थ श्वेत है। संस्कृत का स्वसार खोआर का इस्युसार है, जिसका अर्थ बहिन होता है।

हिन्दूकुश में दो छोटे छोटे राज्य हैं, हुञ्जा और नागर। यहां के रहनेवालों की एक अलग भाषा है, परन्तु यह आर्य भाषा नहीं है। इसका सम्बन्ध किसी भी भाषा के बंश के साथ अब तक नहीं हुआ है। यह भाषा अपने प्राचीन रूप में, वर्त्तमान पिशाच भाषा बोले जानेवाले देशों में, और बलतिस्तान के पश्चिम में जहां कि अब तिब्बतीबर्मन भाषा बोली जाती है, एक समय में बोली जाती थी। ए अनार्य्य भाषायें 'बुरुशस्की, 'बिड्ल्प, की ब्रूशस्की और लैतनेट की खजुवा हैं। लगभग कुल वर्त्तमान पिशाच भाषाओं में इसके फुटकैल शब्द पाये जाते हैं। जैसे—बर्मी शब्द, चोमार, जिसका अर्थ लोहा है, काश्मीरी के सिवा प्रत्येक वर्त्तमान पिशाच भाषाओं में बोला जाता है। यह शायद इसी भाषा का प्रभाव है, कि वर्त्तमान पिशाच भाषा में 'र' अक्षर का विचित्र प्रयोग है। इन सब भाषाओं में यह 'र' अक्षर तालव्य होने की ओर झुकाव रखता है। इस झुकाव की उत्पत्ति वर्त्तमान पिशाच भाषा से नहीं हुई है। क्यों कि इसका सम्बन्ध केवल इसी भाषा से

नहीं है, और न यह किसी एक समूह की सम्बन्धित भाषाओं की विशेषता है। वरन् यह एक देश की भाषा विशेष की विशेषता है, अर्थात् कुल वर्त्तमान पिशाच भाषाओं और निकटके बलतिस्तान भर में इसका प्रचार है। तिब्बती बर्मन भाषा बालती में कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं, जो कि पूर्वी तिब्बती बर्मन भाषाओं में (जैसे पुरिक और लद्दाखी) में नहीं दिखाई देते। तिब्बती बर्मन भाषा बालती और वर्त्तमान आर्य भाषा पैशाची की अर्थात् दोनों की यह विशेषता एक ही उद्गम से आई है, और इस देश में वही इनका पूर्वज है। खास बुरुशस्की में परिवर्तन के इस तरह के उदाहरणों का मिलना असंभव है, क्योंकि इसके आस पास कोई ऐसी भाषा नहीं है, जिस से उस की तुलना की जा सके। यह अकेली है, और जाने हुये इसके एक भी सम्बन्धी नहीं हैं।

कहा जाता है पैशाची भाषा में गुणाढ्य नामक एक विद्वान्ने 'बड्डकथा' अर्थात 'बृहत्कथा' नामक एक ग्रन्थ लिखा था. यह ग्रन्थ अब नहीं प्राप्त होता। इसका संस्कृत अनुवाद पाया जाता है, जो काश्मीर के दो विद्वानों का किया हुआ है; इनका नाम क्षेमेन्द्र और सोमदेव था। इस संस्कृत ग्रन्थ का नाम 'कथासरित्सागर' है। 'बड्डकथा, पैशाची भाषा के साहित्य का प्रधान ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त काश्मीरी भाषामें कुछ और ग्रन्थ हैं, परन्तु उनमें कोई विशेष प्रसिद्ध नहीं है।

काश्मीरी भाषा की प्रथम कवि एक स्त्री है, जिसका नाम लल्ला अथवा लालदेद था, वह चौदहवीं ईस्वी शताब्दी में हुई है। मुसल्मान कवियों में महमूद गामी प्रसिद्ध है, यह अठारहवें शतक में था, इसने 'यूसुफ़जुलेखा' 'लैलामजनू' और 'शीरींफ़रहाद' नाम की पुस्तकें फ़ारसी ग्रन्थों के आधार से लिखी हैं।

हेमचन्द्र ने दो प्रकार की पैशाची का वर्णन अपने प्राकृत व्याकरण में किया है पहली को केवल पैशाची और दूसरी को चूलिकापैशाची लिखा है। पैशाची का वर्णन पाद ४ के ३०३ से ३२४ तक के सूत्रों में और चूलिका पैशाची का निरूपण ३२५ से ३२८ तक के सूत्रों में किया गया

है। रामशर्म्मा ने अपने प्राकृत कल्पतरु में पैशाची के दो भेद लिखे हैं, (१) शुद्ध और (२) संकीर्ण। शुद्ध के सात और संकीण के चार उपभेद उन्हों ने बतलाये हैं—शुद्ध के सात भेद ये हैं—

(१) मगधपैशाचिका (२) गौड़ पैशाचिका (३) शौरसेनी पैशाचिका (४) केकयपैशाचिका (५) पांचाल पैशाचिका (६) ब्राचडपैशाचिका (७) सूक्ष्मभेदपैशाचिका।

संकीर्ण के चार उपभेद ये हैं -

(१) भाषाशुद्ध (२) पदशुद्ध (३) अर्द्धशुद्ध (४) चतुष्पद शुद्ध।

आर्यभाषा परिवार में सिंहली और जिप्सी भाषाओं की भी गणना की जाती है।

अब से ढाई सहस्र वर्ष पहले विजयकुमार अपने अनुयायियों के साथ सिंहल गया था, और वहां उसने बुद्ध धर्म के साथ आर्य भाषा का भी प्रचार किया था। उसीकी संतान सिंहली है, जो अब तक वहां प्रचलित है। सिंहली का प्राचीन रूप ईस्वी दशवें शतक का है, उसको 'इलु' कहते हैं। इस सिंहली का प्रभाव मालद्वीपभाषा पर भी पड़ा है। इस भाषा में थोड़ा बहुत साहित्य भी है। किन्तु कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ नहीं है।

पश्चिमी एशिया एवं यूरप के कई भागों में फिरने वाली कुछ जातियां 'जिप्सी' कहलाती हैं, ये किसी स्थान विशेष में नहीं रहतीं, यत्र तत्र सकुटुम्ब पर्यटन करती रहती हैं। इनकी भाषा का नाम भी जिप्सी है। ईस्वी पाँचवी शताब्दी में जो प्राकृत रूप आर्यभाषा का था, इनकी भाषा उसी की संतान है। यद्यपि भिन्न भिन्न स्थानों में भ्रमण करते रहने और अनेक भाषाभाषियों के संसर्ग से उनके भाषा में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। परन्तु उनकी भाषा के शब्द भाण्डार पर आर्यभाषा की छाप लगी स्पष्ट दृष्टिगत होती है।

प्रकरण ।

अन्तरंग और वहिरंग भाषा ।

जिन आर्य परिवार की भाषाओं का वर्णन अभी हुआ, कहाजाता है, उनमें दो विभाग हैं। एक का नाम है अन्तरंगभाषा और दूसरी का वहिरंग। इनभाषाओं की मध्य की भाषा को मध्यवर्ती भाषा कहते हैं. और वह है अर्धमागधी से प्रसूत वर्त्तमान काल की पूर्वी हिन्दी। अन्तरंग भाषा में निम्नलिखित भाषाओं की गणना है १ पश्चिमी हिन्दी २ पूर्वी पहाड़ी ३ मध्यपहाड़ी ४ पंजाबी ५ राजस्थानी ६ गुजराती और ७ पश्चिमीय पहाड़ी।

निम्न लिखित भाषायें बहिरंग कहलाती हैं—

१ मराठी। २ उड़िया। ३ विहारी। ४ बंगाली। ५ आसामी। ६ सिंधी और ७ पश्चिमी पंजाबी।

हौर्नेलका विचार है कि आर्यों के भारत में दो दल आये एक पहले आया और दूसरा बाद को। जो दल पहले आया, वह मध्य देश में आकर वहीं बस गया। इस दल के पश्चात् दूसरा प्रबलदल आया, और उसने अपने सजातियों को मध्य देश से निकाल बाहर किया। निकाले जाने पर पहले दल वाले मध्यदेश के ही चारों ओर. अर्थात उसके पूर्व, पश्चिम उत्तर और दक्षिण ओर फैल गये. और वहीं बस गये। नवागत आर्यमध्य देश में बस जाने के कारण 'अन्तरंग', और प्रथमागत आर्य मध्यदेश के बाहर निवास करने के कारण 'वहिरंग' कहलाये। 'अन्तरंग' आर्यों में ही वैदिक संस्कृति और ब्राह्मण कालीन विचारों का विकास हुआ। भारत में दो भिन्न विरोधी दल आने के सिद्धान्त को डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं 'वहिरंग' आर्यों का 'डार्डिक' भाषाभाषियों से घनिष्ट सम्बन्ध था, और ऐसा ज्ञात होता है कि वे उन्हीं की एक शाखा थे। मध्यदेश से चले जाने पर वहिरंग आर्य पंजाब, सिंध, गुजरात, राजपुताना, महाराष्ट्र प्रदेश,

पूर्वीयहिन्दीक्षेत्र, विहार और उत्तर में हिमालय की तराइयों में बसे। मध्यदेश के अन्तरंग आर्यों की भाषा का वर्त्तमान प्रतिनिधि पश्चिमी हिन्दी है। अन्यप्रचलित आर्यभाषायें 'वहिरंग' आर्यभाषा से विकसित हुई हैं" १

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब पंजाब, गुजरात और राजपुताना वहिरंग आर्यों का ही निवास स्थान था, तो वहां की भाषायें अन्तरंग कैसे हो गईं ? सिंध, महाराष्ट्र और विहार के समान वहिरंग क्यों नहीं हुईं ? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि प्रचारकों और विजेताओं द्वारा मध्यदेश की शौरसेनी भाषाका बहुत बड़ा प्रभाव बाद को पंजाब, गुजरात और राजस्थान पर पड़ा, इसलिये इन स्थानों की भाषायें काल पाकर अन्तरंग बनगईं। इसी प्रकार राजस्थान और गुजरात के कुछ विजयी आगन्तुकों के प्रभाव से हिमालय की तराइयों की भाषा भी अन्तरंग हो गई। डा: जी० ए० ग्रियर्सन लिखते हैं

"मध्यदेशनिवासी आर्यों के वहां से राजपुताना और गुजरात में आ बसने के विषय में बहुत सी प्रचलित कथायें हैं। पहली यह है कि महाभारत के युद्ध काल में द्वारिका की नींव गुजरात में पड़ी। जैनों के प्राचीन कथानकों के अनुसार गुजरात का सब से पहला चालुक्य राजा कन्नौज से आया। कहा जाता है नवीं ईस्वी शताब्दी के प्रारम्भ काल में पश्चिमीय राजपुताने के भीलमाल अथवा भीनमाल नामक स्थान के एक गुर्जर राजपूत ने भी गुजरात को जीता। मारवाड़ के राठौर कहते हैं कि वे वहां पर बारहवीं ईस्वी शताब्दी में कन्नौज से आये। जयपुर के कछवाहे अयोध्या से आने का दावा करते हैं। गुजरात और राजपुतानेका घनिष्ट राजनैतिक सम्बन्ध इस ऐतिहासिक घटना से भी प्रकट होता है कि मेवाड़ के गहलौत वहां पर सौराष्ट्र से आये"

"गुर्जरों ने हूण तथा अन्य आक्रमण कारियों के साथ ईस्वी छठवींशताब्दी में भारत में प्रवेश किया, और वे शीघ्र ही बड़े शक्ति शाली

---

1 The origin and development of the Bengali Language (§ 29) p. 30

हो गये। भारत के चार प्रदेशों ने इन्हीं के नाम के आधार से अपना नाम ग्रहण किया है, उन में से दो हैं गुजरात और गुजरानवाला, ये दोनों पंजाब के जिले हैं, तीसरा है गुजरात प्रान्त। आलबरूनी जो दशवीं ईस्वी शताब्दी में यहाँ आया, चौथा नाम बतलाता है, यह वह प्रदेश है जो जयपुर के उत्तर पूर्वीय भाग तथा अलवर राज्य के दक्षिण भाग से मिलकर बना है, डाक्टर भाण्डारकर भी इस कथन की पुष्टि करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि पिछले गुर्जर हिमालय के उस भाग से आये जिसे सपादलक्ष कहते हैं। यह प्रदेश आधुनिक कमायूं गढ़वाल और उसका पश्चिमी भाग माना जासकता है। पूर्वीयराजपुताना उस समय इन गुर्जरों से भर गया था। १

इन पंक्तियों के पढ़ने से आशा है यह स्पष्ट हो गया होगा कि किस प्रकार मध्य देश के विजयी गुजरात और राजस्थान में पहुँचे और कैसे उनके प्रभाव से प्रभावित होने के कारण इन प्रान्तों में अन्तरंग भाषा का प्रचार हुआ। यहां मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि गुर्जर विदेशी भले ही हों, परन्तु वे मध्य देश वालों की सभ्यता के ही उपासक और प्रचारक थे, क्योंकि ब्राह्मणों द्वारा दीक्षित हो कर उन्होंने वैदिक धर्म में प्रवेश किया था। डाक्टर ग्रियर्सन लिखते हैं—

"अब इस बात को बहुत से विद्वानों ने स्वीकार किया है, कि कतिपय राजपूतों के दल परदेशी गुर्जरों के वंशज हैं, उनका केन्द्र आबू पहाड़ तथा उसके आस पास का स्थान था। प्रधानतः वे कृषक थे, पर उनके पास भी प्रधान लोग और योद्धा थे। जब यह दल गण्यमान हो गया, तो उनको ब्राह्मणों ने क्षत्रिय पदवी दी, और वे राजपुत्र अथवा राजपूत कहलाने लगे, कुछ उनमें से ब्राह्मण भी बनगये" २—गुर्जरों के ब्राह्मण क्षत्रिय बनने के सिद्धान्त का आजकल प्रबल खण्डन हो रहा है, परन्तु मुझ को इस बितण्डावाद में नहीं पड़ना है। मैं ने इन पंक्तियों

१ देखो Bulletin of the School of Oriental Studies London Instituе(§ 13) p. 58

2 Ibid. (§ 12) p. 57.

को यहां इसलिये उठाया है, कि जिस से इस सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ सके कि किस प्रकार गुजरात, राजस्थान और पूर्वीय पंजाब में अन्तरङ्ग भाषा का प्रचार हुआ। अब विचारना यह है कि अन्तरंग और वहिरंग भाषाओं में कौनसी ऐशी विभिन्नतायें हैं, जो एक को दूसरी से अलग करती हैं। डाक्टर चटर्जी कहते हैं—

"डाक्टर ग्रियर्सन ने जिन कारणों के आधार से अन्तरंग और वहिरंग भाषाओं को माना है, वे प्रधानतः भाषा सम्बन्धी हैं। विचार करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि पश्चिमी हिन्दी तथा अन्य आर्य भाषाओं में कुछ विषमतायें हैं। उन्हों ने देखा कि ये विषमतायें जो कि सब 'वहिरंग' भाषाओं में एक ही हैं, प्राचीन आर्यभाषाओं के दोनों विभागों अर्थात् अन्तरंग और वहिरंग भाषाओं के भेद से ही उत्पन्न हुई हैं। केवल इतना ही नहीं कि वहिरंग भाषाओं की पारस्परिक समानता उन्हीं बातों में है, जिनमें अन्तरंग भाषा से भिन्नता है, वरन् डार्डिक भाषायें प्रायः उन्हीं कुल विशेषताओं से भरी हैं, जिनसे कि वहिरंग भाषायें परिपूर्ण हैं। इस लिये अन्तरंग से उसकी भिन्नता और स्पष्ट हो जाती है"। १

कुछ मुख्य २ भिन्नतायें लिखी जाती हैं

"इन दोनों शाखाओं की भाषाओं के उच्चारण में अन्तर है। जिन वर्णों का उच्चारण सिसकार के साथ करना पड़ता है, उनको अन्तरंग भाषावाले बहुत कड़ी आवाज़ से बोलते हैं, यहां तक कि वह दन्त्य स हो जाता है। परन्तु वहिरंग भाषावाले ऐसा नहीं करते। इसी से मध्यदेश वालों के 'कोस' शब्द को सिन्धवालों ने 'कोह' कर दिया। पूर्व की ओर बंगाल में यह 'स' श' हो जाता है। आसाम में गिरते गिरते 'स' की आवाज़ 'च' की सी हो गई है। काश्मीर में तो उसकी कड़ी आवाज़ बिल्कुल जाती रही है, वहाँ भी अन्तरंग भाषा का 'स' बिगड़ कर 'ह' हो गया है।

---

1 Dr. S. K. Chatterjee: The origin and development of the Bengali Language (§ 29) p. 31.

संज्ञाओं में भी अन्तर है, अन्तरंग भाषाओं की मूल विभक्तियां प्रायः गिर गई हैं, उनका लोप होगया है और धीरे धीरे उनकी जगह पर और ही छोटे छोटे शब्द मूल शब्दों के साथ जुड़ गये हैं, जो विभक्तियों का काम देते हैं। उदाहरण के लिये हिन्दी भाषा की 'का' 'को' 'से' आदि विभक्तियों को देखिये ए जिस शब्द के अन्त में आती हैं, उस शब्द का उन्हें मूल अंश न समझना चाहिये। ये पृथक् शब्द हैं और विभक्तिगत अपेक्षित अर्थ देने के लिये जोड़े जाते हैं। इसलिये वहिरंग भाषाओं को व्यवच्छेदक भाषायें कहना चाहिये। वहिरंग भाषायें जिस समय पुरानी संस्कृत के रूप में थीं, संयोगात्मक थीं। 'का' 'को' 'से' आदि से जो अर्थ निकलता है उसके सूचक शब्द उनमें अलग न जोड़े जाते थे। इस के बाद उन्हें व्यवच्छेदक रूप प्राप्त हुआ, सिंधी और काश्मीरी भाषायें अब तक कुछ कुछ इसी रूप में हैं। कुछ काल बाद फिर ये भाषायें संयोगात्मक होगईं, और व्यवच्छेदक अवस्था में जो विभक्तियां अलग हो गई थीं, वे इनके मूलरूप में मिल गईं। बँगला में षष्ठी विभक्ति का चिन्ह "एर" इसका अच्छा उदाहरण है।

क्रियाओं में भी भेद है, वहिरंग भाषायें पुरानी संस्कृत की किसी ऐसी एक या अधिक भाषाओं से निकली हैं, जिनकी भूतकालिक भाववाच्य क्रियाओं से सर्वनामात्मक कर्त्ता के अर्थ का भी बोध होता था। अर्थात् क्रिया और कर्त्ता एक ही में मिले होते थे। यह विशेषता वहिरंगभाषा में भी पाई जाती है। उदाहरण के लिये बँगलाभाषा का 'मारिलाम' देखिये। इसका अर्थ है मैं ने मारा। परन्तु अन्तरंग भाषायें किसी ऐसी एक या अधिक भाषाओं से निकली हैं, जिनमें इस तरह के क्रियापद नहीं प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिये हिन्दी का मारा लीजिये, इससे यह नहीं ज्ञात होता कि किसने मारा। मैंने मारा, तुमने मारा, उसने मारा, जो चाहिये समझ लीजिये। 'मारा' का रूप सब के लिये एकही होगा। इससे साबित है कि अन्तरंग और वहिरंग-भाषायें प्राचीन आर्यभाषा की भिन्न भिन्न शाखाओं से निकली हैं, इनका उत्पत्तिस्थान एक नहीं है"। २

---

२ देखो हिन्दी भाषा की उत्पत्ति नामक ग्रन्थ का पृष्ट १४।

पहले पृष्ठों में मैं ने इस सिद्धान्त को नहीं स्वीकार किया है, कि आर्यजाति बाहर से आई। मैंने प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि आर्य जाति भारत के पश्चिमोत्तर भाग से ही आकर भारतवर्ष में फैली। यद्यपि इस सिद्धान्त के मानने से भी मध्यदेश में आर्यों के एक दल का पहले और दूसरे दल का बाद में आना स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु इस स्वीकृति की बाधक वह विचार-परम्परा है जो इस बात को भलीभांति प्रमाणित कर चुकी है कि पश्चिमागत आर्यजाति का समूह चिरकाल तक सप्तसिन्धु में रहा, और वहीं वैदिक संस्कृति और सभ्यता का विकास हुआ। मेरा विचार है पूर्वागत और नवागत आर्य्य समूह की कल्पना, और इस सिद्धान्त के आधार पर अन्तरंग और वहिरंग भाषाओं की सृष्टि युक्ति संगत नहीं, हर्ष है कि आजकल इस विचार का विरोध होने लगा है।

कुछ विवेचक भाषा विभिन्नता सिद्धान्त को साधारण मानते हैं, उनका कथन है कि विभिन्नतायें वे विशेषतायें नहीं बन सकतीं, जो किसी एक भाषा को दूसरी भाषा से अलग करती हैं। वहिरंगभाषा की जिन विभिन्नताओं के आधार पर अंतरंग भाषा को उससे अलग किया जाता है, वे स्वयं उसमें मौजूद हैं। इन लोगों ने जो प्रमाण दिये हैं, उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं। अंतरंग और वहिरंग भाषा की उपरिलिखित विभिन्नताओं की चर्चा करके "हिन्दी भाषा और साहित्य" नामक ग्रन्थ में यह लिखा गया है -

"इसमत का अब खण्डन होने लगा है। और दोनों प्रकार की भाषाओं के भेद के जो कारण ऊपर दिखाये गये हैं, वे अन्यथा सिद्ध हैं। जैसे—'स' का 'ह' हो जाना केवल वहिरंग भाषा काही लक्षण नहीं है, किन्तु अन्तरंग मानी जाने वाली पश्चिमी हिन्दी में भी ऐसा होता है। इसके तस्य-तस्स-तास-ताह-ता (ताको-ताहि इत्यादि) करिष्यति—करिस्सदि-करिसद्-करिहइ-करि है, एवं केसरी से केहरी आदि बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार वहिरंग मानी जाने वाली भाषाओं में

भी 'स' का प्रयोग पाया जाता है—जैसे राजस्थानी (जयपुरी) करसी, पश्चिमी पंजाबी 'करेसी' इत्यादि। इसी प्रकार संख्यावाचकों में 'स' का 'ह' प्रायः सभी मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्यभाषाओं में पाया जाता है। जैसे पश्चिमी हिन्दी में 'ग्यारह' 'बारह' चौहत्तर इत्यादि"।१

'अंतरंग वहिरंग भेद के संयोगावस्था के प्रत्ययों और वियोगावस्था के स्वतंत्र शब्दों के भेद की कल्पना भी दुर्वल है। अंतरंग मानी गई पश्चिमी हिन्दी तथा अन्य सभी आधुनिकभाषाओं में संयोगावस्थापन्नरूपों का आभास मिलता है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई रूप सुरक्षित है किसी में कोई। पश्चिमी हिन्दी और अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं की रूपावली में स्पष्टतः हम यही भेद पाते हैं कि उसमें कारक चिन्हों के पूर्व विकारी रूपही आते हैं। जैसे—'घोड़े का' में 'घोड़े'। यह घोड़े, घोड़हि (घोटस्य अथवा घोटक+ तृतीया बहुवचन बिभक्ति, 'हि'—भिः) से निकला है। यह विकारी रूप संयोगावस्थापन्न होकर भी अन्तरंग मानी गई भाषाका है। इसके विपरीत वहिरंग मानीगई बँगला का घोड़ार, और विहारी का 'घोराक' रूप संयोगावस्थापन्न नहीं, किन्तु घोटक+कर और घोड़ार+क-कक से घिस घिसाकर बना हुआ सम्मिश्रण है। पुनश्च अंतरंग मानी हुई जिस पश्चिमी हिन्दी में वियोगावस्थापन्न रूप ही मिलने चाहियें, कारकों का बोध स्वतंत्र सहायक शब्दों के द्वारा होना चाहिये, उसी में प्रायः सभी कारकों में ऐसे रूप पाये जाते हैं जो नितान्त संयोगावस्थापन्न हैं। अतएव वे बिना किसी सहायक शब्द के प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण लीजिये -

कर्त्ता एकवचन—घोड़ो (ब्रजभाषा) घोड़ा (खड़ीबोली) घरु (ब्रजभाषा नपुंसकलिंग)।

१—देखो 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पृष्ठ ३२

कर्त्ता बहुवचन–घोड़े (–घोड़ेह घोड़हि=तृतीया बहुवचन 'मैं' के समान प्रथमा में प्रयुज्यमान)।

करण—आंखों (=अक्खिहिं, खुसरूवाको आंखों दीठा-अमीर खुसरो) कानों (कण्णहिं)

करण –(कर्त्ता)—मैं (ढोला मइं तुहुं वारिआ) मैं सुन्यो साहिबिन . आँषिकीन—पृथ्वी) तैं, मैं ने, तैं ने (दुहरी विभक्ति)

अपादान—एकवचन—भुक्खा (=भूखसे–बांगडू) भूखन, भूखों (ब्रज-भाषा, (कनौजी)

अधिकरण एकवचन–घरे-आगे-हिंडोरे (बिहारी लाल) माथे (सूरदास)

दूसरे वहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिन्दी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग होता है। घोड़ेदा (घोड़े का) घोड़े ने घोड़े नूं इत्यादि। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बँगला आदि में पश्चिमी हिन्दी से बढ़ कर कुछ संयोगावस्थापन्न रूपावली नहीं मिलती। अत: उसके कारण दोनों में भेद मानना अयुक्त है"। १

डाक्टर चटर्जी ने इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है, और अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में बड़ा पाण्डित्य प्रदर्शन किया है। खेद है कि मैं उनके सम्पूर्ण विवेचन को स्थान की संकीर्णता के कारण यहां नहीं उठा सकता। परन्तु विवेचना के अन्तिम निर्णय को लिख देना चाहता हूं, वह यह है और मैं उससे पूर्णतया सहमत हूं—

"पुरातत्व और मानव इतिहास के आधार पर 'वहिरंग' आर्योंका 'अन्तरंग' आर्यों के चारों ओर बस जाने की बात को पुष्ट करने की चेष्टा उसी प्रकार अप्रमाणित रह जाती है, जैसे भाषासम्बन्धी सिद्धान्त के सहारे से निश्चित की हुई बातें। २

"The attempt to establish on anthropometrical and ethnological grounds a ring of "Outer" Aryandom round an "Inner" core is as unconvincing as that on liniguistic grounds."

१ देखो—'हिन्दी भाषा और साहित्य' पृ० १९१, १९२।

२ देखो—'ओरिजन एंड डिवलेपमेन्ट आफ बंगाली लांगवेज पृ० ३३ (§३१)

छठा प्रकरण ।

हिन्दी भाषा की विभक्तियाँ, सर्वनाम, और उसकी क्रियायें

हिन्दी विभक्तियों के विषय में कुछ विद्वानों ने ऐसी बातें कही हैं, जिससे यह पाया जाता है, कि वे विदेशीय भाषाओं से अथवा द्राविड़ भाषा से उसमें गृहीत हुई हैं, इसलिये इस सिद्धान्त के विषय में भी कुछ लिखने की आवश्यकता ज्ञात होती है। क्योंकि यदि हिन्दी भाषा वास्तव में शौरसेनी अपभ्रंश से प्रसूत है, तो उसकी विभक्तियों का उद्गम भी उसी को होना चाहिये। अन्यथा उसकी उत्पत्ति का सर्वमान्य सिद्धान्त संदिग्ध हो जावेगा। किसी भाषा के विशेष अवयव और उसके धातु किसी मुख्य भाषा पर जबतक अवलम्बित न होंगे, उस समय तक उससे उसकी उत्पत्ति स्वीकृत न होगी। ऐसी अनेक भाषायें हैं, जिनमें विदेशी भाषाओं की बहुत सी संज्ञायें पाई जाती हैं परिवर्तित रूप में उनमें उन भाषाओं की कुछ क्रियायें भी मिल जाती हैं। यदि केवल उनके आधार से हम विचार करने लगेंगे, तो उस विदेशी भाषा से ही उनकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी, किन्तु यह बात वास्तविक और युक्तिसंगत न होगी। दूसरी बात यह कि एक ही भाषा में विभिन्न भाषाओं के अनेक व्यवहारिक शब्द मिलते हैं, विशेष करके आदान-प्रदान अथवा खान पान एवं व्यवहार सम्बन्धी। यदि ऐसे कुछ शब्दों को ही लेकर कोई यह निर्णय करे कि इस भाषा की उत्पत्ति उन सभी भाषाओं से है, जिनके शब्द उसमें पाये जाते हैं, तो कितनी भ्रान्ति जनक बात होगी, और इस विचार से तथ्य का अनुसंधान कितना अव्यवहारिक हो जावेगा। इन्हीं सब बातों पर दृष्टि रख कर किसी भाषा का मूल निर्धारण करने के लिये उससे सम्बन्ध रखनेवाले मौलिक आधारों की ही मीमांसा आवश्यक होती है। बिभक्तियों और प्रत्ययों की गणना भाषा के मौलिक अंगों में ही की जाती है। इस लिये विचारणीय यह है कि हिन्दी भाषा की विभक्तियां कहां से आई हैं, और उनका आधार क्या है।

"डाक्टर 'के', कहते हैं कि हिन्दी का 'को' (जैसे-हमको) और

ंगला का 'के, (जैसे राम के) तातार देशीय अन्त्यवर्ण 'क, से आगत हुआ है। डाक्टर 'काल्डवेल, अनुमान करते हैं कि द्राविड़ भाषा के 'कु, से हिन्दी भाषा का 'को' लिया गया है। वे यह भी कहते हैं कि हिन्दी प्रभृति देशी भाषायें द्राविड़ भाषा से उत्पन्न हुई हैं। डाक्टर हार्नली और राजा राजेन्द्र लाल मित्र ने इन सबमतों का अयुक्त होना सिद्ध किया है।" डाक्टर हार्नली की सम्मति यहां उठाई जाती है--

"डाक्टर 'काल्डवेड, का कथन है कि आर्यगण, आर्य्यावर्त जय करके जितना आगे बढ़ने लगे, उतना ही देश में प्रचलित अनार्य भाषा संस्कृत शब्दों के ऐश्वर्य द्वारा पुष्टि लाभ करने लगी। इसलिये यह भ्रम होता है, कि अनार्य भाषायें संस्कृत से उत्पन्न हैं। किन्तु संस्कृत का प्रभाव कितना ही प्रवल क्यों न हो, इन सब भाषाओं का व्याकरण उसके द्वारा परिवर्तित न हो सका। इसके उत्तर में डाक्टर हार्नली कहते हैं, आर्यगण बहुत समय तक आर्यावर्त्त में रह कर सहसा अनार्य गणों की भाषा ग्रहण कर लेंगे, यह बात विश्वास योग्य नहीं। उनलोगों ने चिरकाल तक संस्कृत जातीय पालि और प्राकृतभाषा का व्यवहार किया था, यह बात विशेष रूप से प्रमाणित हो गई है। नाटकादिकों के प्राकृत द्वारा यह भी दृष्टिगत होता है कि विजित अनार्यों ने भी अपने प्रभुओं की भाषा को ग्रहण कर लिया था। इतने समय तक हिन्दूलोग अपनी भाषा और व्याकरण को अनार्यगण में प्रचलित रख कर भी अन्त में क्यों अनार्य व्याकरण के शरणागत होंगे, यह विचारणीय है। दूसरी बात यह कि देशभाषाओं की उत्पत्ति के समय (आर्यभाषा की दीर्घकाल व्यापी अखण्ड राजत्व के उपरान्त) विजित अनार्यगण की भाषा देश में प्रचलित थी। इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। इतिहासमें अवश्य कभी कभी यह भी देखा गया है, कि विजेता जातियों ने विजित जातियों का व्याकरण ग्रहण कर लिया है, जैसे नार्मन लोगों ने इंगलैण्ड में और अरब एवं तुर्की लोगों ने आर्य्यावर्त में तथा फ्रान्सवालों ने गल में। किन्तु इन सब स्थानों में विजेता लोग विजित लोगों की अपेक्षा अल्प शिक्षित थे। उपनिवेश स्थापन के प्रारम्भ काल से ही भाषाग्रहण का सूत्रपात उन्हों ने कर दिया था। विजयी जाति बहुकाल पर्यन्त अपनी भाषा और स्वातन्त्र्य

गौरव की रक्षा करके अन्त में असभ्य जातियों के निकट उसको विसर्जित कर दे, इतिहास में कहीं यह बात दृष्टिगत नहीं होती ।" १

देशीय भाषाओं को समस्त विभक्ति प्राकृत से ही प्राप्त हुई है, इस बात को डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र, हार्नली, और अन्य जर्मन पण्डितोंने दिखलाने की चेष्टा की है। और विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। मैं क्रमशः प्रत्येक विभक्तियों के विषय में उन लोगों के विचारों का उल्लेख करता हूं।

(१) कर्त्ता कारक में भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ ब्रजभाषा एवम् खड़ी बोली में 'ने' का प्रयोग होता है, किन्तु अवधीमें ऐसा नहीं होता ब्रज भाषा में भी प्रायः कवियों ने इस प्रयोग का त्याग किया है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अवधी के समान ब्रजभाषा में 'ने' का प्रयोग होता ही नहीं। प्रथमा एक बचन में कहीं कहीं कर्त्ता के साथ 'ए' का प्रयोग देखा जाता है। यथा— "शु अणेहु शिच्चाण कम्पके शामीए निद्धणके बिशोहेदि) मृ० क० ३ अंक" बँगला भाषा में भी पहले इस प्रकार का प्रयोग देखा जाता है— यथा

कदाचित ना दे सिद्धहेनो रूप ठान।

कोन मते विधाताए कर्‌िछे निर्माण। रामेश्वरी महाभारत पृ० ८६ "किन्तु अब बँगलामें भी प्रथम एक वचन में इस 'ए' का अभाव है, अब बँगला में प्रथमा का रूप संस्कृत के समान होता है, किन्तु अनुस्वार अथवा बिसर्ग वर्ज्जित"। २ प्रश्न यह है कि प्राकृत भाषा के उक्त 'ए' का सम्बन्ध क्या हमारी हिन्दी भाषा के 'ने' से है ?

'एक विद्वान् की सम्मति है कि यह 'ने' वास्तव में करण कारक का चिन्ह है. जो हिन्दी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है, 'संस्कृत में करण कारक का 'इन' प्राकृत में 'एण' हो जाता है, इसी 'इन' का वर्ण विपरीत हिन्दी रूप में 'ने' है" ३

१ बंगभाषा और साहित्य—पृ० ३६

२—बंगभाषा और साहित्य ३८ पृष्ट।

३—दे० हिन्दी भाषा और साहित्य का पृ० १३८।

(२) कम और सम्प्रदान। टम्पका अनुमान है कि बँगला कर्म्म और सम्प्रदान कारक का के' संस्कृत के सप्तमी में प्रयुक्त 'कृते' शब्द से आया है। इस 'कृते' के निमित्तार्थक प्रयोग का उदाहरण स्थान स्थान पर मिलता है—यथा

वालिशो वत कामात्मा राजा दशरथो भृशम्।
प्रस्थापयामास वनं स्त्रीकृते यः प्रियंसुतम्॥

यह कृते शब्द प्राकृत में 'किते' किउ एवं 'को' इन तीनों रूपों में ही व्यवहृत हुआ है। इसी लिये टम्प का यह अनुमान है कि शेषोक्त 'को' के साथ हिन्दी के को' और बँगला के 'के' का सम्बन्ध है' १

'बँगभाषा और साहित्य, नामक ग्रन्थ के रचयिता टम्प की सम्मति से सहमत न होकर अपनी सम्मति यों प्रकट करते हैं—

"मैक्समूलर कहते हैं कि संस्कृत के स्वार्थे 'क' से बँगला का के (हिन्दी का को) आया है। पिछले समय में संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग अधिकतर देखा जाता है। मैं मैक्समूलर के मत को ही समीचीन समझता हूं। २

श्रीमान् पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी कहते हैं—

"पुरानी संस्कृत का एक शब्द कृते,' है जिसका अर्थ है (लिये) होते होते इसका रूपान्तर 'कहुं' हुआ, वर्त्तमान 'को' इसीका अपभ्रंश है" हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति पृ० ७०

एक विद्वान् की सम्मति और सुनिये—

"संस्कृत रूप 'कृते' प्राकृत में किते हो गया, और नियमानुसार त का लोप होने से 'किये' हुआ, और फिर वही के में परिणत हो गया। 'को' प्रत्यय संस्कृत के कर्म्मकारक के नपुंसक 'कृतं' से हुआ। प्राकृत में 'कृतं' बदल कर 'कितो' हुआ, और न के लोप होने से 'किओ' बना, और अन्त में उसने 'को' का रूप धारण कर लिया" ३

१, २ वंगभाषा और साहित्य पृ० ३९।
३—देखिये (ओरिजन) आफ़ दी हिन्दी लैंग्वेज पृ० ११।

आपलोगों ने सब सम्मतियाँ पढ़ लीं, अधिकांश सम्मति यही है कि 'को' की उत्पत्ति 'कृते' से है। 'को' का प्रयोग कर्म्मकारक में तो होता ही है, संप्रदान के लिये भी होता है, संप्रदान की एक विभक्ति 'केलिये' भी है। कृते' में यह निमित्तार्थक भाव भी है, जैसा कि ऊपर दिखलाया गया है। इस लिये मैं भी 'कृते' से ही 'को' की उत्पत्ति स्वीकार करता हूं।

(३) करण और अपादान कारक की विभक्ति हिन्दीभाषा में 'से' है। करण कारक के साथ 'से' प्राय: उसी अर्थ का द्योतक है, जिसको संस्कृत का 'द्वारा' शब्द प्रकट करता है, इस 'से' में एक प्रकार से सहायक होने अथवा सहायक बनने का भाव रहता है। यदि कहा जाये कि 'वाण से मारा' तो इसका यही अर्थ होगा कि वाण द्वारा अथवा वाण के सहारे से या वाण की सहायता से मारा। परन्तु अपादान का 'से, इस अर्थ में नहीं आता, उसके 'से' में अलग करने का भाव है। जब कहा जाता है 'घर से निकल गया' तो यही भाव उसमें प्रकट होता है कि निकलने वाला घर से अलग हो गया। जब कहते हैं 'पर्वत से गिरा' तो भी वाक्य का 'से' पर्वत से अलग होने का भाव ही सूचित करता है। 'से' एक विभक्ति होने पर भी करण और अपादान कारकों में भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। 'बंगभाषा और साहित्य' कार लिखते हैं—"प्राकृत में 'हिंतो' शब्द पञ्चमी के बहुवचन में व्यवहृत होता है, इसी 'हिंतो' शब्द से बँगला 'हइते' की उत्पत्ति हुई है" उन्होंने प्रमाण के लिये वररुचि का यह सूत्रभी लिखा है 'भावो हिंतो सुंतो'। ब्रजभाषा में 'से' का प्रयोग नहीं मिलता उसमें तें का प्रयोग 'से' के स्थान पर देखा जाता है। 'से' के स्थान पर कबीर दास को 'संती' अथवा 'सेंती' औ चंदवरदाई को 'हुँत' लिखते पाते हैं। इससे अनुमान होता है कि जैसे बँगला में 'हिंतो' से हइते बना उसी प्रकार हिन्दी में 'हुंत' और 'तें'। और ऐसे ही 'सुंतो' के आधार से 'सेंती' और से। कुछ विद्वानों की यह सम्मति है कि संस्कृत के 'सह' अथवा सम से 'से' की उत्पत्ति हुई है। करण में सहयोग का भाव पाया जाता है, ऐसी अवस्था में उसकी विभक्ति की उत्पत्ति 'सह' से होने की कल्पना स्वाभाविक

है। इसी प्रकार 'सम' से 'से' की उत्पत्ति का विचार इस कारण से हुआ पाया जाता है कि प्राचीन कवियों को सम को 'से' के स्थान पर प्रयोग करते देखा जाता है। निम्नलिखित पद्यों को देखिये—

कहि सनकादिक इन्द्र सम।
बलि लागौ जुध इन्द्र सम॥

पृथ्वीराज रासो।

अवधी में, कहीं ब्रजभाषा में भी 'से' के स्थान पर 'सन' का प्रयोग किया जाता है। इस 'सन' के स्थान पर 'सें' और सों भी होता है। इसलिये कुछ भाषा मर्मज्ञों ने यह निश्चित किया है कि 'सम' से 'सन' हुआ और 'सन' से सों और फिर 'से' हुआ। ऊपर लिख आया हूं कि प्राकृत में पंचमी बहुवचन में 'हिंतो' होता है। अनुमान किया गया है कि 'हिंतो' से ही पञ्चमी का 'तें' बना, परन्तु 'से' का ग्रहण पंचमी में कैसे हुआ, यह बात अब तक यथार्थ रूप से निर्णीत नहीं हुई।

(४) सम्बन्ध कारक की विभक्ति के विषय में अनेक मत देखा जाता है—मिस्टर बप् अनुमान करते हैं कि हिन्दी का 'का' और बँगला-भाषा की षष्ठी विभक्ति का चिन्ह, संस्कृत षष्ठी बहुबचन के 'अस्माकम्' एवं युष्माकम्' इत्यादि के 'क' से गृहीत है। १ किन्तु हार्नली साहब ने बप् के अनुमान के विरुद्ध अनेक युक्तियाँ दिखलाई हैं, उनके मत से संस्कृत के 'कृते' के प्राकृत रूपान्तर से ही बँगला और हिन्दी के षष्ठी कारक का चिन्ह ,का' अथवा विभक्ति ली गई है २ कृते' से प्राकृत 'केरक' उत्पन्न हुआ है। इस 'केरक' का अनेक उदाहरण पाया जाता है, जहां यह 'केरक,' शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहां उसका कोई स्वकीय अर्थ दृष्टिगत नहीं होता, वहां वह केवल षष्ठी के चिन्ह स्वरूप ही व्यवहृत हुआ है—यथा

"तुमम् पि अप्पणो केरिकम् जादि मसुमरेसि"
"कस्स केरकम् एदम् पवँणम्" मृ-क-षष्ठ अंक

इसी केरक अथवा केरिक से हिन्दी 'कर' 'केर' और 'केरी' की उत्पत्ति हुई है। ३

१, २ और ३—बंगभाषा और साहित्य पृ० ४३, ४४

पहले लिखा गया है कि मैक्समूलरकी यह सम्मति है कि संस्कृत का स्वार्थे 'क' ही बदल कर कर्म्मकारक का 'को' हो गया है. 'बंगभाषा और साहित्य' के रचयिता ने इसको स्वीकार भो किया है, मेरा विचार है कि इसी स्वार्थे 'क' से षष्ठी विभक्ति के 'का' की उत्पत्ति हुई है। केरक के स्थान में प्राकृत भाषा में केरओ प्रयोग मिलता है. यही केरओ काल पाकर केरो बन गया, कर, केर और केरी भो हुआ परन्तु सम्बन्ध का चिन्ह 'का' 'की' 'के' भी यही बन गया, यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ज्ञात होती है। जैसे— केरो. केरी. और कर का प्रयोग हिन्दी साहित्य में मिलता है—यथा

बंदों पदसरोज सब केरे— तुलसी

क्षत्र जाति कर रोप— तुलसी

हौं पंडितन केर पछलगा— जायसी

उसी प्रकार 'क' का प्रयोग भी देखा जाता है—यथा

बनपति उहै जेहि क संसारा—

बनिय क सखरज ठकुर क हीन।

वैद क पूत व्याध नहिँ चीन।

जब सम्बन्ध में क का प्रयोग देखा जाता है, तो यह विचार होता है कि क्या यही स्वार्थे क बदल कर सम्बन्ध की विभक्ति तो नहीं बन गया है ? जो कहीं अपने मुख्यरूप में और कहीं 'का' 'के' 'की' बन कर प्रकट होता है ! यदि वह कर्म्म का चिन्ह मैक्समूलर के कथनानुसार हो सकता है, तो सम्बन्ध का चिन्ह क्यों नहीं बन सकता। पहला विचार यदि विवाद ग्रस्त हो तो हो सकता है, परन्तु यह विचार उतना वादग्रस्त नहीं वरन अधिकतर संभव परक है। यदि कहा जावे कि स्वार्थे क का अर्थ वही होता है, जो उस शब्द का होता है, जिसके साथ वह रहता है, इसका अलग अर्थ कुछ नहीं होता जैसे संस्कृत का वृक्षक, चारुदत्तक, अथवा पुत्रक आदि. एवं हिन्दी.का बहुतक, कबहुंक एवं कछुक आदि। तो जाने दीजिये उसको, निम्नलिखित सिद्धान्त को मानिये—

प्राय: तत्सम्बन्धी अर्थ में संस्कृत में एक प्रत्यय क' आता है—जैसे—मद्रक=मद्र देशका, रोमक=रोमदेशका। प्राचीन हिन्दी में का के स्थान में क पाया जाता है, जिस से यह जान पड़ता है कि हिन्दी का 'का', संस्कृत के क प्रत्यय से निकला है। १

जो कुछ अब तक कहा गया उससे इस सिद्धान्त पर उपनीत होना पड़ता है कि प्राकृतभाषा का 'केरक, केरओ', आदि से 'केरा, केरी, और केरो', आदि की और सम्बन्ध सूचक संस्कृत के 'क' प्रत्यय से "का, के," की उत्पत्ति अधिकतर युक्ति संगत है।

(५) अधिकरण कारक का चिन्ह हिन्दी में 'में' 'मांहि' 'मांझ' इत्यादि है। साथ ही "पै, पर" आदि का प्रयोग भी सप्तमी में देखा जाता है, जैसे कोठे पर है। केवल "ए का प्रयोग भी संस्कृत के समान ही हिन्दी में भी देखा जाता है—जैसे, आप का कहा सिर माथे, में थे का "ए"। सप्तमी में इस प्रकार का जो क्वचित् प्रयोग खड़ी बोलचाल में देखा जाता है, वह विल्कुल संस्कृत के गहने कानने आदि सप्तम्यन्त प्रयोग के समान है, ब्रजभाषा और अवधी में इस प्रकार का अधिक प्रयोग मिलता है - जैसे घरे गेलैं, आदि। "पर और पै" का प्रयोग संस्कृत के "उपरि" शब्दसे हिन्दी में आया है। एक विद्वान् की यह सम्मति है—

"हिन्दी के कुछ रूपों में अधिकरण कारक के 'में' चिन्ह के स्थान पर 'पै' का प्रयोग होता है, इसकी उत्पत्ति संस्कृत के उपरि शब्द से हुई है। पहले पहल उपरि का पर हुआ, जैसे मुख पर—बाद को पै बन गया" २

में, माँहि, माँझ इत्यादिकी उत्पत्ति कहा जाता है कि मध्य से हुआ है। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में माँहि और माँझ का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु खड़ी बोली में केवल 'में' का व्यवहार होता है। ब्रजभाषा में 'में' के स्थान पर 'मैं' ही प्राय: लिखा जाता है। प्राकृत भाषा का यह नियम है कि पद के आदि का 'ध्य' 'झ' और अन्त का 'ध्य' 'ज्झ' हो जाता है ३।

१—देखो 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का पृष्ठ १४३।
२—देखो 'ओरिजन आफ दी हिन्दी लैंग्वेज का पृष्ठ १२।
३—देखो 'पालिप्रकाश' मुख्य ग्रन्थ का पृष्ठ १९

इस नियम के अनुसार मध्य शब्द का अन्त्य 'ध्य' जब 'ज्झ' से बदल जाता है, तो मज्झ शब्द बनता है, यथा—बुध्यते, बुज्झते, सिध्यति-सिज्झति इत्यादि। यही मज्झ शब्द ब्रजभाषा और अवधी में माँझ, और अधिक कोमल होकर माँह, माहिँ आदि बनता है। इसी माँह, माँहि से मैं और में की उत्पत्ति भी बतलाई जाती है। प्राकृत की सप्तमी एक वचन में "स्मि" का प्रयोग होता है कुछ लोगों की सम्मति है कि प्राकृत के स्मि अथवा म्मि से में अथवा मैं की उत्पत्ति है १

विभक्तियों के विषय में यद्यपि यह निश्चित है कि वे संस्कृत अथवा प्राकृत से ही हिन्दी अथवा अन्य गौड़ीय* भाषाओं में आई हैं। परन्तु कभी कभी विरुद्ध बातें भी सुनाई पड़ती हैं, जैसे—यह कि द्राविड़ भाषा के सम्प्रदान कारक के 'कु' विभक्ति से हिन्दी भाषा के 'को' अथवा बँगला भाषा के 'के' की उत्पत्ति हुई। ऐसी बातों में प्रायः अधिकांश कल्पना ही होती है। इसलिये, उनमें वास्तवता नहीं होती, विशेष विवेचन होने पर उनका निराकरण हो जाता है। तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अबतक निर्विवाद रूप से विभक्तियों के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। जितनी बातें ज्ञात हो सकी हैं, उनका ही उल्लेख यहां किया जा सका।

सर्वनाम भी भाषाके प्रधान अंग हैं, और किसी भाषाके वास्तविक स्वरूप ज्ञान के लिये क्रिया सम्बन्धी प्रयोगों का अवगत होना भी आवश्यक है, इसलिये यहां पर कुछ उनकी चर्चा भी की जाती है।

उत्तम पुरुष एक वचन में 'मैं' और बहुवचन में 'हम' होता है, संस्कृतके 'अस्मद्' शब्द से दोनों की उत्पत्ति बतलाई जाती है। प्राकृत में तृतीया के एकवचन का रूप 'मया, और बहुवचन का रूप 'अम्हेहि, और 'अम्हेभि होता है। प्रथमा के बहुवचन का रूप 'अम्हे, है २ अपभ्रंश में यह "मया"

१—देखिये पालि प्रकाश पृ० ८४ हिन्दीभाषा और साहित्य पृ० १४७,

* हार्नली साहब ने निम्नलिखित भाषाओं को गौड़ीयभाषा कहा है सुविधा के लिये इन भाषाओं को हमभी कभी कभी इसी नाम से स्मरण करेंगे।

उड़िया, बँगला, हिन्दी, नैपाली, महाराष्ट्री, गुजराती, सिंधी, पंजाबी, और काश्मीरी।

२—देखिये पालिप्रकाश पृ० १९३

'मइ' मइँ हो जाता है। यथा—'ढोला मइँ तुहुँ वारिया, इसी मइँ से हिन्दी के मैं की और बहुवचन "अम्हेहि" अथवा "अम्हे" से हम की उत्पत्ति बतलाई जाती है। मृच्छ कटिक नाटक में "अस्मद्" का प्राकृत रूप आम्हि भी मिलता है, कहा जाता है इसी आम्हि से बँगला के आमि की उत्पत्ति हुई है १ बँगला के आमि से हमारे मैं और हम की बहुत कुछ समानता है। आगे चल कर इसी मैं से "मुझे" "मुझको" और 'मेरा' आदि और हम से "हमको और हमारा" आदि रूप बनते हैं। एक विद्वान् की सम्मति है कि अहम् से 'हम' की उत्पत्ति वैसे ही है, जैसे अ के गिर जाने से अहै से है की।

मध्यम पुरुष का तू, तुम सँस्कृत युष्मत् से बनता है। प्राकृत में प्रथमा का एकवचन त्वं और तुवं और बहुवचन 'तुम्ह' होता है। चतुर्थी और षष्टी का एकवचन 'तुम्हं" बनता है २ इन्हीं के आधार से तू और तुम की उत्पत्ति हुई है। बँगला में तुमको तुमि लिखते हैं, दोनों में बहुत अधिक समानता है, कहा जाता है कि इस तुमि की उत्पत्ति भी 'तुम्हि' से ही हुई है ३ इसी तुमसे "तुझ" और तुम्हारा एवं तेरा आदि रूप आगे चल कर बने। हिन्दी में अबतक 'तुम्ह" का प्रयोग भी होता है। मध्यम पुरुष के लिये आप शब्द भी प्रयुक्त होता है, इस शब्द का आधार संस्कृत का 'आत्मन्' शब्द है। इसका प्राकृत रूप अप्पा और अप्पि है ४ इसी से आप शब्द निकलता है, बँगला में आप के स्थान पर आपनि और बिहार में आपुन बोला जाता है, जिसमें, आत्मन् की पूरी झलक है।

अन्य पुरुष के शब्द वह और वे संस्कृत के (अदस्) शब्द से बने हैं, यह कुछ लोगों की सम्मति है। प्रथमा एक वचन में इसका प्राकृतरूप असु और बहुबचन में अमू होता है। ५ संस्कृत के प्रथमा एकवचन में असौ होता है, प्राकृत में यही असौ, असु होजाता है। अपभ्रंश में प्रायः वह के स्थान पर सु प्रथमा एकवचन में आता है यथा "अन्नु सुघण थण हारु"

१—देखिये 'बंगभाषा और साहित्य' पृ० २५ २—देखिये पालिप्रकाश पृ० १५२
३—देखिये बंगभाषा और साहित्य पृ० २६। ४—देखिये 'बंगभाषा और साहित्य' पृ० २४
५—देखिये पालिप्रकाश पृ० १४७।

" सु गुण लायण्ण निधि " ऐसी अवस्था में कहा जा सकता है कि इसी 'सु' से वह की उत्पत्ति है। परन्तु यहाँ स्वीकार करना पड़ेगा कि अ गिर गया है। यह क्लिष्ट कल्पना है। एक दूसरे विद्वान् भी संस्कृत के असौ सेही वह और वे कि उत्पत्ति मानते हैं—१ तद् के प्रथमा एकबचन का रूप 'स' और वहुवचन का रूप ते होता है पुल्लिंग में। स्त्रीलिंग में यही सा और ता हो जाता है। तद् के द्वितीया का एकबचन पुल्लिंग में तं और स्त्रीलिंग में ताम् होगा। अपभ्रंश के निम्नलिखित पद्यों में इनका व्यवहार देखा जाता है।

'सा दिसि जोइ म रोइ' 'सा मालइ देसन्तरिअ'
'तंतेवड्डुउँ समरभर' 'सो च्छेयहु नहिंलाहु'
तं तेत्तिउ जलु सायर हो सो ते वहुवित्थारु'
'जइ सो वड्दि प्रयावदी' 'ते मुग्गडा हराविआ'
'अन्ने ते दीहर लोअण'

इससे पाया जाता है कि सः से 'सो' और वह की और 'ते' से 'वे' की उत्पत्ति है। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में वह के स्थान पर 'सो' का और वे के स्थान पर ते का बहुत अधिक प्रयोग है। गद्य में अब भी 'वह' के स्थान पर 'सो' का प्रयोग होते देखा जाता है। यदि ते से वे की उत्पत्ति मानने में कुछ आपत्ति हो तो उसको वह का वहुवचन मान सकते हैं।

प्राकृत भाषा का यह सिद्धान्त है कि तवर्ग; 'ण'; 'ह', और 'र' के अतिरिक्त जब किसी दूसरे व्यंजनवर्ण के बाद यकार होता है तो प्रायः उसका लोप हो जाता है, और तत् संयुक्तवर्ण को द्वित्व प्राप्त होता है २ इस सिद्धान्त के अनुसार कस्य का कस्स और यस्य का जस्स और तस्य का तस्स प्राकृत में होता है, और फिर उनसे क्रमशः किस, कास, कासु+जास, जासु और

१—पालि प्रकाश पृ० २१

२—ओरिजन आफ़ दि हिन्दी लेंगवेज पृ० १२।

तास, तासु आदि रूप बनते हैं । ऐसे ही संस्कृत कः से प्राकृत को और हिन्दी कौन— सँस्कृत यः से प्राकृत में जो बनता है । जो हिन्दी में उसी रूप में गृहीत हो गया है । सँस्कृत किम् से हिन्दी का क्या और कोपि से हिन्दी का कोई निकला है । अपभ्रंश में किम् का रूप काँइ और कोपि का रूप कोबि पाया जाता है यथा "अम्हे निन्दहु कोबिजण अम्हे बण्णउ कोबि" "काइँ न दूरे देक्खइ"

हिन्दी भाषा की अधिकांश क्रियायें संस्कृत से ही निकली हैं । संसकृत में क्रियाओं के रूप ५०० से अधिक पाये जाते है, उन सब के रूप हिन्दी में नहीं मिलते, फिर भी जो क्रियायें संस्कृत से हिन्दी में आई हैं, उनकी संख्या कम नहीं है । हिन्दी में कुछ क्रियायें, अन्य भाषाओं से भी बना ली गई हैं, परन्तु उनको संख्या बहुत थोड़ी है । उनकी चर्चा आगे के प्रकरण में की जायगी । संस्कृत क्रियाओं का विकास हिन्दी में किस रूप में हुआ है, और हिन्दी में किस विशेषता से वे ग्रहण की गई हैं, केवल इसी विषय का वर्णन थोड़े में यहां करूंगा प्रत्येक विषयों का दिग्दर्शन मात्र ही इस ग्रन्थ में हो सकता है, क्योंकि अधिक विस्तार का स्थान नहीं । विशेष उल्लेख योग्य खड़ी बोली की क्रियायें हैं । जिनका मार्ग अपनी पूर्ववर्ती भाषाओं से सर्वथा भिन्न है ।

खड़ी बोलचाल की हिन्दी में 'है' का एकाधिपत्य है 'था' का व्यवहार भी उसमें अधिकता से देखा जाता है । बिना इनके अनेक वाक्य अधूरे रह जाते हैं, और यथार्थ रीति से अपना अर्थ प्रकट नहीं कर पाते । 'है' की उत्पत्ति के विषय में मतभिन्नता है । कोई कोई इसकी उत्पत्ति अस् धातु से बतलाते हैं और कोई भू धातु से । ओरिजन आफ़ दि हिन्दी लांगवेज के रचयिता यह कहते हैं—

"संस्कृत में भू-भवामि-भव, भोमि के स्थान पर वररुचि ने भू-हो-हुआ, आदि रूप दिया है. दो सहस्त्र वर्ष से 'हो' का प्रयोग होने पर भी ब्रजभाषा के भूतकाल में भू-धातु का रूप भया-भये-भयो आदि का प्रयोग अबतक

होता है। 'हो' का प्राकृत रूप होमे' और हिन्दी रूप 'हूं' है।" १

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि वररुचि ने भू धातु से ही होना, धातु की उत्पत्ति मानी है, इसी होनाका एक रूप 'है' है। अवधी में 'है' के स्थान पर 'अहै का प्रयोग भी होता है। यथा

"सांची अहै कहनावतिया अरीऊँचीदुकानकी फीकी मिठाई"

इसलिये यह विचार अधिकता से माना जाता है कि अस् सेही है की उत्पत्ति है। अस् से अहै स् के ह हो जाने कारण बना, और व्यवहाराधिक्य से अ के गिर जाने के कारण केवल है का प्रयोग होने लगा। दोनों सिद्धान्तों में कौन माननीय है, यह बात निश्चित रीति से नहीं कही जा सकती, दोनों ही पर तर्क वितर्क चल रहे हैं, समय ही इसकी उचित मीमांसा कर सकेगा। 'था' की उत्पत्ति 'स्था' धातु से मानी जाती है, ओरिजन आफ दि हिन्दी लांगवेज के रचयिता भी इसी सिद्धान्त को मानते हैं। २

इस है, और था के आधार से बने कुछ हिन्दी क्रियाओं के प्रयोग की विशेषताओं को देखिये। संस्कृत चलति का अपभ्रंश एवं अवधी में चलइ और ब्रजभाषा में चलय अथवा चलै रूप वर्त्तमानकाल में होगा। परन्तु खड़ी बोलचाल की हिन्दी में इसका रूप होगा चलता है। संस्कृत में प्रत्यय न तो शब्द से पृथक् है. न अवधी में, ब्रजभाषा में भी नहीं जो कि पश्चिमी हिन्दी ही है। इनके शब्द संयोगात्मक हैं, उनमें है का भाव मौजूद है। परन्तु खड़ी बोली का काम बिना है के नहीं चला, उसमें है लगा, और बिल्कुल अलग रह कर। खड़ी बोली की अधिकांश क्रियायें हैं से युक्त हैं। था के विषय में भी ऐसी ही बातें कही जा सकती हैं। खड़ी बोली के प्रत्ययों और विभक्तियों को प्रकृति से मिलाकर लिखने के लिये दस बरस पहले बड़ा आन्दोलन हो चुका है। कुछ लोग इस विचार के अनुकूल थे और कुछ प्रतिकूल। संयोगवादी प्राचीन प्रणाली की दुहाई देते थे, और

१—देखो ओरिजन आफ दि हिन्दी लांगवेज पृ० १३ २ देखो ओरिजन आफ़ दी हिन्दी पृ० १४।

कहते थे कि वैदिककाल से लेकर आज तक आर्य्यभाषा की जो सर्वसम्मत रीति प्रचलित है, उसका त्याग न होना चाहिये। प्रकृति से प्रत्ययों और विभक्तियों को अलग करने से पहले तो शब्दों का अयथा विस्तार होता है, दूसरे उनके स्वरूप पहचानने और प्रयोग में बाधा उपस्थित होती है। वियोगवादी कहते संयोग जटिलता का कारण है, संयुक्त वर्ण जिसके प्रमाण हैं। इसलिये सरलता जन साधारण की सुबिधा और बोलचाल पर ध्यान रखकर जो नियम आजकल इस बारे में प्रचलित हैं, उनको चलते रहना चाहिये। जीत वियोग वादियों की ही हुई अब भी कुछ लोग प्रकृत और प्रत्ययों को मिलाकर लिखते हैं, परन्तु साधारणतया वे अलग ही लिखे जाते हैं। कहा जाता है हिन्दी भाषा में यह प्रणाली फ़ारसी भाषा से आई है। फ़ारसी में प्रायः इस प्रकार के शब्द अलग लिखे जाते हैं। और उर्दू उन्हीं अक्षरों में लिखी जाती है जिन अक्षरों में फ़ारसी। इस लिये जैसे हिन्दी के क्रिया आदि उर्दू में लिखे जाते हैं, वैसे ही हिन्दी में भी लिखे जाने लगे। १ इस कथन में बहुत कुछ सत्यता है, परन्तु मैं इस विवाद में पड़ना नहीं चाहता। मेरा कथन इतना ही है कि विभक्तियां अथवा प्रत्यय प्रकृति के साथ मिलाकर लिखे जायें या न लिखे जायें। परन्तु ये ही हिन्दी भाषा के वे सहारे हैं, जिनके आधार से वह संसार को अपना परिचय दे सकती है। इस प्रकरण में मैंने जिन विभक्तियों, सर्वनामों, प्रत्ययों, और क्रियाओंका वर्णन किया है वे हिन्दी भाषाके शब्दों, वाक्यों, और उनके अवयवों के ऐसे चिन्ह हैं, जो उसको अन्य भाषाओं से अलग करते हैं, इसलिये उनका निरूपण आवश्यक समझा गया।

१—दे० ओरिजन एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ़ दि बँगला लैंग्वेज पृ० १२२।

सप्तम प्रकरण ।

हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

हिन्दी भाषा में सबसे अधिक संस्कृतके शब्द पाये जाते हैं। इस हिन्दी भाषा से मेरा प्रयोजन साहित्यिक हिन्दी भाषा से है। बोलचाल की हिन्दी में भी संस्कृतके शब्द हैं, परन्तु थोड़े उसमें तद्भव शब्दोंकी अधिकता है। हिन्दुओंकी बोलचालमें अब भी संस्कृतके शब्दोंके प्रयुक्त होनेका यह कारण है, कि विवाह यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंके समय. कथा वार्ता और धर्मचर्चाओं में, व्याख्यानों और उपदेशों में, नाना प्रकार के पर्व और उत्सवों में, उनको पंडितों का साहाय्य ग्रहण करना पड़ता है। पण्डितों का भाषण अधिकतर संस्कृत शब्दों में होता है, वे लोग समस्त क्रियाओंको संस्कृत पुस्तकों द्वारा कराते हैं। अतएव उनके व्यवहार में भी संस्कृत शब्द आते रहते हैं। सुनते सुनते अनेक संस्कृत शब्द उनको याद हो जाते हैं, अतएव अवसर पर वे उनका प्रयोग भी करते हैं। जब पुलकित चित्त से भगवान का स्मरण करने केलिये गोस्वामी तुलसी दास के अथवा कविवर सूरदास के पदों को गाते हैं, अन्य भक्तों के भजनों को सुनते हैं उस समय भी अनेक संस्कृत शब्द उनकी जिह्वा पर आते रहते हैं, और उनके विषय में उनका ज्ञान बढ़ता रहता है। इसलिये हिन्दुओं की बोलचाल में संस्कृत शब्दों का होना स्वाभाविक है। तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि इनकी संख्या अधिक नहीं है। जो सँस्कृत के शब्द अपने शुद्ध रूप में व्यवहृत होते हैं, उनको तत्सम कहते हैं, यथा हर्ष, शोक, कार्य्य, कर्म्म, व्यवहार, धर्म्म आदि। जो संस्कृत शब्द प्राकृत में होते हुए हिन्दी तक परिवर्तित रूप में पहुंचे हैं. उनको तद्भव कहते हैं। जैसे काम, कान, हाथ इत्यादि। हिन्दी भाषा इन तद्भव शब्दों से ही बनी है। तद्भव शब्द के लिये यह आवश्यक नहीं है, कि जिस रूप में वह प्राकृत में था उस रूपको बदल कर हिन्दी में आवे तभी तद्भव कहलावे. यदि उसने अपना संस्कृत रूप बदल दिया है और प्राकृत रूप में ही हिन्दी में आया है तो भी तद्भव कहलावेगा। हस्त को लीजिये, जब तक इस शब्द

का व्यवहार शुद्ध रूप में होगा, तब तक वह तत्सम है। प्राकृत में हस्त का रूप हत्थ हो जाता है और हत्थ हिन्दीमें हाथ हो जाता है। हिन्दी भाषा की रीढ़ ऐसे ही शब्द हैं, यह स्पष्ट तद्भव है। परन्तु यदि हत्थ के रूप में ही हिन्दी में लेलिया जाता तो भी तद्भव ही कहलाता। प्राकृत में लोचन, लोयन, बन जाता है। और हिन्दी में इसी रूप में गृहीत होता है. थोड़ा भी नहीं बदलता, तो भी तद्भव ही कहलाता है। क्योंकि लोचन से उत्पन्न होने के कारण लोयन में तद्भवता (उत्पन्न होने का भाव) मौजूद है। तत्सम शब्द के आदि और मध्य का हलन्त वर्ण प्रायः हिन्दी में सस्वर हो जाता है, प्राकृत और अपभ्रंश में भी इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है, क्यों कि सुखमुखोच्चारण के लिये जन साधारण प्रायः संयुक्त वर्णों के हलन्त वर्णों को सस्वर कर देता है, संस्कृत में इसको युक्तविकर्ष कहते हैं, ऐसे ही शब्द अर्ध तत्सम कहलाते हैं। धरम, करम, किरपा, हिरदय, अगिन, सनेह आदि ऐसे ही शब्द हैं जो धर्म, कर्म, हृदय, अग्नि, स्नेह के वे रूप हैं जो जनता के मुखों से निकले हैं। अवधी और बृजभाषा में ऐसे शब्दों का अधिकांश प्रयोग मिलता है। इन भाषाके कवियों ने भी भाषा को कोमल करनेके लिये ऐसे कुछ शब्द गढ़े हैं। परन्तु खड़ी बोलीके कवियोंका मार्ग बिलकुल उलटा है, वे अर्द्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग करते ही नहीं। हिन्दी का गद्य तो उस को पास फटकने नहीं देता। १ तत्सम २ अर्ध तत्सम और ३ तद्भव के अतिरिक्त हिन्दी भाषा में और एक प्रकार के शब्द पाये जाते हैं इनको ४ देशज कहते हैं। ये देशज वे शब्द हैं जिनके आधार संस्कृत अथवा प्राकृत शब्द नहीं हैं। वे अनार्य्यों अथवा विजातीय भाषाओं से हिन्दी में आये हैं। जैसे गोड़, टाँग, उर्दू आदि। किसी किसीकी यह सम्मति है कि ऐसे शब्दों के विषय में यह ठीक पता नहीं चलता, कि वे कहां से आये, इसलिये वे देशज मान लिये गये। कुछ अनुकरणात्मक शब्द भी हिन्दी में हैं जैसे खटखटाना, गड़बड़ाना, बड़बड़ाना, फड़फड़ाना, चटपट, झटपट, खटपट इत्यादि। कहा जाता है ऐसे कुल शब्द देशज हैं, परन्तु अनेक भाषा मर्मज्ञोंने इस प्रकार के बहुत से शब्दों की उत्पत्ति संस्कृत से ही बतलाई है। सीधा मार्ग देशज शब्दों के निर्धारण का यही ज्ञात होता है कि जो

तत्सम, तद्भव, अर्द्ध तत्सम, तत्समाभास अथवा विदेशी शब्द नहीं हैं, उन्हें देशज मान लिया जावे। हिन्दी भाषा में कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त होते हैं, जो देखने में तत्सम ज्ञात होते हैं, परन्तु वास्तव में वे तत्सम शब्द नहीं होते। जिनको संस्कृत का ज्ञान साधारण होता है, आदि में उनके द्वारा ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है. जब उनके अनुकरण से दूसरे लोग भी उनका व्यवहार करने लग जाते हैं. तो काल पाकर वे गृहीत हो जाते और भाषा में चल जाते हैं। इस प्रकार के शब्द हैं, हरीतिमा, लालिमा, सत्यानाश, प्रण और मनोकामना आदि। कुछ संस्कृत के विद्वान् इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार करने के विरोधी हैं. उनके द्वारा अब भी इस प्रणाली का यथा समय विरोध होता रहता है. परन्तु मेरा विचार है कि ऐसे चल गये और व्यापक बन गये, शब्दों का विरोध सफलता नहीं लाभ कर सकता। कारण इसका यह है कि समस्त प्राकृतों और अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति ही इस प्रकार हुई है। भाषा में जब स्थान मिल गया है तब इस प्रकार के शब्दों का निकाल बाहर करना साधारण बात नहीं, ऐसी अवस्था में उनको उस भाषा का स्वतंत्र प्रयोग मान लेना ही अधिक युक्ति-संगत ज्ञात होता है। अनेक व्याकरण रचयिताओं ने इस पथ का अवलम्बन किया है. ऐसे शब्दों को तत्समाभास कह सकते हैं॥

हिन्दी शब्द-भाण्डार पर विदेशी भाषाओं के शब्द का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। 'नानक' शब्द का प्रयोग नामकरण के लिये प्रायः काम में लाया जाता है, नानकचंद, नानक वख्श नाम अब भी रखे जाते हैं परन्तु वास्तव में 'नानक' यूनानी शब्द है। 'कचहरी' शब्द घर घर प्रचलित है, और साहित्यिक भाषा में भी चलता रहता है परन्तु है यह पुर्तगाली भाषा का शब्द। शक और हूणों के शब्द भी प्राकृत और अपभ्रंश से होकर हिन्दी में आये हैं, परन्तु सबसे अधिक उसमें फ़ारसी, अरबी और अङ्गरेज़ी के शब्द पाये जाते हैं। ६०० ईस्वी के लगभग मुहम्मदबिन क़ासिम ने सिन्धु को जीता, भारत के एक बड़े प्रदेश में मुसल्मानों की यह पहली विजय थी, उसके बाद १०० वर्ष तक पंजाब में मुसल्मानों का राज्य रहा तदुपरान्त वे धीरे धीरे भारत भर में फैल गये और लगभग

८०० वर्ष तक उनका शासन चलता रहा। विजेता की भाषाका कितना प्रभाव विजित जाति पर पड़ता है, यह अप्रकट नहीं। इस आठ सौ वर्षके बहुव्यापी समय में उसने कितना अधिकार भारतीय भाषाओं पर जमाया, इसका प्रमाण वे स्वयं दे रही हैं। हिन्दी भाषा वहांकी भाषा थी, जहां पर मुसल्मानोंके साम्राज्य का केन्द्र था, और जहां उनकी विजय वैजयन्ती उस समय तक उड़ती रही जबतक उनका साम्राज्य ध्वंस नहीं हुआ। इसीलिये हिन्दी भाषा पर उनकी भाषा का बहुत अधिक प्रभाव देखा जाता है। अरबी मुसलमानों की धार्म्मिक भाषा थी। विजयी मुसलमान भारत में अरब से ही नहीं, ईरान और तुर्किस्तान से भी आये। इसलिये हिन्दी भाषा पर अरबी, फ़ारसी और तुर्की तीनों का प्रभाव पड़ा। इन तीनों भाषाओं के शब्द अधिकता से उसमें पाये जाते हैं। अधिकता का प्रत्यक्ष प्रमाण उर्दू है, जो कठिनता से हिन्दी कही जा सकती है।

इन भाषाओं के अधिकतर शब्द संज्ञा रूप में गृहीत हुए हैं। मुसल्मानों के साथ बहुत से ऐसे पदार्थ और सामान भारत में आये, जिनका कोई संस्कृत और देशज नाम नहीं था, इसलिये हिन्दी में उनका अरबी, फ़ारसी आदि नाम ही व्यवहार में आया। जैसे साबुन, चिलम, नैचा, हुक्का, रिकाबी, तश्तरी आदि। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षितजन ही नहीं, अपठित लोग भी राजकीय भाषा बोलने में अपना गौरव समझते हैं, इस कारण अनेक संस्कृत और हिन्दी शब्दों के स्थान पर भी अरबी, फ़ारसी एवं तुर्की शब्दोंका प्रचार हुआ। और यह दूसरा हेतु हिन्दीमें विदेशी शब्दों के आधिक्य का हुआ।

आज कल वायु, मसिभाजन, लेखनी आदि के स्थान पर हवा 'दवात' और क़लम आदि का ही अधिक प्रयोग देखा जाता है। नीचे लिखे शब्दों जैसे अनेक शब्द ऐसे हैं, कि जिनके स्थान पर हम गढ़े शब्दों का ही प्रयोग कर सकते हैं, फिर भी वे इतने सुबोध न होंगे, इसलिये ऐसे शब्द ही प्रायः मुखों से निकलते, और उनकी व्यापकता हिन्दी में बढ़ाते हैं—

मज़दूर, वकील, गुलाब, कोतल, परदा, रसद कारीगर आदि

इस प्रकार के शब्दों को छोड़कर इन भाषाओं के कुछ संज्ञाओं को लेकर उन्हें क्रिया का रूप हिन्दी नियमानुसार दिया गया, और आज कल वे क्रियायें हिन्दी में निस्संकोच भाव से प्रचलित हैं। शरमाना, फरमाना कबूलना, बदलना, बख़्शना, आदि ऐसी ही क्रियायें हैं। शर्म, फ़रमान, क़बूल, बदल, बख़्श, आदि संज्ञाओं के अन्त में हिन्दी का धातु चिन्ह लगा कर इन्हें क्रिया का रूप दिया गया, और आज कल उनसे सब काल की क्रियायें हिन्दी व्याकरण के नियमानुसार बनती रहती हैं। इन भाषाओं के आधार से बहुत से ऐसे शब्द भी बन गये हैं. कि जिनका आधा हिस्सा हिन्दी शब्द है, और दूसरा आधा अरबी, फ़ारसी इत्यादि का कोई शब्द। जैसे पानदान, पीकदान, हाथीवान, समझदार, ठीकेदार आदि। इस प्रकार की कुछ क्रियायें भी बनाली गई हैं। जैसे ख़ुशहोना, रवानाहोना, दिल लगाना, ज़खम पहुंचाना, इलाज करना, हवा हो जाना आदि।

मुसलमानों के अदालत और दफ़्तरों के काम पहले प्रायः हिन्दी में होते थे, परन्तु अकबर के समय में राजा टोडरमल ने दफ्तर को हिन्दी से फ़ारसी में कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू फ़ारसी पढ़ने के लिये बिवश हुए, और कचहरी एवं दफतरों का काम फ़ारसी में होने लगा। इससे भी प्रचुर फ़ारसी अरबी आदि के शब्दों का प्रचार जन साधारण और हिन्दी में हुआ, और क़ानून एवं अदालत सम्बन्धी सैकड़ों पारिभाषिक शब्द व्यवहार में आने लगे। क़ाजी, नाज़िम, क़ानूनगो, समन, नाबालिग़, बालिग़,दस्तावेज़, आदि ऐसे ही शब्द हैं।

अरबी, फ़ारसी में कुछ ऐसी ध्वनियां हैं, जो उनकी वर्णमाला में मौजूद हैं, परन्तु हिन्दी वर्णमाला में उनका अभाव है। जब फ़ारसी. अरबी, और तुर्की के शब्दों का प्रचार हुआ तो उनके शब्दगत अक्षरों की विशेष ध्वनियों की ओर भी लोगों की दृष्टि आकर्षित हुई, क्योंकि बिना उन ध्वनियोंकी रक्षा किये शब्दोंका शुद्धोच्चारण असंभव था। परिणाम यह हुआ कि कुछ विशेष चिन्ह के द्वारा इस न्यूनता की पूर्त्ति की गई। यह विशेष चिन्ह वह बिन्दु है जो अरबी के अपेक्षित अक्षरों के नीचे लगाया जाता

है ف، ز، خ، ق، غ، ع की ध्वनियों की रक्षा अ़, ग़, क़, ख़, ज़, फ़, लिख कर की जाती है। किन्तु कुछ भाषा मर्मज्ञ इस प्रणाली के प्रतिकूल हैं। उनका यह कथन है कि ग्राहक भाषा सदा ग्राह्य भाषाओं के शब्दों को अपने स्वाभाविक उच्चारणों के अनुकूल बना लेती है। ऐसी अवस्था में हिन्दी वर्णों पर बिन्दु लगा कर अरबी फ़ारसी के अक्षरों की ध्वनियों की रक्षा करना युक्तिमूलक नहीं। ऐसा करने से व्यर्थ वर्णमाला के वर्णों का विस्तार होता है। मेरा विचार है कि जब पठित समाज अरबी, फ़ारसी के विशेष अक्षरों का उच्चारण उसी रूप में करता है, जिस रूप में उनका उच्चारण उन भाषाओं में होता है तो इस प्रकार के उच्चारणों की रक्षा के लिये हिन्दी भाषा के अक्षरों में विशेष संकेतों के द्वारा कुछ परिवर्तन करने की जो प्रणाली गृहीत है वह सुरक्षित क्यों न रखी जावे। उर्दू कोर्ट की भाषा है, कचहरी दरबार में उसी का प्रचार है। सरकारी दफ़्तरों में उसीसेही काम लिया जाता है। उर्दू की लिपि वही है, जो अरबी, फ़ारसीकी है, इसलिये अरबी फ़ारसीके शब्द उसमें शुद्ध रूपमें लिखे जाते हैं। शुद्ध रूपमें लिखे जाने के कारण उनका उच्चारण भी शुद्ध रूप में होता है। सरकारी कचहरियोंसे कुछ न कुछ सम्बन्ध प्रजा मात्रका होता है। मानकी रक्षा कौन नहीं करता। जब लोग देखते हैं कि अरबी फ़ारसी शब्दों का शुद्ध उच्चारण न करने से प्रतिष्ठा में बट्टा लगता है, शिष्ट प्रणाली में अन्तर पड़ता है' अधिकारियों की दृष्टि से गिरना पड़ता है, तो उनको विवश हो कर अरबी फ़ारसी शब्दों के उच्चारण के समय उनकी विशेषताओं की रक्षा करनी पड़ती है। पठित समाज अवश्य ऐसा करता है, गँवार और मूर्खों की बात दूसरी है। यदि आवश्यकतायें अथवा कारण विशेष हमको अरबी और फ़ारसी शब्दों का शुद्धोच्चारण करने के लिये विवश करते हैं। और सभा, समाज, पारस्परिक व्यवहार, एवं कुछ अंतर्जातीय लोगों से सम्मिलन के अवसरों पर हमको शुद्ध उर्दू बोलने की आवश्यकता होती है, तो उसके फ़ारसी अरबी के विशेष शब्दों को हिन्दी अक्षरों में शुद्ध लिखने की प्रणाली प्रचलित क्यों न रखी जावे। दूसरी बात यह कि पूर्णता लाभके लिये जैसे भाषा की व्यापक और पूर्ण होने की आवश्यकता है, वैसे ही

लिपि को। लिपि की अपूर्णता प्रायः भाषा की पूर्णता का बाधक होती है। यह ज्ञात है कि उर्दू अरबी लिपि में लिखी जाती है अरबी लिपि में हिन्दी का टवर्ग है ही नहीं, उसमें हिन्दी के ख, घ, छ, झ, थ, ध, फ, भ अक्षरों का भी अभाव है। उर्दू वालों ने एक नहीं, अनेक चिन्हों का उद्भावन कर अपने अभावों की पूर्त्ति की, और इस प्रकार अपनी लिपि को पूर्ण बना लिया है। रोमन अक्षरों को पूर्ण बनाने के लिये आये दिन इस प्रकार की उद्भावनायें होती ही रहती हैं। फिर हिन्दी, वह हिन्दी पीछे क्यों रहे, जो सभी लिपियों से शक्तिशालिनी है। और जिसमें ही यह गुण है, कि जो लिखा जाता है, वही पढ़ा जाता है। यदि अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करके, कोई लिपि पूर्ण बन सकती है, तो हिन्दी में यह शक्ति सबसे अधिक है। वह अपूर्ण क्यों रहे, और क्यों यह प्रकट करे कि वह न्यूनताओं से भरी है, और पूर्णता लाभ करने की उसमें शक्ति नहीं।

अरबी फ़ारसी लिपियों में जो ऐसे वर्ण हैं, जिनका उच्चारण हिन्दी वर्णों के समान है, उनके लिखने में कुछ परिवर्तन नहीं होता, वरन् फ़ारसी अरबी के कई वर्णों के स्थान पर हिन्दी का एक ही वर्ण प्रायः काम देता है। परिवर्तन उसी अवस्था में होता है जब उनमें फ़ारसी अरबी वर्णों से अधिकतर उच्चारण की विभिन्नता पाई जाती है। नीचे कुछ इसका वर्णन किया जाता है।

अरबी में कुल २८ अक्षर हैं, इनमें फ़ारसी भाषा के चार विशेष अक्षरों पे, चे, ज़े, गाफ़ के मिलाने से वे ३२ हो जाते हैं उनको मैं नीचे लिखता हूं—

ا ب پ ت ث ج چ ح خ د ذ ر ز س ش ص ض ط ظ ع غ ف ک ق گ ل م ن و ہ ی

इनमें से, से, हे, साद, ज़ाद, तो, ज़ो, अैन और क़ाफ़ अरबी के विशेष अक्षर हैं—फ़ारसी और अरबी के विशेष अक्षरों को, निम्न लिखित शेर में स्पष्ट किया है—

सावो, हावो, सादो, ज़ादो, तावो, ज़ावो, अैन, क़ाफ़। हर्फ़े ताज़ी

फ़ारसीदां, पे' वो, चे, वो, ज़े, वो, गाफ़। इनमें से ا ب پ ج چ د ر ش ک گ ل م ن و ي के स्थान पर हिन्दी में, अ, ब, प, ज, च, द, र, श, क, ग, ल, म, न, व, य, लिखा जाता है। दोनों भाषाओं के उक्त अक्षरों का उच्चारण कुछ भिन्न ज्ञात होता है, परन्तु प्रयोग में कोई भिन्नता नहीं है, इसलिये फ़ारसी के इन तेरह अक्षरों के स्थान पर हिन्दी अक्षरों का व्यवहार बिना किसी परिवर्तन के होता है। फ़ारसी के शेष अक्षरों में से कुछ अक्षर तो ऐसे हैं जिनमें से दो या तीन अक्षरों के स्थान पर हिन्दी का एक अक्षर काम देता है और कुछ ऐसे हैं जिनके लिये समान उच्चरित अक्षरों के नीचे बिन्दु लगाना पड़ता है, नीचे ऐसे अक्षर लिखे जाते हैं। (१) ق خ ع غ ف के स्थान पर क़ ख़ अ़ ग़ और फ़ लिखा जाता है जैसे قوم का क़ौम خربوزه का ख़रबूज़ा عینک का अ़ैनक غایب का ग़ायब और فضول का फ़ज़ूल आदि किन्तु ع के स्थान पर प्रायः अ ही लिखने की प्रणाली है। कारण इस का यह है कि अ़ैन का उच्चारण अधिकतर पठित समाज भी अ कासाही करता है, इसका प्रमाण यह है कि मअ़लूम के स्थान पर मालूम ही लिखा जाता है عام को अ़ाम नहीं आम ही कहते और लिखते हैं।

(२) ح और ه दोनों के स्थान पर हिन्दी का ह ही काम देता, है जैसे حال का हाल और हवा का हवा। ت और ط का काम हिन्दी का त देता है। طور और تیر तौर और तीर ही लिखे जाते हैं।

(३) ث ص और س हिन्दी में स बन जाते हैं। जैसे صورت का सूरत ثواب का सवाब और سر का सर इत्यादि।

ذ ز ژ ض ظ इन पांचों अक्षरों का उच्चारण प्रायः ज़ के समान है, इसलिये हिन्दी में इनके स्थान पर ज़ ही लिखा जाता है जैसे ذیل का ज़ैल زور का ज़ोर, ضامن का ज़ामिन ظاهر का ज़ाहिर इत्यादि।

फ़ारसी में एक हे मुख़फ़ी कहा जाता है, ذره — سبزه — کوزه — روزه के अन्त में जो हे है वही हे मुख़फ़ी है। हिन्दी में यह आ हो जाता है जैसे गेज़ा, कूज़ा, सबज़ा, ज़रा आदि। कुछ लोगों ने इस हे के स्थान पर विसर्ग लिखना प्रारम्भ किया था, अब भी कोई कोई इसी प्रकार से लिखना

पसन्द करते हैं जैसे रोज़ः, कूज़ः, सब्ज़ः, ज़रः आदि । परन्तु अधिक सम्मति इसके विरुद्ध है, मैं भी प्रथम प्रणाली को ही अधिकतर युक्ति सम्मत समझता हूं।

हिन्दी भाषा का अन्यतम रूप उर्दू है। दिल्ली मुसलमान सम्राटों की राजधानी अन्तिम समय तक थी। दिल्ली के आस पास और उसके समीपवर्ती मेरठ के भागोंमें जो हिन्दी बोली जाती है, उसीमें लश्करके लोगों की बोलचालका मिश्रण होनेसे जिस भाषा की उत्पत्ति हुई, शाहजहाँके समयमें उसी का नाम उर्दू पड़ा। कारण इसका यह है कि तुर्की भाषा में लश्कर को उर्दू कहते हैं। किसी भाषा में अन्य भाषा के कुछ शब्द मिल जायें तो इससे उस भाषा का कुछ रूप बदल जा सकता है परन्तु वह भाषा अन्य भाषा नहीं बन जाती। उर्दू भाषा की रीढ़ हिन्दी भाषा के सर्वनाम, विभक्तियों, प्रत्यय और क्रियायें ही हैं, उसकी शब्द योजना भी अधिकतर हिन्दी भाषा के समान ही होती है, ऐसी अवस्था में वह अन्य भाषा नहीं कही जा सकती।

मैंने चतुर्दश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापतित्व सूत्र से जो इस बारे में लिखा था, विषय को और स्पष्ट करने के लिये उसे भी यहां उद्धृत करता हूं।

"यदि अन्य भाषा के शब्द सम्मिलित होने से किसी भाषा का नाम बदल जाता है, तो फ़ारसी अंगरेज़ी आदि बहुत सी भाषाओं का नाम बदल जाना चाहिये। फ़ारसी में अरबी और तुर्की के इतने अधिक शब्द मिल गये हैं, कि उतने शब्द आज भी हिन्दी में इन भाषाओं अथवा फ़ारसी के नहीं मिले, फिर क्यों फ़ारसी फ़ारसी कही जाती है, और हिन्दी उर्दू कहलाने लगी। फ़ारस के विख्यात महाकवि फ़िरदोसी ने अपने शाहनामा में एक स्थान पर लिखा है, "फ़लक गुफ़्त अहसन मलक गुफ़्त ज़ेह" अहसन और ज़ेह अरबी शब्द हैं, अतएव उनसे प्रश्न हुआ कि आपने कुल किताब तो ख़ालिस फ़ारसी में लिखी, इस शेर में दो अरबी के शब्द कैसे आ गये उन्हों ने कहा कि "फ़लक व मलक गुफ़्त न मन गुफ़्त" मतलब

यह कि फ़लक और मलक ने कहा मैंने नहीं कहा१ ! कहाँ यह भाव और कहां यह कि एक तिहाई से अधिक अरबी शब्द फ़ारसी में दाख़िल हो गये, तो भी फ़ारसी का नाम फ़ारसी ही रहा। उर्दू भाषा की प्रकृति आज भी हिन्दी है, व्याकरण उसका आज भी हिन्दी प्रणाली में ढला हुआ है, उसमें जो फ़ारसी मुहावरे दाख़िल हुए हैं, वे सब हिन्दी रंग में रँगे हैं। फ़ारसी के अनेक शब्द हिन्दी के रूप में आकर उर्दू की क्रिया बन गये हैं। एक बचन बहुधा हिन्दी रूप में बहुवचन होते हैं, फिर उर्दू हिन्दी क्यों नहीं है ? यदि कहा जावे फ़ारसी, अरबी, और संस्कृत शब्दों के न्यूनाधिक्य से ही उर्दू हिन्दी का भेद स्थापित होता है, तो यह भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि अनेक उर्दू शायरों का बिल्कुल हिन्दी से लबरेज़ शेर उर्दू माना जाता है, और अनेक हिन्दी कवियों का फ़ारसी और अरबी से लबालब भरा पद्य हिन्दी कहा जाता है-कुछ प्रमाण लीजिये—

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई दूसरा नहीं होता ॥

(मोमिन)

लोग घबरा के यह कहते हैं कि मर जायेंगे।
मर के गर चैन न पाया तो किधर जायेंगे ॥

(ज़ौक़)

लटों में कभी दिल को लटका दिया।
कभी साथ वालों के झटका दिया।

(मीरहसन)

हिन्दी भरी कविता आपने उर्दू की देख ली। अब अरबी फ़ारसी भरी हिन्दी की कविता देखिये—

१ मुसलमानों का धार्मिक विश्वास है कि फ़लक (आकाश) और मलक (देवता) की भाषा अरबी है।

जेहि मग दौरत निरदई तेरे नैन कजाक।
तेहि मग फिरत सनेहिया किये गरेबां चाक। रसनिधि।
यों तिय गोल कपोल पर परी छूट लट साफ़।
खुशनवीस मुंशी मदन लिख्यो कांच पर क़ाफ़।

शृंगार सरोज़।

मैं यहाँ कुछ अङ्गरेज़ और भारतीय विद्वानों की सम्मति उठाना चाहता हूं—आप लोग देखें वे क्या कहते हैं:—

'उर्दू का व्याकरण ठीक हिन्दी के व्याकरण से मिलता है, उर्दू हिन्दी से भिन्न नहीं है" १

डाक्टर राजेन्द्र लाल मित्र

"उर्दू के बड़े प्रसिद्ध कवि वली और सौदा की भाषा, तथा हिन्दी के अति प्रसिद्ध कवि तुलसी दास और विहारी लाल की भाषा में कुछ अन्तर नहीं है, दोनों ही आर्य्य - भाषा हैं। इसलिये हिन्दी उर्दू को अलग मानना बड़ी भारी भूल है" २

मिस्टरबीम्स

"जो भाषा आज हिन्दुस्तानी कहलाती है उसी का नाम हिन्दी

---

(1) The Grammar of Urdu is unmistakably the same as that of Hindi, and it must follow therefore that the Urdu is a Hindi and an Aryan dialect. —Dr R. L. Mittra.

(2) Such words, however, in no way altered or influenced the language itself, which, when its inflectional or phonetic elements are considered, remains still a pure Aryan dialect, just as pure in the pages of Wali and Souda, as it is in those of Tulsi Das or Biharilal. It betrays, therefore, a radical misunderstanding of the whole learnings of the question and of whole Science of philology to speak of Urdu and Hindi as two distinct languages. —Mr Beems.

उर्दू और रेख़ता भी है। इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत भाषाके शब्द हैं" ३

डाक्टर गिल क्राइस्ट

आज कल उर्दू अधिक बदल रही है, उस में फ़ारसी तरकीबों का अधिकतर प्रयोग होने लगा है। मेवा का मेवों, निशानका निशानों, मज़दूर का मज़दूरों, शहर का शहरों, दवा का दवाओं और क़सबा का क़सबों ही पहले लिखा जाता था, क्यों कि हिन्दी के नियमानुसार उनका बहुबचन रूप यही बनता है। परन्तु अब फ़ारसी के अनुसार उनका बहुवचन रूप मेवात, निशानात, मज़दूरान्, शहरात, अदविया क़सबात अथवा क़सबाजात लिखना अधिक पसंद किया जाता है। इसी प्रकार हिन्दी के कुछ कारक चिन्हों का लोप करके फ़ारसी शब्दों को फ़ारसी तरकीब में ढाला जाने लगा है, रोज़ेसियह, इशरते क़तरा, नशयेइश्क़, मुर्दादिल, ग़रीबुलवतनी, मसायलेतसव्वुफ़ आदि इसके प्रमाण हैं। लम्बे लम्बे समस्त पदों की भी अधिकता हो चली है—जैसे 'ज़ेरे क़दमे वालिदा फ़िरदोस बरीं है, परन्तु तो भी उर्दू का अधिकांश प्रचलित रूप हिन्दी ही है।

इस प्रकार के प्रयोगों से हिन्दी में कुछ फ़ारसी शब्द अधिक मिलगये हैं, और उर्दू नाम करण ने विभेद मात्रा अधिक बढ़ा दी है; तथापि आज तक उर्दू हिन्दी ही है, कतिपय प्रयोगों का रूपान्तर हो सकता है भाषा नहीं बदल सकती। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दी भाषा पर अरबी फ़ारसी और तुर्की शब्दों का इतना अधिक प्रभाव है कि एक विशेष रूप में वह अन्य भाषा सी प्रतीत होती है।

सौ वर्ष के भीतर हिन्दी में बहुत से योरोपियन विशेष कर अंगरेज़ी शब्द भी मिल गये हैं, और दिन दिन मिलते जा रहे हैं। रेल, तार, डाक, मोटर आदि कुछ ऐसे शब्द हैं, जो शुद्ध रूप में ही हिन्दी में व्यवहृत हो रहे हैं, और लालटेन, लम्प आदि कितने ऐसे शब्द हैं, जिन्होंने हिन्दी रूप ग्रहण

(3) The language at present best known as the Hindustanee, is also frequently denominated Hindi, Urdu and Rekhta. It is compounded of the Arabic, Persian and Sanskrit, or Bhasha which last appears to have been in former ages the current language of Hindustan.—Dr. Gilchrist.

कर लिया है, और आज कल इनका प्रचार इसी रूप में है। बहुत से सामान पाश्चात्य देशों से भारत वर्ष में ऐसे आ रहे हैं, जिनका हिन्दी नाम है ही नहीं ऐसी अवस्था में उनका योरोपियन अथवा अमरीकन नाम ही प्रचलित हो जाता है। और इस प्रकार उन देशों की भाषा के अनेक शब्द इस समय हिन्दी भाषा में मिलते जा रहे हैं। यह स्वाभाविकता है, विजयी जाति के अनेक शब्द विजित जाति के भाषा में मिल जाते ही हैं, क्यों कि परिस्थिति ऐसा कराती रहती है। किन्तु इससे चिन्तित न होना चाहिये। इससे भाषा पुष्ट और व्यापक होगी, और उसमें अनेक उपयोगी विचार संचित हो जावेंगे। यत्न इस बात का होना चाहिये, कि भाषा विजातीय शब्दों, वाक्यों और भावों को इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी विजातीयता हमारी जातीयता के रंग में निमग्न हो जावे।

आज कल कुछ शब्द अन्य प्रान्तों के भी हिन्दी भाषा में गृहीत हो गये हैं। कुछ विचारमान पुरुष इसको अच्छा नहीं समझते. वे सोचते हैं, इससे अपनी भाषा का दारिद्र्य सूचित होता है। मैं कहता हूं इस विचार में गंभीरता नहीं है। प्रथम तो हिन्दी भाषा राष्ट्रीय पद पर आरूढ़ हो रही है, इस लिये राष्ट्र की सम्पत्ति उसी की है। दूसरी बात यह है कि राष्ट्रोपयोगी जो व्यापक शब्द हैं, अथवा जो कारण विशेष से ऐसे बन गये हैं, जो भावद्योतन में किसी हिन्दी शब्द से विशेष क्षमतावान हैं, तो वे क्यों न ग्रहण कर लिये जावें। यदि विदेशीय शब्दों का कुछ स्वत्व हिन्दी भाषा पर विशेष कारणों से है, तो ऐसे शब्दों का क्यों नहीं। मेरा विचार है कि उनका तो सादर अभिनन्दन करना चाहिये। इस प्रकार के शब्द मराठी के लागू, चालू आदि, गुजराती के हड़ताल आदि, बँगला के गल्प, प्राणपण आदि और तामिल भाषा के चुरुट आदि हैं। जब ये शब्द प्रचलित हो गये हैं, और सर्व साधारण के बोधगम्य हैं, तो इन के स्थान पर न तो दूसरा शब्द गढ़ने का उद्योग करना चाहिये और न इनका बायकाट। इस प्रकार का सम्मिलन भाषा विकास का साधक है, बाधक नहीं यदि वह सीमित और मर्यादित हो।

द्वितीय खण्ड

प्रथम प्रकरण।

साहित्य।

हिन्दी भाषा-साहित्य के विकास पर कुछ लिखने के पहले मैं यह निरूपण करना चाहता हूं कि साहित्य किसे कहते हैं। जब तक साहित्य के वास्तविक रूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक इस बात की उचित मीमांसा न हो सकेगी, कि उसके विषय में अब तक हिन्दी संसार के कवियों और महाकवियों ने समुचित पथ अवलम्बन किया या नहीं। और साहित्य-विषयक अपने कर्त्तव्य को उसी रीति से पालन किया या नहीं, जो किसी साहित्य को समुन्नत और उपयोगी बनाने में सहायक होती है। प्रत्येक समय के साहित्य में उस काल के परिवर्त्तनों और सँस्कारों का चिन्ह मौजूद रहता है। इस लिये जैसे जैसे समय की गति बदलती रहती है, साहित्य भी उसी प्रकार विकसित और परिवर्त्तित होता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि पहले हम समझ लें कि साहित्य क्या है, इस विषय का यथार्थ बोध होने पर विकास की प्रगति भी हमको यथातथ्य अवगत हो सकेगी।

"सहितस्य भावः साहित्यम्" जिसमें सहित का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। इसके विषय में संस्कृत साहित्यकारों ने जो सम्मतियां दी हैं मैं उनमें से कुछ को नीचे लिखता हूं। उनके अवलोकन से भी साहित्य की परिभाषा पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा 'श्राद्ध विवेककार' कहते हैं:—

"परस्पर सापेक्षाणाम तुल्य रूपाणाम युगपदेक क्रियान्वयित्वम् साहित्यम्"।

'शब्दशक्ति प्रकाशिका' के रचयिता यह लिखते हैं:—

"तुल्यवदेक क्रियान्वयित्वम् वृद्धि विशेष विषयित्वम् वा साहित्यम् ।"

शब्द कल्पद्रुम कार की यह सम्मति है:—

'मनुष्य कृत श्लोकमय ग्रन्थ विशेषः साहित्यम् ।"

कवीन्द्र "रवीन्द्र" कहते हैं:—

"सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति है—अतएव, धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टि गोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है यही नहीं, वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ वर्त्तमान का, दूरके सहित निकट का अत्यन्त अन्तरंग योग साधन साहित्य व्यतीत और किसी के द्वारा सम्भव पर नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है उस देशके लोग सजीव बन्धन से बँधे नहीं, विच्छिन्न होते हैं"। १

"श्राद्धविवेक" और "शब्द शक्ति प्रकाशिका" ने साहित्य की जो व्याख्या की है "कवीन्द्र" का कथन एक प्रकार से उसकी टीका है। वह व्यापक और उदात्त है। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में रूढ़ि है। 'शब्द कल्पद्रुम' की कल्पना कुछ ऐसी ही है। परन्तु ऊपर की शेष परिभाषाओं और अवतरणों से यह विचार एक देशीय पाया जाता है। साहित्य शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है वह स्वयं बहुत व्यापक है, उसको संकुचित अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। साहित्य समाज का जीवन है, वह उसके उत्थान पतन का साधन है, साहित्य के उन्नत होने से उन्नत और उसके पतन से समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है जो देश को अन्धकार रहित, जाति-मुख को उज्ज्वल और समाज के प्रभाहीन नेत्रों को सप्रभ रखता है। वह सबल जाति का बल, सजीव जाति का जीवन, उत्साहित जाति का उत्साह, पराक्रमी जाति का पराक्रम, अध्यवसायशील जाति का अध्यवसाय, साहसी जाति का साहस और कर्तव्य परायण जाति का कर्तव्य है।

---

१ देखिये 'साहित्य' नामक बँगला ग्रन्थ का पृ० ५०

एनसाई क्लो पीडिया ब्रिटैनिका में साहित्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

" Literature, a general term which in default of precise definition, may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its various forms are the result of race peculiarities, or of diverse individual temperament or of political circumstances securing the predominance of one social class which is thus enabled to propagate its ideas and sentiments "

Encyclopaedia Britannica.

" साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के स्थान में व्यवहृत हो सकता है। इसके विचित्र रूप जातीय विशेषताओं के, अथवा विभिन्न व्यक्तिगत प्रकृति के अथवा ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम हैं जिनसे एक सामाजिक वर्ग का आधिपत्य सुनिश्चित होता है और वह अपने विचारों और भावों का प्रचार करने में समर्थ होता है। "

एन साईक्लो पीडिया ब्रिटैनिका

As behind every book that is written lies the personality of the man who wrote it, and as behind every national literature lies the character of the race which produced it, so behind the literature of any period lie the combined forces —personal & impersonal—which made the life of that period, as a whole, what it was. Literature is only one of the many channels in which the energy of an age discharges itself; in its political movements, religious thought, philosophical speculation, art, we have the same energy overflowing into other forms of expression."

The study of literature, William Henery Hudson.

जैसे प्रत्येक ग्रन्थ की ओट में उसके रचयिता का और प्रत्येक राष्ट्रीय साहित्य की ओट में उसको उत्पन्न करनेवाली जाति का व्यक्तित्व छिपा रहता है वैसे ही काल विशेष के साहित्य की ओट में उस काल के जीवन को रूप विशेष प्रदान करनेवाली व्यक्तिमूलक और अव्यक्तिमूलक अनेक संयुक्त शक्तियां काम करती रहती हैं। साहित्य उन अनेक साधनों में से एक है जिसमें काल विशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है; यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आन्दोलनों, धार्म्मिक विचार, दार्शनिक तर्क वितर्क और कला में प्रकट होती है।

स्टडी आव् लिटरेचर, विलियम हेनरी हडसन

वह धर्मभाव जो सब भावनाओं का विभव है, वह ज्ञान गरिमा जो गौरव-कामुक को सगौरव करती है, वह विचार परम्परा जो विचार शीलता की शिला है, वह धारणा जो धरणी में सजीव जीवन-धारण का आधार है। वह प्रतिभा जो अलौकिकता से प्रतिभासित हो पतितों को उठाती है, लोचन हीन को लोचन देती है और निरावलम्ब का अवलम्वन होती है। वह कविता जो सूक्ति-समूह की प्रसविता हो, संसार की सारवत्ता बतलाती हैं। वह कल्पना जो कामद-कल्प लतिका बन सुधा फल फलाती है, वह रचना जो रुचिर रुचि सहचरी है, वह ध्वनि जो स्वर्गीय-ध्वनि से देशको ध्वनित बनाती है साहित्य का सम्बल और विभूति है। वह सजीवता जो निर्जीवता संजीवनी है, वह साधना जो समस्त सिद्धि का साधन है, वह चातुरी जो चतुर्वर्ग जननी है, एवं वह चारु चरितावली, जो जाति चेतना और चेतावनी की परिचायिका है, जिस साहित्य की सहचरी होती है वास्तव में वह साहित्य ही साहित्य कहलाने का अधिकारी है। मेरा विचार है कि साहित्य ही वह कसौटी है जिस पर किसी जाति की सभ्यता कसी जा सकती है। असभ्य जातियों में प्रायः साहित्य का अभाव होता है इसलिये उनके पास वह संचित सम्पत्ति नहीं होती जिसके आधार से वे अपने अतीत काल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। और उसके आधार से अपने वर्त्तमान और भावी सन्तानों में वह स्फूर्ति भर सकें, जिसको लाभ कर सभ्य जातियां समुन्नति-सोपान पर आरोहण करती हैं, इसीलिये उनका जीवन प्रायः ऐसी परिमित परिधि में बद्ध होता है जो उनको देश काल के अनुकूल नहीं बनने देता और न उनको उन परिस्थितियों का यथार्थ ज्ञान होने देता है जिनको अनुकूल बनाकर वे संसार क्षेत्र में अपने को गौरवित अथवा यथार्थ सुखित बना सकें। यह न्यूनता उनके प्रति दिन अधः पतन का कारण होती है, और उनको उस अज्ञानान्धकार से बाहर नहीं निकलने देती जो उनके जीवन को प्रकाशमय अथवा समुज्ज्वल नहीं बनने देता। सभ्य जातियां सभ्य इसीलिये हैं और इसीलिये देश कालानुसार समुन्नत होती रहती हैं कि उनका आलोकमय वर्द्धमान साहित्य उनके प्रगति-प्राप्त-पथ को तिमिर रहित करता रहता है। ऐसी अवस्था में साहित्य की

उपयोगिता और उपकारिता स्पष्ट है। आज दिन जितनी जातियां समुन्नत हैं उन पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि जो जातियां जितनी ही गौरव प्राप्त और महिमामयी हैं उनका साहित्य भी उतना ही प्रशस्त और महान है। क्या इससे साहित्य की महत्ता भली भांति प्रकट नहीं होती?

जो जातियाँ दिन दिन अवनति-गर्त्त में गिर रही हैं उनके देखने से यह ज्ञात होता है कि उनके पतन का हेतु उनका वह साहित्य है जो समयानुसार अपनी प्रगति को न तो बदल सका और न अपने को देश-कालानुसार बना सका। मानवी अधिकांश सँस्कारों को साहित्य ही बनाता है। वंशगत विचार-परम्परा ही मानव जाति के सँस्कारों की जननी होती है। जिस जाति के साहित्य में विलासिता की ही धारा चिरकाल से बहती आई हो उस जाति में यदि शूरता और कर्मशीलता का अभाव प्रायः देखा जाय तो क्या आश्चर्य? इसी प्रकार जिस जाति के साहित्य में विरागधारा प्रबलतर गतिसे प्रवाहित होती रहे। यदि वह संसार त्यागी बनने का मंत्र पाठ करे तो कोई विचित्रता नहीं, क्योंकि जिन बिचारों और सिद्धान्तों को हम प्रायः पुस्तकों में पढ़ते रहते हैं, विद्वानों के मुखसे सुनते हैं अथवा सभा-समाजों में घर और बाहर जिनका अधिकतर प्रचार पाते हैं उनसे प्रभावित हुये बिना कैसे रह सकते हैं? क्योंकि सिद्धान्त और विचार ही मानव की मानसिक भावों का संगठन करते हैं।

इन कतिपय पंक्तियों में जो कुछ कहा गया उससे यह सिद्ध होता है कि साहित्य का देश और समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि वे साहित्य के आधार से विकसित होते बनते और बिगड़ते हैं तो साहित्य भी उनकी सामयिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होता है। जहां इनदोनों का सामञ्जस्य यथारीति सुरक्षित रहता है और उचित और आवश्यक पथ का त्याग नहीं करता वहाँ एक दूसरे के आधार से पुष्पित, पल्लवित और उन्नत होता है, अन्यथा पतन उसका निश्चित परिणाम है। मेरा विचार है कि इनबातों पर दृष्टि रखने से साहित्य-विकास का प्रसंग अधिकतर बोध गम्य होगा।

(दूसरा प्रकरण)

हिन्दी साहित्य का पूर्व रूप और आरम्भिक काल

आविर्भाव-काल ही से किसी भाषा में साहित्य की रचना नहीं होने लगती। भाषा जब सर्वसाधारण में प्रचलित और शब्द सम्पत्ति सम्पन्न बन कर कुछ पुष्टता लाभ करती है तभी उसमें साहित्य का सृजन होता है। इस साहित्य का आदिम रूप प्राय: छोटे छोटे गीतों अथवा साधारण पद्यों के रूप में पहले प्रकटित होता है और यथा काल वही विकसित हो कर अपेक्षित विस्तार-लाभ करता है। हिन्दी भाषा के लिये भी यही बात कही जा सकती है। इतिहास बतलाता है कि उसमें आठवीं ईस्वी शताब्दी में साहित्य-रचना होने लगी थी। इस सूत्र से यदि उसका आविर्भाव-काल छठीं या सातवीं शताब्दी मान लिया जाय तो मैं समझता हूं, असंगत न होगा। हमारा विषय साहित्य का विकास ही है इसलिये हम इस विचार में प्रवृत्त होते हैं कि जिस समय हिन्दी भाषा साहित्य रूपमें गृहीत हो रही थी उस समय की राजनैतिक धार्म्मिक और सामाजिक परिस्थिति क्या थी।

हमने ऊपर लिखा है हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल अष्टम शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। इस समय हिन्दी साहित्य के विस्तार-क्षेत्र की राजनैतिक, धार्म्मिक एवं सामाजिक दशा समुन्नत नहीं थी। सातवें शतक के मध्यकाल में ही उत्तरीय भारत का प्रसिद्ध शक्तिशाली सम्राट् हर्ष-वर्धन स्वर्गगामी हो गया था। और उसके साम्राज्य के छिन्न भिन्न होने से देश की उस शक्ति का नाश हो गया था जिसने अनेक राजाओं और महाराजाओं को एकतासूत्र में बाँध रखा था। उस समय उत्तरीय भारत में एक प्रकार की अनियन्त्रित सत्ता राज्य कर रही थी और स्थान स्थान पर छोटे छोटे राजे अपनी अपनी क्षीण-क्षमता का बिस्तार कर रहे थे। यही नहीं, उनमें प्रतिदिन कलह की मात्रा बढ़ रही थी और वे लोग परस्पर एक दूसरे को द्वेष की दृष्टि से देखते थे। जिससे वह संगठन देश में नहीं

था जो उनको सुरक्षित और समुन्नत बनाने के लिये आवश्यक था। यह बात सर्वजन विदित है कि जहां छोटे मोटे राजे परस्पर लड़ते रहते हैं वहां की साधारण जनता न तो अपना शान्तिमय जीवन बिता सकती है और न वह विभूति लाभ कर सकती है जिसे पाकर प्रजा-वृन्द समुन्नति-सोपान पर आरोहण करता रहता है। राजनैतिक अवस्था जैसी दुर्दशा ग्रस्त थी धार्म्मिक अवस्था उससे भी अधिक संकटापन्न थी। इन दिनों बौद्ध-धर्म का अपने कदाचारों के कारण प्रतिदिन पतन हो रहा था और प्राचीन वैदिकधर्म उत्तरोत्तर बलशाली बन रहा था। इस कारण वैदिक धर्मावलम्बियों और बौद्धों में ऐसा संघर्ष हो रहा था जो देश के लिये बांछनीय नहीं कहा जा सकता।

जिस समय विशाल दो धार्मिक दलों में इस प्रकार द्वन्द्व चल रहा था उस समय उत्तरीय भारत की सामाजिक अवस्था कितनी दयनीय होगी, इसका अनुभव प्रत्येक विचार-शील सहज ही कर सकता है। सामाजिकता अधिकतर धार्म्मिक भावों और पारस्परिक सम्बन्ध सूत्रों, व्यवहारों, एवं रीति रवाजों पर निर्भर रहती है। जिस स्थान की धार्मिकता कलह जाल में पड़ कर प्रतिदिन उच्छृङ्खलित और आडम्बर-पूर्ण बनती रहती है। जहां का पारस्परिक सम्बन्ध, व्यवहार, अथच रीति-नीति कपटा-चरण का अवलम्बन करती है। वहाँ की समाजिकता कितनी विपन्न अवस्था को प्राप्त होगी, इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। भारतवर्ष का पतन उस समय से आज तक जिस प्रकार क्रमशः होता आता है, वही उसका प्रबल प्रमाण है।

जिस समय उत्तरीय भारत इस प्रकार विपत्तिग्रस्त था उस समय विजयोन्मत्त अरब निवासियों की विजय-वैजयन्ती ईरान में फहरा चुकी थी और वे क्रमशः भारत की ओर विभिन्न मार्गों से अग्रसर होने का पथ ढूंढ़ रहे थे। इस समय के बहुत पहले से अरब के व्यापारियों के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध चला आता था और इस सूत्र से अरब के मुसल्मानों को स्वर्णप्रसू भारत वसुन्धरा का बहुत कुछ ज्ञान था। वे वाणिज्य

विस्तार के लिये भारत के किसी सामुद्रिक प्रदेश में एक बन्दरगाह बनाना चाहते थे। इसलिये सिन्ध प्रदेश पर पहले पहल उनकी आंखें गड़ीं और ईस्वी नवीं शताब्दी में मुहम्मदबिन क़ासिम ने नाना प्रपञ्चों से उस पर अधिकार कर लिया। कहते बड़ी व्यथा होती है कि वैदिक-धर्मावलम्बियों और बौद्धों का पारस्परिक कलह ही मुसल्मानों के इस विजय का कारण हुआ। इस विषय में अरब के ग्रन्थकारों के आधार से मौलाना मुहम्मद सुलेमान नदवीने अपने व्याख्यान में जो कुछ कहा है, उसके हिन्दी अनुवाद का कुछ अंश अरब और भारत के सम्बन्ध नामक पुस्तक से नीचे उद्धृत किया जाता है: —

"सिन्ध का सबसे पहला और पुराना इस्लामी इतिहास जो साधारणतः 'चचनामा' के नाम से प्रसिद्ध है (जिसके दूसरे नाम तारीखुलहिन्द वल् सन्द और मिनहाजुल ममालिक हैं) उसको देखने से भलीभांति यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय सिन्ध में बौद्धों और ब्राह्मणों के बीच विरोध और शत्रुता चल रही थी। यह भी पता चलता है कि कुछ घरानों में ये दोनों धर्म इस प्रकार फैले हुये थे कि उनमें से एक हिन्दू था तो दूसरा बौद्ध। सिन्ध के राजाओं के विवरण पढ़कर इसी आधार पर मुझे यह निर्णय करना पड़ा है कि राजा चच हिन्दू ब्राह्मण थे। उसने लड़भिड़ कर छोटे छोटे बौद्ध राजाओं को या तो मिटा दिया था या उन्हें अपना करद बना लिया था। यह राजा ई० छठीं शताब्दी के अन्त में सिन्ध का शासक था. उसके बाद उसका भाई चन्द्र राजा हुआ। यह बौद्ध मत का कट्टर अनुयायी था। जिन लोगों ने पहले अपना धर्म छोड़ दिया था, उन्हें इसने बलपूर्वक बौद्ध बनाया था, यह देख हिन्दू ब्राह्मणों ने सिर उठाया, वह बिवश होकर लड़ने के लिये निकला, पर सफल नहीं हुआ। उसके बाद चच का लड़का दाहर उसके स्थान पर राजा हुआ।"

"ऐतिहासिक अनुमानों से यह जान पड़ता है कि जिस समय मुसल्मान लोग सिन्ध की सीमा पर थे उस समय देश में इन दोनों धर्म्मों में भारी लड़ाई हो रही थी और बौद्ध लोग ब्राह्मणों का सामना करने में अपने

आपको असमर्थ देखकर मुसलमानों की ओर मेल और प्रेम का हाथ बढ़ा रहे थे। हम देखते हैं कि ठीक जिस समय मुहम्मदबिन क़ासिम की विजयी सेना नयरूँ नगर में पहुँचती है उस समय वहां के निवासियों ने अपने बौद्ध पुजारियों को उपस्थित किया था। उस समय पता चला था कि इन्होंने अपने विशेष दूत इराक़ के हज्जाज़ के पास भेजकर उससे अभय दान प्राप्त कर लिया था, इसलिये नयरूं के लोगों ने मुहम्मद का बहुत अच्छा स्वागत किया। उसके लिये रसद की व्यवस्था की, अपने नगर में उसका प्रवेश कराया और मेल के नियमों का पूरा पूरा पालन किया। इसके बाद जब इस्लामी सेना सिन्ध की नहर को पार करके सदउसान पहुँचती है तब फिर बौद्धलोग शान्ति के दूत बनते हैं। इसी प्रकार सेव-स्तान में होता है कि बौद्धलोग अपने राजा विजयराम को छोड़कर प्रसन्नता-पूर्वक मुसलमानों का साथ देते हैं और उनका मान हृदय से करते हैं।" ऐसा जान पड़ता है कि जब सिन्ध के बौद्धों ने एक ओर मुसलमानों को और दूसरी ओर ब्राह्मणों को तौला तब उन्हें मुसलमान अच्छे जान पड़े। दूसरा कारण यह हो सकता है कि इससे पहले तुर्किस्तान और अफ़गानि-स्तान के बौद्धों के साथ मुसलमानों ने जो अच्छा व्यवहार किया था और उनमें से बहुत अधिक लोगों ने जिस शीघ्रता से इस्लामधर्म ग्रहण किया था उसका प्रभाव इस देश के बौद्धों पर भी पड़ा था।"

सिन्ध पर अधिकार होने के बाद अरब विजेताओं ने भारत के विभिन्न प्रान्तों पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया। इस कारण से उस समय भारत का कुछ उत्तरीय और दक्षिणी प्रान्त रणक्षेत्र बन गया और ऐसी अवस्था में आक्रमित प्रान्तों में युद्धोन्माद का आविर्भाव होना स्वाभाविक था। ये झगड़े नवीं और दशवीं शताब्दी में उत्तरोत्तर वृद्धि पाते रहे। इसीलिये हिन्दी साहित्य की अधिकांश आदिम रचनायें वीर-गाथाओं से ही सम्बन्ध रखती हैं। इन दोनों शताब्दियों में जितने साहित्य-ग्रन्थ रचे गये उनमें से अधिकतर में रण-भेरी-निनाद ही श्रवणगत होता है। खुमानरासो आदि इसके प्रमाण हैं। वीर गाथाओं का काल आगे भी बढ़ता है और तेरहवीं शताब्दी तक पहुंचता है। कारण इसका

यह है कि विजयी मुसलमानों की विजय-सीमा ज्यों ज्यों बढ़ती गई त्यों त्यों वे प्रबल होते गये और क्रमशः भारत के अनेक प्रदेश उनके अधिकार में आते गये, क्योंकि उस समय हिन्दू जाति असंगठित थी और उसमें कोई ऐसा शक्ति सम्पन्न सम्राट् नहीं था जो जाति-मात्र को केन्द्रीभूत कर दुर्दान्त यवन दल का दलन करता। इसलिये विजयोत्साही मुसलमान विजेताओं और विजित भारतीयों का युद्ध क्रम लगातार चलता ही रहा और इसी आधार से वीर गाथाओं की रचना भी होती रही क्योंकि उस समय हिन्दू जाति की सुप्त-शक्ति को जागरित करने की आवश्यकता थी। मेरे इस कथन का यह भाव नहीं है कि नौ सौ से तेरहवीं शताब्दी तक साहित्य के दूसरे ग्रन्थ रचे ही नहीं गये वरन् मेरा कथन यह है कि इस काल के जितने प्रसिद्ध और मान्य काव्य-ग्रन्थ हैं, उनमें वीर-गाथामय ग्रन्थों ही की अधिकता और विशेषता है। हिन्दी साहित्य का पहला उल्लेखयोग्य ग्रन्थ खुमान रासो है जो नवें शतक में लिखा गया। इसके पहले का पुष्प कवि कृत एक अलंकार ग्रन्थ बतलाया जाता है जो आठवीं शताब्दी में रचा गया है। किन्तु उसका उल्लेख मात्र है, ग्रन्थ का पता अब तक नहीं चला। यह नहीं कहा जा सकता कि पुष्प का अलंकार ग्रन्थ किस रस में लिखा गया। कविराज भूषण के "शिवराज भूषण" ग्रन्थ के समान उसका ग्रन्थ भी केवल वीर रसात्मक हो सकता है। यदि यह अनुमान सत्य हो तो यह कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा के साहित्य का आरम्भ वीर रस से ही होता है, कारण वे ही हैं जिनका निर्देश मैंने ऊपर किया है। ब्रह्मभट्ट कवि का खुमान रासो, चन्द कवि कृत पृथ्वीराज रासो, जगनिक का आल्ह खंड, नरपति नाल्ह कृत वीसलदेव रासो और सारंगधर-कृत हम्मीर रासो नामक उल्लेखनीय ग्रन्थ भी इसके प्रमाण हैं।

आरम्भिककाल मैंने आठवीं शताब्दीसे तेरहवीं शताब्दी तक माना है। इन पांच सौ वर्षों में वीर-गाथा-कार कवियों और लेखकों के अतिरिक्त अन्य विषयों के ग्रन्थकार और रचयिता भी हुये हैं. अतएव मैं उन पर भी विचार करना चाहता हूं। जिससे यह निश्चित हो सके कि हिन्दी साहित्य की आरम्भिक रचनाओं के विषय में मेरा जो कथन है वह कहां तक युक्ति-

संगत है। मिश्र बन्धुओं का विवरण यह है १

दशवीं शताब्दी में भुआल कवि ने भगवद् गीता का अनुवाद पद्य-बद्ध हिन्दी भाषा में किया। यह ग्रन्थ उपलब्ध है।

ग्यारहवीं शताब्दी में कालिंजर के राजा नन्द ने कुछ कवितायें की हैं, किन्तु पुस्तक अब अप्राप्य है।

बारहवीं शताब्दी में जैन श्वेताम्बराचार्य जिन वल्लभ सूरी ने "वृद्ध नवकार" नामक ग्रन्थ बनाया जो जैन हिन्दी साहित्य में सबसे प्राचीन माना जाता है। इसी शताब्दी में महाराष्ट्र में चालुक्य वंशी सोमेश्वर नामक राजा, मसऊद कुतुब अली, साँईदान चारण और अकरम फ़ैज़ ने भी रचनायें कीं। इनमें से सोमेश्वर, मसऊद और कुतुब अली के ग्रन्थ नहीं मिलते। शेष लोगों में से साँईदानचारण ने "सामन्तसार" नामक ग्रन्थ की रचना की। और अकरम फ़ैज़ ने "वर्तमाल" नामक ग्रन्थ बनाया। एवं संस्कृत के वृत्तरत्नाकर नामक ग्रन्थ का अनुवाद किया॥

डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन ने भी इस काल के कुछ कवियों के नाम-लिखे हैं २। वे हैं केदार, कुमारपाल और अनन्यदास। (१) केदार कवि का समय सन् ११५० ई० के लगभग है। डाक्टर साहब ने इसके किसी ग्रन्थ का नाम नहीं लिखा किन्तु कहा जाता है कि इसने "जयचन्द-प्रकाश" नामक महाकाव्य की रचना की थी, जो अब नहीं मिलता। (२) कुमारपाल बारहवें शतक में हुआ इसने "कुमारपाल चरित्र" की रचना की, जो उपलब्ध है। (३) अनन्यदास बारहवीं शताब्दी में हुआ, इसका "अनन्य-जोग" नामक ग्रन्थ प्राप्य है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" नामक ग्रन्थ में एक नवीन कवि मधुकर का भी नाम बतलाया है जो बारहवीं शताब्दी में था। वे कहते हैं इसने "जय मयंक जस चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ की रचना की' किन्तु वह ग्रन्थ प्राप्य नहीं है।

---

१ देखिये 'मिश्र बंधु विनोद' पृष्ठ ९२
२ देखिये माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव दी हिन्दुस्थान पृः २

जिन ग्रन्थकारों का नाम ऊपर लिया गया, इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जिनके किसी ग्रन्थ का नाम तक नहीं बतलाया गया, कुछ ऐसे हैं जिनके ग्रन्थों का नाम लिखा गया पर वे अप्राप्य हैं, जिन लोगों के ग्रन्थ मिलते हैं, जिनका नाम भी बतलाया गया, वे उस कोटि के कवि और ग्रन्थकार नहीं ज्ञात होते, जिनकी रचनाओं का विशेष स्थान होता है। भुआल कवि की भगवद्गीता ही को लीजिये। प्रथम तो वह अनुवाद है, दूसरे उसके अनुवाद की भाषा ऐसी है कि जिस पर दृष्टि रख कर पं० रामचन्द्र शुक्ल १ उसे दशवीं शताब्दी का ग्रन्थ मानने को तैयार नहीं हैं। अन्य प्राप्य ग्रन्थों के विषय में भी ऐसी ही बातें कहा जा सकती हैं; उनमें कोई ऐसा नहीं जो उल्लेखयोग्य हो अथवा जिसने ऐसी ख्याति लाभ की हो जैसी वीर गाथा-सम्बन्धी ग्रन्थों को प्राप्त है। किम्वा जिनमें वे विशेपतायें हों जो किसी काव्य अथवा कृति को विद्वन्मण्डली में वा सुपठित जनता की दृष्टि में समादृत बनाती हों। इसलिये मेरा यह कथन ही युक्ति-संगत ज्ञात होता है कि हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में वीर गाथा सम्बन्धी ग्रन्थों की ही प्रधानता रही और इन बातों पर दृष्टि रख कर डा० जी० ए० ग्रियर्सन आदि विद्वानों ने जो आरम्भिक काल को वीर-गाथा-काल माना है वह असंगत नहीं। इन समस्त ग्रन्थों में 'खुमान रासो' ही ऐसा है जो सबसे प्राचीन और उपलब्ध ग्रन्थ है, उसमें वीररस की ही प्रधानता है, अतएव यह कौन नहीं स्वीकार करेगा कि हिन्दी साहित्य की आदि रचना वीर गाथा से ही प्रारम्भ होती है।

कहा जाता है कि खुमानरासो में सोलहवीं शताब्दी तक की रचनायें सम्मिलित हैं, जैसा कि ग्रियर्सन साहब के निम्न लिखित उद्धरण से सिद्ध होता है। २

---

१ देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ३०

2 "This is the most ancient poetic chronicle of Mewar, and was written in the ninth century. It gives a history of Khuman Raut and of his family. It was recast during the reign of Partap Singh (fl. 1575), and, as we now have it, carries the narrative down to the wars of that prince with Akbar, devoting a great portion to the seige of Chitour by Alaubdin Khilji in the thirteenth century." Modern vernacular Literature Hindustan. p. 3

" यह (खुमान रासो) मेवाड़ का अत्यन्त प्राचीन पद्य-बद्ध इतिहास है, नवीं शताब्दी में लिखा गया है। इसमें खुमान रावत और उनके परिवार का वर्णन है। महाराणा प्रताप के समय में (सन् १५७५) इसमें बहुत से परिवर्तन किये गये। वर्त्तमान रूप में इसमें अकबर के साथ प्रतापसिंह के युद्धों का वर्णन भी मिलता है। तेरहवीं शताब्दी में चित्तौड़ पर किये गये अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण का भी इसमें विस्तृत वर्णन है। "

परन्तु इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि खुमान रासो को आदिम रचना की भाषा आदि भी बदल दी गई है। ग्रियर्सन साहब के लेख से इतना ही प्रकट होता है कि उसमें अलाउद्दीन खिलजी और अकबर के समय तक की कथायें भी सम्मिलित कर दी गई हैं। ऐसी अवस्था में न तो उसके आदिम रचना होने का महत्व नष्ट होता है और न उसकी भाषा को सन्दिग्ध कहा जा सकता है। जिस समय उसकी रचना हुई थी उस काल का वातावरण ही ऐसा था कि इस प्रकार के ग्रन्थों की सृष्टि होती। क्योंकि यह असम्भव था कि उत्तरोत्तर मुसल्मान पवित्र भारत वसुन्धरा के विभागों को अधिकृत करते जावें और जिन सहृदय हिन्दुओं में देशानुराग था वे अपने सजातियों को देश और जाति-रक्षा के लिये विविध रचनाओं द्वारा उत्तेजित और उत्साहित भी न करें। यह सत्य है कि भारतवर्ष की सार्वजनिक शक्ति किसी काल में मुसल्मानों का विरोध करने के लिये कटिबद्ध नहीं हुई और न समस्त हिन्दू जाति किसी काल में उनसे लोहा लेने के लिये केन्द्रीभूत हुई। किन्तु यह भी सत्य है कि मुसल्मानों की विजय प्राप्ति में कम बाधायें नहीं उपस्थित की गईं और यह इस प्रकार की कृतियों और रचनाओं का ही अंशतः परिणाम था। जिस काल में हिन्दू जाति की संगठन शक्ति सब प्रकार छिन्न भिन्न थी उस समय वीरगाथा सम्बन्धी रचनाओं ने जो कुछ लाभ पहुंचाया उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इन्हीं बातों पर दृष्टि रखकर मैं पहले कह आया हूं कि वे तात्कालिक वातावरण और संघर्षण से ही उत्पन्न हुई थीं। वास्तव बात यह है कि सामाजिक रुचियां और भावों ही

का परिणाम किसी काल का साहित्य होता है। उनका बीररस प्रधान होना भी हमारे कथन की पुष्टि करता है।

अब मैं भाषा विकास सम्बन्धी विषय पर प्रकाश डालना चाहता हूँ, अतएव इसी कार्य में प्रवृत्त होता हूँ। भाषा-विकास के प्रकरण में मैं यह लिख आया हूँ कि अपभ्रंश भाषा से क्रमशः विकसित हो कर हिन्दी भाषा वर्त्तमान रूप में परिणत हुई। इस लिये पहले मैं कुछ ऐसे पद्य आप लोगों के सामने रखता हूं जो अपभ्रंश भाषा के हैं। इन पद्यों की रचना प्रणाली और उनके शब्द-विन्यास का ज्ञान हो जाने पर आप लोग उस रीति से अभिज्ञ हो जावेंगे जिसको ग्रहण कर हिन्दी साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा को आधुनिक रूप दिया। अपभ्रंश के निम्नलिखित पद्यों को देखिये:—

१—बिट्टीए मइ भणिय तुहुं मा कुरु वङ्को दिट्ठि।
पुत्ति सकर्णी भल्लि जिवँ मारइ हियइ पविट्ठि॥

बिट्टीए=बिटिया। मइ=मैंने। भणिय=कहा। तुहुं=तू। मा=मत। कुरु=कर। बङ्को=बाँकी। पुत्ति=पुत्री। सकर्णी=कानवाली, नुकीली। भल्लि=भाला। जिवँ=जैसे। मारइ=मारता है। हियइ=हिये में। पविट्ठि=प्रविष्ट होकर पैठ कर।

बेटी! मैंने कहा, तू बाँकी दृष्टि न कर, हे पुत्री! नुकीला भाला हृदय में पैठ कर मार देता है।

२—जे महुं दियगादियहड़ा दइये पवसन्तेण।
ताग गगन्तिय अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेग॥

जे=जो। महुं=हमको। दियग=दिया। दियहड़ा=दिवस। दइये=दयित, प्यारा। पवसन्तेण=प्रवास में जाता हुआ। ताण=तिन्हें, तिनको। गणन्तिय=गिनती हुई। अंगुलिउ=अँगुली। जज्जरियाउ=जर्जरितहो गई। नहेण=नख से॥

प्रवास करते हुये प्यारे ने जो दिन मुझको दिये उनको उंगलियों पर गिनने से वे नखों से जर्जर हो गई॥

३—सायर उप्परि तणु धरइ तलि घल्लै रैणाइँ।
सामि सुभुच्चुभि परिहरइ सम्माणे खल्लाइँ॥

सायर=सागर। उप्परि=ऊपर। तणु=तृण। धरइ=रखता है। तलि=नीचे। घल्लै=डालता है। रैणाइं=रत्नों को। सामि=स्वामी। सुभुच्चुभि=सुन्दर भृत्य को। परिहरइ=त्यागता है। सम्माणे=सम्मान करता है। खलाइं=खलों को।

सागर ऊपर तृण धारण करता है और नीचे रत्नों को डाल देता है। इसी प्रकार स्वामी सुन्दर भृत्यों को छोड़ देता है और खलों का सम्मान करता है।

४—वायसु उड्डावन्तिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा बलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥

वायसु=कौवा। उड्डावन्तिए=उड़ाती हुई। पिउ=पति। दिट्ठउ= देखा। सहसत्ति=सहसा इति, एकबएक। अद्धा=आधा। बलया=कड़ा (चूड़ी)। महिहि=पृथ्वी पर। गय=गिरगई। फुट्टु=फूटगई। तड़त्ति=तड़ से।

कोआ उड़ाने वाली स्त्री ने सहसा प्यारे को देखा, आधी चूड़ी पृथ्वी पर गिर गई और आधी तड़ से फूट गई॥

५—भमरु म रुणि झुणि अण्णदइ सा दिसि जोइ मरोइ।
सा मालइ देसन्तरिय जसु तुहुँ मरइ वियोइ॥

भमरु= भ्रमर। म= मत। रुणिझुणि= रुनझुन शब्द कर। अण्णदइ=अरण्य में। सा=वह। दिशि=दिशा। जोइ=देख कर। रोइ=रो। मालइ=मालती। देसन्तरिय=देशान्तरित हो गई। जसु=जिसके लिये। तुहुँ=तू। मरइ=मरता है। वियोइ=वियोग में।

भ्रमर! अरण्य में रुन झुन शब्द मत कर। उस दिशा को देख कर मत रो। वह मालती देशान्तरित हो गई जिसके वियोग में तू मरता है॥

सब से प्राचीन पुस्तक पुण्ड या पुष्प के अलंकार ग्रन्थ अथवा खुमान रासो के पद्यों का कोई उदाहरण अब तक प्राप्त नहीं हो सका। इस लिये इनकी रचनाओं के विषय में कुछ लिखना असम्भव है। भुआल कवि का

गीता का अनुवाद दसवें शतक का बतलाया जाता है, परन्तु उसकी भाषा बिल्कुल माध्यमिक काल की मालूम होती है। इस लिये पं० रामचन्द्र शुक्ल से सहमत हो कर मैं उसको आरम्भिक काल का कवि नहीं मानता। सब से पहले आरम्भिक काल की प्राप्य रचना का उदाहरण, मेरे विचारानुसार, जिन बल्लभ सूरि का है जो बारहवें शतक के आरम्भ में हुआ। उसकी रचना के कुछ पद्य ये हैं:—

किं कप्पतरु रे अयाण चिन्तउ मणभिन्तरि।
किं चिंतामणि कामधेनु आराहउ बहुपरि।
चित्राबेली काज किसे देसंतर लंघउ।
रयण रासि कारण किसेइ सायर उल्लंघउ।

इस पद्य को आप ऊपर के उन पद्यों से मिलाइये जो अपभ्रंश भाषा के हैं, तो यह ज्ञात हो जायगा कि किस प्रकार अपभ्रंश से क्रमशः हिन्दी भाषा का विकास होरहा था। प्राकृत और अपभ्रंश में नकार के स्थान पर णकार हो जाता है। इस पद्य में भी आप देखेंगे कि 'अयाण'. मण', 'रयण' आदि में इसी प्रकार का प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के पांचवें पद्य में 'देसन्तरिय' का जैसा प्रयोग है, इस पद्य के 'देसन्तर' का भी वैसा ही प्रयोग है। 'भितरि', 'लंघउ', 'उल्लंघउ', 'सायर' इत्यादि शब्दों का भी व्यवहार अपभ्रंश रचना के अनुसार ही हुआ है। प्राकृत में, और अपभ्रंश में भी. 'ध' का 'ह' हो जाता है। इस पद्य में भी 'आराधउ' का 'आराहउ' लिखा गया। 'कल्पतरु के स्थान पर 'कप्पतरु' का प्रयोग भी प्राकृत भाषा के नियमानुसार है। यह सब होने पर भी उक्त पद्य में हिन्दीपन की झलक भी 'कामधेनु' 'काज' और 'किसे' आदि शब्दों में मिलती है जो विकास प्रणाली का प्रत्यक्ष उदाहरण है।

इसी शताब्दी के दूसरे कवि नरपति नाल्ह की भी कुछ रचनाओं को देखिये। यह कवि बीसलदेव रासो नामक ग्रन्थ का रचयिता है। अधिकतर, विद्वानों ने इसकी रचना को कुछ तर्क-वितर्क के साथ बारहवें शतक का माना है।

"एक उड़ीसा को धनी बचन हमारइ तू मानि जु मानि।
ज्यों थारइ सांभर उग्गहइ राजा उणि भरि उगहइ हीरा खानि।
जीभ न जीभ विगोयनो दव दाधा का कुपली मेल्हइ।
जीभ का दाधा नुपाँगुरइ नाल्हकहइ सुण जइ सब कोइ।"

इस पद्य में भी अपभ्रंश की झलक बहुत कुछ मौजूद है। इसमें अधिकांश राजस्थानी भाषा का रंग है। इसी कारण अपभ्रंश की भाषा से वह बहुत कुछ मिलती जुलती है। अब तक राजस्थानी भाषा पर अपभ्रंश भाषा का बहुत कुछ प्रभाव अवशिष्ट है। फिर भी उसमें ब्रजभाषा के शब्दों का इतना मेल है कि उसको अन्य भाषा नहीं कह सकते। पंडित रामचन्द्र शुक्ल बीसल देव रासो की भाषा के विषय में यह लिखते हैं:—

"भाषा की परीक्षा कर के देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं राजस्थानी है, जैसे 'सूकइ छे' (सूखता है), पाटण थीं (पाटन से), भोजतण (भोज का), खण्ड खण्ड रा (खण्ड खण्ड का), इत्यादि। इस ग्रन्थ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्य-भाषा में ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी ही थी, जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसल देव रासो में बीच बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखायी पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने से पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि गाने की चीज़ होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये देखिये 'मेलवि'=मिलाकर, जोड़ कर। चितई=चित्त में। रणि=रण में। प्रापिजयि=प्राप्त हो या किया जाय। ईणी विधि=इस विधि। ईसउ=ऐसा। बालहो=बाला का। इसी प्रकार नयर (नज़र), पसाउ (प्रसाद), पयोहर (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश काल से ले कर पीछे तक होता रहा।"[1]

१—देखिये हिन्दी साहित्य के इतिहास का पृष्ठ ३० और ३१

आरम्भिक काल का प्रधान कवि चन्द है जो हमारे हिन्दी संसार का चासर है। वह भी इसी शताब्दी में हुआ मैं कुछ उसकी रचनायें भी उपस्थित करना चाहता हूं, जिससे यह स्पष्टतया प्रकट होगा कि किस प्रकार अपभ्रंश से हिन्दी भाषा रूपान्तरित हुई है। कुछ विद्वानों की यह सम्मति है कि चन्द कवि कृत पृथ्वीराज रासो की रचना पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी की है। पृथ्वीराज रासो में बहुत सी रचनायें ऐसी हैं जो इस विचार को पुष्ट करती हैं। परन्तु मेरा विचार है कि इन प्रक्षिप्त रचनाओं के अतिरिक्त उक्त ग्रंथ में ऐसी रचनायें भी हैं जिनको हम बारहवीं शताब्दी की रचना निस्संकोच भाव से मान सकते हैं। इस विषय में बहुत कुछ तर्क-वितर्क हो चुका है और अब तक इसकी समाप्ति नहीं हुई। तथापि ऐतिहासिक विशेषताओं पर दृष्टि रख कर पृथ्वीराज रासो की आदिम रचना को बारहवीं शताब्दी का मानना पड़ेगा। बहुत कुछ विचार करने पर मैं इस सिद्धान्त पर पहुंचा हूं कि पृथ्वीराज रासो में प्राचीनता की जो विशेषतायें मौजूद हैं वे वीर गाथा काल की किसी पुस्तक में स्पष्ट रूप से नहीं पायी जातीं। कुछ वर्णन इस ग्रन्थ के ऐसे हैं जिनको प्रत्यक्षदर्शी ही लिख सकता है। कोई इतिहासज्ञ यह नहीं कहता कि चन्द बरदाई पृथ्वीराज के समय में नहीं था। कुछ ऐतिहासिक घटनाएं इस ग्रन्थ की ऐसी हैं जो पृथ्वीराज और चन्द बरदाई के जीवन से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। जब तक उनको असत्य न सिद्ध किया जाय तब तक पृथ्वीराज रासो को कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। किसी भाषा की आदिम रचनाओं में जो अप्राञ्जलता और शब्द विन्यास का असंयत भाव देखा जाता है वह पृथ्वीराज रासो में मिलता है। इसलिये मेरी यह धारणा है कि इस ग्रन्थ का कुछ आदिम अंश अवश्य है जिसमें बाद को बहुत कुछ सम्मिश्रण हुआ। इस आदिम अंश में से ही उदाहरण स्वरूप कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—उड़ि चल्यो अप्प कासी समग्ग
आयो सु गंग तट कज्ज जग्ग
सत अट्ठ खण्ड करि अंग अप्पि, ओमें सु अप्प वर मद्धि हवि।
मंग्यो सु ईस यँहि बर पसाय, सत अद्ध पुत्त अवतरन काय।

२—हय हथ्थि देत संखय न मन खग्ग मग्ग खूनी बहै।
३—छपी सेन सुरतान, मुट्ठि छुट्टिय चावद्दिसि।
मनु कपाट उद्धरयो, कूह फुट्टिय दिसि विद्दिसि।
मार मार मुष किन्न, लिन्न चावण्ड उपारे।
परे सेन सुरतान, जाम इक्कह परि धारे।
गल वत्थ घत्त गाढ़ो ग्रहौ, जानि सनेही भिंटयौ।
चामण्डराइ करवर कहर, गौरी दल बल कुट्टियौ।

पहले मैं जिन अपभ्रंश पद्यों को लिख आया हूं उनसे इनको मिलाइये देखिये कितना साम्य है। ज्ञात होता है कि ये उन्हीं की छाया हैं। इनपद्यों में यह देखा जाता है कि जहां प्राकृत अथवा अपभ्रंश के 'समग्ग' 'कज्ज', 'जग्ग 'अट्ठ' 'अप्प' मद्धि' 'पसाय' 'अद्ध' 'पुत्त' 'हथ्थि', 'खग्ग', 'मग्ग' मुट्ठि' आदि प्रातिपदिक शब्द आये हैं वहीं 'छुट्टि', 'फुट्टिय' 'भिंटयौ' 'कुट्टियौ' आदि क्रियायें भी आई हैं। इनमें 'हय' 'कपाट', 'दल' 'बल', इत्यादि संस्कृत के तत्सम शब्द भी मौजूद हैं और यह कवि द्वारा गृहीत उसकी भाषा की विशेषता है। प्राकृत अथवा अपभ्रंश में प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्दों का अभाव देखा जाता है। विद्वानों ने प्राकृत और अपभ्रंश की यह विशेषता मानी है कि उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द नहीं आते। परंतु चन्द की भाषा बतलाती है कि उसने अपने पद्यों में संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग की चेष्टा भी की है। उसने 'नकार' के स्थान पर 'णकार' का प्रयोग प्रायः नहीं किया है और यह भी हिन्दी भाषा का एक विशेष लक्षण है। प्राकृत और अपभ्रंश में नकार का भी एक प्रकार से अभाव है। डिंगल अथवा राजस्थानी में भी प्रायः नकार का प्रयोग नहीं होता देखा जाता। इन पद्यों में कुछ ऐसी क्रियाएं भी आई हैं जो ब्रजभाषा की मालूम होती हैं, वे हैं 'उड़ि चल्यो', 'आयो' 'करि', आदि और ये सब वे ही विशेषतायें हैं जो प्राकृत और अपभ्रंशसे हिन्दी भाषा को अलग करती और उसके शनैः शनैः विकसित होने का प्रमाण देती हैं। मैं कुछ ऐसे पद्यों को

भी उपस्थित करना चाहता हूं जिनकी रचना इन पद्यों से सर्वथा भिन्न है। वे पद्य ये हैं।—

दूहा

सरस काव्य रचना रचौं . खल जन सुनि न हसन्त।
जैसे सिंधुर देखि मग, श्वान स्वभाव भुसन्त।
तौ यनि सुजन निमित्त गुन, रटये तन मन फूल।
जूं का भय जिय जानि कै, क्यों डारिये दुकूल।
पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र फल दान।
अन्त होय सह गामिनी, नेह नारि को मान।
जस हीनो नागो गनहु, हंक्यो जग जस बान।
लम्पट हारै लोह छन, तिय जीतै बिनु बान।
समदर्शी ते निकट है, भुगति मुकति भर पूर।
विषम दरस वा नरन ते, सदा सर्वदा दूर।

मेरा विचार है, ए पद्य सोलहवीं शताब्दी के हैं और बाद को ग्रन्थ की मुख्य रचना में सम्मिलित किये गये हैं। परन्तु कोई भाषा मर्मज्ञ भिन्न प्रकार के दोनों पद्य समूहों को देख कर यह न स्वीकार करेगा कि वे एक काल की ही रचनायें हैं। मेरा तो यह विचार है कि ये दोनों भिन्न प्रकार की रचनाएं ही इस बात का प्रमाण हैं, कि उनके निर्माण-कालमें शताब्दियों का अन्तर है। डाक्टर ग्रियर्सन साहब कहते हैं कि इस ग्रन्थ में १००००० पद्य हैं १। क्या पद्यों की यह बहुलता यह नहीं प्रमाणित करती कि इस ग्रन्थ में धीरे धीरे बहुत अधिक प्रक्षिप्त अंश सम्मिलित किये गए हैं। हिन्दी भाषा में अब तक इतने बड़े ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ है। संस्कृत में भी महा-भारत को छोड़कर कोई ऐसा विशाल ग्रन्थ नहीं है। महाभारत में भी जब क्रमशः बहुत से सामयिक श्लोक यथा समय सम्मिलित होते गये तभी

१ देखिये माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान पृष्ट ३

उसका इतना विस्तार हुआ। यही बात पृथ्वीराज रासो के विषय में भी कही जा सकती है। जैसे बाद के प्रक्षिप्त अंशोंकी उपस्थिति में भी महाभारत प्राचीन श्लोकों से रहित नहीं हो गया है उसी प्रकार रासो में भी प्राचीन रचनाओं का अभाव नहीं है।

इस विषय में अनेक विद्वानों की सम्मतियाँ मेरे विचारानुकूल हैं। हां कुछ विद्वान् उसको सर्वथा जाली कहते हैं। यह मत-भिन्नता है। डा० ग्रियर्सन साहब की इस विषय में क्या सम्मति है और उसकी भाषाके विषय में १ उनका क्या विचार है उसको मैं नीचे उद्धृत करता हूं।

"उसकी (चन्द बरदाई की) रचनाओं का मेवाड़ के अमरसिंहने सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में संग्रह किया। यह भी असम्भव नहीं है कि उसी समय किसी किसी अंश को नवीन रूप दे दिया गया हो। जिससे इस सिद्धान्त का भी प्रचार हो गया है कि कुल का कुल ग्रन्थ जाली है।"

"इस कवि (चन्द बरदायी) के ग्रन्थों के अध्ययन ने मुझे उसके कवित्व-सौन्दर्य पर मुग्ध बना दिया है परन्तु मुझे सन्देह है कि राजपूताना की बोलियों से अपरिचित कोई व्यक्ति इसे आनन्द पूर्वक पढ़ सकेगा। तथापि यह भाषा-विज्ञान के विद्यार्थी के लिये अत्यन्त मूल्यवान् है, क्योंकि यूरोपीय अनुसन्धान कर्त्ताओं को आधुनिकतम प्राकृत और प्राचीनतम गौड़ीय कवियों के मध्य में रिक्त स्थान की पूर्ति करने वाली कड़ी एक मात्र यही है। हमारे पास चन्द का मूल ग्रन्थ भले ही न हो, फिर भी उसकी रचनाओं में हमें शुद्ध अपभ्रंश. शौरसेनी प्राकृत रूपों से युक्त, गौड़ साहित्य के प्राचीनतम नमूने मिलते हैं।" १

1—"His poetical works were collected by Amar Singh (cf. no. 191), of Mewar in the early part of the seventeenth Century. They were not improbably recast and modernised in parts at the same time, which has given rise to a theory that the whole is a modern forgery."

"My own studies of this poet's work have inspired me with a great admiration for its poetic beauty, but I doubt if anyone not perfectly master of the various Rajputana dialects could even read it with pleasure.

पद्यों की आदिम रचना इतनी प्राञ्जल और उतनी प्रौढ़ नहीं होतीं जितनी उत्तरकाल की, यह मैं पहले लिख आया हूं। चन्द बरदाई की रचनाओं में ये बातें पाई जाती हैं, जो उन्हें आरम्भिक काल की मानने के लिये बिबश करती हैं। किसी विषय का दोष गुण उस समय ही यथा-तथ्य सामने आता है, जब उस पर अधिकतर विचार दृष्टि पड़ने लगती है, नियम उसी समय निर्दोष बन सकते हैं, जब कार्य क्षेत्र में आने पर उन पर विवेचना का अवसर प्राप्त होता है। आदिम रचनाओं में प्राय: अप्राञ्जलता और अनियमवद्धता इसलिये पाई जाती है कि उनका पथ विचार-क्षेत्र में आकर प्रशस्त नहीं हो गया होता और न आलोचना और प्रत्यलोचनाओं के द्वारा उनकी प्रणाली परिमार्जित हो गई होती। जिस काल में पृथ्वीराज रासो की मुख्य रचना प्रारम्भ होती है उस समय साहित्य की अवस्था ऐसी ही थी और यह दूसरा प्रमाण है जो उसके आदिम अंशको आरंभिक-काल की कृति बतलाता है। उदाहरण लीजिये:—

चले दस्सहस्सं असत्वार जानं।
मदं गल्लितं मत्त सै पंच दंती।
रँगं पंच रंगं ढलक्कन्त ढालं।
सुरं पंच सावद्द वाजित्र बाजं।
सहस्सं सहन्नाय मृग मोहि राजं।
मँजारी चखी मुष्ष जम्बक्क लारी।
एराकी अरब्बी पटी तेज ताजी।
तुरक्की महाबान कम्मान बाजी।

It is, however, of the greatest value to the student of philology, for it is at present the only stepping stone available to European explorers in the chasm between the latest Prakrit and the earliest Gaudian authors. Though we may not possess the actual text of Chand, we have certainly in his writings some of the oldest known specimens of Gaudian literature, abounding in pure Apabhransha, Shaurseni prakrit forms."

रजंपुत्त पचास जुट्टे अमोरं ।
बजै जीत के नद्द नीसान घोरं ।
सामना सूर सव्वय अपार ।
झटं जाहु तुम कीर दिल्ली सुदेसं ।
कंद्रप्प जाति अवगार रूप ।

जो चिन्हित शब्द हैं उनमें कवि को निरंकुशता और मनमानी रीति से शब्द गढ़ लेने की प्रवृत्ति स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। मैं यह स्वीकार करूँगा कि उत्तर काल की कुछ रचनाओं में भी इस प्रकार का प्रयोग मिलता है। किन्तु मैं उसको चन्द बरदाई की ही रचनाओं का अनुकरण मात्र समझता हूं। इस निरंकुशता के प्रवर्त्तक पृथ्वीराज रासोकार ही हैं। यह अप्राञ्जलता और अनियमबद्धता जो उनकी रचना में आई है उसका कारण उनका आरम्भिक काल का होना है। निम्नलिखित शब्द विदेशी भाषा के हैं:—

'असव्वार', 'सहन्नाय','अरव्वी','तुरकी' 'कम्मान', इत्यादि ।

इनका ग्रहण अनुचित नहीं, परन्तु इनका मनगढ़न्त प्रयोग उचित नहीं। इन शब्दों का शुद्ध रूप 'सवार', 'शहनाई' 'अरबी', 'तुरकी', 'कमान' हैं, किन्तु उनका जो रूप कवि ने बनाया है वह न तो उस भाषा के व्याकरण पर अवलम्बित हैं न हिन्दी भाषा अथवा प्राकृत या अपभ्रंश के नियमों के अनुकूल हैं। ऐसी अवस्था में उनका प्रयोग जिस रूप में हुआ है वह अप्रौढ़ता और अनियमबद्धता का ही परिचायक है, जो तत्कालिक हिन्दी भाषा की अपरिपक्वता का सूचक है। शेष शब्द हिन्दी भाषा अथवा प्राकृत किंवा अपभ्रंश के हैं। उनका भी मन माना प्रयोग किया गया है. जैसे 'गलित' को 'गल्लितं', 'ढलकत' को 'ढलक्कंत', 'शब्द' को 'सावद्द', 'वादित्र' को 'बाजित्र', 'मुख' को 'मुष्ष', 'जम्बुक' को 'जम्बक्क', 'राजपूत' को 'रजंपुत्त', 'पचास' को 'पच्चास', 'नाद' को 'नद्द', 'सब' या 'सब्ब' को 'सव्वय', 'झटिति' या 'झट' को 'झटं', 'कंदर्प' को 'कंद्रप्प'

इत्यादि। ये शब्द हिन्दी, प्राकृत, अथवा अपभ्रंश व्याकरण के अनुकूल न तो बने हैं और न इनमें साहित्य-सम्बन्धी कोई नियमबद्धता पाई जाती है। इसलिये मेरा विचार है, कि ये कवि के गढ़े शब्द हैं और इसी कारण से इनकी सृष्टि हुई है कि आरम्भिककाल में इस प्रकार की उच्छृङ्खलता का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अतएव मैं यह कहने के लिये वाध्य हूं कि जिन रचनाओं में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग हुआ है वे अवश्य रासो की आदिम अप्रक्षिप्त रचनायें हैं।

पृथ्वीराज रासो के कुछ छन्द भी इस बात के प्रमाण हैं कि उसकी मुख्य रचनाएँ बारहवीं शताब्दी की हैं। आज तक हिन्दी साहित्य में गाथा छन्द का व्यवहार नहीं होता, किन्तु चन्दबरदाई इस छन्द से काम लेता है। वैदिककाल से प्रारम्भ करके बौद्धकाल तक गाथा में रचनाएँ हुई हैं, अपभ्रंश काल में भी गाथा में रचना होती देखी जाती है। १ ऐसी अवस्था में जब देखते हैं कि चन्दबरदाई भी गाथा छन्द का व्यवहार करता है तो इससे क्या पाया जाता है? यही न कि पृथ्वीराज रासोकी रचना आरम्भिककाल की ही है, क्योंकि अपभ्रंश के बाद ही हिन्दी भाषा का आरम्भिक-काल प्रारम्भ होता है। रासो का एक गाथा छन्द देखिये, और उसकी भाषा पर भी विचार कीजिये

पुच्छति बयन सुबाले उचरिय करि सच सचाए।
कवन नाम तुम देस कवन पंद करै परवेस।

अबतक मैंने पृथ्वीराज रासो के प्राचीन अंश के विषय में जो कुछ लिखा है उससे मैं नहीं कह सकता कि अपने विषय के प्रतिपादन में मुझको कितनी सफलता मिली। यह बड़ा वाद-ग्रस्त विषय है। यदि डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति पृथ्वीराज रासो की प्राचीनता के अनुकूल है तो डाक्टर बूलर की सम्मति उसके प्रतिकूल। वे इस ग्रन्थ की यहाँ तक प्रतिकूलता करते हैं कि उसका प्रकाशन तक बन्द करा देना चाहते हैं। यदि पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या अनेक तर्क-वितर्कों से पृथ्वीराज रासो की

१—देखिये पालि प्रकाश, पृष्ट ६२, ६३, ६४।

प्राचीनता का पक्ष-ग्रहण करते हैं तो जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामल दास भी उसका विरोध करने के लिये कटिबद्ध दिखलाई पड़ते हैं। थोड़ा समय हुआ कि रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी अपनी प्रबल युक्तियों से इस ग्रन्थ को सर्वथा जाली कहा है। परन्तु, जब हम देखते हैं कि महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री सन् १६०९ से सन् १९१३ तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज करके पृथ्वीराज रासो को प्राचीनता की सनद देते हैं तो इस विवर्द्धित वाद की विचित्रता ही सामने आती है। इन विद्वान् पुरुषों ने अपने अपने पक्ष के अनुकूल पर्य्याप्त प्रमाण दिये हैं। इसलिये इस विषय में अब अधिक लिखना बाहुल्य मात्र होगा। मैंने भी अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उद्योग किया है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मैंने जो कुछ लिखा है वह निर्विवाद है। हां, एक बात ऐसी है जो मेरे विचार के अधिकतर अनुकूल है। वह यह कि बहुत कुछ तर्क-वितर्क और विवाद होने पर भी किसी ने चन्दबरदाई को सोलहवें शतक का कवि नहीं माना है। विवाद करनेवालोंने भी साहित्य के वर्णन के समय उसको बारहवें शतक में ही स्थान दिया है। यदि पृथ्वीराज रासो की प्राचीनता की सत्यता में सन्देह है तो उसको बारहवें शतक में क्यों स्थान अबतक मिलता आता है। मेरा विचार है कि इसके पक्ष में ऐसी सत्यता अवश्य है जो इसको बारहवें शतक का काव्य मानने के लिये बाध्य करती है। इसके अतिरिक्त जबतक संदिग्धता है तबतक उस पद से किसी को कैसे गिराया जा सकता है जो कि चिरकाल से उसे प्राप्त है।

चन्दबरदाई का समसामयिक जगनायक अथवा जगनिक नामक एक ऐसा प्रसिद्ध कवि है जिसकी वीरगाथा मय रचनाओं का इतना अधिक प्रचार सर्व्व साधारण में है जितना उस समय की और किसी-कवि-कृति का अब तक नहीं हुआ। इसकी रचनायें आज दिन भी उत्तर भारत के अधिकांश विभागों के हिन्दुओं की सूखी रगों में रक्त-धारा का प्रवाह करती रहती हैं। पश्चिमोत्तर प्रान्त के पूर्व और दक्षिण के अंशों में इसके गीतों का अब भी बहुत अधिक प्रचार है। वर्षाकाल में जिस वीरोन्माद के साथ

इस गीति-काव्यका गान ग्रामों के चौपालों और नगरों के जनाकीर्ण स्थानों में होता है वह किसके हृदय में वीरता का संचार नहीं करता ? इसके रचे गीतों में महोबा के राजा के दो प्रधान वीर आल्हा और ऊदनके वीर कर्म्मों का बड़ा ही ओजमय वर्णन है। यद्यपि यह बात बड़ी ही मर्म्म-भेदी है कि इन दोनों वीरों के वीर कर्म्मों की इति श्री गृहकलह में ही हुई। महोबे के प्रसिद्ध शासक परमाल और उस काल के प्रधान क्षत्रिय भूपाल पृथ्वीराज का संघर्ष ही इस गीति-काव्य का प्रधान विषय है। यह वह संघर्ष था कि जिसका परिणाम पृथ्वीराज का पतन और भारतवर्ष के चिर-सुरक्षित दिल्ली के उस फाटक का भग्न होना था जिसमें प्रवेश कर के विजयी मुसलमान जाति भारत की पुण्य भूमि में आठ सौ वर्ष तक शासन कर सकी। तथापि यह बात गर्व के साथ कही जा सकती है कि जैसा वीररस का ओजस्वी वर्णन इस गीति काव्य में है हिन्दी साहित्य के एक दो प्रसिद्ध ग्रंथों में ही वैसा मिलता है। यह ओजस्वी रचना, कुछ काल हुआ, आल्हा खंड के नाम से पुस्तकाकार छप चुकी है, परन्तु बहुत ही परिवर्त्तित रूप में। उसका मुख्य रूप क्या था इसकी मीमांसा करना दुस्तर है। जिस रूप में यह पुस्तक हिन्दी साहित्य के सामने आई है उसके आधार से इतना ही कहा जा सकता है कि इस कवि का उस काल की साहित्यिक हिन्दी पर, जैसा चाहिए वैसा, अधिकार नहीं था। प्राप्त रचनाओं के देखने से यह ज्ञात होता है कि उसमें बुन्देलखण्डी भाषा का ही बाहुल्य है। हिन्दी भाषा के विकास पर उससे जैसा चाहिये वैसा प्रकाश नहीं पड़ता, विशेष कर इस कारण से कि मौखिक गीति-काव्य होने से समय के साथ साथ उसकी रचना में भी परिवर्तन होता गया है। किन्तु हिन्दी भाषाके आरम्भिक काल में जो संघर्ष यहां के विद्वेष-पूर्ण राजाओं में परस्पर चल रहा था उसका यह ग्रंथ पूर्ण परिचायक है। इसी लिये इस कवि की रचनाओं की चर्चा यहां की गई। मैं समझता हूं कि जितने ग्रामीण गीत हिन्दी भाषा के सर्व साधारण में प्रचलित हैं उनमें जगनायक के आल्हाखंड को प्रधानता है। उसके देखने से यह अवगत होता है कि सर्व साधारण की बोलचाल में भी कैसी ओजपूर्ण रचना हो सकती है। इस उद्देश्य से भी इस कवि की चर्चा आवश्यक

ज्ञात हुई। उसकी रचना के कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं।

कूदे लाखन तब हौदा से, औ धरती मैं पहुंचे आइ।
गगरी भर के फूल मँगाओ सो भुरुही को दओ पियाइ।
भांग मिठाई तुरतै दइ दइ, दुहरे घोट अफीमन क्यार।
राती माती हथिनी करि कै दुहरे आँदू दये डराय।
चहुँ ओर घेरे पृथीराज हैं, भुरुही रखि हौ धर्म हमार।
खैंचि सरोही लाखन लीन्ही समुहैं गोलगये समियाय।
साँकरि फेरै भुरुही दल में, सब दल काट करो खरियान।
जैसे भेड़हा भेड़न पैठै, जैसेसिंहबिड़ारै गाय।
वह गत कीनो है लाखन ने, नही चितवै के मैदान।
देवि दाहिनी भइ लाखन को, मुरचा हटोपिथौरा क्यार।

उस समय युद्धोन्माद का क्या रूप था और किस प्रकार मुसल्मानों के साथ ही नहीं, हिन्दू राजाओं में भी परस्पर संघर्ष चल रहा था, इस गीति-काव्य में इसका अच्छा चित्रण है। इस लिए उपयोगिता की ही दृष्टि से नहीं, जातीय दुर्बलताओं का ज्ञान कराने के लिये भी यह ग्रन्थ रक्षणीय और संग्रहणीय है। इन पद्यों को वर्तमान भाषा यह स्पष्टतया बतलाती है कि वह बारहवीं ई० शताब्दी की नहीं है। हमने तेरहवीं ई० शताब्दी तक आरम्भिक काल माना है। इस लिये हम इस शतक के कुछ कवियों की रचनायें ले कर भी यह देखना चाहते हैं कि उन पर भाषा सम्बन्धी विकास का क्या प्रभाव पड़ा। इस शतक के प्रधान कवि अनन्य दास, धर्मसूरि, विजयसूरि एवं विनय चन्द्र सूरि जैन हैं। इनमें से अनन्य दास की रचना का कोई उदाहरण नहीं मिला। धम्मसूरि जैन ने जम्बू स्वामी रासा नामक एक ग्रन्थ लिखा है उसके कुछ पद्य ये हैं (रचना काल २०९ ईस्वी)

करि सानिधि सरसत्ति देवि जीयरै कहाणउँ।
जम्बू स्वामिहिं गुण गहण संखेवि वखाणउँ।

जम्बु दीवि सिरि भरत खित्ति तिहि नयर पहाणउँ।
राजग्रह नामेण नयर पुहुवी बक्खाणउँ।
राज करइ सेणिय नरिन्द नखरहं नुसारो।
तासु वट तणय बुद्धिवन्त मति अभय कुमारो।

विजय सेन सूरि ने 'रेवंतगिरि रासा' की रचना की है। (रचनाकाल १२३१ ई०) । कुछ उनके पद्य भी देखिये:—

परमेसर तित्थेसरह पय पंकज पणमेवि।
भणि सुरास रेवंतगिरि अम्बकिदिवि सुमिरेवि।
गामा गर पुर वरग गहण सरि वरि सर सुपयेसु।
देवि भूमि दिसि पच्छिमंह मणहर सोरठ देसु।
जिणु तहिं मंडण मंडणउ मर गय मउडु महन्तु।
निम्मल सामल सिहिर भर रेहै गिरि रेवंन्तु।
तसु मुंहुं दंसणु दस दिसवि देसि दिसन्तर संग।
आवइ भाव रसाल मण उङ्कुलि रंग तरंग।

विनय चन्द्रसूरि ने नेमनाथ चौपई' और एक और ग्रन्थ लिखा है (रचना काल १२९९ ई०) कुछ उनके पद्य देखिये :

"बोलइ राजल तउ इह वयणू। नत्थि नेंमवर समवर रयणू।
धरइ तेजु गहगण सवि ताउ। गयणि नउग्गइ दिणयर जाउ।
सखी भणय सामिणि मन झूरि। दुज्जण तणमन वंछितपूरि"।

ऊपर के पद्यों में जो शब्द चिन्हित कर दिये गये हैं वे प्राकृत अथवा अपभ्रंश के हैं। इससे प्रगट होता है कि तेरहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश शब्दों का हिन्दी रचनाओं में अधिकतर प्रचलन था। अपभ्रंश में नकार के स्थान पर णकारका प्रयोग अधिकतर देखाजाता है। उल्लिखित पद्योंमें भी

१—देखिये पाली प्रकाश पृ० ५५

नकार के स्थान पर णकार का बहुल प्रयोग पाया जाता है। जैसे तणय, मणहर, मण, गयण, दिणयर, दुज्जण इत्यादि। अपभ्रंश भाषा का यह नियम है कि अकारान्त शब्द के प्रथमा और द्वितीया का एक वचन उकारयुक्त होता है १। इन पद्यों में भी ऐसा प्रयोग मिलता है जैसे देसु, महन्तु, रेवन्तु, तेजु इत्यादि। प्राकृत और अपभ्रंश में शकार और षकार का बिलकुल प्रयोग नहीं होता, उसके स्थान पर सकार प्रयुक्त होता है १। जैसे श्रमणः समणो, शिष्यः सिस्सो। इन पद्यों में भी ऐसा प्रयोग मिलता है। परमेसर, देस, सामल दस, दिसवि, देसि, दिसन्तर, देसणु इत्यादि। अपभ्रंश का यह नियम भी है कि अनेक स्थानों में दीर्घ स्वर ह्रस्व एवं ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है। इन पद्यों में बयणू, और रयणू का ऐसा ही प्रयोग है। इनमें जो हिन्दी के शब्द आये हैं जैसे करि, राज करइ सारो, तासु, मुंह, दस, आवइ, रंग, बोलइ, धरइ, मन इत्यादि। इसी प्रकार जो संस्कृत के तत्सम शब्द आए हैं जैसे गुण, राजग्रह मति, अभय, पंकज, गिरि, सरि, सर, भूमि, रसाल, तरंग, सम, सखी इत्यादि वे विशेष चिन्तनीय हैं। हिन्दी शब्द यह सूचित कर रहे हैं कि किस प्रकार वे धीरे २ अपभ्रंश भाषा में अधिकार प्राप्त कर रहे थे। संस्कृत के तत्सम शब्द यह बतलाते हैं कि उस समय प्राकृत नियमों के प्रतिकूल वे हिन्दी भाषा में गृहीत होने लगे थे। इन पद्यों में यह बात विशेष दृष्टि देने योग्य है कि इनमें एक शब्द के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं जैसे मन के मण आदि। प्रायः 'न, के स्थान पर णकार का प्रयोग देखा जाता है, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, परन्तु न का सर्वथा त्याग भी नहीं है। जैसे नयर, नायेण, नेमि इत्यादि।

मैं समझता हूं, आरम्भिक काल में किस प्रकार अपभ्रंश भाषा परिवर्तित हो कर हिन्दी भाषा में परिणत हुई, इसका पर्याप्त उदाहरण दिया जा चुका। उस समय की परिस्थिति के अनुकूल जो सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए उनका वर्णन भी जितना अपेक्षित था उतना किया

(१) देखिये पाली प्रकाश पृ० २

गया। आरम्भिक काल में कुछ ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गये हैं जिनका सम्बन्ध वीरगाथाओं से, नहीं है, परन्तु प्रथम तो उन ग्रंथोंका नाम मात्र लिया गया है, दूसरे जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे थोड़े हैं और उनकी प्रायः रचनायें ऐसी हैं जो उस काल की नहीं, वरन माध्यमिक काल की ज्ञात होती हैं। इसलिये उनका कोई उद्धरण नहीं दिया गया। अन्त में मैंने जैन सूरियों की जो तीन रचनायें उद्धृत की हैं वे वीर रस की नहीं हैं। तथापि मैंने उनको उपस्थित किया केवल इस उद्देश्य से कि जिस में यह प्रगट हो सके कि वीर-गाथा सम्बन्धी रचनाओं में ही नहीं आरम्भिक काल में ओज लाने के लिये प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग किया गया है, वरन अन्य रचनाओं में भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं जो यह बतलाते हैं कि उस काल की वास्तविक भाषा वही थी जो विकसित होकर अपभ्रंश से हिन्दी भाषा के परवर्ती रूप की ओर अग्रसर हो रही थी।

तीसरा प्रकरण।

हिन्दी साहित्य का माध्यमिक काल।

हिन्दी साहित्य का माध्यमिककाल, मेरे विचार से चौदहवीं ईस्वी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस समय विजयी मुसल्मानों का अधिकार उत्तर भारत के अधिकांश विभागों में हो गया था और दिन दिन उनकी शक्ति वर्द्धित हो रही थी। दक्षिण प्रान्त में उन्होंने अपने पांव बढ़ाये थे और वहां भी विजय-श्री उनका साथ दे रही थी। इस समय मुसलमान विजेता अपने प्रभाव विस्तार के साथ भारतवर्ष की भाषाओं से भी स्नेह करने लगे थे। और उन युक्तियों को ग्रहण कर रहे थे जिनसे उनके राज्य में स्थायिता हो और वे हिन्दुओं के हृदय पर भी अधिकार कर सकें। इस सूत्र से अनेक मुस्लिम विद्वानों ने हिन्दी भाषा का अध्ययन किया, क्योंकि वह देश-भाषा थी। मुसलमानों में राज्य प्रचार के साथ अपने

धर्म-प्रचार की भी उत्कट इच्छा थी। जहां वे राज्य रक्षण अपना कर्तव्य समझते वहीं अपने धर्म्म के विस्तार का आयोजन भी बड़े आग्रह के साथ करते। उस समय का इतिहास पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि जहां विजयी मुसलमानों की तलवार एक प्रान्त के बाद भारत के दूसरे प्रान्तों पर अधिकार कर रही थी वहीं उनके धर्म-प्रचारक अथवा मुल्ला लोग अपने धर्म की महत्ता बतला कर हिन्दू जनता को भी अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। यह स्वाभाविकता है कि विजित जाति विजयी जाति के आचार-विचार और रहन-सहन की ओर खिँच जाती है। क्योंकि अनेक कार्य सूत्र से उनका प्रभाव उनके ऊपर पड़ता रहता है। इस समय बौद्ध धर्म प्रायः भारतवर्ष से लोप हो गया था। बहुतों ने या तो मुसलमान धर्म स्वीकार कर लिया था या फिर अपने प्राचीन वैदिक धर्म की शरण ले ली थी। कुछ भारतवर्ष को छोड़ कर उन देशों को चले गये थे जहां पर बौद्ध धर्म उस समय भी सुरक्षित और ऊर्जित अवस्था में था। इस समय भारत में दो ही धर्म मुख्यतया विद्यमान थे, उनमें एक विजित हिन्दू जाति का धर्म था और दूसरा विजयी मुसलमान जाति का। राज धर्म होने के कारण मुसलमान धर्म को उन्नति के अनेक साधन प्राप्त थे, अतएव वह प्रति दिन उन्नत हो रहा था और राजाश्रय के अभाव एवं समुन्नति-पथ में प्रतिबन्ध उपस्थित होने के कारण हिन्दू धर्म दिन दिन क्षीण हो रहा था। इसके अतिरिक्त विविध-राज कृपावलंबित प्रलोभन अपना कार्य्य अलग कर रहे थे। इस समय सूफ़ी सम्प्रदाय के अनेक मुसलमान फ़क़ीरों ने अपना वह राग अलापना प्रारम्भ किया था, जिस पर कुछ हिन्दू बहुत विमुग्ध हुए और अपने वंश गत धर्म को तिलांजलि देकर उस मंत्र का पाठ किया, जिससे उनको अपने अस्तित्व-लोप का सर्वथा ज्ञान नहीं रहा। ऐसी अवस्था में जहां हिन्दुओं की क्षीण-शक्ति प्रान्तिक राजा महाराजाओं के रूप में अपने दिन दिन ध्वंस होते छोटे मोटे राजाओं की रक्षा कर रही थी, वहां पुण्यमयी भारत-वसुन्धरा में ऐसे धर्मप्राण आचार्य भी आविर्भूत हुए, जिन्हों ने पतन प्राय वैदिकधर्म की बहुत कुछ रक्षा की। डाक्टर ईश्वरी प्रसादने बंगाल

प्रान्त में सूफियों के धर्म्म-प्रचार के विषय में अपने (मेडिवल इंडिया) नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसमें इस समय का सच्चा चित्र अंकित है। अभिज्ञता के लिए उसका कुछ अंश मैं यहां उद्धृत करता हूं। १

"चौदहवीं शताब्दी बंगाल में मुसलमान फ़क़ीरों की क्रियाशीलता के लिये प्रसिद्ध थी। पैण्डुआ में अनेक प्रसिद्ध और पवित्र सन्तों का निवास था। इसी कारण इस स्थान का नाम हज़ारत पड़ १ गया था।

अन्य प्रसिद्ध सन्त थे अलाउल हक़ और उनके पुत्र नूर कुतुबुलआलम। अलाउलहक़ शेख निज़ामुद्दीन औलिया का शिष्य था। बंगाल का हुसेन शाह (१४९३-१५१९ ई०) सत्यपीर नामक एक नये पंथ का प्रवर्तक था. जिसका उद्देश्य था हिन्दुओं और मुसलमानों को एक कर देना। सत्यपीर एक समस्त शब्द है, जिसमें सत्य संस्कृत का और पीर अरबी भाषा का शब्द है।" १

यह एक प्रान्त की अवस्था का निदर्शन है। अन्य विजित प्रान्तों की भी ऐसी ही दशा थी। उस समय सूफ़ी सिद्धान्त के मानने वाले महात्माओं के द्वारा उनके उद्देशों का प्रचुर प्रचार हो रहा था, और वे लोग दृढ़ता के साथ अपनी संस्थाओं का संचालन कर रहे थे। यह धार्मिक अवस्था की बात हुई, राजनीतिक अवस्था भी उस समय ऐसी ही थी साम दाम दण्ड विभेद से पुष्ट हो कर वह भी कार्य-क्षेत्र में अपने प्रभाव का विस्तार अनेक सूत्रों से कर रही थी। मैं पहले लिख आया हूं कि जैसा वातावरण होता है साहित्य भी उसी रूप में विकसित होता है। माध्यमिक काल के साहित्य

1 The fourteenth century was remarkable for the activity of the Muslim faquirs in Bengal, ... There were several saints of reputed sanctity in Pandua, which owing to their presence, came to be called Hazarat .... other noted saints were Alaul Haq and his son Nur Qutbul Alam, Alaul Haq was also disciple of Saikh Nizamuddin Aulia, Husain Shah of Bengal (1493-1519 A. D.) was the founder of a new cult called Satyapir, which aimed at uniting the Hindus and the Muslims Satyapir was compounded of Satya, a Sanskrit word and Pir which is an Arabic word.

में भी यह बात पाई जाती है। चौदहवीं ईस्वी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक मुसलमान साम्राज्य दिन दिन शक्तिशाली होता गया। इसके बाद उसका अचानक ऐसा पतन हुआ कि कुछ वर्षों में ही इति श्री हो गई। यह एक संयोग की बात है कि हिन्दी-संसार के वे कवि और महाकवि, जिनसे हिन्दी-भाषा का मुखउज्ज्वल हुआ इसी काल में हुए। इस माध्यमिक काल में जैसा सुधा-वर्षण हुआ, जैसी रस धारा बही, जैसे ज्ञानालोक से हिन्दी-संसार आलोकित हुआ जैसा भक्ति-प्रवाह हिन्दी काव्य-क्षेत्र में प्रवाहित हुआ, जैसे समाज के उच्च कोटि के आदर्श उसको प्राप्त हुए उसका वर्णन बड़ाही हृदय-ग्राही और मर्म-स्पर्शी होगा। मैं ने इस कार्य्यसिद्धि के लिये ही इस समय की धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक अवस्थाओं का चित्र यहां पर चित्रित किया है। अब प्रकृत विषय को लीजिये।

चौदहवें शतक में भी कुछ जैन विद्वानोंने हिन्दी भाषा में कविता की है। इनके अतिरिक्त नल्ह सिंह भाट सिरोहिया ने विजयपाल रासा, शार्ङ्ग-धर नामक कवि ने शार्ङ्गधर-पद्धति हम्मीर काव्य और हम्मीर रासो नामक तीन ग्रंथ बनाये जिनमें से हम्मीर रासो अधिक प्रसिद्ध है। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में जैसे शब्दों से युक्त भाषा लिखी गयी है उससे इन लोगों की रचनाओं में हिन्दी का स्वरूप विशेष परिमार्जित मिलता है। प्रमाणस्वरूप कुछ पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं।

कवि शार्ङ्गधर (रचना काल १३०६ ई०)

१—ढोलामारियढिल्लिमहँ मुच्छिउ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जल्ला मंत्रिवर चलिय वीर हम्मीर।
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिग पग डह अंधार धूलि सुरिरह अच्छा इहि।

ग्रंथ-संघपति समरा रासा, कवि अम्बदेव जैन, (रचना काल १३१४ ई०)

२—निसि दीवो झलहलहिं जेम उगियो तारायण।
पावल पारुन पामिय वहई वेगि सुखासण।

आगे वाणिहिं संचरए सँघपति सहु देसल।
बुद्धिवंत बहु पुण्यवंत पर कमिहिं सुनिश्चल।

ग्रन्थ, थूलि भद्र फागु, कवि जिन पद्मसूरि (रचना काल १३२० ई०)

३—अह सोहग सुन्दर रूपवंत गुण मणिभण्डारो।
कंचण जिमि झलकंत कंति संजम सिरिहारो।
थूलिभद्र मणिराव जाम महि अलो वुहन्तउ।
नयर राम पाउलिय मांहि पहुँतउ विहरंतउ।

ग्रन्थ विजयपाल रासो (रचना काल १३२५ ई०) नल्लसिंह भाट सिरोहिया।

४—दश शत वर्ष निराण मास फागुन गुरु ग्यारसि।
पाय-सिद्ध वरदान तेग जद्दव कर धारसि।
जीतिसर्व तुरकान बलख खुरसान सुगजनी।
रूम स्याम अस्फहाँ फ़ंग हबसान सु भजनी।
ईराण तोरि तूराण असि खोंसिर बंगखँधारसब।
बलवंड पिंड हिंदुवान हद चढिय वीर विजपालसब।

जिस क्रम से कविताओं का उद्धरण किया गया है उसके देखने से ज्ञात हो जायगा कि उत्तरोत्तर एक से दूसरी कविता की भाषा का अधिकतर परिमार्जित रूप है। शार्ङ्गधर की रचना में अधिक मात्रा में अपभ्रंश शब्द हैं। ऐसे शब्द चिन्हित कर दिये गये हैं। उसके बाद की नम्बर २ और ३ की रचनाओं में इने गिने शब्द अपभ्रंश के हैं, उनमें हिन्दी शब्द-ही अधिकतर दिखलाई देते हैं। जिससे पता चलता है कि इस शताब्दी की आदि की रचनाओं पर तो अपभ्रंश शब्दों का अवश्य अधिक प्रभाव है। परन्तु बाद की रचनाओं में उसका प्रभाव उत्तरोत्तर कम होता गया है। यहां तक कि अमीर खुसरो की रचनाएं उससे सर्वथा मुक्त दिखलाई पड़ती हैं।

अमीर खुसरो इस शताब्दीका सर्वप्रधान कवि है। यह अनेक भाषाओं

का पंडित था। इसके रचे फ़ारसी भाषा के अनेक ग्रंथ हैं। इसकी हिन्दी रचनाएं बहुमूल्य हैं। वे इतनी प्राञ्जल और सुन्दर हैं कि उनको देख कर यह आश्चर्य होता है कि पहले पहल एक मुसलमान ने किस प्रकार ऐसी परिष्कृत और सुन्दर हिन्दी भाषा लिखी। मैं पहले लिख आया हूं कि माध्यमिक काल में मुसलमान अनेक उद्देश्यों से हिन्दी भाषा की ओर आकर्षित हो गये थे। ऐसे मुसलमानों का अग्र-गण्य मैं अमीर खुसरो को मानता हूं। इसके पद्यों में जिस प्रकार सुन्दर ब्रजभाषा की रचना का नमूना मिलता है उसी प्रकार खड़ी बोली की रचना का भी। इस सहृदय कवि की कविताओं को देख कर यह अवगत होता है कि चौदहवीं शताब्दी में भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों की कविताओं का समुचित विकास हो चुका था। परन्तु उसके नमूने अन्य कहीं खोजने पर भी नहीं प्राप्त होते। इसलिये इन भाषाओं की परिमार्जित रचनाओं का आदर्श उपस्थित करने का गौरव इस प्रतिभाशाली कवि को ही प्राप्त है। मैं उनकी दोनों प्रकार की रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे लिखता हूं। उनको पढ़ कर यह बात निश्चित हो सकेगी कि मेरा कथन कहां तक युक्ति-संगत है।

१—एक थाल मोतीसे भरा, सबकेसिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।

२—आवे तो अँधेरी लावे, जावे तो सबसुख ले जावे।
क्या जानूं वह कैसा है, जैसा देखा वैसा है।

३—बात की बात ठठोली की ठठोली।
मरद की गांठ औरत ने खोली।

४—एक कहानी मैं कहूं, तू सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत।

५—सोभा सदा बढ़ावन हारा, आँखिन ते छिन होत न न्यारा
आये फिर मेरे मन रंजन ऐसखि साजन ना सखि अंजन

६ स्यामबरनपीताम्बर काँधे, मुरली धर नहिं होइ।
बिन मुरली वह नाद करत है, बिरला बूझै कोइ।

७—उज्ज्वल बरन अधीनतन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप को खान।

८—एक नार तरवर से उतरी मा सो जनम न पायो।
बाप को नांव जो वासे पूछ्यो आधो नाँव बतायो।
आधो नावँ बतायो खुसरो कौन देस की बोली।
वाको नाँव जो पूछ्यो मैंने अपने नांव न बोली।

९—एक गुनी ने यह गुन कीना हरियल पिँजरे में दे दीना।
देखो जादूगर का हाल डाले हरा निकाले लाल।

इन पद्यों में नम्बर १ से ४ तक के पद्य ऐसे हैं जो शुद्ध खड़ी बोली में लिखे गये हैं, नम्बर ५ और ६ शुद्ध ब्रजभाषा के हैं और नम्बर ७ से ९ तक के ऐसे हैं कि जिनमें खड़ी बोलचाल और ब्रजभाषा दोनों का मिश्रण है। मैं समझता हूं कि इस अन्तर का कारण उस भेद की अनभिज्ञता है जो खड़ी बोली को ब्रजभाषा से अलग करती है। इसके प्रमाण वे पद्य भी हैं जिनमें दोनों भाषाओं का मिश्रण है। उस समय खड़ी बोली या ब्रज-भाषा का कोई विवाद नहीं था और न ऐसे नियम प्रचलित थे जो एक को दूसरे से अलग करते। वे हिन्दी भाषा के सब प्रकार के प्रयोगों को एक ही समझते थे। इसलिये इतना सूक्ष्म विचार न कर सके। यह संयोग से ही हो गया है कि कुछ पद्य शुद्ध खड़ी बोली के और कुछ ब्रजभाषा के बन गये हैं। उनकी दृष्टि इधर नहीं थी। इस समय जब खड़ी बोल चाल और ब्रजभाषा की धाराएं अलग अलग बह रही हैं, उनकी रचनाओं की इस त्रुटि पर चाहे विशेष दृष्टि दी जावे, परन्तु उस समय उन्हों ने हिन्दी भाषा सम्बन्धी जैसी मर्मज्ञता, योग्यता और निपुणता दिखलाई है वह उल्लेखनीय है। उनके पहले के कवियों की रचनाओं से उनकी रचनाओं में अधिकतर प्राञ्जलता है, जो हिन्दी के भाण्डार पर उनका प्रशंसनीय

अधिकार प्रकट करती है। उनकी रचनाओं में फ़ारसी और अरबी इत्यादि के शब्द भी आये हैं, परन्तु वे इस सुन्दरता से खपाये गए हैं कि जिसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है। चन्दबरदाई के समय से ही हिन्दी भाषा में अरबी, फ़ारसी और तुर्की के शब्द गृहीत होने लगे थे और यह सामयिक प्रभाव का फल था। परन्तु जिस सावधानी और सफ़ाई के साथ उन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग इन्हों ने किया है वह अनुकरणीय है। उन भाषाओं के अधिकतर शब्द अन्य कवियों द्वारा तोड़ मरोड़ कर या बिगाड़ कर लिखे गये हैं, किन्तु यह कवि प्रायः इन दोषों से मुक्त था। एक विशेषता इनमें यह भी देखी जाती है कि अरबी के बह्रों में इन्हों ने हिन्दी पद्यों की रचना सफलता-पूर्वक की है, साथ ही फ़ारसी के वाक्यों के साथ हिन्दी वाक्यों को अपने एक पद्य में इस उत्तमता से मिलाया है, जो मुग्ध कर देता है। मैं उस पद्य को यहां लिखता हूं। आपलोग भी उसका रस लें—

"ज़ेहाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्रां न दारमऐजां नलेहु काहें लगाय छतियाँ।
शबाने हिज्रां दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ व रोज़े वसलत चूँ उम्र कोतह।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूं अँधेरी रतियाँ।
एकाएक अज़ दिल दो चश्मे जादू बसद फ़रेबम् बेबुर्द तस्कीं।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पीको हमारी बतियाँ।
चूं शमा सोज़ा चूं ज़र्रा हैरां हमेशा गिरियाँ बइश्क़ आँमह।
न नींद नैना न अङ्ग चैना न आप आवें न भेजें पतियाँ।
बहक्क़ रोज़े विसाल दिलबर कि दाद मारा फ़रेबख़ुसरो।
सपीत मन को दुराय राखूँ जो जान पाऊँ पियाकी घतियाँ।

इस पद्यका अरबी बह्र है फ़ऊल फ़ेलुन फ़ऊल फ़ेलुन फ़ऊल फ़ेलुन फ़ऊल फ़ेलुन। पहले दो चरणों में हिन्दी शब्दों का प्रयोग निर्दोष हुआ है यद्यपि

वे शुद्ध ब्रज भाषा में लिखे गए हैं। केवल 'नैना' का 'ना' दीर्घ कर दिया गया है। किन्तु यह अपभ्रंश और ब्रज भाषा के नियमानुकूल है। शेष पद्यों की भाषा खड़ी हिन्दी की बोलचाल में है। केवल 'रतियां', 'बतियां', 'पतियां' 'घतियां' का प्रयोग ही ऐसा है जो ब्रजभाषा का कहा जा सकता है। उनके इस प्रकार के मिश्रण के सम्बन्ध में मैं अपनी सम्मति प्रकट कर चुका हूं। हां, मात्रिक छन्दों के नियमों की दृष्टि से ये खड़ी बोली के पद्य निर्दोष नहीं हैं। अनेक स्थानों पर लघु के स्थान पर गुरु लिखा गया है यद्यपि कि वहां लघु लिखना चाहिये था। जैसे सखी पिया को जो मैं न देखूं तो कैसे काटूं अँधेरी रतियां' इस पद्यमें 'जो' के स्थान पर 'जु' तो के स्थान पर 'त', कैसे के स्थान पर 'कैस' और अँधेरी के स्थान पर 'अँधेर', पढ़नेसेही छन्द की गति निर्दोष रहेगी। ऐसेही हिन्दी भाषाके शेष पद्यों की पंक्तियां सदोष हैं, परन्तु जब हम वर्त्तमानकाल के उन्नति-प्राप्त उर्दू पद्यों को देखते हैं तो उनके इस प्रकार के पद्य-गत हिन्दी भाषा के शब्द-विन्यास को दोषावह नहीं समझते, क्योंकि अरबी बहूंमें हिन्दी शब्दोंका व्यवहार प्रायः विवश होकर इसीरूपमें करना पड़ता है। वरन कहना यह पड़ता है कि उर्दू कविताके प्रारम्भ होनेसे २०० वर्ष पहलेही इस प्रणालीका आविर्भाव कर उन्हों ने उर्दू संसार के कवियों को उस मार्गका प्रदर्शन किया जिसपर चलकर हो आज उर्दू पद्य-साहित्य इतना समुन्नत है। इस दृष्टि से उनकी गृहीत प्रणाली एक प्रकार से अभिनन्दनीय ही ज्ञात होती है, निन्दनीय नहीं। खुसरो ने हिन्दुस्तानी भावों का चित्रण करते हुए कुछ ऐसे गीत भी लिखे हैं जो बहुत ही स्वाभाविक हैं। उनमें से एकदेखिये:—

॥ सावन का गीत ॥

अम्मा मेरे बाबा को भेजो जो कि सावन आया।
बेटी तेरा बाबा तो बुड्ढा री कि सावन आया।
अम्मा मेरे भाई को भेजो जो कि सावन आया।
बेटी तेरा भाई तो बालारी किसावन आया।

अम्मा मेरे मामू को भेजो जी कि सावन आया।
बेटो तेरा मामूँ तो बाँकारो कि सावन आया।

दो दोहे भी देखिये, कितने सुन्दर हैं।

१—खुसरो रैनि सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोऊ भये इक रंग।

२—गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैनि भई चहुँदेस।

इच्छा न होने पर भी खुसरो की कविता के विषय में इतना अधिक लिख गया। बात यह है कि खुसरो की विशेषताओं ने ऐसा करने के लिये विवश किया। यदि उन्होंने सब से पहले बोलचाल की साफ़ सुथरी चलती हिन्दी का आदर्श उपस्थित किया तो शब्द भी तुले हुए रक्खे। न तो उन को तोड़ा-मरोड़ा, न बदला और न उनके वर्णों को द्वित्त बना कर उन्हें संयुक्त शब्दों का रूप दिया। अपनी रचना में भाव भी वे ही भरे जो देश भाषा के अनुकूल थे। प्राकृत शब्दों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में पाया जाता है। परन्तु वे ऐसे हैं जो सर्वथा हिन्दी के रंग में ढले हुए हैं, जैसे पीत, उज्जल और रैन इत्यादि। प्राकृत में शकार के स्थान पर स हो जता है इन्होंने भी अपनी रचना में इस नियम का पालन किया है, जैसे 'सोभा', 'स्याम', 'केस', 'देस' इत्यादि। संस्कृत के तत्सम शब्द भी इनकी रचना में हैं परन्तु चुने हुए। हिन्दी आरम्भिक काल से ही इस प्रणाली को ग्रहण करती आई है। यह बात इनके इस प्रकार के प्रयोगों से भी प्रकट होती है। यह उनके कवि-हृदय की विशेषता है कि जो तत्सम शब्द संस्कृत के इन के पद्य में आये हैं वे कोमल और हिन्दी के तद्भव शब्दों के जोड़ के हैं। जैसे मुख, मुरलीधर, रंजन, अधीन, नाद, ध्यान साधु पाप इत्यादि। ये सब ऐसी ही विशेषताएं हैं जो माध्यमिक काल के रचयिताओं में खुसरो को एक विशेष स्थान प्रदान करती हैं। खुसरो का निवास दिल्ली में था। मेरा विचार है कि उसके अथवा

मेरठ के आस पास जो बोली उस समय बोली जाती थी उसी पर दृष्टि रखकर उन्होंने अपनी रचनायें कीं। इसीलिये वे अधिकतर बोलचाल की भाषा के अनुकूल हैं और इसी से उनमें विशेष सफ़ाई आ गई है। उनकी कविता में ब्रजभाषा के कुछ शब्दों और क्रियाओं का प्रयोग भी पाया जाता है। जैसे बढ़ावनहारा, वासे, बनायो, वाको, पूछ्यो, दुराय, बनाय, बतियां इत्यादि। मैं समझता हूं कि इन शब्दों का व्यवहार आकस्मिक है और इस कारण हो गया है कि उस समय ब्रज-भाषा फैल चली थी और उसकी मधुरता कवि हृदय को अपनी ओर खींचने लगी थी॥

अमीर खुसरो का समकालीन एक और मुल्लादाऊद नामक ब्रजभाषा का कवि हुआ। कहा जाता है कि उसने नूरक एवं चन्दा की प्रेम-कथा नामक दो हिन्दी पद्य-ग्रन्थों की रचना की, किन्तु ये दोनों ग्रन्थ अप्राप्त से हैं। इस लिए इसकी रचना की भाषा के विषय में कुछ लिखना असम्भव है। इसके उपरान्त महात्मा गोरखनाथ का हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में दर्शन होता है। हाल में कुछ लोगों ने इनको ग्यारहवीं ई० शताब्दी का कवि लिखा है, किन्तु अधिकांश सम्मति यही है कि ये चौदहवीं शताब्दी में थे। ये धर्म्माचार्य्य ही नहीं थे, बहुत बड़े साहित्यिक पुरुष भी थे। इन्होंने सँस्कृत भाषा में नौ ग्रंथों की रचना की है, जिनमें से 'विवेक-मार्तण्ड', 'योग-चिन्तामणि' आदि प्रकाण्ड ग्रन्थ हैं। इनका आविर्भाव नेपाल अथवा उसकी तराई में हुआ। उन दिनों इन स्थानों में विकृत बौद्ध धर्म्म का प्रचार था, जो उस समय नाना कुत्सित विचारों का आधार बन गया था। इन बातों को देख कर उन्हों ने उसका निराकरण करके आर्य्य-धर्म्म के उत्थान में बहुत बड़ा कार्य किया। उन्होंने अपने सिद्धान्त के अनुसार शैव धर्म का प्रचार किया, किन्तु परिमार्जित रूप में। उस समय इनका धर्म इतना आदृत हुआ कि उनकी पूजा देवतों के समान होने लगी। इनका मंदिर गोरखपुर में अब तक मौजूद है। गोरख पंथ के प्रवर्तक आप ही हैं। इनके अनुयायी अब तक उत्तर भारत में जहां तहां पाये जाते हैं। इनकी रचनाओं एवं शब्दों का मर्म समझने के लिये यह आवश्यक है कि उस काल के बौद्ध धर्म की अवस्था आप लोगों के सामने

उपस्थित की जावे। इस विषय में 'गंगा' नामक मासिक पत्रिका के प्रवाह १, तरंग ९ में राहुल सांस्कृत्यायन नामक एक बौद्ध विद्वान् ने जो लेख लिखा है उसी का एक अंश मैं यहां प्रस्तुत विषय पर प्रकाश डालने के लिये उद्धृत करता हूं:—

भारत से बौद्धधर्म का लोप तेरहवीं, चौदहवीं शताब्दी में हुआ। उस समय की स्थिति जानने के लिये कुछ प्राचीन इतिहास जानना आवश्यक है।"

'आठवीं शताब्दी में एक प्रकार से भारत के सभी बौद्ध सम्प्रदाय वज्रयान-गर्भित महायान के अनुयायी हो गये थे। बुद्ध की सीधी-साधी शिक्षाओं से उनका विश्वास उठ चुका था और वे मनगढ़न्त हज़ारों लोकोत्तर कथाओं पर मरने लगे थे। बाहर से भिक्षु के कपड़े पहनने पर भी वे भैरवी चक्र के मज़े उड़ा रहे थे। बड़े बड़े विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि आधे पागल हो, चौरासी सिद्धों में दाख़िल हो, सन्ध्या-भाषा में निर्गुण गा रहे थे। सातवीं शताब्दी में उड़ीसे के राजा इन्द्रभूति और उसके गुरु सिद्ध अनंग-वज्र स्त्रियों को ही मुक्तिदात्री प्रज्ञा, पुरुषोंकोही मुक्तिका उपाय, और शराब को ही अमृत सिद्ध करने में अपनी पंडिताई और सिद्धाई ख़र्च कर रहे थे। आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का बौद्ध धर्म वस्तुतः वज्रयान या भैरवी चक्र का धर्म था। महायान ने ही धारणीयों और पूजाओं से निर्वाण को सुगम कर दिया था। वज्रयान ने तो उसे एक दम सहज कर दिया। इसी लिये आगे चल कर वज्रयान सहजयान भी कहा जाने लगा।"

"वज्रयान के विद्वान्, प्रतिभाशाली कवि, चौरासी सिद्ध, विलक्षण प्रकार से रहा करते थे। कोई पनही बनाया करता था, इसलिये उसे पनहिया कहते थे, कोई कम्बल ओढ़े रहता था, इसलिये उसे कमरिया कहते थे, कोई डमरू रखने से डमरुआ कहलाता था, कोई ओखली रखने से ओखरिया आदि। ये लोग शराब में मस्त, खोपड़ी का प्याला लिये श्मशान या विकट जंगलों में रहा करते थे। जन साधारण को जितना ही

ये फटकारते थे उतना ही वे इनके पीछे दौड़ते थे । लोग वोधिसत्व प्रतिमाओं तथा दूसरे देवताओं की भांति इन सिद्धों को अद्भुत चमत्कारों और दिव्य शक्तियों के धनी समझते थे । ये लोग खुल्लम-खुल्ला स्त्रियों और शराब का उपभोग करते थे । राजा अपनी कन्याओं तक को इन्हें प्रदान करते थे । ये लोग त्राटक या hypnotism की कुछ प्रक्रियाओं से वाक़िफ़ थे । इसी बल पर अपने भोले भाले अनुयाइयों को कभी कभी कोई कोई चमत्कार दिखा देते थे । कभी हाथ की सफ़ाई तथा श्लेषयुक्त अस्पष्ट वाक्यों से जनता पर अपनी धाक जमाते थे । इन पाँच शताब्दियों में धीरे धीरे एक तरह से सारी भारतीय जनता इनके चक्कर में पड़ कर कामव्यसनी, मद्यप और मूढ़ विश्वासी बनगयी थी ।"

महात्मा गोरखनाथ ही ऐसे पहले ब्राह्मण हैं जिन्हों ने संस्कृत का विद्वान् होने पर भी हिन्दी भाषा के गद्य और पद्य में धार्मिक ग्रन्थ निर्माण किये । जनता पर प्रभाव डालने के लिए उसकी बोलचाल की भाषा ही विशेष उपयोगिनी होती है । सिद्ध लोगों ने इसी सूत्र से बहुत सफलता लाभ की थी, इसलिये महात्मा गोरख नाथ जी को भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार केलिए इस मार्गका अवलम्बन करना पड़ा । उनके कुछ पद्य देखिये :—

आओ भाई धरिधरि जाओ,गोरखबाला भरिभरि लाओ।
झरै नपारा बाजै नाद, ससिहर सूर न वाद विवाद ।१।
पवनगोटिका रहणि अकास,महियल अंतरि गगन कविलास।
पयाल नी डीबी सुन्न चढ़ाई, कथत गोरखनाथमछींद्र बताई।२।
चार पहर आलिंगन निद्रा संसार जाइ विषिया वाही ।
उभयहाथें गोरखनाथ पुकारै तुम्हें भूल महारौ माह्याभाई।३।
वामा अंगे सोइबा जम चा भोगिबा सगे न पिवणा पाणी।
इमतो अजरावर होई मछिंद्र बोल्यो गोरख वाणी ।४।

छाँटै तजौगुरु छाँटै तजौ लोभ माया ।
आत्मा परचै राखौ गुरु देव सुन्दर काया ।५।
एतैं कछु कथीला गुरु सर्वे भैला भोलै ।
सर्वे कमाई खोई गुरु बाघ नी चै बोलै ।६।
हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पाँवं ।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरखरावं ।७।
हँसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दृढ़ करि राखै अपना चीत।
खाये भी मरिये अणखाये भी मरिये ।
गोरख कहे पूता संजमही तरिये ।८।
मद्धि निरंतर कीजै वास । निहचल मनुआ थिर व्है साँस ।
आसण पवन उपद्रह करै। निसिदिन आरँभ पचिपचि मरै।९।

इनकी भाषा अमीर खुसरो के समान न तो प्राञ्जल है, न हिन्दी की बोलचाल के रंगमें ढली, फिर भी बहुत सुधरी हुई और हिन्दीपन लिये हुये है। उसके देखने से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार पन्द्रहवीं ईसवी शताब्दी के आरंभ में हिन्दी भाषा अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो रही थी। गोरखनाथ जी की रचना में विभिन्न प्रान्तों के शब्द भी व्यवहृत हुए हैं, जैसे गुजराती, 'नी' मरहठी 'चा' और राजस्थानी 'बोलिबा' धरिबा, चलिबा इत्यादि। उस समय के महात्माओं की रचना में यह देखा जाता है कि अधिकतर देशाटन करने के कारण उनकी रचनाओं में कतिपय प्रान्तिक शब्द भी आ जाते हैं। यह बात अधिकतर उस काल के और बाद के सन्तों की बानियों में पाई जाती है। मेरा विचार है, गोरखनाथजी ही इसके आदिम प्रवर्त्तक हैं, जिसका अनुकरण उनके उपरान्त बहुत कुछ हुआ। इन दो एक बातों को छोड़कर इनकी रचनाओं में हिन्दी भाषा की सब विशेषताएं पाई जाती हैं। उनमें संस्कृत तत्सम शब्दों का अधिकतर प्रयोग है जो प्राकृत प्रणाली के अनुकूल नहीं। धार्मिक शिक्षा-प्रसार के लिये अग्रसर होने पर अपनी रचनाओं में उनका संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग करना स्वाभा-

विक था। हिन्दी कविता में आगे चलकर हमको प्रेम-धारा, भक्ति-धारा एवं सगुण-निर्गुण विचार-धारा बड़े वेग से प्रवाहित होती दृष्टिगत होती है, किन्तु इन सबसे पहले उसमें ज्ञान और योग-धारा उसी सबलता से बही थी, जिसके आचार्य्य महात्मा गोरखनाथ जी हैं। इन्हीं के मार्ग को अवलम्बन कर बाद को अन्य धाराओं का हिन्दी भाषा में विकास हुआ। योग और ज्ञान का विषय भी ऐसा था जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों से अधिकतर काम लेने की आवश्यकता पड़ी। इसीलिये उनकी रचनाओं में सूर्य, 'वाद-विवाद', पवन', 'गोटिका' गगन' 'आलिंगन' 'निद्रा' संसार' 'आत्मा' गुरुदेव' 'सुन्दर' 'सर्वे' इत्यादि का प्रयोग देखा जाता है। फिर भी उनमें अपभ्रंश अथवा प्राकृत शब्द मिल ही जाते हैं जैसे 'अकास' 'महियल' 'अजरावर' इत्यादि। हिन्दी तद्भव शब्दों की तो इनकी रचनाओं में भरमार है और यही बात इनकी रचनाओं में हिन्दी- पन की विशेषता का मूल है। वे अपनी रचनाओं में ण' के स्थान पर 'न' का ही प्रयोग करते हैं और यह हिन्दी भाषा की विशेषता है। कभी कभी 'न' के स्थान पर णकार का प्रयोग भी करते हैं। यह अपभ्रंश भाषा का इनकी रचनाओं में अवशिष्टांश है अथवा इनकी भाषा पर पंजाबी भाषा के प्रभाव का सूचक है, जैसे 'पिवण' 'पाणी,' 'अणखाए' 'आसण' इत्यादि॥

वेदान्त धर्म के प्रवर्त्तक स्वामी शंकराचार्य्य थे। उनका वेदान्त वाद अथवा अद्वैतवाद व्यवहार क्षेत्र में आ कर शिवत्व धारण कर लेता है। इसी लिये उनका सम्प्रदाय शैव माना जाता है। भगवान शिव की मूर्ति जहाँ गम्भीर ज्ञानमयी है वहीं विविध विचित्रतामयी भी। इसीलिये उसमें यदि निर्गुणवादियों के लिये विशेष विभूति विद्यमान है तो सगुणोपासक समूह के लिये भी बहुत कुछ दैवी ऐश्वर्य्य मौजूद है। यही कारण है कि शैव सम्प्रदाय का वह परम अवलम्ब है। गोरखनाथ की सँस्कृत और भाषा की रचनाओं में वेदान्तवाद की विशेष विभूतियां जहां दृष्टिगत होती हैं, वहीं शिव के उपासना की ऐसी प्रणालियां भी उपलब्ध होती हैं जो सर्व साधारण को उनकी ओर आकर्षित करती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण गोरखनाथ जी ने शैव धर्म का आश्रय ले कर उस समय हिन्दू धर्म के संरक्षण का

भगीरथ प्रयत्न किया और बहुत कुछ सफलता भी लाभ की। नैपालमें आज भी शैव धर्म का बहुत बड़ा प्रभाव है। जिस समय सिद्ध लोग अपने आडम्बरों द्वारा सर्व-साधारण को उन्मार्ग गामी बना रहे थे, उस समय गोरखनाथ जी ने किस प्रकार सन्मार्ग का प्रचार सर्व साधारण में किया, उसका प्रमाण उनका धर्म और उनकी वे सुन्दर रचनाएँ हैं जिनमें लोक-हितकारी शिक्षायें भरी पड़ी हैं। गोरखनाथ जी की महत्ता इतनी प्रभाव शालिनी थी कि उसने पाप-पङ्क में निमग्न अपने गुरु मत्स्येन्द्र नाथ (मछंदर नाथ) का भी उद्धार किया। जो पद्य ऊपर उद्‌धृत किये गये हैं उनमें से तीसरे, चौथे, और पाँचवें तथा छठें पद्यों को देखिये। उनके देखने से आप लोगों को यह ज्ञात हो जायगा कि उन्हों ने किस प्रकार अपने गुरु को सांसारिक व्यसनों से बचने की शिक्षा दी और कैसे उनको स्त्रियों के प्रपंच से विरत रहने का उपदेश दिया। उन्हों ने आत्म परिचय और अजरामर होने का मार्ग उन्हें बड़े सुन्दर शब्दों में बतलाया और कभी कभी उनमें आत्मग्लानि उत्पन्न करने की चेष्टा भी की, जैसा छठें पद्य के देखने से प्रकट होता है। उनका यह उद्योग अपने गुरुदेव के विषय ही में नहीं देखा जाता, सर्व-साधारण पर भी उनकी शिक्षाओं ने बड़ा प्रभाव डाला, और इस प्रकार उस समय के पतन-प्राय हिन्दू समाज का बहुत बड़ा उपकार किया। उनकी रचनाओं में योग-सम्बन्धी बहुत सी बातें पाई जाती हैं। उद्‌धृत पद्यों में से पहले दूसरे पद्य ऐसे ही हैं। उनके सातवें, आठवें, नवें पद्यों में ऐसी शिक्षायें हैं जिन्हें सब सन्मार्ग के पथिकों को ग्रहण करना चाहिये। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार की धार्मिक शिक्षाओं के आदि प्रचारक भी गोरखनाथजी ही हैं। इन सब बातों पर दृष्टि रख उनकी रचनाओं पर विचार करने से वे बहुमूल्य ज्ञात होती हैं। और उनसे इस बात का भी पता चलता है कि किस प्रकार आदि में हिन्दी अपने तद्‌भव रूप में प्रकट हुई॥

इसी चौदहवीं ईसवी शताब्दी में विनय-प्रभु जैन और छोटे छोटे कई दूसरे जैन कवि होगये हैं, जिनकी रचनायें लग भग वैसी ही हैं जैसी ऊपर लिखे गये जैन कवियों की हैं। उनमें कोई विशेषता ऐसी नहीं पाई जाती कि जिससे उनकी पृथक् चर्चा की आवश्यकता हो। इसलिये मैं उनलोगों

को छोड़ता हूं। इसके बाद पन्द्रहवीं शताब्दी प्रारम्भ होती है। चौदहवीं शताब्दी का अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी का आदि मैथिल-कोकिल विद्यापति का काव्य-काल माना जाता है। अतएव अब मैं यह देखूंगा कि उनकी रचनाओं में हिन्दी भाषा का क्या रूप पाया जाता है। उनकी रचनाओं के विषय में अनेक भाषा-मर्मज्ञों का यह विचार है कि वे मैथिली भाषा की हैं। किन्तु उनके देखने से यह ज्ञात होता है कि जितना उन में हिन्दी भाषा के शब्दों का व्यवहार है उतना मैथिली भाषा के शब्दों का नहीं। अवश्य उनमें मैथिली भाषा के शब्द प्रायः मिल जाते हैं, परन्तु उनकी भाषा पर यह प्रान्तिकता का प्रभाव है, वैसा ही जैसा आज कल के बिहारियों की लिखी हिन्दी पर। बंगाली विद्वान् विद्यापति को बंगभाषा का कवि मानते हैं, यद्यपि उनकी भाषा पर बंगाली भाषा का प्रभाव नाम मात्र को पाया जाता है। ऐसी अवस्था में विद्यापति को हिन्दी भाषा का कवि मानने का अधिक स्वत्त्व हिन्दी भाषा—भाषियों ही को है और मैं इसी सूत्र से उनकी चर्चा यहां करता हूं। उन्होंने अपभ्रंश भाषा में भी दो ग्रंथ लिखे हैं। उनमें से एक का नाम 'कीर्तिलता' और दूसरी का नाम 'कीर्तिपताका' है। कीर्तिलता छप भी गई है। उनकी सँस्कृत की रचनायें भी हैं जो उनको सँस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान् सिद्ध करती हैं। जब इन बातों पर दृष्टि डालते हैं तो उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा सामने आ जाती है जो उनके लिये हिन्दी भाषा में सुन्दर रचना करना असंभव नहीं बतलाती। मेरी ही सम्मति यह नहीं है। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले सभी सज्जनों ने इनको हिन्दी भाषा का कवि माना है। फिर मैं इनको इस गौरव से वंचित करूँ तो कैसे करूँ?

मेरा विचार है कि विद्यापति ने बड़ी ही सरस हिन्दी में अपनी पदावली की रचना की है। उनके पद्योंसे रस निचुड़ा पड़ता है। गीत गोविन्द-कार वीणापाणि के वरपुत्र जयदेव जी की मधुर कोमल कान्त पदावली पढ़ कर जैसा आनन्द अनुभव होता है वैसा ही विद्यापति की पदावलियों का पाठ कर। अपनी कोकिल-कण्ठता ही के कारण वे मैथिल-कोकिल कहलाते हैं। उनके समय में हिन्दी भाषा कितनी परिष्कृत और प्राञ्जल हो गयी थी,

इसका विशेष ज्ञान उनकी रचनाओं को पढ़ कर होता है। उनके कतिपय पद्यों को देखिये:—

१- माधव कत परबोधब राधा।
हा हरि हा हरि कहतहिँ बेरि बेरि अब जिउ करब समाधा।
धरनि.धरिये धनि जतनहिं बैसइ पुनहिं उठइ नहिं पारा।
सहजइ बिरहिन जग महँ तापिनि बौरि मदन सर धारा।
अरुण नयन नीर तीतल कलेवर विलुलित दीघल केसा।
मंदिर बाहिर कर इत संसय सहचरि गनतहिं सेसा।
आनि नलिनि केओ रमनि सुनाओलि केओ देईमुख पर नीरे।
निस वत पेखि केओ सांस निसारै केओ देई मन्द समीरे।
कि कहब खेद भेद जनि अन्तर घन घन उतपत साँस।
भनइ विद्यापति सेहो कलावति जीउ बँधल आसपास।

२-चानन भेल विषम सररे भूषन भेल भारी।
सपनहुं हरि नहिं आयल रे गोकुल गिरधारी।
एकसरि ठाढ़ि कदम तर रे पथ हेरथि मुरारी।
हरि बिनु हृदय दगध भेल रे आमर भेल सारी।
जाह जाह तोहिं ऊधव हे तोहिं मधुपुर जाहे।
चन्द बदनि नहिं जीवत रे बध लागत काहे।

३-के पतिया लए जायतरे मोरा पिय पास।
हिय नहिं सहै असह दुखरे भल साओन मास।
एकसर भवन पिया बिनुरे मोरा रहलो न जाय।
सखियन कर दुख दारुनरे जग के पतिआय।

मोर मन हरि हरि लै गेल रे अपनो मन गेल ।
गोकुल तजि मधुपुर बसि रे कति अपजस लेल ।
विद्यापति कवि गाओल रे धनि धरु पिय आस ।
आओत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास ।

इन पद्यों को पढ़ कर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमें मैथिली शब्दों का प्रयोग कम नहीं है। विद्यापति मैथिल कोकिल कहलाते हैं। डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने भी इनको मैथिल कवि कहा है।१ बँगलाके अधिसांश विद्वान् एक स्वर से उनको मैथिल भाषा का कवि ही बतलाते हैं। और इसी आधार पर उनको बँगला का कवि मानते हैं क्योंकि बँगला का आधार मैथिली का पूर्व रूप है। वे मिथिला निवासी थे भी। इस लिये उनका मैथिल कवि होना युक्ति-संगत है। परन्तु प्रथम तो मैथिली भाषा अधिकतर पूर्वी हिन्दी भाषा का अन्यतम रूप है, दूसरे विद्यापति की पदावली में हिन्दी शब्दों का प्रयोग अधिकता, सरसता एवं निपुणता के साथ हुआ है। इसलिये उसको हिन्दी भाषा की रचना स्वीकार करना ही पड़ता है। जो पद्य ऊपर लिखे गये हैं वे हमारे कथन के प्रमाण हैं। इनमें मैथिली भाषा का रंग है, किन्तु उससे कहीं अधिक हिन्दीभाषा की छटा दिखाई पड़ती है। इस विषय में दो एक हिन्दी विद्वानों की सम्मति भी देखिये। अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में (५९, ६० पृष्ट) पं० रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं:—

"विद्यापति को बंगभाषा वाले अपनी ओर खींचते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी बिहारी और मैथिली को मागधी से निकली होनेके कारण हिन्दी से अलग माना है। पर केवल भाषा शास्त्रकी दृष्टिसे कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा-कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषाका समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलम्बित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य माना जाता।

१—देखिये वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान पृष्ट ९ पंक्ति ३४

"खड़ी बोली, बाँगड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवाड़ी, अवधी इत्यादिमें रूपों और प्रत्ययोंका परस्पर अधिक भेद होते हुये भी सब हिन्दीके अन्तर्गत मानी जाती हैं ! बनारस, गाज़ीपूर, गोरखपुर बलिया आदि जिलों में आयल-आइल, गयल—गइल, हमरा तोहरा आदि बोले जानेपर भी वहां की भाषा हिन्दी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती । कारण है शब्दावलीकी एकता । अतः जिस प्रकार हिन्दी साहित्य बीसलदेव रासो पर अपना अधिकार रखता है, उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी ।"

हिन्दी भाषा और साहित्यकार यह लिखते हैं १:—

'सारे बिहार-प्रदेश और उसके आसपास संयुक्त प्रदेश, छोटा नागपुर और बंगाल में कुछ दूर तक बिहारी भाषा बोली जाती है । यद्यपि बँगला और उड़िया की भांति बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से ही निकली है तथापि अनेक कारणों से इसकी गणना हिन्दी में होती है और ठीक होती है ।"

"बिहारी भाषामें मैथिली, मगही' और भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं। मिथिला या तिरहुत और उसके आसपास के कुछ स्थानों में मैथिली बोली जाती है। पर उसका विशुद्ध रूप दरभंगे में पाया जाता है। इस भाषा के प्राचीन कवियों में विद्यापति ठाकुर बहुत ही प्रसिद्ध और श्रेष्ठ कवि हो गये हैं, जिनकी कविता का अब तक बहुत आदर होता है। इस कविता का अधिकांश सभी बातों में प्रायः हिन्दी ही है।"

आज कल बिहार हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त माना जाता है। वहां के विद्यालयों और साहित्यक समाचार पत्रों अथच मासिक पुस्तकों में हिन्दी भाषा का ही प्रचार है। ग्रन्थ-रचनायें भी प्रायः हिन्दी भाषा में ही होती हैं और वहाँ के पठित समाज की भाषा भी हिन्दी ही है। ऐसी अवस्था में बिहारी भाषा पर हिन्दी भाषा का कितना अधिकार है यह अप्रकट नहीं।

मैं समझता हूं विद्यापति की रचनाओं पर हिन्दी भाषा का कितना स्वत्व है, इस विषय में पर्याप्त लिखा जा चुका। मैंने उनकी रचना इसी

१—देखिये 'हिन्दी भाषा और साहित्य' का पृ० ३९

लिये यहां उपस्थित की है, कि जिससे आप लोगों को यह ज्ञात होसके कि उस समय हिन्दी भाषा का क्या रूप था। उनकी कविता को देखने से यह ज्ञात होता है कि उनके समय में हिन्दी भाषा प्रायः प्राकृत शब्दों से मुक्त हो गई थी, और उसमें बड़ी सरस रचनायें होने लगी थीं। मुझको विश्वास है कि उनकी रचना के अधिकांश शब्दों और प्रयोगों को हिन्दी मानने में किसी को आपत्ति न होगी। वे व्रजभाषा के चिर परिचित शब्द हैं जो अपने वास्तविक रूप में पदावली में गृहीत हुए हैं। श्रीमती राधिका की विरह वेदना का वर्णन होने के कारण उनपर और अधिक व्रजभाषा की छाप लग गई है। जो शब्द चिन्हित हैं, उन्हें हम व्रजभाषा का नहीं कह सकते। किन्तु उनमें से भी 'हेरथि' इत्यादि दो चार शब्दों को छोड़ कर शेष को निस्संकोच भाव से अवधी कह सकते हैं और यह अविदित नहीं कि अवधी भाषा पूर्वी हिन्दी का ही रूप है ॥

मेरा विचार है कि पन्द्रहवें शतक में प्रान्तिक भाषाओं में हिन्दी वाक्यों और शब्दों के प्रवेश का सूत्र-पात हो गया था, जो आगे चलकर अधिक विकसित रूप में दृष्टिगत हुआ।

मैं इस प्रणाली का आदि प्रवर्त्तक विद्यापति को ही मानता हूं। यदि गुरु गोरख नाथ हिन्दी भाषा में धार्मिक शिक्षा के आदि प्रवर्त्तक हैं और उसको ज्ञान और योग की पुनीत धाराओं से पवित्र बनाते हैं तो मैथिल कोकिल उसको ऐसे स्वरों से पूरित करते हैं जिसमें सरस शृंगार रस की मनोहारिणी ध्वनि श्रवणगत होती है। सरसपदावलो का आश्रय लेकर उन्हों ने भगवती राधिका के पवित्र प्रेमोद्गारों से अपनी लेखनी को रसमय ही नहीं बनाया, साहित्य क्षेत्र में अपूर्व भावों की भी अवतारणा की। यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विद्यापति स्वयं इस प्रणालीके उद्भावक हैं या उनके सामने इससे पहले का और कोई आदर्श था। मैं यह स्वीकार करूँगा कि उनके सामने प्राचीन आदर्श अवश्य था। परन्तु हिन्दी भाषामें राधा भावके आदि प्रवर्त्तक विद्यापति ही हैं। पदावलीमें राधाकृष्णके संयोग और वियोग शृंगार का जैसा भावमय और हृदयग्राही वर्णन विद्यापति ने किया है, हिन्दी भाषा में उनसे पहले इस प्रकार का भावुकतामय वर्णन पहले किसी ने नहीं किया।

. श्री मद्भागवत में गोपियों का प्रेम भगवान कृष्ण चन्द्र के प्रति जिस उच्चभाव से वर्णित है वह अलौकिक है। प्रेम त्यागमय होता है, स्वार्थ मय नहीं। रूप-जन्य मोह क्षणिक और अस्थायी होता है। उसमें सुख-लिप्सा होती है. आत्मोत्सर्ग का भाव नहीं पाया जाता। किन्तु वास्तविक प्रेम अपना आदर्श आप होता है। उसमें जितनी स्थायिता होती है. उतना ही त्याग। वह आन्तरिक निस्स्वार्थ भावों पर अवलम्वित रहता है, स्वार्थ मय प्रवृत्तियों पर नहीं। उसमें प्रेमी पर अपने को उत्सर्ग कर देने की शक्ति होती है, और वह इसी में अपनी चरितार्थता समझता है। भागवत में गोपियों को ऐसे ही प्रेम की प्रेमिका वर्णित किया गया है। विद्यापति सँस्कृत के विद्वान् थे। साथ ही सहृदय और भावुक थे। इस लिये भागवत के आदर्श को अपनी रचनाओं में स्थान देना उनके लिये असंभव नहीं था। मेरा विचार है कि जयदेव जी की मधुर रचनाओं से भी उनकी कविता बहुत कुछ प्रभावित है. क्योंकि वे उनसे कई शतक पूर्व सँस्कृत भाषा में इस प्रकार की सरस पदावली का निर्माण कर चुके थे। श्री मद्भागवत में श्री मती राधिका का नाम नहीं मिलता। परन्तु ब्रह्म वैवर्त्त पुराण में उनका नाम मिलता है और उसमें वे उसी रूप में अंकित की गई हैं जिस रूप में गीत गोविन्दकार ने उनको ग्रहण किया है। यह सत्य है कि गीत गोविन्द में सरस शृंगार ही का स्रोत बहता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि जयदेव जी ने उस ग्रन्थ की रचना भक्ति भाव से की है और वे भगवती राधिका और भगवान कृष्ण में उतना ही पूज्य भाव रखते थे जितना कोई वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय का भक्त रख सकता है। उनके ग्रन्थ में ही इसके प्रमाण विद्यमान हैं। विद्यापति की रचनाओं के देखनेसे पाया जाता है कि १ जयदेवजी का यह भक्ति-भाव उनमें भी भरित था। डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन लिखते हैं: " मथिली भाषा में अमूल्य पदावली-रचना के लिये ही उनका

---

1 " But his chief glory consists in his matchless sonnets (Pad a) in the Maithili dialect dealing allegorically with the relations of the soul to God under the form of love which Radha dore to Krishna."

Modern Vernacular Literature of Hindustan By Dr.Grierson.

(विद्यापति का) श्रेष्ठ गौरव है। अपने समस्त पदों में उन्होंने श्री मती राधिका का प्रेम भगवान कृष्णचन्द्र के प्रति वर्णन किया है। इस रूपक के द्वारा उन्होंने यह विज्ञापित किया है कि किस प्रकार आत्मा का परमात्मा के प्रति प्रेम-सम्बन्ध है।"

विद्यापति शैव थे। इसलिये सम्भव है कि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि एक शैव की राधा-कृष्ण की मूर्ति में भक्ति कैसी? किन्तु इस विचार में संकीर्णता है। कवि का हृदय इतना संकीर्ण नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास यदि सीताराम के अनन्य उपासक होकर भगवान् भूतनाथ की भक्ति कर सकते हैं तो शिव के अनन्य भक्त होकर कविवर विद्यापति राधा-कृष्ण की भक्ति क्यों नहीं कर सकते। वास्तव बात यह है कि अधिकांश गृहस्थ हिन्दू विद्वान् पञ्चदेवोपासक होता है। उसमें वह भेद-भावना नहीं होती जो किसी कट्टर शैव या वैष्णव में पाई जाती है। मैं समझता हूं, विद्यापति इस दोष से मुक्त थे और इसीलिये उनको इस प्रकार राधा-कृष्ण का प्रेम वर्णन करने में कोई बाधा नहीं हुई। उनके पद्यों में ही युगल मूर्ति के भक्ति भाव के प्रमाण मौजूद हैं। उनके पद में जो माधुर्य्य विद्यमान है उसको माधुर्य्य-उपासना का मर्मज्ञ ही प्राप्त कर सकता है। मैं सोचता हूं कि उस समय पौराणिक धर्म विशेष कर श्री मद्भागवत जैसे वैष्णव ग्रन्थों के प्रभाव से वैष्णव धर्म का जो उत्थान देश में नाना रूपों से हो रहा था उसी के प्रभाव से बंगाल प्रान्त में चण्डीदास की, और बिहार भूमि में विद्यापति की रचनाएं प्रभावित हैं।

जो कुछ अब तक विद्यापति के विषय में लिखा गया उससे यह पाया जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उन्होंने अपनी अभूतपूर्व कविताओं की रचना कर के जहाँ पदावली-रचना की प्रणाली हिन्दी भाषा में चलायी वहाँ उसको राधा कृष्ण की प्रेममयी लीलाओं के सरस वर्णन से भी अलंकृत किया। हिन्दी में भावमय शृंगारिक रचनाओं का आरम्भ भी उन्हीं से होता है और उन्हीं से ऐसे सरस सुन्दर पद-विन्यास हिन्दी को प्राप्त हुये हैं जैसे उसको आज तक कतिपय हिन्दी आकाश के उज्ज्वल नक्षत्रों से ही प्राप्त हो सके हैं।

यह पन्द्रहवीं शताब्दी कबीर साहब की कविताओं का रचना-काल भी है। कबीर साहब की रचनाओं के विषय में अनेक तर्क-वितर्क हैं। उनकी जो रचनायें उपलब्ध हैं उनमें बड़ी विभिन्नता है। इस विभिन्नता का कारण यह है कि वे स्वयं लिखे-पढ़े न थे। इस लिये अपने हाथ से वे अपनी रचनाओं को न लिख सके। अन्य के हाथों में पड़ कर उनकी रचनाओं का अनेक रूपों में परिणत होना स्वाभाविक था। आज कल जितनी रच-नायें उनके नाम से उपलब्ध होती हैं उनमें भी मीन मेख है। कहा जाता है कि सत्य लोक पधार जाने के बाद उनकी रचनाओं में लोगों ने मनगढ़न्त बहुत सी रचनायें मिला दी हैं और इसी सूत्र से उनकी रचना की भाषा में भी विभिन्नता दृष्टिगत होती है। ऐसी अवस्था में उनकी रचनाओं को उप-स्थित कर इस बात की मीमांसा करना कि पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दी का क्या रूप था दुस्तर है। मैं पहले लिख आया हूं कि भ्रमण शील सन्तों की बानियों में भाषा की एक रूपता नहीं पाई जाती। कारण यह है कि नाना प्रदेशों में भ्रमण करने के कारण उनकी भाषामें अनेक प्रान्तिक शब्द मिले पाये जाते हैं। कबीर साहब की रचना में अधिकतर इस तरह की बातें मिलती हैं। इन सब उलझनों के होने पर भी कबीर साहब की रचनाओं की चर्चा इस लिये आवश्यक ज्ञात होती है कि वे इस काल के एक प्रसिद्ध सन्त हैं और उनकी बानियों का प्रभाव बहुत ही व्यापक बतलाया गया है कबीर साहब की रचनाओं में रहस्यवाद भी पाया जाता है, जिसको अधि-कांश लोग उनके चमत्कारों से सम्बन्धित करते हैं और यह कहते हैं कि ऐसी रचनायें उनका निजस्व हैं जो हिन्दी संसार की किसी कविकी कृति में नहीं पायी जाती। इस सूत्र से भी कबीर साहब की रचनाओं के विषय में कुछ लिखना उचित ज्ञात होता है, क्योंकि यह निश्चित करना है कि इस कथन में कितनी सत्यता है। विचारना यह है कि क्या वास्तव में रहस्यवाद कबीर साहब की उपज है या इसका भी कोई आधार है।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने 'कबीर-ग्रन्थावली' नामक एक ग्रन्थ कुछ वर्ष हुये, एक प्राचीन ग्रन्थ के आधार से प्रकाशित किया है। यह प्राचीन ग्रन्थ सम्बत् १५६१ का लिखा हुआ है और अब तक उक्त सभा के

पुस्तकालय में सुरक्षित है। जो ग्रन्थ सभा से प्रकाशित हुआ है, उससे इस लिये कुछ पद्य नीचे उद्‌धृत किये जाते हैं, जिसमें उनकी रचना की भाषा के विषय में कुछ विचार किया जा सके:—

१—घूणैं पराया न छूटियो, सुणिरे जीव अबूझ।
कविरा मरि मैदान में इन्द्रय्यांसूं जूझ।

२—गगनदमामा बाजिया पर्‌या निसाणै घाव।
खेत बुहार्‌यो सूरिवाँ मुझ मरने का चाव।

३—काम क्रोध सूं झूझणां चौड़े माड्या खेत।
सूरै सार सँवाहिया पहर्‌या सहज सँजोग।

४—अब तो झूझ्याँ ही बणै मुणि चाल्याँ घर दूरि।
सिर साहब कौं सौंपता सोच न कीजै सूरि।

५—जाइ पुछौ उस घाइलैं दिवसपीड़ निस जाग।
बाहण हारा जाणि है कै जाणै जिस लाग।

६—हरिया जाणै रूखणा उस पाणी का नेह।
सूका काठ न जाणई कबहूं बूठा मेंह।

७—पारब्रह्म बूठा मोतियाँ घड़ बाँधी सिष राँह।
सबुरा सबुरा चुणि लिया चूक परी निगुराँह।

८—अवधू कामधेनु गहि बाँधी रे।
भाँड़ा भंजन करै सबहिन का कछू न सूझै आँधा रे।
जो ब्यावै तो दूध न देई ग्याभण अमृत सरवै।
कौली घाल्यां बीदरि चालै ज्यूं घेरौं त्यूं दरवै।
तिहीं धेन थैं इच्छ्यां पूगी पाकड़ि खूंटै बाँधी रे।
ग्वाड़ा मां है आनँद उपनौ खूंटै दोऊ बाँधी रे।

साँई माइ सास पुनि साईँ साईँ याकी नारी।
कहै कबीर परमपद पाया संतो लेहु बिचारी।]

कबीर साहब ने स्वयं कहा है, 'बोली मेरी पुरुब की', जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनकी रचना पूर्वी हिन्दी में हुई है और इन कारणों से यह बात पुष्ट होती है कि वे पूर्व के रहने वाले थे और उनकी जन्म भूमि काशी थी। काशी और उसके आस पास के ज़िलों में भोज-पुरी और अवधी-भाषा ही अधिकतर बोली जाती है। इस लिये उनकी भाषा का पूर्वी भाषा होना निश्चित है और ऐसी अवस्था में उनकी रच-नाओं को पूर्वी भाषा में ही होना चाहिये। यह सत्य है कि उन्होंने बहुत अधिक देशाटन किया था और इससे उनकी भाषा पर दूसरे प्रान्तों की कुछ बोलियों का भी थोड़ा बहुत प्रभाव हो सकता है। किन्तु इससे उनकी मुख्य भाषा में इतना अन्तर नहीं पड़ सकता कि वह बिलकुल अन्य प्रान्त की भाषा बन जावे। सभाद्वारा जो पुस्तक प्रकाशित हुई है उसकी भाषा ऐसी ही है जो पूर्व की भाषा नहीं कही जा सकती, उसमें पंजाबी और राजस्थानी भाषा का पुट अधिकतर पाया जाता है। ऊपर के पद्य इसके प्रमाण हैं। कुछ लोगों का विचार है कि कबीर साहब के इस कथन का कि 'बोली मेरी पुरुब की' यह अर्थ है कि मेरी भाषा पूर्व काल की है, अर्थात् सृष्टि के आदि की। किन्तु यह कथन कहां तक संगत है, इसको बिद्वज्जन स्वयं समझ सकते हैं। सृष्टि के आदि की बोली से यदि यह प्रयोजन है कि उनकी शिक्षायें आदिम हैं तो भी वह स्वीकार-योग्य नहीं, क्योंकि उनकी जितनी शिक्षायें हैं उन सब में परम्परागत विचार की ही झलक है। यदि सृष्टि की आदि की बोली का यह भाव है कि उस काल की भाषा में कबीर साहब की रचनायें हैं तो यह भी युक्ति संगत नहीं, क्योंकि जिस भाषा में उनकी रचनायें हैं वह कोई सहस्र वर्षों के विकास और परिवर्तनों का परिणाम है। इस लिये यह कथन मान्य नहीं। वास्तव बात यह है कि कबीर साहब की रचनायें पूर्व की बोली में ही हैं और यही उनके उक्त कथन का भाव है। अधिकांश रचनायें उनकी ऐसी ही हैं भी। सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के पहले उनकी जितनी रचनायें प्रकाशित हुई हैं या हस्त-

लिखित मिलती हैं, या जन साधारण में प्रचलित हैं उन सब की भाषा अधिकांश पूर्वी ही है। हां, सभा द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ का कुछ अंश अवश्य इस विचार का बाधक है, परन्तु मैं यह सोचता हूं कि जिस प्राचीन-लिखित ग्रंथ के आधार से सभा की पुस्तक प्रकाशित हुई है उसके लेखक के प्रमाद ही से कबीर साहब की कुछ रचनाओं, की भाषा में विशेष कर बहुसंख्यक दोहों में उल्लेख-योग्य अंतर पड़ गया है। प्रायः लेखक जिस प्रान्त का होता है अपने सँस्कार के अनुसार वह लेख्यमान ग्रन्थ की भाषा में अवश्य कुछ न कुछ अन्तर डाल देता है। यही इस ग्रन्थ-लेखन के समय भी हुआ ज्ञात होता है अन्यथा कबीर साहब की भाषा का इतना रूपान्तर न होता।

मैं कबीर साहब की भाषा के विषय में विचार उन्हीं रचनाओं के आधार पर करूंगा जो सैकड़ों वर्ष से मुख्य रूप में उनके प्रसिद्ध धर्म स्थानों के ग्रन्थों में पाई जाती हैं। अथवा सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब में संगृहीत मिलती हैं। यह ग्रन्थ सत्रहवीं ईस्वी शताब्दी में श्री गुरु अर्जुन द्वारा संकलित किया गया है। इस लिये इसकी प्रमाणिकता विश्वसनीय है। कुछ ऐसी रचनायें देखिये :—

१—गंगा के सँग सरिता बिगरी,
सो सरिता गंगा होइ निबरी।
बिगरेउ कबीरा राम दोहाई,
साचु भयो अन कतहिं न जाई।
चन्दन के सँग तरवर बिगरेउ,
सो तरुवरु चंदन होइ निबरेउ।
पारस के सँग ताँबा बिगरेउ,
सो ताँबा कंचन होइ निबरेउ।
संतन संग कबिरा बिगरेउ,
सो कबीर रामै होइ निबरेउ।

२—माथे तिलकु हथि माला बाना,
लोगनु राम खिलौना जाना।
जउ हउँ बउरा तउ राम तोरा,
लोग मरम कह जानइँ मोरा।
तोरउँ न पाती पूजउँ न देवा,
राम भगति बिनु निहफल सेवा।
सति गुरु पूजउँ सदा मनावउँ,
ऐसी सेव दरगह सुख पावउँ।
लोग कहै कबीर बउराना
कबीर का मरम राम पहिचाना।

३—जब लग मेरी मेरी करै,
तब लग काजु एक नहिँ सरै।
जब मेरी मेरी मिटि जाइ,
तब प्रभु काजु सँवारहि आइ।
ऐसा गियानु बिचारु मना,
हरि किन सुमिरहु दुख भंजना।
जब लग सिंघु रहै बन माहिं,
तब लगु बनु फूलै ही नाहिँ।
जब ही सियारु सिंघ को खाइ,
फूलि रही सगली बनराइ।
जीतो बूड़ै हारो तिरै,
गुरु परसादी पारि उतरै।
दास कबीर कहइ समझाइ,
केवल राम रहहु जिउलाइ।

४—सभुकोइ चलन कहत हैं ऊहां,
ना जानौं बैकुण्ठ है कहाँ ।
आप आप का मरम न जाना,
बातनहीं बैकुण्ठ बखाना ।
जब लगु मन बैकुण्ठ की आस,
तब लग नाहीं चरन निवास ।
खाईं कोटु न परल पगारा,
ना जानउँ बैकुण्ठ दुवारा ।
कह कबीर अब कहिये काहि,
साधु संगति बैकुण्ठै आहि ।

सभा की प्रकाशित ग्रन्थावली में भी इस प्रकार की रचनायें मिलती हैं। मैं यहां यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब में कबीर साहब की जितनी रचनायें संगृहीत हैं वे सब उक्त ग्रन्थावली में ले ली गई हैं। उनमें वैसा परिवर्त्तन नहीं पाया जाता जैसा सभा के सुरक्षित ग्रन्थ की रचनाओं में मिलता है। मैं यह भी कहूंगा कि उक्त सुरक्षित ग्रन्थकी पदावली उतनी परिवर्त्तित नहीं है जितने दोहे। अधिकांश पदावली में कबीर साहब की रचना का वही रूप मिलता है जैसा कि सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब में पाया जाता है। मैं इसी पदावली में से तीन पद्य नीचे लिखता हूं :

१—हम न मरैं मरिहै संसारा,
हमकूं मिल्या जियावन हारा ।
अब न मरौं मरनै मन माना,
तेई मुए जिन राम न जाना ।
साकत मरै संत जन जीवै,
भरि भरि राम रसायन पीवै ।

हरि मरिहैं तो हमहूं मरिहैं,
हरि न मरै हम काहे कूं मरि हैं।
कहै कबीर मन मनहिं मिलावा,
अमर भये सुख सागर पावा।

२—काहे रे मन दह दिसि धावै,
विषया सँगि संतोष न पावै।
जहाँ जहाँ कलपै तहाँ तहाँ बंधना,
रतन को थाल कियो तैं रंधना।
जो पै सुख पइयत इन माहीं,
तौ राज छाड़ि कत बन को जाहीं।
आनन्द सहत तजौ विष नारी,
अब क्या झीषै पतित भिषारी।
कह कबीर यहु सुख दिन चारि,
तजि बिषया भजि चरन मुरारि।

३—बिनसि जाइ कागद की गुड़िया,
जब लग पवन तबै लगि उड़िया।
गुड़िया को सबद अनाहद बोलै,
खसम लिये कर डोरी डोलै।
पवन थक्यो गुड़िया ठहरानी,
सीस धुनै धुनि रोवै प्रानी।
कहै कबीर भजि सारँग पानी,
नहिं तर ह्वै है खैंचा तानी।

मेरा विचार है कि जो पद्य मैंने ग्रन्थ साहब से उद्धृत किये हैं और जो पद्य कबीर ग्रन्थावली से लिये हैं उनकी भाषा एक है, और मैं कबीर

साहब की वास्तविक भाषा में लिखा गया इन पद्यों को ही समझता हूं। वास्तव बात यह है कि कबीर ग्रन्थावली की अधिकांश रचनायें इसी भाषा की हैं। उसके अधिकतर पद ऐसी ही भाषा में लिखे पाये जाते हैं। बहुत से दोहों की भाषा का रूप भी यही है। इस लिये मुझे यह कहना पड़ता है कि कबीर साहब की रचनायें पन्द्रहवीं शताब्दी के अनुकूल हैं। आप देखते आये हैं कि क्रमशः हिन्दी भाषा परिमार्जित होती आई है। जैसा उसका परिमार्जित रूप पन्द्रहवीं शताब्दी की अन्य रचनाओं में मिलता है वैसा ही कबीर साहब की रचनाओं में भी पाया जाता है। इस लिये मुझे यह कहना पड़ता है कि उनकी रचनाएं पन्द्रहवीं शताब्दी के भाषाजनित परिवर्त्तन-सम्बन्धी नियमों से मुक्त नहीं हैं, वरन् क्रमिक परिवर्त्तन की प्रमाण भूत हैं। हां, उनमें कहीं कहीं प्रान्तिकता अवश्य पाई जाती है और पश्चिमी हिन्दी से पूर्वी हिन्दी का प्रभाव उनकी रचना पर अधिक देखा जाता है। किन्तु यह आश्चर्य जनक नहीं। क्योंकि प्रान्तिक भाषा में कविता करने का सूत्रपात विद्यापति के समय में ही हुआ था, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है।

मैं यह स्वीकार करूंगा कि कबीर साहब की रचनाओं में पंजाबी और राजस्थानी भाषाके कुछ शब्दों क्रियाओं और कारकोंका प्रयोग मिल जाता है। किन्तु, उसका कारण उनका विस्तृत देशाटन है, जैसा मैं पहले कह भी चुका हूं। अपनी मुख्य भाषा में इस प्रकार के कुछ शब्दों का प्रयोग करते सभी संत कवियों को देखा जाता है और यह इतना असंगत नहीं जितना अन्य भाषा के शब्दों का उतना प्रयोग जो कवि की मुख्य भाषा के वास्तविक रूप को संदिग्ध बना देता है। मैंने कबीर ग्रन्थावली से जो एक पद और सात दोहे पहले उठाये हैं उनकी भाषा ऐसी है जो कबीर साहब की मुख्य भाषा की मुख्यता का लोप कर देती है। इसी लिये मैं उनको शुद्ध रूप में लिखा गया नहीं समझता। परन्तु उनकी जो ऐसी रचनायें हैं जिनमें उनका मुख्य रूप सुरक्षित है और कतिपय शब्द मात्र अन्य भाषा के आगये हैं उन्हें मैं उन्हीं की रचना मानता हूं और समझता हूं

कि वे किसी अल्पज्ञ लेखक की अनधिकार-चेष्टा से सुरक्षित हैं। उनके इस प्रकार के कुछ पद्य भी देखिये:—

१—दाता तरवर दया फल उपकारी जीवन्त।
पंछी चले दिसावरां बिरखा सुफल फलन्त।
२—कबीर संगत साधु की कदे न निरफल होय।
चंदन होसी बावना नीम न कहसी कोय।
३—कायथ कागद काढ़िया लेखै वार न पार।
जब लग साँस सरीर में तब लग राम सँभार।
४—हरजी यहै बिचारिया, साखी कहै कबीर।
भवसागर मैं जीव हैं, जे कोइ पकड़ै तीर।
५—ऐसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ।

इन पद्यों के जिन शब्दों पर चिन्ह बना दिये गये हैं वे पंजाबी या राजस्थानी हैं। इस प्रकार का प्रयोग कबीर साहब की रचनाओं में प्रायः मिलता है। ऐसे आकस्मिक प्रयोग उनकी मुख्य भाषा को संदिग्ध नहीं बनाते क्योंकि जिस पद्य में किसी भाषा का मुख्य रूप सुरक्षित रहता है उस पद्य में आये हुए अन्य भाषा के दो एक शब्द एक प्रकार से उसी भाषा के अंग बन जाते हैं। अवधी अथवा व्रजभाषा में बाणी को 'बानी' ही लिखा जाता है, क्योंकि इन दोनों भाषाओं में 'ण' का अभाव है। पंजाब प्रान्त के लेखक प्रायः 'न' के स्थान पर 'ण' प्रयोग कर देते, हैं, क्योंकि उस प्रान्त में प्रायः नकार णकार हो जाता है। वे 'बानी' को 'बाणी' 'आसन' को 'आसण' 'पवन' को 'पवण' इत्यादि ही बोलते और लिखते हैं। ऐसी अवस्था में यदि कबीर साहब के पद्यों में आये हुए नकार पंजाब के लेखकों की लेखनी द्वारा णकार बन जावें तो कोई आश्चर्य नहीं। आदि ग्रन्थ साहब में भी देखा जाता है कि प्रायः कबीर साहब की

रचनाओं के नकार ने णकार का स्वरूप ग्रहण कर लिया है, यद्यपि इस विशाल ग्रन्थ में उनकी भाषा अधिकतर सुरक्षित है। इस प्रकार के साधारण परिवर्तन का भी मुख्य भाषा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये कबीर साहब की रचनाओं में जहाँ ऐसा परिवर्तन दृष्टिगत हो उसके विषय में यह न मानलेना चाहिये कि जो शब्द हिन्दी रूप में लिखा जा सकता था उसको उन्हों ने ही पंजाबी रूप दे दिया है, वरन सच तो यह है कि उस परिवर्तन में पंजाबी लेखक की लेखनी की लीला ही दृष्टिगत होती है।

कबीर साहब कवि नहीं थे, वे भारत की जनता के सामने एक पीर के रूप में आये। उनके प्रधान शिष्य धर्मदास कहते हैं :—

आठवीं आरती पीर कहाये। मगहर अमी नदी बहाये।

मलूक दास कहते हैं:—

तजि कासी मगहर गये दोऊ दीन के पीर [१]

झांसी के शेख तक़ी ऊँजी और जौनपुर के पीर लोग जो काम उस समय मुसलमान धर्म के प्रचार के लिये कर रहे थे काशी में कबीर साहब लगभग वैसे ही कार्य में निरत थे। अन्तर केवल इतना ही था कि वे लोग हिन्दुओं को नाना रूप से मुसलमान धर्म में दीक्षित कर रहे थे और कबीर साहब एक नवीन धर्म की रचना करके हिन्दू मुसलमान को एक करने के लिये उद्योगशील थे। ठीक इसी समय यही कार्य बंगाल में हुसेन शाह कर रहे थे जो एक मुसलमान पीर थे और जिसने अपने नवीन धर्म का नाम सत्य पीर रख लिया था। कबीर साहेब के समान वह भी हिन्दू मुसलमानों के एकीकरण में लग्न थे। उस समय में भारतवर्ष में इन पीरों की बड़ी प्रतिष्ठा थी और वे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। गुरु नानकदेव ने भी इन पीरों का नाम अपने इस वाक्य में 'सुणिये सिद्ध-पीर सुरिनाथ' आदर से लिया है। जो पद उन्होंने सिद्ध, नाथ और सूरि को दिया है वही पीर को भी। पहले आप पढ़ आये हैं कि उस समय सिद्धों का कितना महत्व और प्रभाव था। नाथों का महत्व भी गुरु गोरखनाथजी की

१, हिन्दुस्तानी, अक्टूबर सन् १९३२, पृ० ४९१ ।

चर्चा में प्रकट हो चुका है। सूरि जैनियों के आचार्य कहलाते थे और उस समय दक्षिण में उनकी महत्ता भी कम नहीं थी। इनलोगों के साथ गुरु नानक देव ने जो पीर का नाम लिया है, इसके द्वारा उस समय इनकी कितनी महत्ता थी यह बात भली भांति प्रगट होती है। इस पीर नाम का सामना करने ही के लिये हिन्दू आचार्य उस समय गुरु नाम धारण करने लग गये थे। इसका सूत्रपात गुरु गोरखनाथ जी ने किया था। गुरु नानक-देव के इस वाक्य में 'गुरु ईसर गुरु गोरख बरम्हा गुरु पारबती माई' इस का संकेत है। गुरु नानक के सम्प्रदाय के आचार्यों के नाम के साथ जो गुरु शब्द का प्रयोग होता है उसका उद्देश्य भी यही है। वास्तव में उस समय के हिन्दू आचार्यों को हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये अनेक मार्ग ग्रहण करने पड़े थे। क्योंकि बिना इसके न तो हिन्दू धर्म सुरक्षित रह सकता था, न पीरों के सम्मुख उनको सफलता प्राप्त हो सकती थी क्योंकि वे राजधर्म के प्रचारक थे। कबीर साहब की प्रतिभा विलक्षण थी और बुद्धि बड़ी ही प्रखर। उन्होंने इस बात को समझ लिया था। अतएव उन दोनों से भिन्न तीसरा मार्ग ग्रहण किया था। परन्तु कार्य उन्हों ने वही किया जो उस समय मुसल्मान पीर कर रहे थे अर्थात् हिन्दुओं को किसी प्रकार हिन्दू धर्म से अलग करके अपने नव प्रवर्तित धर्म में आकर्षित कर लेना उनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य-सिद्धि के लिये उन्होंने अपने को ईश्वर का दूत बतलाया और अपने ही मुख से अपने महत्व की घोषणा बड़ी ही सबल भाषा में की। निम्नलिखित पद्य इसके प्रमाण हैं:—

काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये।

समरथ का परवाना लाये हंस उबारन आये।

कबीर शब्दावली, प्रथम भाग पृ० ७१

सोरह संख्य के आगे समरथ जिन जग मोहि पठाया

कबीर बीजक पृ० २०

तेहि पीछे हम आइया सत्य शब्द के हेत।

कहते मोहिं भयल युग चारी

समझत नाहिं मोहि सुत नारी ।
कह कबीर हम युग युग कही ।
जबहीं चेतो तबहीं सही ।

कबीर बीजक पृ० १२५, ५६२

जो कोई होय सत्य का किनका सो हमको पतिआई ।
और न मिलै कोटि करि थाकै बहुरि काल घर आई ।

कबीर बीजक पृ० २०

जम्बू द्वीप के तुम सब हंसा गहिलो शब्द हमार ।
दास कबीरा अबकी दीहल निरगुन कै टकसार ।
जहिया किरतिम ना हता धरती हता न नीर ।
उतपति परलै ना हती तबकी कही कबीर ।
ई जग तो जँहड़े गया भया योग ना भोग ।
तिल तिल झारि कबीर लिय तिलठी झारै लोग ।

कबीर बीजक पृ० ८०, ५९८, ६३२

सुर नर मुनि जन औलिया, यह सब उरली तीर ।
अलह राम को गम नहीं, तहँ घर किया कबीर ।

साखी संग्रह पृ० १२५

वे अपनी महत्ता बतला कर ही मौन नहीं हुये बरन हिन्दुओं के समस्त धार्मिक ग्रन्थों और देवताओं की बहुत बड़ी कुत्सा भी की । इस प्रकार के उनके कुछ पद्य प्रमाण-स्वरूप नीचे लिखे जाते हैं:—

योग यज्ञ जप संयमा तीरथ ब्रतदाना नवधा वेद किताब
है झूठे का बाना ।

कबीर बीजक पृ० ४११

चार वेद षट् शास्त्रऊ औ दश अष्ट पुरान ।
आसा दै जग बाँधिया तीनों लोक भुलान ।

कबीर बीजक पृ० १४

औ भूले षट दर्शन भाई। पाखँड भेष रहा लपटाई।
ताकर हाल होयअधकूचा। छदर्शन में जौन विगूचा।
कबीर बीजक पृ० ९७

ब्रह्मा बिस्नु महेसर कहिये इनसिर लागी काई।
इनहिं भरोसे मन कोइ रहियो इनहूं मुक्ति नपाई।
कबीर शब्दावली द्वितीय भाग पृ० १९

माया ते मन ऊपजै मन ते दश अवतार।
ब्रह्म बिस्नु धोखे गये भरम परा संसार।
कबीर बीजक पृ० ६५०

चार वेद ब्रह्मा निज ठाना।
मुक्ति का मर्म उनहूं नहिं जाना।
कबीर बीजक पृ० १०४

भगवान कृष्णचन्द्र और हिन्दू देवताओं के विषय में जैसे घृणित भाव उन्होंने फैलाये, उनके अनेक पद इसके प्रमाण हैं। परन्तु मैं उनको यहां उठाना नहीं चाहता. क्यों कि उन पदों में अश्लीलता की पराकाष्ठा है॥ उनकी रचनाओं में योग, निर्गुण ब्रह्म और उपदेश एवं शिक्षा सम्बन्धी बड़े हृदय ग्राही वर्णन हैं। मेरा विचार है कि उन्होंने इस विषय में गुरु गोरखनाथ और उनके उत्तराधिकारी महात्माओं का बहुत कुछ अनुकरण किया है। गुरु गोरखनाथ का ज्ञानवाद और योगवाद ही कबीर साहब के निर्गुणवाद का स्वरूप ग्रहण करता है। मैं अपने इस कथन की पुष्टि के लिये गुरु गोरखनाथ की पूर्वोद्धृत रचनाओं की ओर आप लोगों की दृष्टि फेरता हूं और उनके समकालीन एवं उत्तराधिकारी नाथ सम्प्रदाय के आचार्यों की कुछ रचनायें भी नीचे लिखता हूं—

१—थोड़ो खाय तो कलपै झलपै, घड़ों खाय तो रोगी।
दुहूँ पर वाकी संधि विचारै, ते को विरला जोगी॥

यहु संसार कुवधि का खेत, जब लगि जीवै तब लगि चेत।
आख्याँ देखै काण सुणै, जैसा बाहै तैसा लुणै ॥

जलंधर नाथ।

२—मारिबा तौ मनमीर मारिबा, लूटिबा पवन भँडार।
साधिबा तौ पंचतत्त साधिबा, सेइबा तौ निरंजन निरंकार
माली लौं भल माली लौं, सींचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहूपनि, पाइले आवा गवन निवारी ॥

चौरंगी नाथ।

३—आछै आछै महिरे मंडल कोई सूरा।
मार्‌या मनुवाँ नएँ समझावै रे लो ॥
देवता ने दाणवां एणे मनवैं ब्याहूया।
मनवा ने कोई ल्यावै रे लो ॥
जोति देखि देखी पड़ेरे पतंगा।
नादै लीन कुरंगा रे लो ॥
एहि रस लुब्धी मैगल मातो।
स्वादि पुरुष तैं भौंरा रे लो ॥

कणेरी पाव।

४—किसका बेटा किसकी बहू, आपसवारथ मिलिया सहू।
जेता पूला तेती आल, चरपट कहै सब आल जंजाल ॥
चरपट चीर चक्रमन कंथा, चित्त चमाऊँ करना।
ऐसी करनी करो रे अवधू, ज्यो बहुरि न होई मरना ॥

चरपट नाथ।

५—साधी सूधी के गुरु मेरे, बाई सूंव्यंद गगन मैं फेरै।
मनका बाकुल चिड़ियां बोलै, साधी ऊपर क्यों मन डोलै ॥

बाई बंध्या सयल जग, बाई किनहुं न बंध।
बाइबिहूणा ढहिपरै, जोरै कोई न संधि॥

चुणकर नाथ।

कहा जा सकता है कि ये नाथ संम्प्रदाय वाले कबीर साहब के बाद के हैं। इस लिये कबीर साहब की रचनाओं से स्वयं उनकी रचनायें प्रभावित हैं, न कि इनकी रचनाओं का प्रभाव कबीर साहब की रचनाओं पर पड़ा है। इस तर्क के निराकरण के लिये मैं प्रगट कर देना चाहता हूं कि जलंधर नाथ मछंदर नाथ के गुरुभाई थे जो गोरखनाथ जी के गुरु थे। चौरंगीनाथ गोरखनाथ के गुरु-भाई, कणेरीपाव जलंधरनाथ के और चरपटनाथ मछन्दरनाथ के शिष्य थे। चुणकरनाथ भी इन्हीं के समकालीन थे १। इस लिये इन लोगोंका कबीर साहब से पहले होना स्पष्ट है। कबीर साहब की रचनाओं पर, विशेष कर उन रचनाओं पर जो रहस्यवाद से सम्बन्ध रखती हैं, बौद्धधर्म के उन सिद्धों की रचनाओं का बहुत बड़ा प्रभाव देखा जाता है जिनका आविर्भाव उनसे सैकड़ों वर्ष पहले हुआ। कबीर साहब की बहुत सी रचनायें ऐसी हैं जिनका दो अर्थ होता है। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि ऐसी कविताओं के वाच्यार्थ से भिन्न दूसरे अर्थ प्रायः किये जाते हैं। जैसे.

घर घर मुसरी मंगल गावै, कछुवा संख बजावै।
पहिरि चोलना गदहा नाचै, भैंसा भगत करावै॥

इत्यादि। इन शब्दों का वाच्यार्थ बहुत स्पष्ट है. किन्तु यदि वाच्यार्थ ही उसका वास्तविक अर्थ मान लिया जाय तो वह बिलकुल निरर्थक हो जाता है। ऐसी अवस्था में दूसरा अर्थ करके उसकी निरर्थकता दूर की जाती है। बौद्धसिद्धों की भी ऐसी द्व्यर्थक अनेक रचनायें है। मेरा विचार है कि कबीर साहब की इस प्रकार की जितनी रचनायें हैं वे सिद्धों

१—देखिये नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ११, अंक ४ में प्रकाशित 'योगप्रवाह' नामक लेख।

की रचनाओं के अनुकरण से लिखी गई हैं। सिद्धोंने योग और ज्ञान सम्बन्धी बातें भी अपने ढंग से कही हैं। उनकी अनेक रचनाओं पर उनका प्रभाव भी देखा जाता है। जून सन् १९३१ की सरस्वती के अंक में प्रकाशित चौरासी सिद्ध नामक लेख में बहुत कुछ प्रकाश इस विषय पर डाला गया है। विषय-बोध के लिये उसका कुछ अंश मैं आप लोगों के सामने उपस्थित करता हूं:—

"इन सिद्धों की कवितायें एक विचित्र आशय की भाषा को लेकर होती हैं। इस भाषा को संध्या भाषा कहते हैं, जिसका अर्थ अंधेरे (वाम मार्ग) में तथा उँजाले (ज्ञान मार्ग, निर्गुण) दोनों में लग सके। संध्या भाषा को आज कल के छायावाद या रहस्यवाद की भाषा समझ सकते हैं।"

'भावना और शब्द-साखी में कबीर से लेकर राधा स्वामी तक के सभी संत चौरासी सिद्धों के ही वंशज कहे जा सकते हैं। कबीर का प्रभाव जैसे दूसरे संतों पर पड़ा और फिर उन्होंने अपनी अगली पीढ़ी पर जैसे प्रभाव डाला, इसको शृंखलाबद्ध करना कठिन नहीं है। परन्तु कबीर का सम्बन्ध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है, यद्यपि भावनाएं, रहस्योक्तियां, उल्टी बोलियों की समानतायें बहुत स्पष्ट हैं।"
इसी सिलसिले में सिद्धों की रचनायें भी देख लीजिये—

१—(मूल) निसि अंधारी सुसार चारा।
अमिय भखअ मूषा करअ अहारा।
मार रे जोइया मूषा पवना।
जेण तूटअ अवणा गवणा।
भव विदारअ मूसा रवण अगति।
चंचल मूसा कलियाँ नाश करवाती।
काला मूसा ऊहण बाण।
गअणे उठि चरअ अमण धाण।

तब से मूषा उंचल पांचल।
सद्गुरु बोहे करिह सुनिचल ।
जबै मूषा एरचा तूटअ।
भुसुक भणअ तबै बांधन फिटअ।

भुसुक

छाया—

निसि अँधियारी सँसार सँचारा।
अमिय भक्ख मूसा करत अहारा।
मार रे जोगिया मूसा पवना ।
जेहिते टूटै अवना गवना ।
भव विदार मूसा खनै खाता।
चंचल मूसा करि नाश जाता।
काला मूसा उरध न वन।
गगने दीठि करै मन बिनु ध्यान।
तबसो मूसा चञ्चल चंचल ।
सतगुरु बोधे करु सो निहचल ।
जबहिं मूसा आचार टूटइ
भुसुक भनत तब बन्धन पू फाटइ।

२—मूल—

जयि तुज्झे भुसुक अहेइ जाइबें मारि हसि पंच जना।
नलिनी बन पइसन्ते होहिसि एकुमणा।
जीवन्ते भेला बिहणि मयेलण अणि।
हण बिनु मासे भुसुक पद्म बन पइ सहिणि।

माआ जाल पसऱ्यो ऊरे बाधेलि माया हरिणी ।
सद गुरु बोहें बूझिरे कासूं कहिनि ।
भुसुक

छाया—

जो तोहिं भुसुक जाना मारहु पंच जना ।
नलिनी बन पइसंते होहिसि एक मना ।
जीवत भइल बिहान मरि गइल रजनी ।
हाड़ बिनु मासे भुसुक पदम बन पइसयि ।
माया जाल पसारे ऊरे बाँधेलि माया हरिणी ।
सदगुरु बोधे बूझी कासों कथनी ।
भुसुक

अणिमिषि लोअण चित्त निरोधे पवन णिरुहइ सिरिगुरु बोहे
पवन बहइ सो निचल जव्वें जोइ कालु करइ किरेतव्वें ।

छाया—

अनिमिष लोचन चित्त निरोधइ श्री गुरु बोधे ।
पवन बहै सो निश्चल जवै जोगी काल करै का तवै ।
सरहपा

४—मूल—

आगम बेअ पुराणे पंडिउ मान वहन्ति ।
पक्क सिरी फल अलिअ जिमि बाहेरित भ्रमयंति ।

अर्थ— आगम वेद पुराण में पंडित अभिमान करते हैं । पके श्री फल के बाहर जैसे भ्रमर भ्रमण करते हैं । करहपा*

कबीर साहब स्वामी रामानन्द के चेले और वैष्णव धर्मावलम्बी बतलाये जाते हैं । उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है वे कहते हैं—'कबीर गुरु बनारसी सिक्ख समुन्दर तीर' । उन्होंने वैष्णवत्व का पक्ष लेकर शाक्तों को खरी खोटी भी सुनाई है । यथा-

*देखिये सरस्वती जून सन् १९३१ का पृष्ट ७१६ ७१७ ७१८ ७१९

मेरे संगी द्वै जणा एक वैष्णव एक राम ।
वो है दाता मुक्ति का वो सुमिरावै नाम ।
कबीर धनि ते सुन्दरी जिन जाया वैस्नव पूत ।
राम सुमिरि निरभय हुआ सब जग गया अऊत ।
साकत सुनहा दोनों भाई । एक निंदै एक भौंकत जाई ।

किन्तु क्या उनका यह भाव स्थिर रहा ? मेरा विचार है, नहीं, वह बराबर बदलता रहा। इसका प्रमाण स्वयं उनकी रचनायें हैं। उन्होंने गोरखनाथ की गोष्ठी नामक एक ग्रंथ की रचना भी की है। वे शेख तक़ी के पास भी जिज्ञासु बन कर जाते थे और ऊंजी के पीर से भी शिक्षा लेते थे। ऐसा करना अनुचित नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक महात्माओं का सत्संग करना निन्दनीय नहीं—किन्तु यह देखा जाता है कि कबीर साहब कभी वैष्णव हैं, कभी पीर, कभी योगी और कभी सूफ़ी और कभी वेदान्त के अनुरागी। उनका यह बहुरूप श्रद्धालु के लिये भले ही उनकी महत्ता का परिचायक हो, परन्तु एक समीक्षक की दृष्टि इस प्रणाली को संदिग्ध हो कर अवश्य देखेगी। मेरा विचार है कि अपने सिद्धान्त के प्रचार के लिये उन्होंने समय समय पर उपयुक्त पद्धति ग्रहण की है और जनता के मानस पर अपनी सर्वज्ञता की धाक जमा कर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का विशेष ध्यान रखा है। इसी लिये वे अनेक रूप रूपाय हैं। मैंने उनकी रचनाओं का आधार ढूंढ़ने की जो चेष्टा की है उसका केवल इतना ही उद्देश्य है कि यह निश्चित हो सके कि वास्तव में उनकी रचनायें उनके कथनानुसार अभूतपूर्व और अलौकिक हैं या उनका स्रोत किसी पूर्ववर्त्ती ज्ञान-सरोवर से ही प्रसूत है । 'सरस्वती' में 'चौरासी सिद्ध' नामक लेख के लेखक बौद्ध विद्वान राहुल सांस्कृतायन ने कबीर साहब की रचनाओं पर सिद्धों की छाप बतलाते हुये यह लिखा है कि "कबीर का सम्बन्ध सिद्धों से मिलाना उतना आसान नहीं है।" किन्तु मैं समझता हूं कि यह आसान है. यदि सिद्धों के साथ नाथ-सम्प्रदाय वालों

को भी सम्मिलित कर लिया जाय। मैं नहीं कह सकता कि इस बहुत ही स्पष्ट विकास की ओर उनकी दृष्टि क्यों नहीं गई।

महात्मा ज्ञानेश्वर ने अपने ज्ञानेश्वरी नामक ग्रंथ में अपनी गुरु-परम्परा यह दी है— (१) आदिनाथ (२) मत्स्येन्द्रनाथ (३) गोरखनाथ, (४) गहनी नाथ, (५) निवृत्तिनाथ, (६) ज्ञानेश्वर १ ज्ञानेश्वर के शिष्य थे नामदेव २। उनका समय है १३७० ई० से १४४० ई० तक। इस लिये उनका कबीर साहब से पहले होना निश्चित है। उन्होंने स्वयं अपने मुख से उनको महात्मा माना है। वे लिखते हैं—

"जागे सुक ऊधव औ अक्रूर।
हनुमत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव।
कलि जागे नामा जयदेव।

सिक्खों के ग्रन्थ साहब में भी उनके कुछ पद्य संग्रहीत हैं। ज्ञानेश्वर जैसे महात्मा से दीक्षित हो कर उनकी वैष्णवता कैसी उच्च कोटि की थी और वे कैसे महापुरुष थे उसे निम्न लिखित शब्द बतलाते हैं—

बदो क्यों न होइ माधो मोसों।
ठाकुर ते जन जनते ठाकुर खेल पर्यो है तोसों।
आपन देव देहरा आपन आप लगावैं पूजा।
जल ते तरँग तरँग ते है जल कहन सुनन को दूजा।
आपहि गावै आपहि नाचै आप बजावैं तूरा।
कहत नामदेव तू मेरे ठाकुर जन ऊरा तू पूरा॥

१—देखिये, हिन्दुस्तानी, जनवरी, सन् १९३२ के पृ० ३२ में डाक्टर हरि रामचन्द्र दिवेकर एम० ए० डी लिट० का लेख।

२—देखये मिश्रबन्धु बिनोद प्रथम भाग का पृ० २२३।

२—दामिनि दमकि घटा घहरानी बिरह उठे घनघोर।
चित चातक ह्वै दादुर बोलै ओहि बन बोलत मोर।
प्रीतम को पतिया लिख भेजों प्रेम प्रीति मसि लाय।
वेगि मिलो जन नामदेव को जनम अकारथ जाय।
हिन्दू पूजै देहरा, मुस्सलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, ना देहरा न मसीत।

मेरा विचार है कि कबीर साहब की रचनायें नामदेव के प्रभाव से अधिक प्रभावित हैं। फिर यह कहना कि सिद्धों के साथ कबीर की शृंखला मिलाना आसान नहीं, कहाँ तक संगत है। गुरु गोरख नाथ के मानस के साथ अपने मानस को सम्बन्धित कर कबीर साहब उनकी महत्ता किस प्रकार स्वीकार करते हैं, उसको उनका यह कथन प्रकट करता है—

गोरख भरथरि गोपीचंदा। तामनसों मिलि-करैं अनंदा।
अकल निरंजन सकल सरीरा। तामन सों मिलि रहा कबीरा

वास्तव बात यह है कि कबीर साहब के लगभग समस्त सिद्धांत और विचार वैष्णवधर्म और महात्मा गोरखनाथ के ज्ञानमार्ग और योग मार्ग अथच उनकी परम्परा के महात्माओं की अनुभूतियों पर ही अधिकतर अवलम्बित हैं। और उन सिद्धों के विचारों से भी सम्बन्ध रखते हैं। जिनकी चर्चा ऊपर की गई है।

सारांश यह कि जैसे स्वयं कबीर साहब सामयिकता के अवतार और नवीन धर्म-प्रवर्त्तन के इच्छुक हैं वैसे ही उनकी रचनायें भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध और महात्माओं के भावों और विचारों से ओत प्रोत हैं। किन्तु उनमें कुछ व्यक्तिगत विलक्षणतायें अवश्य थीं, जिनका विकास उनकी रचनाओं में भी दृष्टिगत होता है। उनकी इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें कुछ लोगों की दृष्टि में निर्गुण धारा का प्रवर्त्तक बना रक्खा है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि और विवेचनात्मक बुद्धि से निरीक्षण किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है

कि जिन सिद्धान्तों के कारण उनके सिरपर सन्तमत के प्रवर्त्तक होने का सेहरा बांधा जाता है वे सिद्धान्त परम्परागत और प्राचीनतम ही हैं। हाँ, उनको जनता के सामने उपस्थित करने में उन्हों ने कुछ चमत्कार अवश्य दिखलाया। कबीर साहब के रहस्यवाद को पढ़कर कुछ श्रद्धालु यह कहते हैं कि वे ईश्वर-विद्या के अद्वितीय मर्मज्ञ थे। वे भी अपने को ऐसा ही समझते हैं। लिखते हैं—

सुर नर मुनि जन औलिया ए सब उरली तीर।
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर।

किसी के श्रद्धा विश्वास के विषय में मुझको कुछ वक्तव्य नहीं। कबीर साहब स्वयं अपने विषय में जो कहते हैं, उसका उद्देश्य क्या था. इस पर मैं बहुत कुछ प्रकाश डाल चुका हूं। इष्ट-सिद्धि के लिये वे जो पथ ग्रहण करना उचित समझते थे. ग्रहण कर लेते थे। प्रत्येक धर्म प्रवर्त्तक में यह बात देखी जाती है। इसलिये इस विषय में अधिक लिखना पिष्टपेषण है, किन्तु यह मैं स्वीकार करूंगा कि कबीर साहब हिन्दी संसार में रहस्यवाद के प्रधान स्तम्भ हैं। उनका रहस्यवाद कुछ पूर्व महज्जनों की रचनाओं पर आधारित हो, परन्तु उनके द्वारा वह बहुत कुछ पूर्णता को प्राप्त हो गया। उनकी ऐसी रचनाओं में बड़ी ही विलक्षणता और गम्भीरता दृष्टिगत होती है। कुछ पद्य देखिये:—

१--ऐसा लो तत ऐसा लो मैं केहि विधि कथौं गँभीरा लो।
बाहर कहूँ तो सत गुरु लाजै भीतर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर भीतर सकल निरन्तर गुरु परतापै दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लखा न जाईलो।
जिन पहचाना तिन भल जाना कहे न कोउ पतिआईलो।
मीन चले जल मारग जोवै परम तत्व धौं कैसा लो।
पुहुपबास हूं ते अति झीना परम तत्व धौं ऐसा लो।

आकासे उड़ि गयो विहंगम पाछे खोज न दरसी लो।
कहै कबीर सतगुरु दाया तें विरला सतपद परसी लो।

२--साधो सतगुरु अलख लखाया जब आप आप दरसाया।
बीज मध्य ज्यों बृच्छा दरसै बृच्छा मद्धे छाया।
परमातम में आतम तैसे आतम मद्धे माया।
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिये सुन्न अंड आकारा।
निह अच्छर ते अच्छर तैसे अच्छर छर बिस्तारा।
ज्यों रवि मद्धे किरन देखिये किरन मध्य परकासा।
परमातम में जीव ब्रह्म इमि जीव मध्य तिमि साँसा
स्वाँसा मध्ये सब्द देखिये अर्थ सब्द के माहीं।
ब्रह्म ते जीव जीव ते मन यों न्यारा मिला सदाहीं।
आपहि बीज बृच्छ अंकूरा आप फूल फल छाया।
आपहि सूर किरन परकासा आप ब्रह्म जिव माया।
अंडाकार सुन्न नभ आपै स्वाँस सब्द अरु छाया।
निह अच्छर अच्छर छर आपै मन जिउ ब्रह्म समाया।
आतम में परमातम दरसै परमातम में झाँई।
झाँई में परछाँई दरसै, लखै कबीरा साँई।

३--जीवन को मरिबो भलो, जे मरि जानै कोय।
मरने पहिले जे मरैं, तो अजरावर होय।
मन मारा ममता मुई, अहं गई सब छूट।
जोगी था सो रम रहा, आसणि रही बिभूति।
मरता मरता जगमुआ, औसर मुआ न कोय।
कबिरा ऐसे मर मुआ, बहुरि न मरना होय।

रहस्यवाद की ऐसी सुन्दर रचनाओं के रचयिता हो कर भी कहीं कहीं कबीर साहब ने ऐसी बातें कही हैं जो बिल्कुल ऊटपटांग और निरर्थक मालूम होती हैं। इस पद को देखिये:—

ठगिनी क्या नैना झमकावै।
कबिरा तेरे हाथ न आवै।
कद्दू काटि मृदंग बनाया नीबू काटि मँजीरा।
सात तरोई मंगल गावै नाचै बालम खीरा।
भैंस पदमिनी आसिक चूहा मेड़क ताल लगावै।
चोला पहिरि गदहिया नाचै ऊंट बिसुनपद गावै।
आम डार चढ़ि कछुआ तोड़ै गिलहरि चुनिचुनि लावै
कहै कबीर सुनो भाई साधो बगुला भोग लगावै।

ऐसे पदों के अनर्गल अर्थ करने वाले मिल जाते हैं। परन्तु उनमें वास्तवता नहीं, धींगा धींगी होती है। मेरा विचार है उन्होंने ऐसी रचनायें जनता को विचित्रता-समुद्र में निमग्न कर अपनी ओर आकर्षित करने ही के लिये की हैं। उनकी उल्टवासियाँ भी विचित्रताओं से भरी हैं। दो पद्य उनके भी देखिये—

देखौ लोगो घर की सगाई।
माय धरै पितु धिय सँग जाई।
सासु ननद मिलि अदल चलाई।
मादरिया गृह बेटी जाई।
हम बहनोई राम मोर सारा।
हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा।
कहै कबीर हरी के बूता।
राम रमैं ते कुकुरी के पूता।

कबीर बीजक पृ० ३९३

देखि देखि जिय अचरज होई।
यह पद बूझै बिरला कोई।
धरती उलटि अकासहिं जाई।
चिँउटी के मुख हस्ति समाई।
बिन पौनै जहँ परबत उड़ै।
जीव जन्तु सब बिरछा बुड़ै।
सूखे सरवर उठै हिलोर।
बिन जल चकवा करै कलोल।
बैठा पंडित पढ़ै पुरान।
बिन देखे का करै बखान।
कह कबीर जो पद को जान।
सोई सन्त सदा परमान।

—कबीर बीजक पृ० ३६४

कबीर साहब ने निर्गुण का राग अलापते हुए भी अपनी रचनाओं में सगुणता की धारा बहाई है। कभी वे परमात्मा के सामने स्वामी सेवक के भाव में आते हैं, कभी स्त्री पुरुष अथवा प्रेमी और प्रेमिका के रूप में, कभी ईश्वर को माता-पिता मान कर आप बालक बनते हैं और कभी उसको जगन्नियंता मान कर अपने को एक क्षुद्र जीव स्वीकार करते हैं। इन भावों की उनकी जितनी रचनायें हैं सरस और सुन्दर हैं और उनमें यथेष्ट हृदय ग्राहिता है। जनता के सामने कभी वे उपदेशक और शिक्षक के रूप में दिखलाई देते हैं कभी सुधारक बन कर। मिथ्याचारों का खंडन वे बड़े कटु शब्दों में करते हैं और जिस पर टूट पड़ते हैं उसकी गत बना देते हैं। उनकी यह नानारूपता इष्ट-साधन की ही सहचरी हैं। उनकी रचनाओं में जहां सत्यता की ज्योति मिलती है. वहीं कटुता की पराकाष्ठा भी दृष्टिगत होती है। वास्तव बात यह है कि हिन्दी संसार में उनकी रचनायें विचित्रतामयी हैं। उनका शब्द-विन्यास बहुधा असंयत और उद्वेजक है,

कहीं कहीं वह अधिकतर उच्छृंखल है, छन्दो नियम की रक्षा भी उसमें प्रायः नहीं मिलती। फिर भी उनकी कुछ रचनाओं में वह मन मोहकता, भावुकता, और विचार की प्राञ्जलता मिलती है जिसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है।

कबीर साहब के समकालीन कुछ ऐसे सन्त और महात्मा हैं कि जिनकी चर्चा हुये बिना पन्द्रहवीं ईसवी शताब्दी की न तो सामयिक अवस्था पर पूरा प्रकाश पड़ेगा न साहित्यिक परिवर्तनों पर। अतएव अब मैं कुछ उनके विषय में भी लिखना चाहता हूं। किन्तु उनके यथार्थ परिचय के लिये यह आवश्यक है कि स्वामी रामानन्द के उस समय के धार्मिक परिवर्त्तनों और सामाजिक सुधारों से अभिज्ञता प्राप्त करली जावे। इसलिये पहले मैं इस महापुरुष के विषय में ही कुछ लिखता हूं। जिस समय स्वामी शंकरा-चार्य्य के अद्वैतवाद ने भारतवर्ष में वैदिकधर्म का पुनरुज्जीवन किया और और जब उसकी विजय वैजयन्ती हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक फहरा रही थी। उस समय केवल ज्ञान मार्ग से संतोष न प्राप्त कर अनेक सन्त-महात्मा एक ऐसी भक्तिधारा की खोज में थे जो दार्शनिक जीवन को सरस बना सके। निर्गुण ब्रह्म अनुभव गम्य भले ही हो किन्तु वह सर्व साधारण का बोध गम्य नहीं था। बड़े बड़े महात्माओं की विचार-धारा जिस पंथमें चल कर पद पद पर कुण्ठित होती थी उस पथ का पथिक होना साधारण विद्या-बुद्धि के मनुष्य के लिये असम्भव था। आध्यात्मिक आनन्द के उपभोग का अधिकारी तत्वज्ञ ही हो सकता है, अल्पज्ञ नहीं। इसके लिये किसी प्रत्यक्ष आधार वा अवलम्बन का होना आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि संसार की स्वाभाविकता किसी ऐसे आधार का आश्रय ग्रहण करना चाहती है जो उसका जीवन-सहचर हो। समाधि में समाधिस्थ हो कर ब्रह्मानंद-सुख का अनुभव करना लोकोत्तर हो. परन्तु उससे वह मनुष्य क्या लाभ उठा सकता है जो न तो ऐसी साधनायें कर सकता है जो सर्व-साधारणके लिये सुलभ हों और न ऐसी सिद्धि प्राप्त कर सकताहै जो उसको सांसारिक नाना कष्टों से छुटकारा दे सके। लोक साधारणतः परमार्थिक

नहीं है, वह अधिकतर स्वार्थ ही का दास है। वह सुख का कामुक और कष्टों से निस्तार पाने का अधिक इच्छुक होता है। वह अपनी कामना की पूर्ति के लिये ऐसी साधनायें करना चाहता है जो सीधी और सरल हों और जिनमें पद पद पर जटिलतायें सामने न खड़ी हो जायें। परमात्मा सर्व लोक का स्वामी हो, प्राणी मात्र का लालन पालन करता हो, परन्तु उसका इतना ही होना पर्य्याप्त नहीं। लोक चाहता है कि वह दीनबन्धु, दुःख भंजन, आनन्दस्वरूप और विपत्ति में सहायक भी हो। मानवता की इस प्रवृत्ति को संसार की महान् आत्माओं ने प्रत्येक समय समझा है और देशकालानुसार उसके संतोषउत्पादन की चेष्टा भी की है। यदि भारतवर्ष के धार्मिक परिवर्त्तनों पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनमें इस प्रकार के अनेकशः उदाहरण प्राप्त होंगे। जब स्वामी शंकराचार्य के सर्व्वोच्च ज्ञान का अधिकारी सामयिक महात्माओं ने देशकालानुसार सर्वसाधारण जनता को नहीं पाया तो उन्होंने ऐसा मार्ग ग्रहण करने की चेष्टा की जिससे उन प्राणियों का भी यथार्थहित हो सके जो तत्वबोध के उच्च सोपान पर चढ़ने की योग्यता नहीं रखते। इसी लिये निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म की कल्पना होती आई है। और इसी हेतु से एक अनिर्वचनीय शक्ति के स्थान पर ऐसी शक्ति की उद्भावना महज्जन करते आये हैं जो बोध गम्य हो और मानव-जीवन का स्वाभाविक सहचर बन सके। ज्ञानमें गहनता है, साथ ही जटिलता भी। भक्ति में सरलता और सहृदयता है। इसी लिये ज्ञान से भक्ति अधिकतर बोधसुलभ है अपने अपने स्थान पर दोनों ही का महत्व है। इसी लिये हिन्दू धर्म में अधिकारी भेद की व्यवस्था है। ज्ञानाश्रयी सिद्धान्त जब व्यवहारिक बनते हैं तो उनको भक्ति को साथ लेना पड़ता है, क्योंकि संसार अधिकतर क्रियामय जीवन का प्रेमिक है। जिन महात्माओं ने इन रहस्यों को समझ कर यथाकाल दोनों की व्यवस्था उचित रूप से की उन्हीं महात्माओं में स्वामी रामानुज का स्थान है। उन्होंने स्वामी शंकराचार्य के ज्ञान-मार्ग को भक्तिमय बना दिया और उनके अद्वैतवाद को विशिष्टाद्वैत का रूप दिया। उन्हों ने निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करते हुये भी उसके सगुण रूप को ग्रहण किया

और बतलाया कि यदि यह सत्य है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्मनेहनानास्ति किंचन' तो विश्व को हम ब्रह्म का स्वरूप क्यों न मानें और क्यों न भक्ति से आर्द्र होकर उसकी उचित परिचर्य्या में लगें ? उन्होंने इस विश्वात्मक सत्ता को विष्णु-स्वरूप बतलाया जिसकी सहकारिणी शक्ति लक्ष्मी है, विष्णु त्रिगुणात्मक हैं और उनमें सृजन, पालन और संहार तीनों शक्तियां विद्यमान हैं। वे कोटि काम कमनीय और अव्यक्त होने पर भी नील नभोमण्डल-समान श्याम हैं। वे चतुर्भुज अर्थात् चार हाथ से सृष्टिकार्य-परायण हैं और अनन्त ज्ञानमय होने के कारण चतुर्वेदजनक हैं। वे सत्यावलम्बी के रक्षक और पापपरायण प्राणियों के शासक हैं। उनकी दीन-वत्सलता जहाँ अलौकिक है वहीं विपत्ति निवारण उनका स्वाभाविक धर्म। वे शरणागत-पालक और पतित जन-पावन हैं। उनका स्थान वैकुण्ठ है जो सर्वदैव अकुण्ठ रहता है और जिसमें वे उन लोगों को स्थान देते हैं जो प्रेम के पावन पथ पर चलने में कुण्ठित नहीं होते। उनकी सहधर्मिणी लोक-विमोहिनी शक्ति रमा है जो उन्हीं के समान सांसारिक प्रत्येक कार्य में रमण-शीला है। परमात्मा के ऐसे सगुण रूप को सांसारिक प्राणियों के सामने लाकर स्वामी रामानुज ने समयानुसार भारतीयजन का जो हित-साधन किया उसका प्रमाण उनके धर्म की व्यापकता है, जो आजकल भारत-वसुंधरा में विस्तृत रूपमें व्याप्त है। उनका आविर्भावकाल ग्यारहवें ईस्वी शताब्दी है। स्वामी रामानन्द उनकी गद्दी के पांचवें अधिकारी थे। स्वामी रामानन्द ने वैष्णव धर्म को कुछ विशेष नियमों से नियमित बनाया। इसका कारण तात्कालिक समाज था। स्वामी रामानंद का आविर्भाव-काल चौदहवीं शताब्दी है। इस समय मुसल्मान धर्म वर्द्धनोन्मुख था। मुख्यतः नीच जातियों में उसका प्रचार बड़े वेग से हो रहा था। वैदिक धर्म में समदर्शिता की पर्य्याप्त शिक्षा होने पर भी कुछ रूढ़ियों के कारण इस भाव का विकास नहीं हो पाता था। इसके विरुद्ध मुसल्मान पीर वचन-द्वारा ही नहीं, आचरण द्वारा भी यह दिखला रहे थे कि किस प्रकार मनुष्य मात्र परस्पर भाई हैं। स्वधर्मी होने पर धर्म-क्षेत्र में वे किसी से कोई भिन्नता नहीं रखते थे। स्वामी रामानन्द ने वैष्णव धर्म की इस न्यूनता को समझा

और शास्त्रोंकी उन आज्ञाओंको व्यवहारिक रूप दिया जो इस प्रकारकी थीं—

'शुनी चैव श्वपाके च पंडिता: समदर्शिन:'

'आत्मवत् सर्व भूतेषु य: पश्यति स पण्डित:'

उनके विशाल हृदय ने वैष्णव धर्म को समयानुसार बहुत उदार बनाया और उन बंधनों को दृढ़ता के साथ तोड़ा जो मानव-मात्र के परस्पर सम्मिलन में बाधक थे। वे उस समय मुक्त कंठ से यही कथन करते दृष्टिगत होते हैं कि—

'जाति पांति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।'

उन्होंने विष्णु के अव्यक्त रूप को व्यक्त रूप दिया और भगवान रामचन्द्र में विष्णु भगवान के समस्त गुणों का आरोप कर उन्हें विष्णु भगवान का अवतार बतलाया। पहले जो विष्णु भगवान कल्पना-क्षेत्र में विराजमान थे उनको राम रूप में लाकर उन्होंने जिज्ञासुओं के सम्मुख उपस्थित किया और उनके उदार चरित्रों के आधार से मानव जाति को, विशेष कर हिन्दू जाति को, उस लोक धर्म की शिक्षा दी जो काल पाकर उसके लिये संजीवनी शक्ति बन गई। वैष्णव धर्म में जितनी जटिलतायें थीं उनको उन्होंने इस प्रकार व्यवहार-सुलभ बनाया कि उसकी ओर लोग बड़े उल्लास के साथ आकर्षित हो गये। उनके हृदय की विशालता देखिये कि जो जातियां ठुकराई हुई थीं उन्हीं में से उन्होंने ऐसे लोगों को चुना जो हिन्दू-संसार-गगन में चमकते तारे बन कर चमके। उन्हीं के आध्यात्मिक बल का वह महत्व है कि जिससे कबीर कबीर बन गये। ये थे कौन ? एक जुलाहे, हिन्दू भी नहीं, मुसल्मान। रविदास का जन्म चमार के घर में हुआ था। सेन नाई और धन्ना जाट थे। परन्तु स्वामी रामानन्द के प्रभाव से ही आज दिन सन्त समाज में इनको उच्चस्थान प्राप्त है। सिक्खों के ग्रन्थ साहब में जिन सोलह प्रधान भक्तों की बानी संगृहीत है उनमें ये लोग भी हैं। कहा जाता है, उन्होंने अपने बारह शिष्य ऐसी ही जातियों में से चुन लिये जिनको पतितों में गणना थी। इस पन्द्रहवीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द ने ही वह भक्ति स्रोत बहाया जिसमें प्रवाहित होकर ऐसे

लोग भी उस स्थान पर पहुँचे जिस स्थान पर पहुँच कर लोग सन्तपद के अधिकारी होते हैं। स्वामी रामानन्द जी के प्रधान शिष्य कबीर साहब की रचनाओं को मैं उपस्थित कर चुका हूं। अब उनके अन्य शिष्यों की कुछ रचनायें भी देखिये:—

१— नरहरि चंचल है मति मेरी।
कैसे भगति करूँ मैं तेरी।
तू मोहिं देखै हौं तोहिं देखूँ,
प्रीति परस्पर होई।
तू मोहिं देखे तोहि न देखूं,
यह पति सब बिधि खोई।
सब घट अन्तर रमसि निरन्तर,
मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर मोर सब अवगुन,
कृत उपकार न माना।
मै तैं तोर मोर असमझिसों,
कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृष्ण करुणा मय,
जय जय जगत अधारा।

२-फल कारन फूलै बनराई।
उपजै फल तब पुहुप बिलाई।
राखहिं कारन करम कराई।
उपजै ज्ञान तो करम नसाई।
जल में जैसे तूंबा तिरै।
परिचै पिंड जीव नहिं मरै।

जब लगि नदी न समुद्र समावै।
तब लगि बढ़े हंकारा।
जब मनमिल्यो राम सागर सों,
तब यह मिटी पुकारा।

रैदास।

३—एक बूंद जल कारने चातक दुख पावै।
प्रान गये सागर मिलै पुनि काम न आवै॥
प्रान जो थाके थिर नहीं कैसे बिरमाओं।
बूड़ि मुये नौका मिलै कहु काहि चढ़ाओं॥
मैं नाहीं कछु हौं नहीं कछु आहि न मोरा।
औसर लज्जा राखिलेहु सदना जन तोरा॥

सदना।

४-भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने तनु मनु धनु नहिं धीरे।
लालच बिखु काम लुबध राता मन बिसरे प्रभु हीरे।
बिखु फल मीठ लगे मन बउरे चार बिचार न जान्या।
गुनते प्रीति बढ़ी अन भाँती जनम मरन फिर तान्या।
जुगति जानि नहिं रिदै निवासी जलत जाल जम फंदपरे।
बिखु फल संचि भरे मन ऐसे परम पुरख प्रभु मन बिसरे।
ग्यान प्रवेसु गुरहिंधन दीया ध्यानु मानु मन एक भये।
प्रेम भगति मानी सुख जान्या त्रिपति अघाने मुकतिभये।
जोति समाय समाने जाकैं अछली प्रभु पहिचान्या।
धन्नै धन पाया धरणीधर मिलि जनसंत समान्या।

धन्ना

५-धूप, दीप, घृत साजि आरती वारने जाऊँ कमलापती।
मंगला हरि मंगला नित मंगल राजा राम राय को।
उत्तम दियरा निरमल बाती तुहीं निरंजन कमला पाती।
राम भगति रामानन्दु जानै पूरन परमानंद बखानै।
मदन मूरति भय तारि गुविन्दे। सैन भणय भजु परमानन्दे।

सैन

पीपा गागरौनगढ़ के एक राजा थे। वे भी स्वामीरामानंद के शिष्य थे। एक पद उनका भी देखिये:—

१—काया देवा काया देवल काया जंगम जाती।
काया धूप दीप नैवेदा काया पूजौं पाती।
काया बहु खँड खोजते नवनिद्धीपाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दोहाई।
जो ब्रह्मण्डे सोई पिंडे जो खोजे सो पावै।
पीपा प्रणवै परमतत्तु है सतगुरु होय लखावै।

पीपा

गोविंद गोविंद गोविंद सँग नामदेव मन लीना।
आठ दाम को छीपरो होइयो लाखीना।
बुनना तनना त्याग कै प्रीति चरन कबीरा।
नीचु कुला जोलाहरा भयो गुनिय गहीरा।
रविदास होवन्ता होर नित जिन त्यागी माया।
परगट होआ साध सँग हरि दरसन पाया।
सैनु नाई बुतकारिया ओहु घर घर सुनिया।
हिरदै वसिया पारब्रह्म भक्ता महिं गनिया।
यहि विधि सुनिकै जाटरो उठि भक्ती लागा।
मिले प्रतक्ख गुसाइयाँ धन्ना बड़ भागा।

धन्ना

इन रचनाओं पर सामयिकता की छाप तो लगी ही है। परन्तु उनमें आपको स्वामी रामानन्द जी की महान शिक्षाओं का प्रभाव भी विकसित रूपमें दृष्टिगत होगा। ये रचनायें आपको यह भी बतलायेंगी कि पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दी भाषा का विकास लगभग एक ही रूप में हुआ। इसके अतिरिक्त इनके देखने से यह भी पता चलेगा कि किस प्रकार इस शताब्दी में निर्गुणवाद और भक्ति रस की धारायें बहीं, जो उत्तरवर्त्ती काल में विविध रूप में प्रवाहित होकर हिन्दू जाति के सूखते धर्म-भाव के पौधों को हरा भरा बनाने में समर्थ हुईं। इसी शताब्दी में पंजाब प्रान्त में गुरु नानक देव का आविर्भाव हुआ। आप बेदी खत्री और अपने समय के प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक थे। कुछ लोगों ने इनको कबीर साहब से प्रभावित बतलाया है। किसी किसीने तो उनको इनका शिष्यतक लिख दिया है। किन्तु यह सत्य नहीं है। इस विषय में बहुत वाद-विवाद हो चुका है। मैं उनको यहाँ लिखना बाहुल्य-मात्र समझता हूं, किन्तु यह निश्चित बात है कि कबीर साहब का गुरु नानकदेव पर कुछ प्रभाव नहीं था। प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि कबीर साहब पीर थे और गुरु नानकदेव गुरु। वे एक नवीन धर्म का प्रचार करना चाहते थे और ये हिन्दू धर्म के संरक्षण के लिये यत्नवान थे। इस बात के प्रकट करने के लिये ही उन्होंने महात्मा गोरखनाथ के उद्भावित गुरु नाम का अपने नाम के साथ संयोजन किया था। उनके उपरान्त उनकी गद्दी पर दस महापुरुष बैठे। वे दसो गुरु कहलाये। पाँच गद्दीके बाद तो इन गुरुओं ने हिन्दूधर्म की रक्षा के लिये तलवार भी ग्रहण की। इन गुरुओंमेंसे कईने हिन्दूधर्म बलिवेदी पर अपनेको उत्सर्ग भी किया। जब कबीर साहब ने हिन्दू धर्म याजकों और पंडितों की कुत्सा करने ही में अपना गौरव समझा उस समय गुरुनानकदेव पंडितों को इन शब्दों में स्मरण करते थे:—

स्वामी पंडिता तुमदेहुमती, केहि विधि मिलिये प्रानपती।

गुरु नानकदेव की रचनाओं में वेद शास्त्र की उतनी ही मर्य्यादा दृष्टिगत होती है जितनी एक हिन्दू की कृति में होनी चाहिये। उसके

विरुद्ध कबीर साहब उनको उन शब्दों में स्मरण करते हैं जो भद्रता की सोमा को भी उल्लंघन कर जाते हैं। अतएव यह समझना कि गुरु नानकदेव उसी पथ के पथिक थे जिस पथके पथिक कबीर साहब थे बहुत बड़ी भ्रान्ति है। गुरु नानकदेव का आविर्भाव यदि उस समय पंजाब प्रान्त में न होता तो उस प्रान्त से हिन्दू धर्मका विलोप-साधन पीरों के लिये बहुत आसान हो जाता। गुरु नानकदेव की अधिकांश रचनायें पंजाबी में ही हैं। परन्तु प्रायः सब हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने गुरु नानकदेव को हिन्दी का कवि माना है। कारण इसका यह है कि उनके बाद उनकी गद्दी पर नौ गुरु और बैठे। इनमें से पांच गुरुओं ने जितनी रचनायें की हैं उन सब लोगों ने भी अपनी पदावली में नानक नाम ही दिया है। इस लिये भ्रान्ति से अन्य गुरुओं की रचनाओं को भी गुरु नानक की रचना मान ली गयी है। गुरु तेगबहादुर नवें गुरु थे वे सत्रहवीं ई० शताब्दी में हुये हैं। उनकी रचनायें उस समय की हिन्दी में हुई हैं। वेही अधिक प्रचलित भी हैं। इसी लिये उनकी रचनाओं को गुरु नानकदेव की रचना मान ली गयी है, और इसी से उस भ्रान्ति की उत्पत्ति हुई है जो उनको हिन्दी भाषा का कवि बनाती है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। मैं यह स्वीकार करूँगा कि गुरु नानकदेव के कुछ पद्य अवश्य ऐसी भाषा में लिखे गये हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी की हिन्दी से सादृश्य रखते हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है, और उनमें भी पंजाबीपन का रंग कुछ न कुछ पाया जाता है। मैं विषय को स्पष्ट करने के लिये उनका एक पद्य पंजाबी भाषा का और दूसरा हिन्दी भाषा का नीचे लिखता हूं:—

१—पवणु गुरुपाणी पिता माता धरति महत्तु।
दिवस रात दुइदाई दाया खेलै सकल जगत्तु।
चँगियाइयां बुरियाइयां वाचै धरमु हदूरि।
करनी आपो आपणी के नेड़ै के दूरि।
जिन्नी नाम धेयाइया गये मसक्कति घालि।
नानक ते मुख उज्जले केती छुट्टी नालि।

२—गुरु परसादी बूझिले तउ होइ निबेरा ।
घर घर नाम निरंजनो सो ठाकुर मेरा ।
बिनु गुरु सबद न छूटिये देखहु बीचारा ।
जे लख करम कमावहीं बिनु गुरु अँधियारा ।
अंधे अकलो बाहरे क्या तिन सों कहिये ।
बिनु गुरु पंथ न सूझई किस बिध निरबहिये ।
आवत कौ जाता कहैं जाते कौ आया ।
परकी कौ अपनी कहैं अपनो नहिं भाया ।
मीठे को कड़ुआ कहैं कड़ुए कौ मीठा ।
राते की निन्दा करहिं ऐसा कलि महिं दीठा ।
चेरी की सेवा करहिं ठाकुरु नहिं दीसै ।
पोखर नीरु बिरोलिये माखनु नहिं रीसै ।
इसु पद जो अरथाइ ले सो गुरू हमारा ।
नानक चीने आप को सो अपर अपारा ।

गुरु नानकदेव की मातृभाषा पंजाबी थी। इसके अतिरिक्त मुख्यतः पंजाब प्रान्त की हिन्दू जनता की जागर्ति के लिये ही उनको धर्म क्षेत्र में उतरना पड़ा था। इस लिये पंजाबी भाषा में उनकी अधिकांश रचनाओं का होना स्वाभाविक था। परन्तु जिस समय उनका आविर्भाव हुआ था उसकी यह विशेषता देखी जाती है कि उस समय प्रत्येक प्रान्त के हिन्दू धर्म प्रचारक और सुकवि हिन्दी भाषा की ओर आकर्षित हो रहे थे। यदि बंगाल प्रान्त के चण्डीदास और बिहार प्रान्त के विद्यापति हिन्दी भाषा को अपनी रचनाओं में स्थान देने के लिये आकर्षित हुये तो महाराष्ट्र प्रान्त में नामदेव जी को भी तत्कालिक हिन्दी भाषा में उत्तमोत्तम धार्मिक रचनायें करते देखा जाता है। ऐसी अवस्था में गुरु नानक देव जी का भी हिन्दी भाषा की ओर आकृष्ट होना आश्चर्यजनक नहीं। उनके इसी

भाव का द्योतक उनका हिन्दी भाषा का पद्य है, पहले पद्य में भी, जो पंजाबी भाषा का है, हिन्दी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। और उनकी यह प्रणाली उनके हिन्दू भाषा के अनुराग की स्पष्ट सूचक है। उनके बाद उनके जितने उत्तराधिकारी हुये उनमें यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती दृष्टिगत होती है। दूसरी, तीसरी और चौथी गद्दियों के गुरुओं की रचनायें अधिकांश हिन्दी शब्दों से गर्भित हैं। पांचवी गद्दी के अधिकारी गुरु अर्जुन जी की रचनायें तो सामयिक हिन्दी भाषा का ही उदाहरण हैं। नवीं गद्दी के अधिकारी गुरु तेगबहादुर के भजन तो बिल्कुल हिन्दी भाषा में ही लिखे गये हैं। उनके पुत्र दसवीं गद्दी के अधिकारी गुरु गोविन्द सिंह ने हिन्दी भाषा में एक विशाल ग्रन्थ ही लिख डाला जो आदिग्रन्थ साहब के ही बराबर है और दशम ग्रन्थ कहलाता है। यथा स्थान इस विषय का वर्णन विशेषरूप से आपको आगे मिलेगा। इस समय मैं कुछ पद्य दूसरी गद्दी से लेकर पाँचवीं गद्दी और नवीं गद्दी के अधिकारियों के नीचे लिखता हूं। आप देखें उनमें किस प्रकार उत्तरोत्तर हिन्दी भाषा को अधिक स्थान मिलता गया है।

जासुख तासहु रागियो दुख भी संभाले ओइ।
नानक कहे सियाणिये यों कन्त मिलावा होइ॥

गुरु अंगद।

तू आपे आप सभु करता कोई दूजाहोयसु औरो कहिये।
हरि आपे बोले आपि बुलावे हरि
आपे जलि थलि रवि रहिये।
हरि आपे मारे हरि आपे छोड़े मनहरि सरणी पड़ि रहिये।
हरि बिनु कोई मारि जीवालि न सकै
मन है निचिंद निस्चलु होइ रहिये।
उठंदिया बहंदिया सुतिया सदा हरि नाम ध्याइये।
जन नानक गुरु मुख हरि लहिये।

गुरु अमरदास

हौं क्या सालाहीकिरम जन्तु वड्डी तेरी वडियाई।
तू अगम दयालु अगम्मु है आपि लेहि मिलाई।
मैं तुझ बिन बेला को नहीं, तू अंति सखाई।
जो तेरी सरणागती तिन लेहि छुड़ाई।
नानक बे परवाहु है किसु तिल न तमाई।
संगति संत मिलाये। हरि सरि निरमलि नाये।
निरमलि जलि नाये मैलु गँवाये भये पवित्र सरीरा।
दुर मति मैल गई भ्रम भागा हौं मैं विनठी पीरा।
नदरि प्रभू सत संगति पाई निज घर होआ बासा।
हरि मंगल रसि रसन रसाये नानक नाम प्रगासा।

गुरु रामदासजी

गावहु राम के गुण गीत।
नाम जपत परम सुख पाइये आवागवणु मिटै मेरे मीत।
गुण गावत होवत परगास, चरण कमल महँ होय निवास।
सत संगति महँ होइ उधार, नानक भव जल उतरसि पार।

गुरु अर्जुन जी

प्रानी नारायन सुधि लेह।
छिनु छिनु औधि घटै निसि बासरु बृथा जात है देह।
तरुनापो बिखियन स्यों खोयो बालापन अज्ञाना।
बिरध भयो अजहूँ नहिं समझै कौन कुमति उरझाना।
मानुस जन्म दियो जेहिँ ठाकुर सो तैं क्यों बिसरायो।
मुकति होति नर जाके सुमिरे निमख न ताको गायो।
माया को मदु कहा करतु है संग न काहू जाई।
नानक कहत चेतु चिन्तामणि होइ है अन्त सहाई।

गुरु तेग बहादुर

इसी स्थान पर मैं यह भी प्रकट कर देना चाहता हूं कि इस पन्द्रहवीं शताब्दी में जिस निर्गुणवादधारा की अधिक चर्चा की जाती है, वास्तव में वह धारा उस काल से प्रारम्भ होती है जिस समय स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्तवाद का प्रचार किया। उनकी निर्गुण धारा का रूप वास्तविकता की दृष्टि से सर्वोत्तम है किन्तु वह इतनी उच्च है कि सर्व साधारण की बोधगम्य नहीं। मैक्समूलर ने एक स्थान पर लिखा है कि ईश्वरी विद्या के विषय में स्वामी शंकराचार्य जितना ऊंचा उठे उससे ऊंचा नहीं उठा जा सकता। गुरु गोरखनाथ जी ने इस निर्गुणवाद को जटिलताओं को बहुत कुछ सरलता का रूप दिया और भगवान शिव की उपासना का प्रचार कर के अव्यक्त विषयों को व्यक्त रूप देने को प्रशंशनीय चेष्टा की। उसका विकास ज्ञानदेव और नामदेव की रचनाओं में अधिकतर बोधगम्य रूप में देखा जाता है। पन्द्रहवीं सदीके सन्तमतके प्रचारकों में विशेष कर कबीर साहब की उक्तियों में वह निर्गुणवाद कुछ और स्पष्ट हुआ, किन्तु वह पौराणिक भावों से ओत प्रोत है। पौराणिक धर्म का उत्थान गुप्त सम्राटों के समय में अर्थात् तीसरी और चौथी ईस्वी शताब्दी में हुआ और उत्तरोत्तर वृद्धि पाकर ईस्वी दसवीं शताब्दी में वह प्रबल बन गया था। यही कारण है कि पन्द्रहवीं शताब्दी में जितने धार्मिक प्रचार हुये वे सब पौराणिक धर्म पर अवलंबित हैं। कबीर साहब के निर्गुणवाद पर भी उसकी छाप लगी हुई है, अन्तर केवल इतना ही है कि उनके निर्गुणवाद पर सूफियों के ईश्वरवाद की भी छाया पड़ी है। वैष्णव धर्म में जैसा निर्गुणवाद है और उसके साथ जैसा सगुणवाद सम्मिलित है कबीर साहब का निर्गुण ब्रह्म-सम्बन्धी सिद्धान्त भी लगभग वैसा ही है। कारण इसका यह है कि उनकी अधिकांश शिक्षायें वैष्णव धर्म से प्रभावित हैं और ऐसा होना इस लिये अनिवार्य था कि स्वामी रामानन्द का उनपर बहुत बड़ा प्रभाव था। कबीर साहब का निर्गुण ब्रह्म अनिर्वचनीय ही नहीं है वह भक्त वत्सल है और पतित पावन भी है। प्रेमातिरेक में वे उसके दास बनते हैं और वह उनका स्वामी; वे उसके पुत्र बनते हैं और वह

उनका पिता; वे उसकी प्रेमिका बनते और वह उनका प्रेमी। वे नरक और आवागमन से भीत हो कर उसकी शरण में जाते हैं और वह उद्धारक बन कर उनका उद्धार करता है। वे कहते हैं कि वह बिपत्ति में त्राण देता है, भवसागर से पार करता है और अशरण का शरण बनता है और इन बातों को पौराणिक आख्यानों और उदाहरणों-द्वारा प्रमाणित करते हैं। जब वे और ऊँचा उठते हैं तो उसको सर्व जगत में व्याप्त पाते हैं और विश्व की विभूतियों में नाना रूपों में उसे विकसित देख कर अलौकिक आनन्द का अनुभव करते हैं। कभी जब आत्म-विश्वास का उदय होता है तब वह आत्मज्ञान अथवा आत्मा ही में परमात्मा के देखने का उद्योग करते हैं और कभी समाधि में बैठ कर योग के अनेक साधनों द्वारा ब्रह्मानन्द-सुख-भोगी बनते हैं। कभी मुक्ति की कामना करते हैं कभी मुक्ति को तुच्छ गिन कर भगवद्भक्ति को ही प्रधानता देते हैं। कभी संकेत और इंगितों द्वारा लोकातीत की अलौकिकता बतलाने में रत देखे जाते हैं, कभी अनिर्वचनीय की अनिर्वचनीयता देख मौनता-मंत्र ग्रहण करना ही समुचित समझते हैं। सारांश यह कि निर्गुण और सगुण के बिषय में जो विचार-परम्परा पुराण-वादियों और वेदान्तियों की देखी जाती है, पद पद पर वे उसी का अनुसरण करते दृष्टि गत होते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें परमात्मा का वर्णन इसी रूप में न किया गया हो। पुराणों का सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्त के भावों से प्रभावित हैं और वैष्णव पुराणों में उसका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु वे जानते हैं कि निर्गुणवाद के तत्वों का समझना कतिपय तत्वज्ञों का ही काम है। इस लिये उनमें सगुणावाद का ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध-सुलभ है। विना उपासना किये उपासक सिद्धि नहीं पाता। उपासना-सोपान पर चढ़कर ही साधक उस प्रभु के सामीप्य-लाभ का अधिकारी बनता है जो ज्ञान-गिरा-गोतीत है। उपासना के लिये उपास्य की प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त, अथवा ज्ञान का विषय नहीं तो उसमें भावों का आरोप नहीं हो

सकता। ऐसी अवस्था में भक्ति किसकी होगी ? प्रेम किस से किया जायगा और किसके गुणों का मनन चिन्तन कर के मनुष्य अपनी आत्मा को उन्नत बना सकेगा। इन्हीं बातों पर दृष्टि रखकर परमात्मा के सगुण स्वरूप की कल्पना है। जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किये हम परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासु के समान है जो विश्व-नियन्ता का परिचय प्राप्त करना चाहता है किन्तु यह जानता ही नहीं कि विश्व क्या है। पुराण सगुण-पथ का पथिक बना कर निर्गुण की प्राप्ति कराते हैं, किन्तु बड़ी बुद्धिमता और विवेक के साथ। यही कारण है कि मुख से निर्गुणवाद का गीत गानेवाले भी अन्तमें पुराण-शैली की परिधि के अन्तर्गत हो जाते हैं। चाहे कबीर साहेब हों, अथवा पन्द्रहवीं सदी के दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्गप्रदर्शक गुप्त या प्रकट रूप से पुराण ही हैं। हम देखते हैं कि निर्गुणवाद का नाद करनेवाले जब बिना किसी प्रतीक के अवलम्बित पथ पर चलने में असमर्थ होते हैं तो गुरुदेव ही को ईश्वर-स्वरूप मानकर उपासना में अग्रसर होते हैं यह क्या है ? सगुण की उपासना ही तो है। आजकल निर्गुणवादियों में यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल हो गई है। निर्गुणवादियों के एक नवीन संप्रदाय ने तो ईश्वर से मुंह मोड़कर खुल्लमखुल्ला गुरु को ही ईश्वर मान लिया है। चाहे जितना रूप बदला जाय, परन्तु यह भी पौराणिक सिद्धान्तों का ही अनुगमन है, क्योंकि वे कहते हैं:—

गुरु र्ब्रह्मा, गुरु र्विष्णुः गुरुर्देव महेश्वरः,
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।

पन्द्रहवीं शताब्दी में मुसलमानों का प्रभाव भारतवर्ष पर बहुत पड़ रहा था। उनकी राज्य-सत्ता उस समय तो प्रबल थी ही उनके धर्म-याजक अथवा पीर भी अपने धर्म के विस्तार में तन, मन से निरत थे। इसलिये हिन्दू जाति पर उनके विचारों और भावों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा था। मुसलमान धर्म अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और देववाद का कट्टर विरोधी है, और अपने विचारानुसार एकेश्वरवाद का

प्रबल प्रचारक। यही कारण है कि उस समय के कबीर साहब जैसे कुछ धर्म प्रचारकों को निर्गुणवाद का राग अलापते देखा जाता है। क्योंकि समय उनकी अनुकूलता करता था और वे समय की गति पहचान कर स्वधर्म प्रचार में सफलता लाभ करने के कामुक थे। परन्तु सगुण-वाद का विरोधी होने पर भी वे कभी सन्तों को ईश्वर का स्वरूप कहते थे और कभी गुरु को। कबीर साहब स्वयं कहते हैं:—

निराकार की आरसी साधों ही की देह।
लखा जो चाहे अलख को इनहीं में लखि लेह।
कबिरा ते नर अंध हैं गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है गुरु रूठे नहिँ ठौर।
तीन लोक नौ खंड में गुरु ते बड़ा न कोय।
करता करै न करि सकै गुरु करै सो होय॥

यह क्या है? रूपान्तर से सगुणवाद का प्रतिपादन है और प्रच्छन्न रूप से उस उद्देश्य का प्रति पालन है जिसकी जननी पौराणिकता है।

इस शताब्दी में कुछ और ऐसे कवि हुये हैं जो कबीर साहब के पुत्र या शिष्य हैं, जैसे कमाल, भग्गूदास, धरमदास और श्रुति गोपाल। इन लोगों की रचनायें लगभग वैसी ही हैं जैसी पन्द्रहवीं शताब्दी की हिन्दी रचनायें अबतक उपस्थित की गई हैं। विषय भी इन लोगों का धार्मिक ही है। इसलिये इन लोगों की रचनाओं को लेकर कुछ विवेचन करना बाहुल्य मात्र होगा। चरणदास, दयासागर, और जय सागर जैन भी इसी शताब्दी में हुये हैं। परन्तु उनकी रचनायें भी लगभग वैसी ही हैं और समय के प्रवाहानुसार धर्म-सम्बन्धी ही हैं। इसलिये उनको भी छोड़ता हूं। हाँ—इस शताब्दी का एक दामो नामक कवि ऐसा है जिसने सामयिक प्रवाह के प्रतिकूल 'पद्मावती' नामक प्रेम कहानी की रचना की है। उसके ग्रंथ की कुछ पंक्तियाँ ये हैं:

सुणौ कथा रसलीन विलास।
योगी मरण (अउर) बनवास।
पद्मावती बहुत दुख सहई।
मेलो करि कवि दामो कहई।

इस पद्यकी भाषा प्राञ्जल है और वैसी ही है जैसा स्वरूप पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दी को प्राप्त हुआ था। केवल 'सुणौ' शब्द राजस्थानी का है जो प्रान्तिक रचना होने के कारण उसमें आ गया।

(२)

सोलहवीं ई० शताब्दी को हम हिन्दी भाषा का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इसी शताब्दी के आरम्भ में मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने प्रसिद्ध 'पद्मावत' नामक ग्रन्थ की रचना की जो अवधी भाषा का आदिम ग्रंथ है। इसी शताब्दी में हिन्दी-साहित्य गगन के उस सूर्य और चन्द्रमा का उदय हुआ, जिनकी आभा से वह आज तक उद्भासित है। आचार्य केशव, जो हिन्दी साहित्य के भाम और मम्मट हैं, उनका आविर्भाव भी इसी शताब्दी में हुआ और अकबर के राजत्व का वह उल्लेखनीय समय भी जो मुसलमान साम्राज्य का उच्चतम काल कहा जाता है, इस शताब्दी का ही अधिकांश भाग है। इस शताब्दी में अवधी और ब्रज भाषा का जैसा शृंगार हुआ फिर कभी वैसा गौरव उसको नहीं प्राप्त हुआ। इस शताब्दी के हिन्दी साहित्य के विकाश पर प्रकाश डालने के पहले मुझको एक बहुत बड़े धार्मिक परिवर्तन का वर्णन कर देना आवश्यक ज्ञात होता है। क्योंकि, ब्रज-भाषा के उत्थान और उसके बहुप्रान्तव्यापी होने का आधार वही है।

मैं पहले कह चुका हूं कि किस प्रकार सूफी सम्प्रदाय वाले प्रेम मार्ग का विस्तार मुसल्मानों की साम्राज्य-वृद्धि के साथ कर रहे थे और कैसे उनके इन मधुर भावों का प्रभाव भारतीय जनता पर पड़ रहा था। सूफी सम्प्रदाय वाले संसार की समस्त विभूतियों में ईश्वरीय सत्ता का विकास देखते हैं। वे परमात्मा की कल्पना प्रेम स्वरूप के रूप में

करते हैं और अपने को उसका प्रेमिक मान कर प्रेम सम्बन्धी भावों को बड़ी ही मधुरता और सरसता से वर्णन करते हैं। उसके सम्मिलन के लिये जो उत्सुकता उनके हृदय में उत्पन्न होती है उसका बड़ाही मर्मस्पर्शी चित्र उनकी रचनाओं में अंकित है। उनकी विरह वेदनायें भी बहुत ही विमुग्धकारी और हृदयद्रवीभूत करने वाली हैं। वे जब अपनी उस अवस्था का वर्णन करते हैं जिस समय उनको इस बात का अनुभव होता है कि वे उससे किसी अवस्था विशेष के कारण पृथक हो गये हैं तो उसमें बड़ी मर्म वेधिनी उक्तियाँ होती हैं जो मनों को बेतरह अपनी ओर खींचती हैं। उस समय उनके प्रेम मार्ग के इन बड़े विमोहक भावों ने हिन्दू जनता को बहुत कुछ अपनी ओर आकर्षित कर रखा था। पर हिन्दुओं के किसी धर्म संप्रदाय में ऐसी मधुरतम कल्पनाओं का आविष्कार तबतक नहीं हुआ था जो सफलता के साथ उनका प्रतिकार कर सके। हिन्दू धर्म का भक्ति-मार्ग उच्च कोटि का है और बहुत ही सरस और मधुर भी है, परन्तु उतना सुलभ नहीं, उसमें कुछ गहनता भी है। वह सर्व साधारण के लिये उतना मोहक नहीं जितना प्रेम। भक्ति में उच्चता है और वह महत्तामय उच्च कोटि के व्यक्तियों पर ही आधारित है। उसमें विशेषता के साथ त्यागमय धार्मिकता है, परन्तु प्रेम में साधारणता है और उसमें सांसारिकता भी पाई जाती है। व्यापक प्रेम या प्रीति की पराकाष्ठा ही भक्ति है। इसी लिये भक्ति से उसमें अधिक व्यवहारिकता है और इस व्यवहारिकता के कारण ही मानव-समाज पर उसका अधिक अधिकार है। प्रेम के आदर्श की न्यूनता हिन्दू संसार में किसी काल में नहीं रही। प्रेम की महत्ता और उसकी लोक प्रियता के आदर्श का अभाव हिन्दू संस्कृतिमें कभी नहीं हुआ। परन्तु यह समय ऐसा था कि जब उसके व्यापक और महान आदर्शोंको ऐसे मधुर और मोहक रूपमें उपस्थित करने की आवश्यकता थी, जो सर्वसाधारण को अपनी ओर आकर्षित कर सके, और सूफी सम्प्रदायके उन प्रभावों को विफल बनावे जो उसके चारों ओर अविरामगति से विस्तृत हो रहे थे। रामावत सम्प्रदाय में भक्ति भावना जितनी प्रबल है, उतनी प्रेम भावना नहीं। भगवान् रामचन्द्र

मर्य्यादा पुरुषोत्तम हैं और इसी रूप में वे हिन्दू संसार के सामने आते हैं। उनका कार्य्यक्षेत्र भी ऐसा है जहाँ धीरता, गम्भीरता, कर्मशीलता, कार्य्य करती दृष्टिगत होती है। उनके आदर्श उच्च हैं, साथ ही अतीव संयत। या तो वे कर्म्म-क्षेत्र में विचरण करते देखे जाते हैं या धर्म्म-क्षेत्र में। इसीलिये उनमें वह मधुर भाव की उपासना पहले नहीं लाई जा सकी जो बाद को गृहीत हुई। सब से पहले समयानुसार इस ओर मध्वाचार्य्य जी की दृष्टि गई। उन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार से भगवान् श्रीकृष्णको मधुर भावनामय उपासना की नींव डाली। पहले वे स्वामी शंकराचार्य्यके और रामानुज सम्प्रदाय के सिद्धान्तों ही की ओर आकर्षित थे। परन्तु श्रीमद्भागवत की भक्ति-भावना ही उनके हृदय में स्थान पा सकी और उन्होंने दक्षिण प्रान्त में इस प्रकारकी उपासना का आजीवन प्रचार किया। इनकी उपासना-पद्धति में भगवान कृष्णचन्द्र प्रेम के महान् आदर्श के रूप में गृहीत हुये हैं और गोपिकायें उनकी प्रेमिका के रूप में। जो सम्बन्ध गोपिकाओं का भगवान श्रीकृष्ण के साथ प्रेम के नाते स्थापित होता है, भगवान के साथ भक्त का वही सम्बन्ध वर्णित करके उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति ग्रहण की। इसीलिये उनका सिद्धान्त द्वैतवाद कहलाता है। उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रचार विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य ने किया, केवल इतना अन्तर अवश्य हुआ कि गोपियों का स्थान उन्हों ने श्रीमती राधिका को दिया। स्वामी बल्लभाचार्य्य ने इसी उपासना की नींव उत्तर-भारत और गुजरात में बड़ी ही दृढ़ता के साथ डाली और थोड़े परिवर्त्तन के साथ इस मधुर भावना का प्रसार बड़ी ही सरसता से भारतवर्ष के अनेक भागों में किया। स्वामी वल्लभाचार्य ने बालकृष्ण की उपासना ही को प्रधानता दी है इसीलिये उनका दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है। परन्तु जैसा मैंने ऊपर अंकित किया, समय की गति देखकर उनको राधाकृष्ण की युगलमूर्ति की उपासना ही को प्रधानता देनी पड़ी। उस समय यह उपासना पद्धति बहुत अधिक प्रचलित और आद्रित भी हुई। क्योंकि इस प्रणाली में सूफियों के उस प्रेम और प्रेमिक-भाव का उत्तमोत्तम प्रतिकार था जिसका प्रचार वे उस समय भारत के विभिन्न भागों में

तत्परता के साथ कर रहे थे। सूफियों के सम्प्रदाय में परमात्मा प्रेमपात्र के रूप में देखा जाता है और सूफ़ीभक्त अपने को उसके प्रेमिक के रूप में अंकित करते हैं। यह प्रणाली भारत के लिये इसलिये अधिक उपयोगिनी नहीं सिद्ध हो सकती थी जितनी कि स्वामी वल्लभाचार्य्य की उद्भावित पद्धति। कारण इसका यह है कि पुरुष के प्रति पुरुष के प्रेम में वह स्वारस्य नहीं है जो पुरुष के प्रति स्त्री के प्रेम में। भारत की यह चिर प्रचलित परंपरा और इस देश का यही आदर्श है कि स्त्रियां पुरुषों पर आसक्त दिखलायी जाती हैं। इसलिये श्रीमती राधिका को भगवान कृष्णचन्द्र पर उत्सर्गीकृत-जीवन बनाकर स्वामी वल्लभाचार्य्य या उनके पहले के आचार्यों ने जिस मर्मज्ञता का परिचय दिया और परमात्मा की जिस उपासना-पद्धति का आदर्श उपस्थित किया वह अभूतपूर्व और अधिकतर भाव-प्रवण है। योरोप का प्रसिद्ध विद्वान् न्यूमैन क्या कहता है, उसे सुनिये १ "पुरुषों में तुम कितने ही पौरुष-विकास-सम्पन्न क्यों न हो, उच्चतर आध्यात्मिक आनन्द की ओर प्रगति करने के लिये तुम्हारी आत्मा को नारीरूप ही ग्रहण करना होगा।"

भगवान के बालभाव की उपासना की कल्पना बड़ी ही मधुर है, साथ ही सर्वथा नवीन। स्वामी वल्लभाचार्य को छोड़कर यह उपासना पद्धति किसी के ध्यान में नहीं आई। जो धर्म अवतारवाद का मर्म नहीं समझ सकते वे बालभाव की उपासना की कल्पना कर भी नहीं सकते। संसार के कुछ धर्म्मों में परमात्मा को पिता और अपने को पुत्र मान कर उपासना करने की प्रणाली है। पर परमात्मा को बाल स्वरूप मानकर इसी भाव से उसकी उपासना करने की उद्भावना स्वामी वल्लभाचार्य्य का ही आविष्कार है। उपासना का प्रयोजन यह है कि परमात्मा के अशेष गुणों का मनन और चिन्तन करके तदनुरूप अपने को बनाना, आर्य धर्म का यह सिद्धान्त वाक्य है 'यच्चिन्तति तद्भवति' मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बनता है। पौराणिक धर्म में नाम जपने की बड़ी महिमा है। निर्गुण-

1—" If my soul is to go on into high spiritual blessedness, it must beecome a woman; yes, however, manly thou may be among men. ,,—Newman.

वादियों में यह सिद्धान्त बहुत व्यापक रूपमें गृहीत है। उद्देश्य इसका यही है कि बिना नामके परिचय नहीं होता, और बिना परिचय के गुण-ग्रहण की संभावना नहीं। किन्तु नाम जपनेका लक्ष्य भी तादात्म्य और गुण-ग्रहण ही है, अन्यथा उपासना व्यर्थ हो जाती है। इसीलिये भगवद्गीताका यह महावाक्य है, 'ये यथामाम् प्रपद्यन्ते तान् तथैव भजाम्यहम्'। मुझको जो जिस रूपमें भजता है। मैं उसको उसी रूपमें प्राप्त होता हूं। बालभाव की उपासना का अर्थ है बालकोंके समान निरीह, निर्दोष और सरल अवस्थाका प्राप्त करना। कहा जाता है, बालक सदैव स्वर्गीय बातावरणमें बिचरता रहता है, इस कथन का मर्म यह है कि वह समस्त सांसारिक बन्धनों और झगड़ों से मुक्त होता है और उसके भावों में एक स्वर्गीय मधुरता विद्यमान रहती है। बालभाव की उपासना में माधुर्य्य-भावना की चरम सीमा दृष्टिगत होती है। परन्तु इस अवस्थाका प्राप्त करना सहज नहीं। बाल्यावस्था के बाद जो अवस्थायें सामने आती हैं उनको बिल्कुल भूल जाना बहुत बड़ी साधना से सम्बन्ध रखता है। भारतवर्ष में सौ ड़ेढ़ सौ वर्ष के भीतर अनेक महात्माओं का आविर्भाव हुआ है। उनमें से एक परमहंस रामकृष्ण को कभी कभी बाल-भाव में मग्न देखा जाता था। परन्तु उनको भी यह अवस्था कुछ काल के लिये ही प्राप्त होती थी। सदैव इस दशा में वे नहीं रह सकते थे। इसी असम्भवता के कारण स्वामी वल्लभाचार्य्य प्रचारित बालभाव उपासना की पद्धति को व्यापकता नहीं प्राप्त हुई। उनकी प्रेमिका और प्रेमिक भावकी उपासना ही व्यापक रूप से गृहीत हुई और आज भी उसकी मधुरता उसके अधिकारियों को विमुग्ध कर रही है। अद्वैतवाद में साधक को अपनी सत्ता को विलोप कर देना पड़ता है, क्यों कि द्वैत का भाव उत्पन्न होते ही अद्वैत भाव सुरक्षित नहीं रह सकता। इसीलिये इस मार्ग पर चलना अत्यन्त दुर्लभ है। कोई कोई सच्चा उच्च कोटि का ज्ञान मार्गी ही उस पद्धति का अधिकारी हो सकता है। भक्ति मार्ग में अपनी सत्ता को सर्वथा लोप करना नहीं पड़ता। परन्तु, मर्यादा पद पद पर उसकी सहचरी रहती है, क्यों कि भक्ति महत्ता के अभाव में उत्पन्न नहीं होती और महान् पुरुष के साथ मर्य्यादा का उल्लंघन नहीं हो सकता। इसलिये मानवी सत्ता

भक्ति मार्गमें भी बन्धनोंसे मुक्त नहीं होती। और अनेक अवस्थाओंमें उसकी वांछित स्वतंत्रता में बाधा भी पड़ती रहती है। प्रेम पथ इन बन्धनों से मुक्त रहता है। उसमें अपनी सत्ता तो बहुत कुछ सुरक्षित रहती ही है उसकी स्वतंत्रता में भी उतनी बाधा नहीं पड़ती। प्रेमिका प्रेम-पात्र को यथावसर टेढ़ी-मेढ़ी बातें भी कह देती है और दिल खोलकर उपालम्भ देने में भी संकुचित नहीं होती। ऐसा वह प्रेमातिरेक के वश होकर ही करती है दम्भ अथवा अभिमान से नहीं। यही कारण है कि यह उपासना पद्धति अधिकतर गृहीत हुई और माधुर्य भावना कही गई। आज दिन भारतवर्ष का कौन सा प्रदेश है जिसमें वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के मन्दिर नहीं और जिसमें राधा-कृष्ण की मूर्ति विराजमान नहीं? रामावत सम्प्रदाय भी इस माधुर्य्य भाव की उपासना से प्रभावित हुआ और उसमें भी आजकल सखी भाव की सृष्टि होकर यह पद्धति गृहीत हो गई है।

भगवान कृष्णचन्द्र जैसे विलक्षण प्रेम स्वरूप प्रेमिक हैं श्रीमती राधिका वैसी ही प्रेम प्रतिमा। असंख्य ब्रह्माण्ड के अधिप आकाश का जो वर्ण है वही वर्ण प्रेमावतार श्री कृष्णचन्द्र का है, जो इस बात का सूचक है कि जो इस रंगमें सच्चे जी से रँगा उसने माधुर्य समुद्र में ही प्रवेश किया, आजन्म उसमें ही निमग्न रहा। श्यामायमाना वसुन्धरा में भी वही छटा दृष्टिगत होती है और विश्वविरामदायिनी रजनी में भी। वे विश्वरूप हैं, इसलिये सूर्य्य, शशांक, वह्नि नयन हैं; मयूर-मुकुट-मण्डित, बनमाली, एवं गिरिधर भी हैं। ब्रह्माण्ड की चोटी के ध्वन्यात्मक स्वर से उनकी मुरलिका स्वरित है, जिसको सुन सलिल-प्रवाह रुक जाता है, पवन नर्तन करने लगता है, दिशायें प्रफुल्ल हो जाती हैं और वृक्ष तक का पत्तापत्ता आनन्द से आन्दोलित होने लगता है। वे लोक ललाम हैं। अतएव कोटिकाम कमनीय हैं, वे सच्चिदानन्द हैं, इसलिये संसार सुखके सर्वस्व हैं, माधुर्य्यमय विभूतिके मूल हैं एवं लोक-लीलाओंके लोकोत्तर आधार। उन्हीं की तद्गता प्रेमिका और आराधिका श्रीमती राधिका हैं। वे भी उन्हीं के समान लोकोत्तर सुन्दरी और अलौकिक शक्ति शालिनी हैं। उनका संयोगमय जीवन बड़ा ही भावमय, उदात्त और

सहृदय-हृदय-संवेद्य है । उनकी रागात्मिका प्रकृति जितनी ही लोक रंजिनी है उतनी ही चमत्कारमयी । वे इतनी प्रेम परायणा हैं कि प्रियतम का क्षणिक वियोग भी सह्य नहीं, किन्तु इतनी आत्मावलंबिनी हैं कि वियोग अवस्था उपस्थित होने पर वे विश्वमात्र में अपने आराध्यदेव की विभूतियों को अवलोकन करती हैं और इसप्रकार अपने उन्मत्त प्राय हृदय में वह रस धारा बहाती हैं जिसको सुधाधारा से भी सरस कह सकते हैं। उनकी वियोग वेदनायें पत्थर को भी द्रवीभूत करती हैं, किन्तु इस सिद्धान्त का अनुभव कराती हैं कि 'प्रेम की पीड़ायें बड़ी मधुर होती हैं।'

(Love's pain is very sweet)

महाप्रभु वल्लभाचार्य का सिद्धान्त इन्हीं युगल मूर्तियों पर अवलम्बित है। इसी लिये वह इतना हृदयग्राही, मनोहर और व्यापक है कि वही विविध विदेशी भाव-प्रवाह में बहती हुई हिन्दूजनता का प्रधान पोत बना । उनके इस लोक मोहक सिद्धान्त के मूर्तिमन्त अवतार चैतन्य देव थे । यह भी हिन्दू जनता का सौभाग्य है कि वे भी उसी समय में अवतीर्ण हुए और अपने आचरणों द्वारा उन्हों ने ऐसा आदर्श उपस्थित किया, जिससे इस युगलमूर्ति के प्रेम प्रवाह में बंगाल प्रान्त निमग्न हो गया। उनके विषय में बङ्गाल प्रान्त के प्रसिद्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित लेखक दिनेशचन्द्र सेन बी० ए० क्या कहते हैं सुनिये:—

"यदि चैतन्यदेव न जन्म लेते तो श्रीराधा का जलद-जाल को देखकर नेत्रों से अश्रु बहाना, कृष्ण का कोमल अंग समझ कर कुसुमलता का आलिंगन करना, टकटकी बाँधकर मयूर-मयूरी के कण्ठको देखते रह जाना, और नव-परिचय का सुमधुर भावावेश कवि की कल्पना बन जाता। एवं भाव के उल्लास से उत्पन्न हुई उनकी विभ्रममय आत्म-विस्मृति आजकल के असरस युग में कवि-कल्पना कही जाकर उपेक्षित होती । किन्तु चैतन्य देव ने श्रीमद्भागवत और वैष्णव गीतों की सत्यता प्रमाणित कर दी। उन्हों ने दिखलाया कि यह विराट् शास्त्र भक्ति की भित्ति पर, नयनों के अश्रु पर, और चित्त की प्रीति पर अचल भाव से खड़ा है। इस शास्त्र के

शोभा सर्वस्व पूर्वराग, विरह, सम्भोग, मिलन इत्यादिसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी ललित लीलाओं की सरस धारायें बही हैं, वे कल्पित नहीं हैं। उनका आस्वादन हुआ है और वे आस्वादन योग्य हैं। प्रेम की अद्भुत स्फूर्ति से चैतन्यदेव की देह कदम्ब पुष्प के समान रोमाञ्चित बनती, उन्हें समुद्र की लहरें यमुना की लहरें जान पड़तीं, चटक पर्वत गोवर्द्धन प्रतीत होता, और उनके लिये पृथ्वी कृष्णमय हो जाती। इसी अपूर्व भक्ति और प्रेमकी सामग्री के आधार से श्रीमती राधिका सुन्दरी सृष्ट हुई हैं। उनके विरह जन्य कष्ट को एक कणिका धारण करे, अथवा उनके सुख की एक लहरीका अनुभव कर सके, इस प्रकार का नारी-चरित्र पृथ्वी-तल के काव्योद्यान में नहीं पाया जाता"। * अबतक इस विषय में जो कुछ लिखा गया उससे यह सिद्ध होता है कि सोलहवीं शताब्दी में महाप्रभु बल्लभाचार्य्यने कृष्णप्रेमकी जो सरस धारा बहाई वह समयोपयोगी थी और उसका उस काल और उसके बाद के हिन्दी साहित्य पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा।

(३)

इस शताब्दी में जिस प्रकार एक नवीन धर्म का प्रवाह प्रवाहित होकर हिन्दू जाति की धार्मिक प्रवृत्ति में एक अभिनव स्फूर्ति उत्पन्न करने का साधन हुआ। उसी प्रकार हिन्दी भाषा सम्बन्धी साहित्य में ऐसी दो मुग्धकारी मूर्त्तियां भी सामने आईं, जो उसको बहुत बड़ी विशेषता प्रदान करने में समर्थ हुईं। वे दो मूर्तियां ब्रजभाषा और अवधी की हैं। इन दोनों उपभाषाओं में जैसा सुन्दर और उच्चकोटि का साहित्य इस शताब्दी में विरचित हुआ फिर अब तक वैसा साहित्य हिन्दू संसार सर्वसाधारण के सामने उपस्थित नहीं कर सका। इसलिये इस काल के कविगण की चर्चा करने के पहले यह उचित ज्ञात होता है कि इन उपभाषाओं की विशेषता पर कुछ प्रकाश डाला जावे जिससे इनमें हुई रचनाओं की महत्ता और स्वाभाविकता स्पष्टतया बतलायी जा सके। इस विचार को सामने रखकर अब मैं इनकी विशेष प्रणालियों को यहां उपस्थित करता हूं।

अवधी और ब्रजभाषा की कुछ विशेषतायें तो ऐसी हैं जो दोनों ही में

* देखिये बंग भाषा और साहित्य का पृ० २४३, २४४।

समान हैं। इस लिये मैं पहले उन्हीं की चर्चा करता हूं बाद में उनकी भिन्नतायें भी बतलाऊंगा। इन दोनों भाषाओं में प्राकृत भाषा के समान संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिकतर नहीं देखा जाता। ये दोनों अर्द्धतत्सम विशेष कर तद्भव शब्दों ही पर अवलम्बित हैं। सुख, मन, धन जैसे थोड़े से संस्कृत के तत्सम शब्द ही इन में पाये जाते हैं। स्वरों में ऋ ॠ और ऌ तथा ॡ का प्रयोग होता ही नहीं। ऋ के स्थानपर रि का ही प्रयोग प्रायः मिलता है। इनमें ऋतु और ऋजु रितु और रिजु बन जाते हैं। हाँ! कृपा जैसे शब्दों में संयुक्त ऋ का व्यवहार अवश्य देखा जाता है। इन दोनों में एक प्रकार से 'श', 'ण', और 'क्ष' का अभाव है। क्रमशः उनके स्थान पर स, न, और छ लिखा जाता है। केवल 'श्री' में शकार का उच्चारण सुरक्षित रहता है। ष का प्रयोग होता है, पर पढ़ा वह ख जाता है। युक्त विकर्ष इनका प्रधान गुण है। अर्थात् संयुक्त वर्णों को ये अधिकतर सस्वर कर लेती हैं, जैसे सर्व को सरब, गर्व को गरब, कर्म को करम, धर्म को धरम, स्नेह को सनेह इत्यादि। ऊर्ध्वगामी रेफ या रकार अवश्य सस्वर हो जाता है, परन्तु जो रकार ऊर्ध्वगामी नहीं पाद लग्न होता है वह प्रायः संयुक्त रूप ही में देखा जाता है, विशेष कर वह जो आदि अक्षर के साथ सम्मिलित होता है, जैसे क्रम इत्यादि। ऐसे ही कोई कोई संयुक्त वर्णसस्वर नहीं भी होता जैसे अस्त का स। यह देखा जाता है कि संयुक्त वर्ण को जहाँ सस्वर करने से शब्दार्थ भ्रामक हो जाता है वहाँ वह सुरक्षित रह जाता है जैसे यदि क्रम को करम और अस्त को असत लिख दिया जाय तो जिस अर्थ में उनका प्रयोग होता है उस अर्थ की उपलब्धि दुस्तर हो जाती है। दोनों में जितने हलन्त वर्ण संस्कृत के आते हैं वे सब सस्वर हो जातेहैं, जैसे वरन् का न् इत्यादि। व्यंजनोंका प्रत्येक अनुनासिक अथवा पंचम वर्ण दोनोंहीमें अनुस्वार बन जाता है जैसे अङ्क, कलङ्क, पङ्कज, इत्यादि का क्रमशः अंक, कलंक पंकज लिखा जायगा। इसी प्रकार चञ्चल, सञ्चय, किञ्चित इत्यादि क्रमशः चंचल संचय और किंचित हो जाँयगे। कण्टक, खण्डन, मण्डन, पण्डितका रूप क्रमश कंटक: खंडन, मंडन, पंडित होगा। आनन्द, अंत और सन्तका रूप क्रमशः आनंद, अंत और संत हो

जायगा। और सम्पत्ति, दम्पति, कम्पित इत्यादि क्रमशः संपत्ति, दंपति, और कंपित बन जायंगे। प्राकृत के कुछ प्राचीन शब्द ऐसे हैं जो दोनों में समान रूप से गृहीत हैं जैसे नाह, लोयन, सायर इत्यादि। कुछ शब्दों के मध्य का 'व', 'औ', से, और 'य' 'ऐ' से प्रायः बदल जाता है, जैसे पवन का पौन, भवन का भौन, रवन का रौन इत्यादि और नयन का नैन, बयन का बेन, सयन का सैन इत्यादि। परन्तु विकल्प से तत्सम रूप भी कहीं कहीं वाक्य के स्वारस्य पर दृष्टि रख कर लिख दिया जाता है। अपभ्रंश के प्रथमा द्वितीया और षष्ठी विभक्तियों का लोप प्रायः देखा जाता है। अवधी और ब्रजभाषा में इनका तो लोप होता ही है, सप्तमी विभक्ति का लोप भी होता है यथावसर अन्य विभक्तियों का भी। अपभ्रंश में प्रथमा और द्वितीया के एक वचन में प्रायः उकार का संयोग प्रातिपादिक शब्दों के अंतिम अक्षर में देखा जाता है। अवधी और ब्रजभाषा में भी यह प्रणाली गृहीत है। कभी कभी विशेषण और अव्ययों में भी वह दिखलाई पड़ता है। गुरु को लघु और लघु को गुरु आवश्यकतानुसार दोनों में कर दिया जाता है। पूर्व कालिक क्रिया बनाने के समय धातु का चिन्ह 'ना' दूर करके उसके बाद वाले वर्ण में इकार का प्रयोग दोनों करते हैं, जैसे 'करि' 'धरि' 'सुनि' इत्यादि। यह इकार तुकान्त में दीर्घ भी हो जाता है। ब्रजभाषा में बहु वचन के लिये न का प्रयोग होता है। जैसे 'घोरा' का 'घोरान', और 'छोरा' का 'छोरान', परन्तु दूसरा रूप 'घोरन' और 'छोरन' भी बनता है। अवधी में केवल दूसरा ही रूप होता है। गोस्वामी जी लिखते हैं—'तुरत सकल लोगन पँह जाहू', 'पुरवासिन देखे-दोउ भाई' 'हरिभक्तन देखेउ दोउ भ्राता'। परन्तु जाईसीको न के स्थान पर न्ह का प्रयोग ही बहुधा करते देखा जाता है। प्रकृति के साथ विभक्ति मिला कर लिखने की प्रणाली दोनों भाषाओं में समान रूप से पाई जाती है। ब्रजभाषा का पुराना रूप 'रामहिं', 'बनहिं', 'घरहिं और नये रूप 'रामै' 'बनै', 'घरे' इसके प्रमाण हैं। अवधी में भी यह बात देखी जाती है, जैसे 'घरे जात बाटी' का 'घरे', 'नैहरे जोय' १ का नैहरे'। 'जाना', 'होना' के

१—बन में अहिर नैहरे जोय। जल में केवट केहुक न होय।

भूतकाल के रूप 'गवा' भवा' में से व' निकालने पर जैसे अवधी में 'गा' 'भा' रूप बनते हैं वैसे ही ब्रजभाषा में भी 'य' को हटा कर 'गो' 'भो' बनाया जाता है जो बहुवचन में 'गे' 'भे' हो जाता है। ब्रजभाषा के करण का चिन्ह 'ते' और अवधी के करण का चिन्ह 'से' भूतकालिक कृदन्त में ही लगते हैं, जैसे 'किये ते' और 'किये से' जिनका अर्थ है 'करने से'। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में कृदन्त का रूप समान अर्थात् लध्वन्त होता है, जैसे 'गावत', 'खात', 'अलसात', 'जम्हात' इत्यादि। अन्तर इतना ही है कि ब्रजभाषा में 'गावतो', 'खातो', 'अलसातो', 'जम्हातो' इत्यादि भी लिख सकते हैं। ब्रजभाषा में धातु के चिन्ह तीन हैं—एक के अन्त में 'नो' होता है जैसे 'करनो' 'कहनो' आदि; दूसरे के अन्त में 'न' पाया जाता है जैसे 'लेन' 'देन' इत्यादि और तीसरे के अन्त में 'बो' होता है, जैसे 'दैबो' 'लैबो'। देना लेना के दीबो, लीबो भी रूप बनते हैं। इन तीनों रूपों में से पहला रूप कारक चिन्ह-ग्राही नहीं होता। शेष दो में कारक चिन्ह लगते हैं, जैसे लेन को, देन को, लैबे को, दैबे को इत्यादि। अवधी में साधारण क्रिया के अन्त में केवल 'ब' रहता है, जैसे आउब' 'जाब' 'करब' इत्यादि। मध्यम पुरुष का विधि 'ब' में 'ई' मिला कर ब्रज के दक्षिण भाग में बुन्देलखण्ड तक बोलते हैं, जैसे 'आयबी' 'करबी' इत्यादि। यह ब्रज भाषा का व्यापक प्रयोग है।

अब मैं ब्रजभाषा और अवधी के उन प्रयोगों को बतलाता हूं जिनमें भिन्नता है। ब्रजभाषा में भूत काल की सकर्मक क्रिया के कर्त्ता के साथ 'ने' का चिन्ह आता है। हाँ, यह अवश्य है कि इस भाषा के कुछ कवियों ने ही इसका प्रयोग कदाचित किया है। सूरदासादि महाकवियों ने प्रायः ऐसा प्रयोग नहीं किया। अवधी में 'ने' का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। बचन के सम्बन्ध में यह देखा जाता है कि ब्रजभाषा में एक बचन का बहु बचन सभी अवस्था में होता है, जैसे 'लड़का' का 'लड़के' अलि का अलियां इत्यादि। अवधी में एक बचन का बहु बचन कारक-चिन्ह लगने पर ही होता है। ब्रजभाषा में भविष्य काल की क्रिया केवल तिङन्त ही नहीं होती, उसमें खड़ी बोली के समान 'ग' का व्यवहार भी होता है।

जैसे, 'गावैगो' इत्यादि। परन्तु अवधीमें 'करिहइ' 'कहिहइ' आदि तिङन्त रूप हो बनता है। अवधी इकार-बहुला और ब्रजभाषा यकार-बहुला है। पूर्व-कालिक क्रियाका अवधो रूप 'उठाइ', 'लगाइ' 'बनाइ', 'होइ', 'रोइ' इत्यादि होगा। किन्तु ब्रजभाषाका रूप 'उठाय', 'लगाय', 'बनाय', 'होय', रोय आदि बनेगा। इसो प्रकार अवधो का 'करिहइ', 'चलिहइ', 'होइहइ' ब्रजभाषा में 'करिहय', 'चलिहय', 'होइहय' हो जायगा। परन्तु अन्तर यह होता है कि लिखने अथवा व्यवहार के समय ब्रजभाषा में 'हय' 'है' हो जाता है। इस लिये उसको 'करिहै' 'चलिहै' 'होयहै' इत्यादि लिखते हैं। इसी प्रकार अवधी का 'इहां' ब्रजभाषा में 'यहां' बन जाता है। अवधो का 'उ' ब्रजभाषा में 'व' हो जाता है जैसे 'उहां' का वहां और 'हुआं' का 'ह्वां' ब्रजभाषा के शब्द प्राय खड़ो बोलो के समान दोर्घान्त होते हैं। खड़ो बोली की ऐसी पुलिङ्ग संज्ञायें, जो कि आकारान्त हैं, वृजभाषा में ओकारान्त बन जाती हैं। विशेषण एवं सम्बन्ध कारक के सर्वनाम भी इसी रूप में दृष्टिगत होते हैं। जैसे 'रगरो' 'झगरो' 'छोरो' 'थोरो' 'साँवरो' 'गोरो' 'कैसो' 'जैसो' 'तैसो' 'बड़ो' 'छोटो' 'हमारो' 'तुम्हारो' 'आपनो' इत्यादि। इसी प्रकार आकारान्त साधारण भूत कालिक कृदन्त क्रियायें भी ओकारान्त बनती हैं, जैसे 'आयो', 'दोन्हो', 'लीन्हो' इत्यादि। पर अवधी के शब्द अधिकतर लघ्वन्त या अकारान्त होते हैं जिससे लिंग भेद का प्रपंच कम होता है जैसे, 'अस', 'जस', 'तस', 'छोट', 'बड़', 'थोड़', 'गहिर', 'साँवर', 'गोर', 'ऊँच', 'नीच' 'हमार', 'तोहार' इत्यादि। 'मोट', 'दूबर', 'पातर' इत्यादि विशेषण और आपन, मोर, तोर, सर्वनाम एवं 'कर', 'सन', तथा 'कहँ', 'महँ' कारक के चिन्ह भी इसके प्रमाण हैं। अवधी में साधारण क्रिया का रूप भो प्राय: लघ्वन्त ही होता है जैसे 'करब', 'धरब', 'हँसब', 'बोलब', इत्यादि। अवधीके 'हियां' 'सियार', 'कियारी', 'बियाह', 'बियाज', 'नियाव', 'पियास' आदि शब्द ब्रजभाषा में 'ह्यां', 'स्यार', 'क्यारी', 'ब्याह', 'ब्याज', 'न्याव', 'प्यास', आदि बन जाते हैं। अर्थात् ऐसे शब्दों के आदि वर्ण का इकार स्वर लोप हो जाता है और वह हलन्त होकर परवर्ण में मिल जाता है। ऐसा अधिकांश उसी शब्द में होता है जिसके मध्य में 'या' होता है।

'उ' के पश्चात् 'आ' का उच्चारण भी ब्रजभाषा के अनुकूल नहीं है। अवधी भाषा का 'दुआर' और 'कुँआर' ब्रजभाषा में द्वार' और 'कार' अथवा 'कारो' बन जाता है। 'ऐ' और 'औ' का उच्चारण अवधी में 'अइ' और 'अउ' के समान होता है, जैसे 'अउर' 'अइसा' 'कउआ' 'हउआ'। परन्तु ब्रजभाषा में उसका उच्चारण प्रायः 'ऐ' और 'औ' के समान होता है, जैसे 'ऐसा', 'कन्हैया', और 'कौआ' इत्यादि। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में वर्त्तमान काल और भविष्य काल के तिङन्त रूप भी मिलते हैं। और उनमें लिंग भेद नहीं देखा जाता। किन्तु ब्रजभाषा के वर्तमानकालिक क्रिया के रूप में यह विशेष बात पाई जाती है कि उनमें इस प्रकार की क्रियायें 'होना' धातु के रूप के साथ बोली जाती हैं। 'पढ़ना' क्रिया का रूप उत्तम पुरुषमें 'पढ़ौ हौं' या 'पढ़ूँ हूँ', मध्यम पुरुष में 'पढ़ौ हो' और अन्य पुरुष में 'पढ़ै है' होगा। अवधी में भी इसी प्रकार का प्रयोग होता है। गोस्वामी जी लिखते हैं:—

'गहै घ्राण बिनु बास अशेषा'

'पंगु चढ़ै गिरवर गहन'

परन्तु भविष्य काल के तिङन्त रूप अवधी और ब्रजभाषा में एक ही प्रकार के होंगे। अवधी में होगा 'करिहइ' 'होइहइ'। और ब्रजभाषा में होगा 'करिहय=करिहै' 'होइहय=होयहै' या 'ह्वै है'। अवधी के उत्तम पुरुष में होगा 'खइहउँ' किन्तु ब्रजभाषा में होगा 'खयहौं=खैहौं'। अन्तर केवल यही होगा कि जहाँ अवधी में 'इ' का प्रयोग होगा वहाँ ब्रजभाषा में 'य' का। पहले सर्वनाम में जब कारक-चिन्ह लगाया जाता था तब अवधी और ब्रजभाषा दोनों में 'हि' का प्रयोग कारक के पहले होता था। परन्तु अब दोनों में 'हि' को स्थान नहीं मिलता है। जैसे अवधी 'केहिकर' और 'जेहिकर' 'केकर' और 'जेकर' बन गया है उसी प्रकार ब्रजभाषाका 'काहि-को' 'जाहि को' अब 'काको' 'जाको' बोला जाता है। ब्रजभाषा में 'आवहिं' 'जाहिं' का प्रयोग भी मिलता है और उसके दूसरे रूप 'आवैं', 'जाँय' का भी। कुछ लोगों का बिचार है कि पहला रूप प्राचीन है और दूसरा आधुनिक। इसी प्रकार 'इमि', 'जिमि', 'तिमि' के स्थान पर 'यों' 'ज्यों',

त्यों का व्यवहार भी देखा जाता है। इनमें भी पहले रूप को प्राचीन और दूसरे को आधुनिक समझते हैं। परन्तु अब तक दोनों रूप ही गृहीत हैं, कुछ लोग आधुनिक काल में दूसरे प्रयोगों को ही अच्छा समझते हैं। कुछ भाषा मर्मज्ञ कहते हैं कि ब्रज की बोलचाल की भाषा में केवल सर्वनाम के कर्म कारक में ह कुछ रह गया है जैसे 'जाहि' 'ताहि' या जिन्हैं, तिन्हैं आदि में। परन्तु दिन दिन उसका लोप हो रहा है और अब 'जाहि', 'वाहि' के स्थान पर 'जाय' 'वाय' बोलना ही पसंद किया जाता है। किन्तु यह मैं कहूंगा कि 'जाय' 'वाय' आदि को बोलचाल में भले ही स्थान मिल गया हो, पर कविता में अब तक 'जाहि' 'वाहि' का अधिकतर प्रयोग है।

अवधी और ब्रजभाषा की समानता और विशेषताओं के विषय में मैंने अब तक जितना लिखा है वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता, परन्तु अधिकांश ज्ञातव्य बातें मैंने लिख दी हैं। अवधी और ब्रजभाषा के कवियों एवं महाकवियों की भाषा का परिचय प्राप्त करने और उनके भाषाधिकार का ज्ञान लाभ करने में जो विवेचना की गई है मैं समझता हूं उसमें वह कम सहायक न होगी। इस लिये अब मैं प्रकृत विषय की ओर प्रवृत्त होता हूं।

(४)

इस शताब्दी के आरम्भ में सब से पहले जिस सहृदय कवि पर दृष्टि पड़ती है वह पद्मावत के रचयिता मलिक मुहम्मद जायसी हैं। यह सूफ़ी कवि थे और सूफ़ी सम्प्रदाय के भावों को उत्तमता के साथ जनता के सामने लाने के लिये ही उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की है। जिन्होंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा है वे समझ सकते हैं कि स्थान स्थान पर उन्होंने किस प्रकार और किस सुन्दरता से सूफ़ी भावों का प्रदर्शन इसमें किया है।

इनके ग्रन्थ के देखने से पाया जाता है कि इनके पहले 'सपनावती', 'मुगधावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती' नामक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी। इनमें से मृगावती और मधुमालती नामक ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। शेष ग्रन्थों का पता अब तक नहीं चला। 'मृगावती' की रचना कुतबन ने की है और मधुमालती की मंझन नामक

कवि ने। इन दोनों का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का अन्तिम काल ज्ञात होता है। ये दोनों भी सूफी कवि थे और इन्होंने भी अपने ग्रन्थों में स्थान स्थान पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का निरूपण बड़ी सरलता के साथ किया है। इन सूफ़ी कवियों में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो लग-भग सब में पाई जाती हैं। पहली बात यह कि सब के ग्रन्थों की भाषा प्रायः अवधी है। सभी ने हिन्दी छन्दोंकोही लिया है, और दोहा—चौपाई में ही अपनी रचनायें की हैं। प्रेम—कहानी ही का कथन उनका उद्देश्य होता है, क्योंकि उसी के आधार से संयोग, वियोग और प्रेम के रहस्यों का निरूपण वे यथाशक्ति करते हैं इस प्रेम का नायक और नायिका अधि-कांश कोई उच्च कुल का हिन्दू प्रायः कोई राजा या रानी होती है। इन सुकवियों की विशेषता यह है कि वे सद्भाव के साथ अपने ग्रन्थ की रचना करते देखे जाते हैं, कटुता बिल्कुल नहीं आने देते। वर्णन में इतनी आत्मीयता होती है कि उनके पढ़ने से यह नहीं ज्ञात होता कि किसी दुर्भावना के वश होकर इनकी रचना की गयी है, या किसी विधर्मी या विजातीय की लेखनी से वह प्रसूत है। प्रेम-मार्गी होने के कारण वे प्रेम-मार्ग का निर्वाह ही अपनी रचनाओंमें करते हैं औरसूफ़ी मत की उदारता पर आरूढ़ होकर उसमें ऐसी आकर्षिणी शक्ति उत्पन्न करते हैं जो अन्य लोगों के मानस पर बहुत कुछ प्रभाव डालने में समर्थ होती है। मलिक मुहम्मद जायसी इन सब कवियों में श्रेष्ठ हैं और उनकी कृतियां इस प्रकार के सब कवियों की रचनाओं में विशेषता और उच्चता रखती हैं।

जायसी बड़े सहृदय, कवित्व-शक्ति-सम्पन्न कवि थे। प्रतिभा भी उनकी विलक्षण थी, साथ ही धार्म्मिक कट्टरता उनमें नहीं पायी जाती। वे अपने पीर, पैग़म्बर और धर्मगुरु की प्रशंसा करते हैं और यह स्वाभाविकता है, विशेषता उनकी यह है कि वे अन्य धर्मवालोंके प्रति उदार हैं और उनको भी आदरकी दृष्टि से देखते हैं। उनका हिन्दू-धर्म का ज्ञान भी विस्तृत है। उसके भावों को वे बड़ी ही मार्मिकता से ग्रहण करते हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में उनकी इतनी तन्मयता मिलती है जो यह प्रतीति उत्पन्न करती है कि वे उस समय सर्वथा उन्हीं के भावों में लीन हो गये हैं। इन कवियों की

भाषा अधिकतर साफ सुथरी है और सरसता उसमें पर्य्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

पहले कुतबन की रचना ही देखिये। वे लिखते हैं:—

साहु हुसैन अहै बड़ राजा, छत्रसिंहासन उनकोछाजा।
पंडित औ बुधिवंतसयाना, पढ़ै पुरान अरथ सब जाना।
धरम जुधिष्ठिरउनकोछाजा, हमसिरछाँह कियो जगराजा।
दानदेह औ गनत न आवै, बलि औ करन न सरवरि पावै।

नायक के स्वर्गवास होजाने पर नायिकाओं की दशा का वर्णन वे यों करते हैं:—

रुक्मिनि पुनि वैसहिं मरिगयी, कुलवंती सतसों सति भई।
बाहर वह भीतर वह होई, घर बाहर को रहै न जोई।
बिधिकर चरित न जानइ आनू,जो सिरजासो जाहि नियानू

उर्दू की शाइरी में आप देखेंगे कि उसके कवि फ़ारस की सभ्यता के ही भक्त हैं। वे जब प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते है तो फ़ारस के ही दृश्यों को सामने लाते हैं। साक़ी व पैमाना बुलबुल व क़ुमरी, सर्व व शमसाद, शमा व फ़ानूस, जवांनाने चमन व उरूसाने गुलशन नरगिस व सुम्बुल, फ़रहाद व मजनूं, मानी व बहज़ाद, ज़बाने सुराही व ख़न्दए क़ुलक़ुल वग़ैर: उनके सरमायये नाज़ हैं। आम तौर से वे इन्हीं पर फ़िदा हैं, शाज़ व नादिर की बात दूसरी है। हज़रत आज़ाद इन्हीं की तरफ़ इशारा कर के फ़रमाते हैं:—

"इनमें बहुत सी बातें ऐसी हैं जो ख़ास फ़ारस और तुर्किस्तान के मुल्कों से तबई और ज़ाती तअल्लुक़ रखती हैं। इसके अलावा बाज़ ख़याला‌त में अकसर उन दास्तानों या क़िस्सों के इशारे भी आगये हैं जो ख़ास मुल्क फ़ारस से तअल्लुक़ रखते हैं। इन ख़्यालों ने और वहां की तशबीहों

ने इस क़दर ज़ोर पकड़ा कि उनके मशाबेह जो यहां की बातें थीं उन्हें बिल्कुल मिटा दिया।" १

इन सूफ़ी कवियों की रचनाओं में ये दोष नहीं पाये जाते हैं। वे अपने को भारतवर्ष का समझते हैं और भारतवर्ष के उदाहरण आवश्यकता होने पर सामने लाते हैं। वे जब प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हैं उस समय भी भारत की सामग्रियों से ही काम लेते हैं। कुतबन ने हुसेन के वर्णन में उसकी धर्मज्ञता की समता युधिष्ठिर से ही की है। दान देने का महत्व बलि और कर्ण को ही सामने रख कर प्रगट किया है यद्यपि उसका प्रशंसापात्र मुसल्मान था। ऊपर के पद्यों में दो स्त्रियों का सती होना और उनकी दशा का वर्णन भी उसने हिन्दू सभ्यता के अनुसार ही किया है। इससे सूचित होता है कि इन सूफ़ी कवियों के हृदय में वह विजातीय भाव उस समय घर नहीं कर सका था जो बाद के मुसल्मानों में पाया जाता है। शाह हुसेन शेरशाह का पिता था और कुतबन उसीके समय में था। इस समय भी मुसल्मानों का प्राबल्य बहुत कुछ था। फिर भी कुतबन में हिन्दू भावों के साथ जो सहानुभूति देखी जाती है वह प्रेम-मार्गी सूफ़ी की उदारता ही का सूचक है। मंझन और मलिक मुहम्मद जायसी में यह प्रवृत्ति और स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होती है। मैं पहले कह आया हूं कि सूफ़ी धर्म के विद्वान् संसार की विभूतियों में परमात्मा की सत्ता को छिपी देखते हैं और उन्हीं के आधार से वे उसकी सत्ता का अनुभव करना चाहते हैं। मंझन कवि एक स्थानपर इस भाव को इस प्रकार प्रकट करता है:—

देखत ही पहचानेउँ तोही। एही रूप जेहि छँदर्‌यो मोही।
एही रूप बुत अहै छिपाना एही रूप रब सृष्टि समाना।
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा।

१—देखिये-चतुर्दश हिन्दी साहित्य सम्मेलनके सभापतित्वपदसे लेखकका भाषणपृ०२५

संयोग (वस्ल) के कामुक सूफ़ी प्रेमिकों ने वियोगावस्था का वर्णन भी बड़ा ही मार्मिक किया है। वियोगावस्था में संयोग कामना कितनी प्रबल हो उठती है, इसका दृश्य प्रतिदिन दृष्टिगत होता रहता है। मानव-प्रेम-कहानियों में भी इसके बड़े सुन्दर वर्णन हैं। सूफ़ियों का वियोग यतः ईश्वर सम्बन्धी होता है, इसलिये वह अधिक उदात्त और हृदयग्राही हो जाता है और उसकी व्यापकता भी बढ़ जाती है। मंझन इस वियोग का वर्णन निम्न लिखित पद्यों में किस प्रकार करता है, देखिये:—

बिरह अवधि अवगाह अपारा।
कोटि माहिं एक परै न पारा।
बिरह कि जगत अबिरथा जाही?
बिरह रूप यह सृष्टि सबाही।
नयन बिरह अंजन जिन सारा।
बिरह रूप दर्पन संसारा।
कोटि माहिं बिरला जग कोई।
जाहि सरीर बिरह दुख होई।
रतन कि सागर सागरहिँ?
गज मोती गज कोय।
चँदन कि बन बन उपजइ?
बिरह कि तन तन होय?

अब मलिक मुहम्मद जायसी की कुछ रचनाओं को भी देखिये। प्रेम मार्गी सूफ़ी कवियों में जिस प्रकार वे प्रधान हैं वैसी ही उनकी रचना में भी प्रधानता है। उनकी प्रेम-कहानी लिखने की प्रणाली जैसी सुन्दर है वैसा ही स्थान स्थान पर उसमें सूफ़ी भावों का चित्रण भी मनोरम है। वे कवि ही नहीं थे, वरन् उन पीरों में उनकी गणना की जाती है जो उस समय पहुंचे हुये ईश्वर के भक्त समझे जाते थे। इसलिये उनकी रचनाओं

में ईश्वर-परायणता की झलक भी स्थान स्थान पर बड़ी ही मधुर देख पड़ती है। पदमावत के अतिरिक्त उनका 'अखरावट' नामक भी एक ग्रन्थ है। इसमें उन्हों ने प्रेम-मार्ग के सिद्धान्तों और ईश्वर-प्राप्ति के साधनों का वर्णन बोध—सुलभ रीति से किया है। किन्तु उनका विशेष आद्रित ग्रन्थ पदमावत है। अतएव उसमें से विविध भावों के कुछ पद्य मैं नीचे लिखता हूं। पहले संसार की असारता का एक पद्य देखिये:—

१—तौलहि साँस पेट महँ अही।
जौ लहि दसा जाउ कै रही।
काल आइ दिखरायो साँटो।
उठि जिउ चला छाँड़ि कै माटी।
काकर लोग कुटुम घर बारू।
काकर अरथ दरब संसारू।
ओही घड़ी सब भयेउ परावा।
आपन सोइ जो परसा खावा।
अहे जे हितू साथ के नेगी।
सबै लाग काढ़ै तेहि बेगी।
हाथ झारि जस चलै जुआरी।
तजा राज होइ चला भिखारी।
जब लगि जीउ रतन सब कहा।
भा बिन जीउ न कौड़ी लहा।

पदमावती एवं नागमती के सती होने के समय का यह पद्य कितना मार्मिक है—

२—सर रचि दान पुन्न बहु कीन्हा।
सात बार फिर भाँवर लीन्हा।

एक जो भाँवर भईं बियाही।
अब दुसरे होइ गोहन जाहीं।
जियत कंत तुम्ह हम्ह गल लाईं।
मुये कंठ नहिं छोड़हिं साईं।
लेइ सर ऊपर खाट बिछाई।
पौढीं दुवौ कंत गल लाई।
और जो गाँठ कंत तुम जोरी।
आदि अंत लहि जाइ न छोरी।
छार उठाइ लीन्ह एक मूठी।
दीन्ह उड़ाइ पिरथवी झूठी।
यह जग काह जो अथइ न जाथी।
हम तुम नाह दोऊ जग साथी।
लागीं कंठ अंग दै होरी।
छार भईं जरि अंग न मोरी।

३—राती पिउ के नेह की, सरग भयउ रतनार।
जोरे उवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार।

४—तुर्की, अरबो, हिन्दवी, भाखा जेती आहि।
जामें मारग प्रेम का, सबै सराहैं ताहि।

उनके कुछ ऐसे पद्यों को भी देखिये जिनमें उनकी सूफ़ियाना रंगत बड़ी सरसता के साथ प्रतिबिम्बित हो रही है:—

५—आजु सूर दिन अथयेउ।
आजु रयनि ससि बूड़।
आजु नाथ जिउ दीजिये।
आजु अगिन हम जूड़।

६—उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वैं सब बान ओहि के हने।
धरती बान बेधि सब राखी।
साखी ठाढ़ देहिं सब साखी।
रोम रोम मानुस तनु ठाढ़े।
सूतहि सूत बेध अस गाढ़े।
बरुनि बान अस ओपँह,
बेधे रन बन ढाँख।
सौजहि तन सब रोआँ,
पंखिहिं तन सब पाँख।
पुहुप सुगंध करइ यहि आसा।
मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा।
७—पवन जाइ तहँ पहुंचइ चहा।
मारा तैस लोट भुँइ रहा।
अगिनि उठी जरि उठी नियाना।
धुवाँ उठा उठि बीच बिलाना।
पानि उठा उठि जाइ न छूआ।
बहुरा रोइ आइ भुईं चूआ।
८—करि सिंगार तापहं का जाऊं।
ओही देखहुँ ठावहिं ठाऊँ।
जौ पिउ महँ तो उहै पियारा।
तन मन सों नहिं होइ निनारा।

नैन माँह है उहै समाना।
देखहुँ तहाँ नाहिं कोउ आना।

९—देखि एक कौतुक हौं रहा।
रहा अँतर पट पै नहिं रहा।

सरवर देख एक मैं सोई।
रहा पानि औ पानि न होई।

सरग आइ धरती महँ छावा।
रहा धरति पै धरति न आवा।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इन प्रेम मार्गी सूफ़ी कवियों और मलिक मुहम्मद जायसी के विषय में जो कुछ लिखा है वह अवलोकनीय है। इस लिये मैं यहाँ उसको भी उद्धृत कर देता हूं :—

'कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिन्दुओं और मुसल्मानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुये उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रक्खा जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखायी पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसल्मान हृदय आमने-सामने करके अजनबी-पन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसल्मान हो कर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कह कर उनके जीवन की मर्म-स्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामञ्जस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की

एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।" १

अब मैं इन प्रेममार्गी सूफी कवियों की भाषा पर कुछ विचार करना चाहता हूं। प्रेममार्गी कवि लगभग सभी मुसलमान और पूर्व के रहने वाले थे। इस लिये इनके ग्रन्थों की भाषा पूर्वी अथवा अवधी है। किन्तु यह देखा जाता है कि वे कभी कभी व्रजभाषा शब्दों का प्रयोग भी कर जाते हैं। कारण यह है कि अवधी जहाँ व्रजभाषा से मिलती है वहां वह उससे बहुत कुछ प्रभावित है। दूसरी बात यह कि अवधी अर्द्ध मागधी ही का रूपान्तर है। और अर्द्ध मागधी पर शोरसेनी का बहुत कुछ-प्रभाव है। शौरसेनी का ही रूपान्तर व्रजभाषा है। इस लिये इटावा इत्यादि के पास जहां अवधी व्रजभाषा से मिलती है वहां की अवधी यदि व्रजभाषा से प्रभावित हो तो यह स्वाभाविक है और उन स्थानों के निवासी यदि इस प्रकार की भाषा में रचना करें तो यह बात लक्ष्य योग्य नहीं। परन्तु देखा तो यह जाता है कि पूर्व प्रान्त के रहने वाले कवि भी अपनी अवधी की रचनाओं में व्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग करते हैं। मेरी समझ में इसका कारण यही है कि अवधी और व्रजभाषा का घनिष्ट सम्बन्ध है। अधिकांश कवियों को यह ज्ञात भी नहीं होता कि वे किस भाषा के शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं और अज्ञातावस्था में एक भाषा के शब्दों का प्रयोग दूसरी भाषा में कर देते हैं। वे अधिक पठित नहीं थे, इसलिये अपने आसपास की बोलचाल की भाषा में ही रचना करते थे परन्तु अपने निकटवर्ती प्रान्त के लोगों का कुछ संसर्ग उनका रहता ही था इसलिये उनकी बोलचाल की भाषा का प्रभाव कुछ न कुछ पड़ ही जाता था। संकीर्ण स्थलों पर कवि को समुचित शब्द विन्यास के लिये जिस उधेड़ बुन में पड़ना होता है वह अविदित नहीं। ऐसी अवस्था में अन्यभाषाओं के कुछ शब्द उपयुक्त स्थलों पर कवियों की भाषा में आये बिना नहीं रहते। जिस समय प्रेम-मार्गी कवियों ने अपनी रचना प्रारम्भ की थी उस समय कुछ धार्मिक रुचि, कुछ संस्कृत के विद्वानों के संसर्ग आदि से, संस्कृत तत्सम शब्द भी हिन्दी

१ देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास १०३, १०४ पृष्ट

भाषा में गृहीत होने लगे थे। इस कारण इन कवियों की रचनाओं में सँस्कृत के तत्सम शब्द भी पाये जाते हैं। इन प्रेम मार्गी कवियों में प्रधान मलिक मुहम्मद जायसी हैं। अतएव मैं उन्हीं की रचना को ले कर यह देखना चाहता हूं कि वे किस प्रकार की हैं। आवश्यकता होने पर अन्य कवियों की रचनाओं पर भी दृष्टि डालने का उद्योग करूंगा। पदमावत के जिन पद्यों को मैंने ऊपर उद्धृत किया है उन्हें देखिये। मैं पहले लिख आया हूं कि अवधी और ब्रजभाषा दोनों अधिकतर तद्भव शब्दों में लिखी जाती हैं। उनके पद्यों में यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। तत्सम शब्द उनमें 'काल', 'दान', 'बहु', 'आदि', 'संसार', 'प्रेम', 'नाथ', 'सूर' इत्यादि हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय संस्कृत के तत्सम शब्द हिन्दी भाषा में गृहीत होने लगे थे। मैं यह भी बतला आया हूं कि इन दोनों भाषाओं में पंचम वर्ण अनुस्वार के रूप में लिखे जाते है; कंत, कंठ, अंत और अंग इस बात के प्रमाण हैं। इन दोनों भाषाओं का नियम भी यह है कि इनमें संयुक्त वर्ण सस्वर हो जाते हैं, 'अरथ', 'अगिन', 'सरग', 'मारग', 'रतन' आदि में ऐसा ही हुआ है। यह भी नियम मैं ऊपर बतला आया हूं कि इन दोनों भाषाओं में शकार का सकार और णकार का नकार और क्षकार का छकार हो जाता है। 'दसा' और 'ससि' का 'स', 'पुन्न', का 'न' और 'छार' का 'छ' ऐसे ही परिवर्त्तन हैं। इन-दोनों भाषाओं का यह नियम भी है कि प्रथमा द्वितीया, षष्ठी, सप्तमी के कारक चिन्ह प्रायः लोप होते रहते हैं। इन पद्यों में भी यह बात पाई जाती है। 'आज सूरदिन अथयो', 'आज रयनि ससि बूड़', और 'रहा न कोई संसार' में सप्तमी विभक्ति लुप्त है। 'दिन में' या दिनमँह, 'रयनि में' या 'रयनि मँह' और 'संसार में' या 'संसार मँह' होना चाहिये था। 'हम गल लायो' में द्वितीया का 'को', 'लागो कंठ' में तृतीया का 'से' या 'सों' नदारद है। 'गगन नखत जो जाहिं न गने' और 'रोम रोम मानुस तनु' ठाढ़े, में षष्ठी विभक्ति का लोप है, 'गगन नखत' और मानुस तनु के बीच में सम्बन्ध-चिन्ह की आवश्यकता है। 'काल आइ दिखराई सांटी', 'जियत कंत तुमहम गल लायीं' इन दोनों पद्यों में प्रथमा विभक्ति नहीं आई है।

'काल' और 'तुम' के साथ 'ने' का प्रयोग होना चाहिये था। सच्ची बात यह है कि और विभक्तियां तो आती भी हैं, परन्तु प्रथमा की 'ने' विभक्ति अवधी में आती ही नहीं। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व होना दोनों भाषाओं का गुण है। उपरि लिखित पद्यों में 'बारू', 'संसारू', 'आना', 'संसारा', 'ठांऊ' ह्रस्व से दीर्घ हो गये हैं और 'अँतरपट', 'धरति', 'बरुनि' 'पानि', 'सिंगार' आदि दीर्घ से ह्रस्व बन गये हैं। इन पद्यों में जो प्राकृत भाषा के शब्द आये हैं वे भी ध्यान देने योग्य हैं जैसे 'नाह', 'तुम्ह', 'हम्ह' 'पुहुप', 'मकु' इत्यादि। इनमें अवधी की जो विशेषतायें हैं उनको भी देखिये, 'पियारा', 'बियाही' ठेठ अवधी भाषा के प्रयोग हैं। ब्रजभाषा में इनका रूप 'प्यारा' और 'ब्याही' होगा। 'काकर', 'ओही' 'जिउ', 'आपन' 'जस', 'होइ', 'हुत', 'गर', 'जाइ', 'लेइ', 'देइ', 'पिउ', 'उवा', 'अथवा', 'उठाइ', 'उड़ाइ', 'उहै', 'मुइ', 'बहुरा', 'रोइ', 'आइ', 'उन्ह', 'बानन्ह' 'अस', 'रोअं रोअं', 'ओपहं', 'हिरकाइ' इत्यादि भी ऐसे शब्द हैं, जिनमें अवधी अपने मुख्यरूप में पाई जाती है। जायसीने ब्रजभाषा और खड़ी बोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है, कहीं वे कुछ परिवर्तित हैं और कहीं अपने असली रूप में मिलते हैं—

बेधि रहा सगरो संसारा।

भादों बिरह भयउ अति भारी

औ किँगरी कर गहेउ वियोगी।

तेइ मोहि पिय मो सौं हरा।

लागेउ माघ परै अब पाला।

ऐस जानि मन गरब न होई।

'सगरो' ब्रजभाषा का स्पष्ट प्रयोग है। 'सकल' से 'सगर' पद बनता है। प्राकृत नियम के अनुसार 'क' का 'ग' हो जाता है और ब्रजभाषा और अवधी के नियमानुसार 'ल' का 'र'। इसलिये अवधी में उसका पुल्लिङ्ग रूप 'सगर' होगा और स्त्रीलिंग रूप 'सगरी'। एक स्थान

पर जायसी लिखते भी हैं — 'भई अहा सगरी दुनियाई।' इसलिये 'सगरौ' रूप जब होगा तब ब्रजभाषा ही में होगा। उसके नीचे की चौपाइयों में 'भयउ' और गहेउ' पद आया है ये दोनों शब्द भी ब्रजभाषा के 'भयो' और 'गह्यो' शब्दों के रूपान्तर हैं। 'तेहि मोहि पिय मो सौं हरा' इस पद्य में दो शब्द ब्रजभाषा के हैं एक 'पिय' और दूसरा 'सौं'। 'पिय' शब्द ब्रजभाषा का और 'पिउ' शब्द अवधी का है। पदमावत में वैसेही दोनों का प्रयोग देखा जाता है जैसे 'प्रेम' शब्दको जायसी अपनी रचना में 'प्रेम' भी लिखते हैं और 'पेम' भी देखिये— किरिन करा भा प्रेम अँकरू और 'पेम सुनत मन भूल न राजा'। 'सौं' शब्द भी ब्रजभाषा से ही अवधीमें आया है। विद्वानों ने इस सौं को पश्चिमी अवधी के 'कर्ण' का चिन्ह माना है। पश्चिमी अवधी ब्रजभाषासे प्रभावित है इसलिये उसमें यह सौं शब्द पाया जाता है। ठेठ अवधी के 'कर्ण' का चिन्ह है 'से' और 'सन'। 'लागेउ माघ परै अब पाला' में 'लागेउ' का अवधी रूप होगा 'लागा'। यह 'लागेउ' ब्रजभाषा के लाग्यो का ही रूपान्तर है। 'ऐस जानि मन गरब न होई' में ब्रजभाषा का 'ऐसो', 'जैसो', 'तैसो' अवधी में 'अस', 'जस', 'तस' लिखा जाता है। वास्तव में 'ऐस' अवधी शब्द नहीं है। यह ब्रजभाषासे ही उसमें आया है और 'ऐसो' की एक मात्रा कम करके बना लिया गया है। इस शब्द का प्रयोग 'ऐस', 'ऐसे' आदि के रूप में पदमावत में बहुत अधिक पाया जाता है। और ऐसे ही 'कैसो' जैसो, तैसो के स्थान पर कैस, जैस, तैस इत्यादि भी। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि ऐस, कैस, जैस, तैस आदि भी अवधी ही के रूप हैं, किन्तु मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। सच बात यह है कि ब्रजभाषा के बहुत से शब्द अवधी में पाये जाते हैं, जिनका प्रयोग इन प्रेम-मार्गी कवियों ने स्वतंत्रता से किया है।

पदमावत में ब्रजभाषा शब्दों के अतिरिक्त अन्य प्रान्तिक भाषाओं के कुछ शब्द भी मिलते हैं। 'स्यों' बुंदेलखण्डी है और हिन्दीके 'सह' और से के स्थान पर लिखा जाता है। कविवर केशव दास ने इसका प्रयोग किया है। देखिये — अलिस्यों सरसोरुह राजत है।

जायसी को भी इस शब्द का प्रयोग करते देखा जाता है। जैसे "रुण्ड मुण्ड अब टूटहिं स्यो बख्तर औ कूँड", 'विरिछ उपारि पेड़ि स्यों लेई'। बंगला में 'आछे' 'है' के अर्थ में आता है। इस शब्द का प्रयोग जायसी को भी करते देखा जाता है। जैसे, 'कवँल न आछै आपनि बारी', 'का निचिंत रे मानुष आपनि चीते आछु'। वे अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग भी इच्छानुसार करते देखे जाते हैं। कुछ ऐसे पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

अबूबकर सिद्दीक़ सयाने।
पहले सिदिक़ दीन ओइ आने।
पुनि सो उमर ख़िताब सुहाये।
भा जग अदल दीन जो आये।
सेरसाह देहली सुलतानू।
चारो खण्ड तपै जस भानू।
तहं लगि राज खरग करि लीन्हा।
इसकंदर जुलकरन जो कीन्हा।
नौसेरवाँ जो आदिल कहा।
साहि अदल सरि सोउ न अहा।

जिन शब्दों के नीचे रेखा खींची गई है वे फ़ारसी और अरबी के दुर्बोध शब्द हैं। एक स्थान पर तो उन्होंने फ़ारसी के 'सरतापा' को अपनी कविता में पूरी तरह खपा दिया है देखिये—

केस मेघावरि सिर ता पाई।

उनको सर्वसाधारण में अप्रचलित संस्कृत भाषा के तत्सम शब्दों का प्रयोग करते भी देखा जाता है। निम्न लिखित पद्यों के उन शब्दों को देखिये जिन के नीचे लकीर खींच दी गई है। 'सबै नास्ति वह अहथिर ऐस साज

जेहिकेर', 'बेनी छोरिझार जो बारा' 'बेधे जनौ मलैगिरि बासा', 'चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा', 'जनु घन महं दामिनि परगसी' 'का सरवर तेहि देहिं मयंकू' 'कनकपाट जनुबैठा राजा', 'मान सरोदक उलथहिं दोऊ', 'उठहिं तुरंग लेहि नहिं बागा' 'अधर सुरंग अमी रस भरे', 'हीरा लेइ सो विद्रुम धारा', 'केहि कहँ कँवल बिगासा, को मधुकर रस लेइ'। 'रसना कहौं जो कह रस बाता', क्षुद्र घंटिका मोहहिं राजा' 'नाभि कुंड सो मलय समीरू', 'पन्नग पंकज मुख गहे खंजन तहाँ बइठ'

वे ऐसे शब्दों का व्यवहार भी करते हैं जिनका व्यवहार न तो किसी ग्रन्थ में देखा जाता है, न वे जनता की बोलचाल में गृहीत हैं। ऐसे शब्द या तो कविता-गत संकीर्णता के कारण, वे स्वयं गढ़ लेते हैं, या अनुप्रास का झमेला उन्हें ऐसा करने के लिये विवश करता है। अथवा इस प्रकार की तोड़-मरोड़ एवं उच्छृंखलता को वे अनुचित नहीं समझते। नीचे के पद्यों के वे शब्द इसके प्रमाण हैं जिनपर चिन्ह बना दिये गये हैं —

कीन्हेसि राकस भूत परीता,
कीन्हेसि भोकस देव दईता।

औ तेहि प्रीति सिहिटि उपराजी
बहु अवगाह दीन्ह तेहि हाथी।

उहे धनुस किरसुन पहँ अहा।
बेग आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर।

जोबन जनम करै भसमंतू।
कैसे जियै बिछोही पखी।

तन तिनउर भा डोल।

बिरिध खाइ नव जोबन सौं तिरिया सों ऊड़।

रिकवँछ कीन नाइ कै हींग मरिच औ आद।

बतलाइये, 'प्रेत' के स्थान पर 'परीत' 'दैत्य' के स्थान पर 'दईत' 'सृष्टि' के स्थान पर 'सिहिटि' 'हाथ' के स्थान पर 'हाथो', 'कृष्ण' के स्थान पर 'किरसुन', 'शार्दूल' के स्थान पर 'सदूर', 'भस्म' के स्थान पर 'भसमंतू', 'पंखी' के स्थान पर 'पखी', 'तिनका' के स्थान पर 'तिनउर', 'ऊढ़ा' के स्थान पर 'ऊढ़', और 'आदी' के स्थान पर 'आद' लिखना कहां तक संगत है, आप लोग स्वयं इसको विचार सकते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का अनुमोदन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। उनको चारणों के ढंग पर भी कुछ शब्दों का व्यवहार करते देखा जाता है, जिनमें राजस्थानी की रंगत पाई जाती है। नीचे कुछ पद्य ऐसे लिखे जाते हैं जिन में इस प्रकार के शब्द व्यवहृत हैं। शब्द चिन्हित कर दिये गये हैं:—

दीन्ह रतन बिधि चारि नैन बैन सर्वन्नमुख

गंग जमुन जौ लगि जल तौ लगि अम्मर नाथ।

हँसत दसन अस चमके पाहन उठे छरक्कि

दारिउं सरि जोन कैसका, फाट्यो हिया दरक्कि।

'सुक्ख सुहेला उग्गवै दुःख झरै जिमि मेंह।'

'बीस सहस घुम्मरहिं निसाना।'

जौ लगि सधै न तप्पु, करै जो सीस कलप्पु।'

ग्रामीणता के दोष से तो इनका ग्रन्थ भरा पड़ा है। इन्होंने इतने ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया है जो किसी प्रकार बोध सुलभ नहीं। ग्रामीण शब्दों का प्रयोग इसलिये सदोष माना गया है कि उनमें न तो व्यापकता होती है और न वे उतना उपयोगी होते हैं जितना कविता की भाषा के लिये उन्हें होना चाहिये देखा जाता है, मलिक मुहम्मद जायसी ने इसका विचार बहुत कम किया है। कहीं कहीं उनकी भाषा बहुत गँवारी हो गयी है, जो उनके पद्यों में अरुचि उत्पन्न करने का कारण होती है नीचे लिखे पद्यों के चिन्हित शब्दों को देखिये:—

'मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा।

'हिलगि मकोय न फारहु कंथा।'

'दोठि दवँगरा मेरवहु एका।'

'औ भिउं जस दुरजोधन मारा।'

'अलक जँजीर बहुत गिउ बाँधे।'

तन तन बिरह न उपनै सोइ।'

जौ देखा तीवइ है साँसा।'

'घिरित परेहि रहा तस हाथ पहुँच लगि बूड़।

मैंने इनकी कविता की भाषा पर विशेष प्रकाश इस लिये डाला है कि जिसमें उसके विषय में उचित मीमांसा हो सके। कहा जाता है कि उनके ग्रन्थ की भाषा ठेठ अवधी है। परन्तु जितने प्रमाण मैं ऊपर उद्धृत कर आया हूं उनसे स्पष्ट है कि उसमें अन्य भाषाओं और बोलियों के अतिरिक्त अधिकतर सँस्कृत के तत्सम शब्द भी सम्मिलित हैं, जो ठेठ अवधी में कभी व्यवहृत नहीं हुये. ऐसी अवस्था में उसे हम ठेठ अवधी में लिखा गया स्वीकार नहीं कर सकते। हां यह कहना संगत होगा कि पद्मावत की मुख्य भाषा अवधी है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि पद्मावत के रचयिता ने ही पहिले पहिल अवधी भाषा लिखने में वह सफलता प्राप्त की जिसको उनके पूर्ववर्ती कवि कुतबन और मंझन आदि नहीं प्राप्त कर सके थे। अब तक प्रेम-मार्गी कवियों के जितने ग्रन्थ हिन्दी संसार के सामने आये हैं उनके आधार से यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि अवधी भाषा का प्रथम कवि होने का सेहरा कुतबन के सिर है। मैं पहले लिख आया हूं कि प्रान्तिक भाषा में रचना करने का सूत्र पात मैथिल-कोकिल विद्यापति ने किया। उनके दिखाये मार्ग पर चल कर अवधी में कविता करने वाला पहला पुरुष कुतबन है। उसकी रचना और उसके बाद की मंझन की कविता पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि अवधी भाषा में कविता करने का जो मार्ग इन लोगों ने ग्रहण किया था उसी मार्ग पर

मलिक मुहम्मद जायसी भी चले, किन्तु प्रतिभा और भावुकता में उनका स्थान इन लोगों से बहुत ऊँचा है। जिस उच्च कोटि का कवि-कर्म्म पद्मावत में दृष्टिगत होता है उन लोगों के ग्रन्थ में नहीं। उन लोगों की रचनाओं में वह कमी पायी जाती है जो आदिम कृतिओं में देखी जाती है। उन लोगों को यदि मार्ग-प्रदर्शन करने का गौरव प्राप्त है तो पद्मावत के कवि को उसे पुष्टता प्रदान करने का। यह बात देखी जाती है कि हिन्दी भाषा में हिन्दू जाति की प्रेम-कथाओं को अंकित करने में प्रेम-मार्गी सूफ़ी कवियों ने जैसे हिन्दू भावों के सुरक्षित रखने की चेष्टा की है वैसे ही मुख्य भाषा को हिन्दी रखने का भी उद्योग किया है। और इसी मनोवृत्ति के कारण उन्होंने आवश्यकतानुसार सँस्कृत शब्दों को भी ग्रहण किया। उस समय उर्दू भाषा का जन्म भी नहीं हुआ था। इसलिये उन्होंने अपनी रचनाओं में थोड़े से आवश्यक फ़ारसी अरबी शब्दों को ही स्थान दिया, जिससे हिन्दी भाषा के मुख्य रूपमें व्याघात नहीं हुआ। जो आधार इस प्रकार पहले निश्चित हुआ था उसके सबसे प्रभावशाली प्रवर्त्तक मलिक मुहम्मद जायसी हैं। उनके बाद भी प्रेम-कथायें अवधी भाषा में लिखी गईं। परन्तु कोई उस उच्च पद को नहीं प्राप्त कर सका जिस पर मलिक मुहम्मद जायसी अब तक आसीन हैं। मैंने ऊपर लिखा है कि जायसी की भाषा कई कारणों से सदोष हो गयी है और उनकी भाषा में ग्रामीणतादोष भी प्रवेश कर गया है। परन्तु अवधी भाषा पर उनका जो अधिकार दृष्टिगत होता है और उन्होंने जिस उत्तमता से इस भाषा में रचना करने में योग्यता दिखलाई है, वे उनके उक्त दोषों और त्रुटियों का पूरा प्रतिकार कर देती हैं। जायसी की भावव्यञ्जना, मार्मिकता और कवि-सुलभप्रतिभा उल्लेखनीय है। उनकी रचना में हिन्दू भाव की मर्मज्ञता, हिन्दू पुराणों और शास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की अभिज्ञता जैसी दृष्टिगत होती है वह विलक्षण और प्रशंसनीय है। उन्होंने जिस सहानुभूति और निरपेक्षता के साथ हिन्दू जीवन के रहस्यों का चित्रण किया है और वर्णनीय विषय के अन्तस्तल में प्रवेश कर के जैसी सहृदयता दिखलायी है उसके लिये उनकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती

है। उनकी रहस्यवाद-चित्रण-प्रणाली, वर्णन-शैली उनका निरीक्षण और उनकी कवि-कर्म्म कुशलता हिन्दी संसार के लिये गौरव की वस्तु है। मैं समझता हूं, हिन्दी भाषा जब तक जीवित रहेगी तब तक उसके साहित्य भाण्डार का एक रत्न 'पद्मावत' भी रहेगा।

मलिक मुहम्मद जायसी के सम्बन्ध में डाक्टर ग्रियर्सन की यह सम्मति है १:—

"वे (मलिक मुहम्मद जायसी) पद्मावत के रचयिता थे, जो, मेरी समझ में, मौलिक विषय पर गौड़ी भाषा में लिखी हुई पहली ही नहीं प्रायः एक मात्र कविता पुस्तक है। मैं नहीं जानता कि कोई अन्य ग्रन्थ भी ऐसा होगा जो पद्मावत की अपेक्षा अधिक परिश्रमपूर्ण अध्ययन का पात्र हो। निस्सन्देह परिश्रमपूर्ण अध्ययन इसके लिये आवश्यक है क्योंकि साधारण विद्यार्थी के लिये इस पुस्तक की एक पंक्ति का भी कठिनाई से ही बोध गम्य होना सम्भव है, क्योंकि यह जनता की ठेठ भाषा में लिखी गयी है। परन्तु काव्यसौन्दर्य और मौलिकता दोनों के उद्देश्य से इस पुस्तक के अध्ययन में जितना भी परिश्रम किया जाय उचित है।"

मलिक मुहम्मद जायसी के बाद की भी रचनायें प्रेम-मार्गी कवियों को मिलती हैं और यह परम्परा अठारहवीं शताब्दी तक चलती देखी जाती है। परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी के समान कोई दूसरा कवि प्रेम-मार्गी कवियों में नहीं उत्पन्न हुआ, इन कवियों में 'उसमान' सत्रहवीं शताब्दी में और नूर मुहम्मद एवं निसार अठारहवीं में हुये हैं, जिनकी रचनायें प्राप्त हुई हैं। सत्रहवीं शताब्दीमें शेख़ नबी और अठारहवीं शताब्दी में क़ासिम शाह

---

9 "He was the author of the Padmavat (Rag) which is, I believe, the first poem and almost the only one written in a Gaudian vernacular on an original subject. I do not know a work more deserving of hard study than the Padmavat. It certainly requires it, for scarcely a line is intelligibl to the ordinary scholar, it being couched in the veriest langu age of the people. But it is well worth any amount, both for its originality and for its poetical beauty."

और फ़ाज़िलशाह भी हुये। इन लोगों ने भी अवधी भाषा में प्रेम-मार्गी कवियों की प्रणाली ग्रहण कर रचनायें की हैं, किन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं है और वे रचनायें मुझे हस्तगत भी नहीं हुईं। इस लिये उनके विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा जा सकता। उसमान 'चित्रावली' नामक ग्रन्थ का रचयिता है। इसकी रचना का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है:—

'सरवर ढूंढ़ि सबै पचि रहीं।
चित्रिनि खोज न पावा कहीं
निकसी तीर भईं बैरागी।
धरे ध्यान सब बिनवै लागीं।
गुपुत तोहि पावहिं का जानी।
परगट महँ जो रहै छपानी।
चतुरानन पढ़ि चारो बेदू।
रहा खोजि पै पाव न भेदू।
हम अंधी जेहि आपु न सूझा।
भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा।
कौन सो ठाँउँ जहां तुम नाहीं।
हम चख जोति न देखहिं काही।
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भये, औ बहु पढ़े गरंथ।"

नूर महम्मद ने 'इन्द्रावती' नामक ग्रंथ की रचना की है। कुछ उनकी रचना का नमूना भी देखिये:—

मन दृग सों इक राति मँझारा।
सूझि परा मोहिं सब संसारा।
उँ नीक एक फुलवारी।
देखेउँ तहां पुरुष औ नारी।

दोउ मुख सोभा बरनि न जाई।

चंद सुरूज उतरे भुंइ आई।

तपी एक देखेउँ तेहि ठाँऊँ।

पूछेउँ तासों तिनकर नाऊँ।

कहाँ अहैं राजा औ रानी।

इन्द्रावति औ कुंवर गियानी।

निसार ने 'मसनवी युसुफ़-जुलेखा' नामक ग्रंथ लिखा है। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं:—

ऋतु बसंत आये बन फूला।

जोगी जती देखि रँग भूला

पूरन काम कमान चढ़ावा।

बिरही हिये बान अस लावा।

फूलहिं फूल सुवा गुंजारहिं।

लागे आग अनार के डारहिं।

कुसुम केतकी मालति बासा।

भूले भंवर फिरइँ चहुँ पासा।

मैं का करउँ कहाँ अब जाँऊ।

मो कहं नाहिं जगत महं ठाँऊ।

टेसू फूल तो कौन उँजेरा।

लागे आग जरैं चहु ओरा।

तैसे धन बाउर भई,

बौरे आम लतान।

मैं बौरी दौरी फिरउँ,

सुनि कोयल कै तान।

इस कवि का एक छन्द भी देखिये:—

ऋतु असाढ़ घन घेर आयो लाग चमकै दामिनी।
ऋतु सुहावन देखि मन महँ हरष बाढ़ै भामिनी।
ऋतु घमंड सों मेघ धाये दिवस में जस जामिनी।
रैनि दिन करुना करैं घर में अकेली कामिनी।

जो रचनायें मैंने ऊपर उद्धृत की हैं उनके देखने से यह ज्ञात होता है कि प्रेम-मार्गी सभी कवियों ने अवधी भाषा में लिखने की चेष्टा की है और अधिकतर अपनी परम्परा को सुरक्षित रखा है। सब की भाषा 'पदमावत' का अनुकरण करती है और उस ग्रन्थ की अन्य प्रणाली भी इन रचनाओं में गृहीत मिलती है। रहस्यवाद और सूफ़ी सम्प्रदाय के विचार भी सब रचनाओं में ही कुछ न कुछ दृष्टिगत होते हैं। इस लिये इस निश्चय पर पहुँचना पड़ता है कि मुहम्मद जायसी के परवर्ती कवियों ने कोई नई उद्भावना नहीं की और न अपनी रचनाओं में कोई ऐसी विशेषतायें दिखलायीं, जिससे साहित्य में उनका विशेष स्थान होता। हां, यह अवश्य है कि निसार और फ़ाज़िल शाह ने अपने ग्रन्थों के लिये स्व-धर्मी पात्रों को चुना। निसार ने यदि यूसुफ़-जुलेखा की कहानी लिखी है तो फ़ाजिल शाह ने नूरशाह और मेहर मुनीर को परन्तु इसने अपने ग्रंथ का हिन्दी नाम करण ही किया है, अर्थात् अपने ग्रन्थका नाम 'प्रेम-रतन' रखा है।

परवर्ती कवियों की भाषा मुहम्मद जायसी की भाषा से कुछ प्राञ्जल अवश्य है और उनकी रचनाओं में संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी अधिक देखा जाता है। परन्तु जो प्रवाह जायसी की रचना में मिलता है इनलोगों की रचनाओं में नहीं। अवधी भाषा की जो सादगी सरसता और स्वाभाविकता उनकी कविता में मिलती है इन लोगों की कविता में नहीं। यह मैं कहूंगा कि परवर्ती कवियों की रचनाओं में गँवारी शब्दों की न्यूनता है किन्तु उनका कुछ झुकाव ब्रजभाषा की प्रणाली और खड़ी बोली के वाक्य-विन्यास और शब्दों की ओर अधिक पाया जाता है। उनकी रच-

नाओं को पढ़ कर यह ज्ञात होता है कि वह उद्योग कर के अपनी भाषा को अवधी बनाना चाहते हैं। उनकी लेखनी स्वतः उसकी ओर प्रवृत्त नहीं होती, अनुकरण में जो कमी और अवास्तवता होती है वह उनमें पाई जाती है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हों ने हिन्दी भाषा और हिन्दू भावों की ओर अपना अनुराग प्रगट किया है और यथाशक्ति अपने यत्न में सफलता लाभ करने की चेष्टा भी की है।

मैंने मलिक मुहम्मद जायसी के परवर्ती कवियों की चर्चा यहां इस लिये कर दी है कि जिससे यह ज्ञात हो सके कि प्रेम-मार्गी कवियों की कविता-धारा कहां तक आगे बढ़ी और किस अवस्था में। इनकी चर्चा सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के अन्य कवियों के साथ की जा सकती थी किन्तु ऐसा करना यथास्थान न होता, इसलिये यहां पर ही जो कुछ उनके विषय में ज्ञातव्य बातें थीं, लिख दी गईं।

यहां पर यह प्रगट कर देना भी आवश्यक है कि इसी काल में कुछ और प्रेम-कहानियां भी हिन्दुओं द्वारा लिखी गईं। इनमें से लक्ष्मण सेन की बनाई 'पद्मावती' की कथा ही उल्लेख योग्य है। उसकी चर्चा मैं पहले कर चुका हूँ। पौराणिक कथाओं के आधार से कुछ अन्य रचनायें भी हुई हैं, जैसे ढोलामारू की चउपही इत्यादि परन्तु उनमें अधिकतर पौराणिक प्रणाली ही का अनुकरण किया गया है और कहानी कहने की प्रवृत्ति ही पाई जाती है। इसलिये उनमें वह विशेषता उपलब्ध नहीं होती जो उनका उल्लेख विशेष रीति से किया जाय। अतएव उनकी चर्चा यहाँ नहीं की गयी।

५

सोलहवीं शताब्दी में ही हिन्दी संसार के सामने साहित्य गगन के उन उज्ज्वलतम तीन तारों का उदय हुआ जिनकी ज्योति से वह आज तक ज्योतिर्मान है। उनके विषय में चिर-प्रचलित सर्वसम्मति यह है:—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसव दास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास।

काव्य करैया तीन हैं, तुलसी केशव सूर।
कविता खेती इन लुनी, सीला बिनतमजूर।

यह सम्मति कहां तक मान्य है, इस विषयमें मैं विशेष तर्क वितर्क नहीं करना चाहता। परन्तु यह मैं अवश्य कहूंगा कि इस प्रकार के सर्व-साधारण के विचार उपेक्षा-योग्य नहीं होते, वे किसी आधार पर होते हैं। इसलिये उनमें तथ्य होता है और उनको बहुमूल्यता प्रायः असंदिग्ध होती है। इन तीनों साहित्य-महारथियों में किसका क्या पद और स्थान है इस बात को उनका वह प्रभाव ही बतला रहा है जो हिन्दी-संसार में व्यापक होकर विद्यमान है। मैं इन तीनों महाकवियों के विषय में जो सम्मति रखता हूं उसे मेरा वह वक्तव्य ही प्रगट करेगा जो मैं इनके सम्बन्ध में यथा स्थान लिखूंगा। इन तीनों महान् साहित्यकारों में काल की दृष्टि से सूरदास जी का प्रथम स्थान है, तुलसीदास जी का द्वितीय और केशवदास जी का तृतीय। इसलिये इसी क्रम से मैं आगे बढ़ता हूं।

कविवर सूरदास ब्रजभाषा के प्रथम आचार्य हैं। उन्हों ने ही ब्रजभाषा का वह शृंगार किया जैसा शृंगार आज तक अन्य कोई कवि अथवा महाकवि नहीं कर सका। मेरा विचार है कि कविवर सूरदास जी का यह पद हिन्दी-संसार केलिये आदिम और अंतिम दोनों है। हिन्दीभाषा की वर्त्तमान प्रगति यह बतला रही है कि ब्रजभाषा के जिस उच्चतम आसन पर वे आसीन हैं सदा वेही उस आसन पर विराजमान रहेंगे; समय अब उनका समकक्ष भी उत्पन्न न कर सकेगा। कहा जाता है, उनके पहले का 'सेन' नामक ब्रजभाषा का एक कवि है। हिन्दी संसार उससे एक प्रकार अपरिचितसा है। उसका कोई ग्रन्थ भी नहीं बतलाया जाता। कालिदासने औरंगज़ेब के समय में हज़ारा नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। उसमें उन्होंने 'सेन' कवि का एक कवित्त लिखा है। वह यह है।

जब ते गोपाल मधुबन को सिधारे आली,
मधुबन भयो मधु दानव विषम सों।

सेन कहै सारिका सिखंडी खंजरीट सुक
मिलि कै कलेस कीनो कालिंदी कदम सों।
जामिनी बरन यह जामिनी मैं जाम जाम
बधिक की जुगुति जनावैं टेरि तम सों।
देह करै करज करेजो लियो चाहति है,
कांग भई कोयल कगायो करै हमसों।

कविता अच्छी है, भाषा भी मँजी हुई है। परन्तु इस कवि का काल संदिग्ध है। मिश्र बंधुओं ने शिवसिंहसरोज के आधार से उसका काल सन् १५०३ ई० बतलाया है। परन्तु वे ही इसको संदिग्ध बतलाते हैं। जो हो, यदि यह कविता कविवर सूरदास जी के पहले की मान भी ली जावे तो इससे उनके आदिम आचार्यत्व को बट्टा नहीं लगता। मेरा विचार है कि सूरदास जी के प्रथम ब्रजभाषा का कोई ऐसा प्रसिद्ध कवि नहीं हुआ कि जिसकी कृति ब्रजभाषा कविता का साधारण आदर्श बन सके। दो चार कवित्त लिख कर और छोटा मोटा ग्रन्थ बना कर कोई किसी महाकवि का मार्ग- दर्शक नहीं बन सकता। सूरदास जी से पहले कबीरदास, नामदेव, रविदास आदिसन्तों की बानियों का प्रचार हिन्दू संसार में कुछ न कुछ अवश्य था। संभव है कि ब्रज-भाषा के ग्राम्यगीत भी उस समय कुछ अपनी सत्ता रखते हों। परन्तु वे उल्लेख-योग्य नहीं। मैं सोचता हूं कि सूरदास जी की रचनायें अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हैं और वे किसी अन्य की कृति से उतनी प्रभावित नहीं हैं जो वे उनका आधार बन सकें। खुसरो की कविताओं में भी ब्रजभाषा की रचनायें मिली हैं। और ये रचनायें भी थोड़ी नहीं हैं। यदि उनकी रचनाओं का आधार हम ब्रजभाषा की किसी प्राचीन रचना को मान सकते हैं तो सूरदास जी की रचनाओं का आधार किसी प्राचीन रचना को क्यों न मानें? मानना चाहिये और मैं मानता हूं। मेरा कथन इतना ही है कि सूरदास जी के पहले ब्रजभाषा की कोई ऐसी उल्लेख-योग्य रचना नहीं थी जो उनका आदर्श बन सके।

प्रज्ञाचक्षु सूरदास जी अपना आदर्श आप थे। वे स्वयं-प्रकाश थे।

ज्ञात होता है इसी लिये वे हिन्दी संसार के सूर्य्य कहे जाते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य उनको सागर कहा करते थे। इसी आधार पर उनके विशाल ग्रन्थका नाम सूर सागर है। वास्तवमें वे सागर थे और सागर के समान ही उत्तालतरंग-माला-संकुलित। उनमें गम्भीरता भी वैसी ही पायी जाती है। जैसा प्रवाह, माधुर्य, सौन्दर्य उनकी कृतिमें पाया जाता है अत्यन्त दुर्लभ है। वे भक्ति-मार्गी थे, अतएव प्रेम- मार्ग का जैसा त्यागमय आदर्श उनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है वह अभूतपूर्व है। प्रेममार्गी सूफ़ी सम्प्रदाय-वालों ने प्रेम-पंथ का अवलंबन कर जैसी रस धारा बहाई उससे कहीं अधिक भावमय मर्मस्पर्शी और मुग्धकारिणीप्रेम की धारायें सूरदासजी ने अथवा उनके उत्तराधिकारियों ने बहाई हैं। यही कारण है कि वे धारायें अंत में आकर इन्हीं धाराओं में लीन हो गईं। क्योंकि भक्ति मार्गी कृष्णावत सम्प्रदाय की धाराओं के समान व्यापकता उनको नहीं प्राप्त हो सकी। परोक्षसत्ता- सम्बन्धी कल्पनायें मधुर और हृदय ग्राही हैं और उनमें चमत्कार भी है, किन्तु वे बोध-सुलभ नहीं। इसके प्रतिकूल वे कल्पनायें बहुत ही बोध-गम्य बनीं और अधिकतर सर्व साधारण को अपनी ओर आकर्षित कर सकीं जो ऐसी सत्ता के सम्बन्ध में की गयीं जो परोक्ष-सत्तापर अवलम्बित होने पर भी संसार में अपरोक्षभाव से अलौकिक मूर्त्ति धारण कर उपस्थित हुई। भगवान श्री कृष्ण क्या हैं ? परोक्ष सत्ता ही की ऐसी अलौकिकतामयी मूर्ति हैं जिनमें 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' मूर्त होकर विराजमान है। सूफ़ी मतके प्रेम मार्गियोंकी रचनाओं में यह बात दृष्टिगत हो चुकी है कि वे किसी नायक अथवा नायिका का रूप वर्णन करते करते उसको परोक्ष-सत्ता ही की विभूति मान लेते हैं और फिर उसके विषय में ऐसी बातें कहने लगते हैं जो विश्व की आधार-भूत परोक्ष सत्ता ही से सम्बन्धित होती हैं। अनेक अवस्थाओं में उनका इस प्रकार का वर्णन बोध- सुलभ नहीं होता, वरन एक प्रकार से संदिग्ध और जटिल बन जाता है। किन्तु भक्ति-मार्गी महात्माओं के वर्णन में यह न्यूनता नहीं पायी जाती। क्योंकि वे पहले ही से अपनी अपरोक्ष सत्ता को परोक्ष सत्ता का ही अंश-विशेष होने का संस्कार सर्व साधारण

के हृदय में विविध युक्तियों से अंकित करते रहते हैं। क्या किसी सूफ़ी प्रेम-मार्गी कवि की रचनाओं में वह अलौकिक मुरली-निनाद हुआ, वह लोक-विमुग्ध कर गान हुआ, उस सुरदुर्लभ शक्ति का विकास हुआ, उस शिव संकल्प का समुदय हुआ और उन अचिन्तनीय सत्य भावों का आविर्भाव हुआ जो महामहिम सूरदास जैसे महात्माओं की महान् रचनाओं के अवलम्बन हैं ? और यही सब ऐसे प्रवलतम कारण हैं कि इन महापुरुषों की कृतियों का अधिकतर आदर हुआ और वे अधिकतर व्यापक बनीं। इन सफलताओं का आदिम श्रेय हिन्दी साहित्य में प्रज्ञाचक्षु सूरदासजी ही को प्राप्त है।

मैं समझता हूं, सूरदास जी का भक्ति-मार्ग और प्रेमपथ श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है और यह महाप्रभु वल्लभाचार्य्य के सत्संग और उनकी गुरु-दीक्षा ही का फल है। सूरसागर श्रीमद्भागवत का ही अनुवाद है, परन्तु उसमें जो विशेषतायें हैं वे सूरदास जी की निजी सम्पत्तियां हैं। यह कहा जाता है कि उनकी प्रणाली 'भक्तवर' जयदेव जी के 'गीत गोविन्द' एवं मैथिलकोकिल विद्यापतिकी रचनाओंसे भी प्रभावित है। कुछ अंश में यह बात भी स्वीकार की जा सकती है, परन्तु सूरदासजी की सी उदात्त भक्ति-भावनायें इन महाकवियोंकी रचनाओंमें कहां हैं ? मैं यह मानूँगा कि सूरदासजीकी अधिकतर रचनायें शृंगार रस-गर्भित हैं। परन्तु उनका विप्रलम्भ शृंगार ही, विशेष कर हृदय-ग्राही और मार्मिक है। कारण इसका यह है कि उसपर प्रेम-मार्ग की महत्ताओं की छाप लगी हुई है। यह सत्य है कि मैथिल कोकिल विद्यापति की विप्रलम्भ शृंगार की रचनायें भी बड़ी ही भावमयी हैं, परन्तु क्या उनमें उतनी ही हृदय-वेदनाओं की झलक है जितनी सूरदास जी की रचनाओं में ? क्या वे उतनी ही अश्रु-धारा से सिक्त, उतनी ही मानसोन्मादिनी और उतनी ही मर्म्म स्पर्शिनी और हृदयवेधिनी हैं जितनी सूरदासजीकी उक्तियां ? क्या उनमें भी वैसा ही करुण क्रन्दन सुन पड़ता है जैसा सूरदास जी की विरागमयी बचनावली में ? इन बातों के अतिरिक्त सूरदास जी की रचनाओं में और भी कई एक विशेषतायें हैं। उनका बाललीला-वर्णन और बालभावों का

चित्रण इतना सुन्दर और स्वाभाविक है कि हिन्दी साहित्य को उसका गर्व है। कुछ लोगों की सम्मति है कि संसार के साहित्य में ऐसे अपूर्व बाल-भावों के चित्रण का अभाव है। मैं इसपर अपनी ठीक सम्मति प्रकट करने में असमर्थ हूं, परन्तु यह अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा में ऐसा वर्णन तो है ही नहीं, परन्तु भारतीय अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी वैसा अपूर्व वर्णन उपलब्ध नहीं होता। उनकी विनय और प्रार्थना सम्बन्धी रचनायें भी आदर्श हैं और आगे चल कर परवर्ती कवियों के लिये उन्होंने मार्ग-प्रदर्शन का उल्लेखनीय कार्य्य किया है। मैं इस प्रकार के कुछ पद नीचे लिखता हूं। उनको देखिये कि उनमें किस प्रकार हृदय खोल कर दिखलाया गया है, उनकी भाषा की प्राञ्जलता और सरसता भी दर्शनीय है।

१—जनम सिरानो ऐसे ऐसे।

कै घरघर भरमत जदुपति बिन कै सोवत कै बैसे।
कै कहुँ खान पान रमनादिक कै कहुँ बाद अनैसे।
कै कहुँ रंक कहूं ईसरता नट बाजीगर जैसे।
चेत्यो नहीं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे।
अहै गति भई सूर की ऐसी स्याम मिलैं धौं कैसे।

२—प्रभु मोरे औगुन चित न धरो।

समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब दोनों मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो।
एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो।
पारस गुन औगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो।
यह माया भ्रम जाल कहावै सूरदास सगरो।
अबकीबार मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो।

३—अपनपो आपन हीं बिसरो।
जैसे स्वान काँच के मंदिर भ्रमि भ्रमि भूंकि मरो।
ज्यों केहरि प्रतिमा के देखत बरबस कूप परो।
मरकट मूठि छोड़ि नहिं दीन्हीं घरघर द्वार फिरो।
सूरदास नलिनी के सुअना कह कौने पकरो।

४—मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाजपै आवै।
कमल नयन को छाड़ि महातम और देव को ध्यावै।
पुलिन गंग को छाड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै।
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फलखावै।
सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावै।

कुछ पद्य बाल भाव-वर्णन के भी देखिये :—

५—मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देखु तुही छीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखु नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछ कहत नँदनंदन दोना पीठि दुरायो।
डारि साँट मुसकाइ तबहिं गहि सुत को कंठ लगायो।

६—जसुदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोई सोई कछु गावै।
मेरे लाल को आउ निंदरिया काहें न आनि सुआवै।
तू काहें न बेगही आवै तोको कान्ह बुलावै।

कबहुं पलक हरि मूंदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि करि करि सैन बतावै।
येहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख सूर अमर मुनिदुरलभ सो नँदभामिनिपावै।

७-सोभित कर नव नीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु-मंडित तनु मुख दधि लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन छवि गोरोचन को तिलक दिये।
लर लटकत मनोमत्त मधुपगन माधुरि मधुर पिये।
कठुला कंठ वज्र केहरि नख राजत हैं सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भये सत कल्प जिये।

मैं ऊपर लिख आया हूं कि सूरदासजी का शृंगार-रस वर्णन बड़ा विशद है और विप्रलम्भ शृंगार लिखने में तो उन्हों ने वह निपुणता दिखलायी जैसी आज तक दृष्टिगत नहीं हुई। कुछ पद्य इस प्रकार के भी देखिये:—

८-सुनि राधे यह कहा विचारै।
वे तेरे रँग तू उनके रँग अपनो मुख काहे न निहारै।
जो देखे ते छाँह आपनो स्याम हृदय तव छाया।
ऐसी दसा नंद नंदन की तुम दोउ निरमल काया।
नीलाम्बर स्यामल तन की छवि तुव छवि पीत सुवास॥
घन भीतर दामिनी प्रकासत दामिनि घन चहुँ पास।
सुनरी सखी विलच्छ कहौं तो सों चाहति हरिको रूप।
सूर सुनौ तुम दोउ सम जोरी एक एक रूप अनूप।

९-काहे को रोकत मारग सूधो।
सुनहु मधुप निरगुन कंटक सों राजपंथ क्यों रूँधो।
याको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो।
सूर मूर अक्रूर ले गये ब्याज निबेरत ऊधो।

१०-बिलग मत मानहु ऊधो प्यारे।
यह मथुरा काजर को ओबरी जे आवहिं ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे कारे स्याम हमारे।
मानो एक माँठ मैं बोरे लै जमुना जो पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी सूर स्याम गुन न्यारे।

११-अरी मोहिं भवन भयानक लागै माई स्याम बिना।
देखहिं जाइ काहि लोचन भरि नंद महरि के अँगना।
लै जो गये अक्रूर ताहि को ब्रज के प्रान धना।
कौन सहाय करै घर अपने मेरे विघन घना।
काहि उठाय गोद करि लीजै करि करि मन मगना।
सूरदास मोहन दरसनु बिनु सुख संपति सपना।

१२-खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिँजरा न समाते।
चलि चलि जात निकट स्रवननि के
उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उड़ि जाते।

१३-ऊधो अँखिया अति अनुरागी।
एक टक मग जोवति अरु रोवति भूलेहुँ पलक न लागी।

बिनु पावस पावस रितु आई देखत हैं बिदमान।
अबधौं कहा कियौ चाहति है छाड़हु निरगुन ज्ञान।
सुनि प्रिय सखा स्याम सुंदर के जानत सकल सुभाय।
जैसे मिलैं सूर के स्वामी तैसी करहु उपाय।

१४-नैना भये अनाथ हमारे।
मदन गोपाल वहां ते सजनी सुनियत दूरि सिधारे।
वे जलसर हम मीन बापुरी कैसे जिवहिं निनारे।
हम चातकी चकोर स्याम घन वदन सुधा निधि प्यारे।
मधुवन बसत आस दरसन की जोइ नैन मग हारे।
सूर के स्याम करी पिय ऐसी मृतक हुते पुनि मारे।

१५-सखीरी स्याम सबै एकसार।
मीठे बचन सुहाये बोलत अन्तर जारन हार।
भवँर कुरंग काम अरु कोकिल कपटिन की चटसार।
सुनहु सखोरी दोष न काहू जो विधि लिखो लिलार।
उमड़ी घटा नाखि कै पावस प्रेम की प्रीति अपार।
सूरदास सरिता सर पोषत चातक करत पुकार।

भाषा कविवर सूरदास के हाथों में पड़कर धन्य हो गई। आरम्भिक-काल से लेकर उनके समय तक आपने हिन्दी भाषा का अनेक रूप अवलोकन किया। परन्तु जो अलौकिकता उनकी भाषा में दृष्टिगत हुई वह असाधारण है। जैसी उसमें प्राञ्जलता है वैसी ही मिठास है। जितनी ही वह सरस है उतनी ही कोमल। जैसा उसमें प्रवाह है वेसा ही ओज। भावमूर्तिमन्त होकर जैसा उसमें दृष्टिगत होता है, वैसे ही व्यंजना भी उसमें अठखेलियाँ करती अवगत होती है। जैसा शृंगार-रस उसमें सुविकसित दिखलाई पड़ता है, वैसा ही वात्सल्य-रस छलकता मिलता है।

जैसी प्रेम की विमुग्धकरी मूर्त्ति उसमें आविर्भूत होती है वैसाही आन्तरिक वेदनाओं का मर्म-स्पर्शी रूप सामने आता है। व्रजभाषा के जो उल्लेखनीय गुण अबतक माने जाते हैं और उसके जिस माधुर्य्य का गुणगान अबतक किया जाता है, उसका प्रधान अवलम्बन सूरदासजी का ही कवि कर्म है। एक प्रान्त-विशेष की भाषा समुन्नत होकर यदि देश-व्यापिनी हुई तो वह व्रजभाषा ही है और व्रजभाषा को यह गौरव प्रदान करनेवाले कविवर सूरदास हैं। उनके हाथों से यह भाषा जैसी मँजी, जितनी मनोहर बनी, और जिस सरसता को उसने प्राप्त किया वह हिन्दी संसार के लिये गौरव की वस्तु है। मैंने व्रजभाषा की जो विशेषतायें पहले बतलायी हैं वे सब उनकी भाषा में पाई जाती हैं, वरन् यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा के आधार से ही व्रजभाषा की विशेषताओं की कल्पना हुई। मेरा विचार है कि उन्हों ने इस बात पर भी दृष्टि रखी है कि कोई भाषा किस प्रकार व्यापक बन सकती है। उनकी भाषा में व्रजभाषा का सुन्दर से सुन्दर रूप देखा जाता है। परन्तु ग्रामीणता दोष से वह अधिकतर सुरक्षित है। उसमें अन्य प्रान्तिक भाषाओं के शब्द भी मिल जाते हैं। किन्तु इनकी यह प्रणाली बहुत मर्य्यादित है। गुरु को लघु और लघु को गुरु करने में उनको अधिक संयत देखा जाता है। वे शब्दों को कभी कभी तोड़ते मरोड़ते भी हैं। किन्तु उनका यह ढंग उद्वेजक नहीं होता। उसमें भी उनकी लेखनी की निपुणता दृष्टिगत होती है। व्रजभाषा के जो नियम और विशेषतायें मैं पहले लिख आया हूं उनकी रचनाओं में उनका पालन किस प्रकार हुआ है, मैं नीचे उसको उद्धृत पद्यों के आधार से लिखता हूं—

१—उनकी रचनाओंमें कोमल शब्द-विन्यास होता है। इसलिये उनमें संयुक्त वर्ण बहुत कम पाये जाते हैं जो वैदर्भी वृत्ति का प्रधान लक्षण है। यदि कोई संयुक्त वर्ण आ भी जाता है तो वे उसके विषय में युक्त-विकर्ष सिद्धान्त का अधिकतर पालन करते देखे जाते हैं। जैसे, 'समदरसी', 'महातम', 'दुरलभ', 'दुरमति' इत्यादि। वर्गों के पञ्चम वर्ण के स्थान पर

उनको प्रायः अनुस्वार का प्रयोग करते देखा जाता है। जैसे, 'रंक', 'कंचन', 'गंग', 'अंबुज', 'नंदनंदन', 'कंठ' इत्यादि।

२—णकार, शकार, क्षकार के स्थान पर क्रमशः 'न', 'स', और 'छ' वे लिखते हैं। 'ड' के स्थान पर 'ड़', और 'ल' के स्थान पर 'र' एवं संज्ञाओं के आदिके 'य' के स्थान पर 'ज' लिखते उनको प्रायःदेखा जाता है। ऐसा वे ब्रज प्रान्त की बोलचाल की भाषा पर दृष्टि रखकर ही करते हैं। 'बरन', 'रेनु', 'गुन', 'ओगुन', 'निरगुन', 'सोभित', 'सत', 'स्याम', 'दसा', 'दरसन', 'अतिसै', 'जसुमति', 'जसुदा', 'जदुपति', 'बिलछि', और 'पच्छी' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

३—गुरु के स्थान पर लघु और लघु के स्थान पर गुरु भी वे करते हैं। किन्तु बहुत कम। 'माधुरि', 'रँग', 'नहिं', 'दामिनि', 'केहरि', 'मनो', 'भामिनि', 'बिन' इत्यादि शब्दों में गुरु को लघु कर दिया गया है। 'धन', 'मगना', इत्यादि में ह्रस्व को दीर्घ कर दिया गया है, अर्थात् 'धन' और 'मगन' के 'न' को 'ना' बनाया गया है।

यह बात भी देखी जाती है कि वे कुछ कारक चिन्हों और प्रत्ययों आदि को लिखते तो शुद्ध रूप में हैं, परन्तु पढ़ने में उनका उच्चारण ह्रस्व होता है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो छन्दोभंग होगा। निम्न-लिखित पंक्तियों में इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है। चिन्हित कारक चिन्हों और शब्दगत वर्णों को देखियेः—

१—'काहे को रोकत मारग सूधो'

२—'मेरे लालको आउ निंदरिया काहे न आनि सुआवै'

३—'सखीरी स्याम सबै एक सार'

४—'सूर सुनौ तुम दोउ सम जोरी एक एक रूप अनूप'

५—'सूर के स्याम करी पुनि ऐसी मृतक हुते पुनि मारे'।

६—'मानो एक मोठ मैं बोरे लै जमुना जो पखारे'।

७—'समदरसी है नाम तिहारो चाहे तो पार करो'।

८—'जब दोनों मिलि एक वरन भये सुरसरि नाम परो'

यह प्रणाली कहां तक युक्ति-संगत है, इसमें मत भिन्नता है। किन्तु जिस मात्रा में विशेष स्थलों पर सूरदासजी ने ऐसा किया है, मेरा विचार है कि वह ग्राह्य है। क्योंकि इससे एक प्रकार से विशेष शब्द-विकृति की रक्षा होती है। दूसरी बात यह कि यदि कुछ शब्दों को ह्रस्व कर दिया जाय तो उसका अर्थ ही दूसरा हो जाता है। जैसे 'भये' को 'भय' लिख कर यदि छन्दोभंग की रक्षा की जाय तो अर्थापत्ति सामने आती है। प्राकृत भाषा में भी यह प्रणाली गृहीत देखी जाती है। उर्दू कविताओं की पंक्ति पंक्ति में इस प्रकार का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में विशेष अवस्था और अल्प मात्रा ही में कहीं ऐसा किया जाता है। यह पिंगल नियमावली के अन्तर्गत भी है। जैसे विशेष स्थानों में ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व लिखने का नियम है उसी प्रकार संकीर्ण स्थलों पर ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व पढ़ने की प्रणाली भी है।

४—प्राकृत और अपभ्रंश में प्रायः कारक चिन्हों का लोप देखा जाता है। सूरदासजी की रचनाओं में भी इस प्रकार की पंक्तियां मिलती हैं। कुछ तो कारकों का लोप साधन बोलचाल की भाषा पर अवलम्बित है और कुछ कवितागत अथवा साहित्यिक प्रयोगों पर, नीचे लिखे हुये वाक्य इसी प्रकार के हैं :—

'जो विधि लिखो लिलार', 'मधुकर अंबुज रस चाख्यो', 'मैं कैसे करि पायो' इन वाक्यों में कर्त्ता का ने चिन्ह लुप्त है। 'कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावे', 'प्रभु मोरे औगुन चित न धरो', 'मरकट मूठि छोड़ि नहिं दीन्हीं', 'सरिता सरपोपत' इन वाक्यों में कर्म का चिन्ह 'को' अन्तर्हित है। 'नान्हें कर अपने में कैसे करि पायो' इस वाक्य में करण का 'से' चिन्ह लुप्त है।

'जो सुख सूर अमर मुनि दुरलभ' में सम्प्रदान का चिन्ह 'को' या 'केलिये' का लोप किया गया है। 'वरबस कूप परो', 'मेरे मुख लपटायो'

'ऊँचे घर लटकायो', पालने झुलावे', 'कर नवनीत लिये' इन वाक्यों में अधिकरण के 'में' चिन्ह का अभाव है।

५—ब्रजभाषा में कुछ ऐसे शब्द प्रयोग में आते हैं जिनमें विभक्ति या प्रत्यय शब्द के साथ सम्मिलित होते हैं, अलग नहीं लिखे जाते। कविता में इससे बड़ी सुविधा होती है। इस प्रकार के प्रयोग अधिकतर बोलचाल पर अवलम्बित हैं। पूर्व कालिक क्रिया का चिन्ह 'कर' अथवा 'के' है। ब्रजभाषा में प्रायः विधि के साथ इकार का प्रयोग करदेने से भी यह क्रिया बन जाती है। जैसे, 'टरि', 'मिलि', 'करि', इत्यादि। संज्ञा के साथ जब ओकार सम्मिलित कर दिया जाता है तो वह प्रायः 'भी' का काम देता है जैसे 'एको', 'दूधो' इत्यादि। 'जसुमति मधुरे गावै' में 'मधुर' के साथ मिला हुआ एकार भाव वाचकता का सूचक है। 'दोना पीठि दुरायो' में 'पीठि' के साथ मिलित इकार अधिकरण के 'में' चिन्ह का द्योतक है इत्यादि।

६—वैदर्भी वृत्ति का यह लक्षण है कि उसमें समस्त पद आते ही नहीं। यदि आते हैं तो साधारण समस्त पद आते हैं, लम्बे नहीं। कविवर सूरदास जी की रचना में यह विशेषता पाई जाती है। जैसे कमल नयन', 'अम्बुज रस', करीलफल इत्यादि।

७ कोमलता उत्पादन के लिये वे प्रायः 'ड़' और 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग करते हैं। जैसे 'घोड़ो' के स्थान पर 'घोरो', 'तोड़ो' के स्थान पर 'तोरो', 'छाड़ो' के स्थान पर 'छोरो'। इसी प्रकार 'मूल' के स्थान पर 'मूर' और 'चटसाल' के स्थान पर 'चटसार'। उनकी रचनाओं में बिकल्प से 'ड़' का भी प्रयोग देखा जाता है। और 'ल' के स्थान पर 'र' का प्रयोग सब स्थानों पर ही नहीं होता। शब्द के मध्य का यकार और वकार बहुधा 'ऐ' और 'औ' होता रहता है। जैसा 'नयन', 'बयन', 'सयन' का 'नैन', 'बैन', 'सैन' इत्यादि। और 'पवन', 'गवन', 'रवन' का 'पौन', 'गौन', 'रौन' इत्यादि। परन्तु उनका तत्सम रूप भी वे लिखते हैं। प्रायः ब्रजभाषा में वह शब्द जिसके आदि में ह्रस्व इकार युक्त कोई व्यञ्जन होता

है और उसके बाद 'या' होता है तो आदि व्यंजन का इकार गिर जाता है और वह अपने पर वर्ण य' में हलन्त हो कर मिल जाता है। जैसे 'सियार' का 'स्यार', 'पियास का प्यास' इत्यादि। किन्तु उनकी रचनाओं में दोनों प्रकार का रूप मिलता है। वे 'प्यास' भी लिखते हैं और 'पियास' भी, 'प्यार' भी लिखते हैं और 'पियार भी। ऊपर लिखे पद्यों में आप इस प्रकार का प्रयोग देख सकते हैं।

८—सूरदास जी को अपनी रचनाओं में मुहावरों का प्रयोग करते भी देखा जाता है। परन्तु चुने हुये मुहावरे ही उनकी रचना में आते हैं, जिससे उनकी उक्तियां बड़ी ही सरस हो जाती हैं। ऊपर के पद्यों में निम्न-लिखित मुहावरे आये हैं। जिस स्थान पर ये मुहावरे आये हैं उन स्थानों को देख कर आप अनुमान कर सकते हैं कि मेरे कथनमें कितनी सत्यताहै:—

१—गोद करि लीजै
२—कैसे करि पायो
३—बिलग मत मानहु
४—लोचन भरि
५—ख्याल परे

९—देखा जाता है कि सूरदास जी कभी-कभी पूर्वी हिन्दी के शब्दों को भी अपनी रचना में स्थान देते हैं। 'बैस', 'पियासो' इत्यादि शब्द ऊपर के पद्यों में आप देख चुके हैं। 'सुनो' और 'मेरे' इत्यादि खड़ी बोली के शब्द भी कभी कभी उनकी रचना में आ जाते हैं। किन्तु उनकी विशेषता यह है कि वे इन शब्दों को अपनी रचनाओं में इस प्रकार खपाते हैं कि वे उनकी मुख्य भाषा (ब्रजभाषा) के अंग बन जाते हैं। अनेक अवस्थाओं में तो उनका परिचय प्राप्त होना भी दुस्तर हो जाता है। जिस कवि में इस प्रकार को शक्ति हो उसका इस प्रकार का प्रयोग तर्क-योग्य नहीं कहा जा सकता। जो अन्य प्रान्त की भाषाओं के शब्दों अथवा प्रान्तिक बोलियों के वाक्यों को अपनी रचनाओं में इस प्रकार स्थान देते हैं कि जिनसे वे

भद्दी बन जाती हैं अथवा जो उनकी मुख्य भाषा को मुख्यता में बाधा पहुंचाती हैं उनकी ही कृति तर्क-योग्य कही जा सकती है। दूसरी बात यह है कि जब किसी प्रान्तिक भाषा को व्यापकता प्राप्त होती है तो उसे अपने साहित्य को उन्नत बनाने के लिये संकीर्णता छोड़ कर उदारता ग्रहण करनी पड़ती है। जिस भाषा ने इस प्रकार की उदारता ग्रहण की वही अपनी परिधि से निकल कर व्यापकता प्राप्त कर सकी। आज गोस्वामी तुलसीदास और कविवर सूरदास की रचनायें जो उत्तरीय भारत को छोड़ कर दक्षिणीय भारत के कुछ अंशों में भी आद्रित हो रही हैं तो उसका कारण यही है कि उन्होंने अपनी भाषाको उदार बनाया और उसके निजत्व को सुरक्षित रख कर अन्य भाषाओं के शब्दों को भी उसमें स्थान दिया। इस दृष्टि से देखने पर सूरदास जी ने इस विषय में जो कुछ स्वतंत्रता ग्रहण की है वह इस योग्य नहीं कि उस पर उँगली उठाई जा सके।

१०—प्राकृत भाषा के जो शब्द सुन्दर और सरस होने कारण ब्रज-भाषा की बोलचाल में गृहीत रहे। सूरदास जी की रचनाओं में भी उनका प्रयोग उसी रूप में पाया जाता है। ऐसे शब्द 'सायर', 'लोयन' 'नाह', 'केहरि' इत्यादि हैं। वे अपभ्रंश भाषा के अनुसार कुछ प्रातिपदिक और प्रत्ययों को भी उकार युक्त लिखते हैं जैसे तपु, मुहुं, आजु बिनु इत्यादि। ब्रजभाषा और अवधी में अपभ्रंश अथवा प्राकृत भाषा की अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। ऐसी अवस्था में यदि उसके कुछ शब्द अपने मुख्य रूप में इन भाषाओं में आते हैं तो उनका आना युक्ति संगत है, क्योंकि इस प्रकार की विशेषतायें और शब्दावली ही उस घनिष्टता का परिचय देती रहती हैं जो कि ब्रजभाषा अथवा अवधी का प्राकृत अथवा अपभ्रंश के साथ है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार की घनिष्टता अधिक बांछनीय है।

११—ब्रजभाषा की बोलचाल में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका उच्चारण कुछ ऐसी विशेषता से किया जाता है कि वे बहुत मधुर बन जाते हैं। इन शब्दों के अन्त में एक वर्ण अथवा 'आ' इस प्रकार बढ़ा दिया जाता है

कि जिससे उसका अर्थ तो वही रह जाता है कि जिसमें वह मिलाया जाता है परन्तु ऐसा करने से उसमें एक विचित्र मिठास आ जाती है। 'सुअना', 'नैना', 'नदिया', 'निँदरिया', 'जियरा', 'हियरा' आदि ऐसे ही शब्द हैं। सूरदासजी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अपनी रचना में इस सरसता के साथ करते हैं कि उसका छिपा हुआ रस छलकने लगता है। देखिये—

१—'सूरदास नलिनी के सुअना कह कौने पकरो'।

२—नैना भये अनाथ हमारे।

३—एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।

४—'मेरे लाल को आउ निँदरिया काहे न आनि सुआवै'।

अवधी भाषा के इसी प्रकार के शब्द 'करेजवा' 'बदरवा' इत्यादि हैं। जैसे संस्कृत में स्वार्थे 'क' आता है जैसे 'पुत्रक', 'बालक' इत्यादि। इन दोनों शब्दों में जो अर्थ 'पुत्र' और 'बाल' का है वही अर्थ सम्मिलित 'क' का है, उसका कोई अन्य अर्थ नहीं। इसी प्रकार 'मुखड़ा', 'बछड़ा', 'हियरा', 'जियरा', 'करेजवा', 'बदरवा', 'अँसुवा', 'नदिया', 'निँदरिया' के 'ड़ा', 'रा', 'वा', और 'या' आदि हैं। जो अन्त में आये हैं और अपना पृथक अर्थ नहीं रखते। केवल 'आ' भी आता है, जैसे 'नैना', 'बैना', 'बदरा', 'अँचरा' का 'आ'

१२ ब्रज भाषा में बहुवचन के लिये शब्द के अन्त में 'न' और 'नि' आता है। ईकारान्त शब्दों में पूर्ववर्त्ती वर्ण को ह्रस्व करके 'याँ' और अकारान्त शब्दों के अन्त में 'एँ' आता है। सूरदास जी की रचनाओं में इन सब परिवर्तनों के उदाहरण मिलते हैं, जिनसे उनकी व्यापक दृष्टि का पता चलता है। निम्नलिखित पंक्तियों को देखिये:—

'कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि निरखत नँदरनियां'

'भरि भरि जमुना उमड़ि चलत है इन नैनन के तीर'

'लोगन के मन हाँसी' 'सूर परागनि तजति हिये ते श्री गुपाल अनुरागी। 'अँखिया हरिदरसन की प्यासी' 'जलसमूह बरसत दोउ आँखैं हूं कत लीने नाउँ'

१३—सूरदास की रचना में यह मुख्य बात पाई जाती है कि वे संस्कृत तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं। परन्तु विशेषता यह है कि उनके शब्द चुने हुये और ऐसे होते हैं जिनको काव्योपयुक्त कहा जा सकता है। संयुक्त वर्णों को तो मुख्य रूप में वे कभी कभी संकीर्ण स्थलों पर ही लेते हैं। परन्तु, कोमल, ललित और सरस तत्सम शब्दों को वे निस्संकोच ग्रहण करते हैं और इस प्रकार अपनी भाषा को मधुरतम बना देते हैं। उद्धृत पद्यों में से सातवें पद्य को देखिये। उनकी रचना में जो शब्द जिस भाव की व्यंजना के लिये आते हैं वे ऐसे मनोनीत होते हैं जो अपने स्थान पर बहुत ही उपयुक्त जान पड़ते हैं। अनुप्रास अथवा वर्णमैत्री जैसी उनकी कृति में मिलती है, अन्यत्रदुर्लभ है। जो शब्द उनकी रचना में आते हैं, प्रवाह रूप से आते हैं। उनके अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि वे प्रयत्न पूर्वक नहीं, स्वाभाविक रीति से आकर अपने स्थान पर विराजमान हैं। रसानुकूल शब्द—चयन उनकी रचना की विशेष सम्पत्ति है। अधिकतर उनकी रचनायें पद के स्वरूप हो में हैं, अतएव झंकार और संगीत उनके व्यवहृत शब्दों का विशेष गुण है। इतना होने पर भी जटिलता का लेश नहीं। सब ओर प्राञ्जलता और सरलता ही दृष्टिगत होती है।

१४—किसी भाव को यथातथ्य अंकित करना और उसका जीता जागता चित्र सामने लाना सूरदास जी की प्रतिभा का प्रधान गुण है। जिस भाव का चित्र वे सामने रखते हैं उनकी रचनाओं में वह मूर्त्तिमन्त होकर दृष्टिगत होता है। प्रार्थना और विनय के पदों में उनके मानसिक भाव किस प्रकार ज्ञान-पथ में विचरण करते हैं और फिर कैसे विश्व-सत्ता के सामने वे विनत हो जाते हैं इस बात को उनके विनय के पद्यों की पंक्ति पंक्ति बड़ी ही सरसता से अभिव्यंजित करती पाई जाती है। उद्धृत

पद्यों में से संख्या एक से चार तक के पद्य देखिये उनमें एक ओर यदि मानवों के स्वाभाविक अज्ञान, दुर्बलताओं और भ्रम-प्रमाद पर हृदय मर्माहत होता देखा जाता है तो दूसरी ओर मानसिक करुणा अपने हाथों में विनय की पुष्पांजलि लिये किसी करुणासागर की ओर अग्रसर होती दिखलाई पड़ती है। वालभाव का वर्णन जिन पद्यों में है, देखिये संख्या ५ से ७ तक उनमें वालकों के भोले भाले भाव जिस प्रकार अंकित हैं वे बड़े ही मर्म-स्पर्शी हैं। उनके देखने से ज्ञात होता है कि कवि किस प्रकार हृदय की सरल से सरल वृत्तियों और मन के सुकुमार भावों के यथातथ्य चित्रण की क्षमता रखता है। वाल-लीला के पदों को पढ़ते समय ऐसा ज्ञात होने लगता है कि जिस समय की लीला का वर्णन है उस समय कवि खड़ा होकर वहां के क्रिया-कलाप को देख रहा था। इन वर्णनों के पढ़ते ही आँखों के सामने वह समाँ आ जाता है जो उस समय वहाँ मौजूद रह कर कोई देखनेवाली आँखें ही देख सकतीं। इस प्रकार का चित्रण सूरदास के ऐसे सहृदय कवि ही कर सकते हैं, अन्यों के लिये यह बात सुगम नहीं। उनका शृंगार-वर्णन पराकाष्ठा को पहुंच गया है। उतना सरस और स्वाभाविक वर्णन हिन्दी साहित्य में नहीं मिलता, यह मैं कहूंगा कि शृंगार रस के कुछ वर्णन ऐसे हैं कि यदि वे उस रूप में न लिखे जाते तो अच्छा होता, किन्तु कला की दृष्टि से वे वहुमूल्य हैं। उनका विप्रलम्भ शृंगार ऐसा है जिसके पद पद से रस निचुड़ता है। संसार के साहित्य-क्षेत्र में प्रेम-धारायें विविध रूप से बहीं, कहीं वे बड़ी ही वेदनामयी हैं, कहीं उन्मादमयी और रोमांचकारी, और कहीं उनमें आत्मविस्मृति और तन्मयता की ऐसी मूर्त्ति दिखलायी पड़ती है जो अनुभव करने वाले को किसी अलौकिक संसार में पहुंचा देती है। फिर भी सूरदास की इस प्रकार की रचनायें पढ़ कर यह भावनायें उत्पन्न होने लगती हैं कि क्या ऐसी ही सरसता और मोहकता उन सब धाराओं में भी होगी? प्रेम-लीलाओं के चित्रण में जैसी निपुणता देखी जाती है, वैसी प्रवीणता उनकी अन्य रचनाओं में नहीं पाई जाती। उनका विप्रलम्भ शृंगार-सम्बन्धी वर्णन बड़ा ही उदात्त है। उनमें मन के सुकुमार भावों का जैसा अंकन है, जैसी

उनमें हृदय को द्रवित करने वालो विभूतियाँ हैं, यदि वे अन्य कहीं होंगी तो इतनो ही होंगी। वे किसो सच्चे प्रेम-पथिक की ही अनुभवनीय हैं, अन्य की नहीं। कोई रहस्यवादी बनता है, और अपरोक्ष सत्ता को लेकर निर्गुण में गुण की कल्पना करता है। परन्तु कल्पना कल्पना ही है, उसमें मानसिक वृत्तियों का वह सच्चा विकास कहां जो वास्तव में किसी सगुण से सम्बन्ध रखती हैं? जो आन्तरिक आनंद हम पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के अनुभूत विभवों से प्राप्त कर सकते हैं, पञ्चतन्मात्राओं से नहीं, क्यों कि उनमे सांसारिकता है इनमें नहीं। हम विचारों को दौड़ा लें, पर विचार किसी आधार पर ही अवलम्बित हो सकते हैं। सांसारिकों को सांसारिकता ही सुलभ हो सकती है। संसार से परे क्या है? उसकी कल्पना वह भले ही कर ले, किन्तु उसका मन उन्हीं में रम सकता है जो सांसारिक विषय हैं। यही कारण है कि जो निर्गुणवादी बनने का दावा करते हैं वे जब आनन्दमय जोवन की कामना करते हैं तो सगुण भावों का ही आश्रय लेते हैं। सूरदास जी इसके मर्मज्ञ थे। इस लिये उन्होंने सगुण भावों को ले कर ऐसे मोती पिरोये हैं कि जिनको बहुमूल्यता चिन्त-नीय है कथनीय नहीं। उन्होंने अपने लक्ष्य को प्रकाश में रखा है, अन्ध-कार में नहीं। इसी लिये उनकी रचनायें प्रेममार्गी अन्य कवियों से सरसता और मोहकता में अधिकतर स्वाभाविक हैं। उनका यह रंग इतना गहरा था कि वे कभी कभो अपनी धुन में मस्त हो कर निर्गुण पर भी कटाक्ष कर जाते हैं। यह उनका प्रमाद नहीं है, वरन् उनकी सगुण परायणता का अनन्य भाव है। मेरा विचार है कि प्रेममार्ग में उनकी विप्रलम्भ शृंगार की रचनायें बड़ा महत्व रखतो हैं। यह कहना कि संसार के साहित्य में उनका स्थान सर्वोच्च है, कदाचित् अच्छा न समझा जावे, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि संसार के साहित्य की उच्चतम कृतियों में वे भी समान स्थान लाभ करने की अधिकारिणी हैं।

१५—व्रजभाषा की अधिकांश क्रियायें अकारान्त या ओकारान्त हैं। उसके सर्वनामों और कारक चिन्हों प्रत्ययों एवं प्रातिपदिक शब्दों के प्रयोगों में भो विशेषता है। जो उसको अन्य भाषाओं अथवा प्रान्तिक

बोलियों से अलग करती है। सूरदास जी ने अपनी रचना में इनके शुद्ध प्रयोगों का बहुत अधिक ध्यान रखा है। उद्धृत पद्यों के ऐसे अधिकांश शब्दों और क्रियाओं पर चिन्ह बना दिये गये हैं। उनके देखने से ज्ञात हो जावेगा कि वे ब्रजभाषा पर कितना प्रभाव रखते थे। उनकी रचना में फ़ारसी अरबी के शब्द भी, सामयिक प्रभाव के कारण आये हैं। परन्तु, उनको भी उन्होंने ब्रजभाषा के रंग में ढाल दिया है। इन सब विषयों पर अधिक लिखने से व्यर्थ विस्तार होगा। इस लिये मैं इस बाहुल्य से बचता हूं। थोड़ा सा उन पर विचार-दृष्टि डालने से ही अधिकांश बातें स्पष्ट हो जाँयगी।

पहले लिख आया हूं कि सूरदास जी ही ब्रजभाषा के प्रधान आचार्य हैं। वास्तव बात यह है कि उन्होंने ब्रजभाषा के लिये जो सिद्धान्त साहित्यिक दृष्टि से बनाये और जो मार्ग-प्रदर्शन किया आज तक उसी को अवलम्बन करके प्रत्येक ब्रजभाषा का कवि साहित्य-क्षेत्र में अग्रसर होता है। उनके समय से जितने कवि और महाकवि ब्रजभाषा के हुये वे सब उन्हीं की प्रवर्त्तित-प्रणाली के अनुग हैं। उन्हीं का पदानुसरण उस काल से अब तक कवि-समूह करता आया है. उनके समयसे अब तक का साहित्य उठा लीजिये, उसमें स्वयं-प्रकाश सूर की ही प्रभा विकीर्ण होती दिखलायी पड़ेगी। जो मार्ग उन्होंने दिखलाया वह आजतक यथातथ्य सुरक्षित है। उसमें कोई साहित्यकार थोड़ा परिवर्तन भी नहीं कर सका। कुछ कवियों ने प्रान्त-विशेष के निवासी होने के कारण अपनी रचना में प्रान्तिक शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु वह भी परिमित है। उन्होंने उस प्रधान आदर्श से मुंह नहीं मोड़ा जिसके लिये कविवर सूरदास कवि-समाज में आज तक पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं।

डाक्टर जी: ए: ग्रियर्सन ने उनके विषय में जो कुछ लिखा है आप लोगों के अवलोकनके लिये उसे भी यहां उद्धृत करता हूं। वे लिखते हैं:—

"साहित्य में सूरदास के स्थान के सम्बन्ध में मैं यही कह सकता हूं कि वह बहुत ऊँचा है। सब तरह की शैलियों में वे अद्वितीय हैं। आव-

श्यकता पड़ने पर वे जटिल से जटिल शैली में लिख सकते थे और फिर दूसरे ही पद में ऐसी शैली का अवलम्बन कर सकते थे जिसमें प्रकाश की किरणों की सी स्पष्टता हो। किसी गुण विशेष में अन्य कवि भले ही उनकी बराबरी कर सके हों, किन्तु सूरदास में अन्य समस्त कवियों के सर्वोत्कृष्ट गुणों का एकत्री भाव है। १

गोस्वामी तुलसीदास जी की काव्य कला अमृतमयी है। उससे वह संजीवनी धारा निकली जिसने साहित्य के प्रत्येक अङ्ग को ही 'नवजीवन नहीं प्रदान किया वरन् मृतक प्राय हिन्दू समाज के प्रत्येक अङ्ग को वह जीवनी शक्ति दी जिससे वह बड़े संकट-काल में भी जीवित रह सकी इसीलिये वे हिन्दी संसार के सुधाधर हैं। गोस्वामीजी की दृष्टि इतनी प्रखर थी और सामयिकता की नाड़ी उन्हों ने इस मार्मिकता से टटोली कि उनकी रचनायें आज भी रुग्न मानसों के लिये रसायन का काम दे रही हैं। यदि केवल अपने-अलौकिक ग्रन्थ राम चरित मानस को ही उन्हों ने निर्माण किया होता तो भी उनकी वह कीर्ति अक्षुण्ण रहती जो आज निर्मल कौमुदी समान भारत-वसुन्धरा में विस्तृत है। किन्तु उनके और भी कई ग्रन्थ ऐसे हैं जिनसे उनकी कीर्ति-कौमुदी और अधिक उज्ज्वल हो गई है और इसीलिये वे कौमुदीश हैं। ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर उनका समान अधिकार देखा जाता है। जैसी ही अपूर्व रचना वे ब्रजभाषा में करते हैं वैसी ही अवधी में। रामचरित मानस की रचना अवधी भाषा में ही हुई है। किन्तु गोस्वामी जी की अवधी परिमार्जित अवधी है और यही कारण है कि जब मलिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' की भाषा आजकल कठिनता से समझी जाती है तब गोस्वामीजी की रामायण को सर्व साधारण समझ लेते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी की भाषा के विषय में मैं ऊपर बहुत कुछ लिख आया हूं। वे भी संस्कृत

---

1 "Regarding Surdas' s place in literature, I commonly add that he justly holds a high one. He excelled in all styles. He could, if occasion required, be more obscure than the sphynu and in the next verse he as clear as a ray of light. Other poets may have equalled him in someparticular quality, but he combined the best qualities of all."

तत्सम शब्दों का प्रयोग करते हैं। किन्तु उनका संस्कृत शब्दोंका भाण्डार व्यापक नहीं था। इसलिये वे सरस, भावमय एवं कोमल संस्कृत शब्दों के चयन में उतने समर्थ नहीं बन सके जितने गोस्वामीजो। कहीं कहीं उन्हों ने संस्कृत शब्दों को इतना विकृत कर दिया है कि उसकी पहचान कठिनता से होती है। जैसा 'शार्दूल' का 'सदूर'। परन्तु गोस्वामीजी इस महान दोष से सर्वथा मुक्त हैं। अवधी शब्दों और वाक्यों के विषय में भी उनकी सहृदयता नीर-क्षीर का विवेक करने में हंस की सी शक्ति रखती है। रामचरित-मानस विशाल ग्रन्थ है। परन्तु उसमें ग्रामीण भद्दे शब्द बहुत खोजने पर भी नहीं मिलते। कहीं कहीं तो अवधी शब्द का व्यवहार उनके द्वारा इस मधुरता से हुआ है कि वे बड़े ही हृदयग्राही बन गये हैं। उनकी दृष्टि विशाल थी और वे इस बात के इच्छुक थे कि उनकी रचना हिन्दू संसार में नवजीवन का संचार करे। अतएव उन्हों ने हिन्दी-भाषा के ऐसे अनेक शब्दों को भी अपनी रचना में स्थान दिया है जो अवधी भाषा के नहीं कहे जा सकते। उनकी इस दूर दर्शिनी दृष्टि का ही यह फल है कि आज उनके महान् ग्रन्थ की उतनी व्यापकता है, कि उसके लिये 'गेहे गेहे जने जने' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है।

गोस्वामी जी जिस समय साहित्य-क्षेत्र में उतरे उस समय निर्गुण-धारा बड़े वेग से बह रही थी। जो जनता को परोक्ष सत्ता की ओर ले जा कर उसके मनों में सांसारिकता से विराग उत्पन्न कर रही थी। विराग वैदिकधर्म का एक अङ्ग है। उसको शास्त्रीय भाषा में निवृत्ति मार्ग कहते हैं। अवस्था विशेष के लिये ही यह मार्ग निर्दिष्ट है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्रवृत्ति मार्ग की उपेक्षा कर अनधिकारी भी निवृत्ति-मार्गी बन जाये। निवृत्ति मार्ग का प्रधान गुण है त्याग, जो सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं। इसीलिये अधिकारी पुरुष ही निवृत्ति मार्गी बन सकता है क्योंकि जो तत्वज्ञ नहीं वह निवृत्ति-मार्ग के नियमों का पालन नहीं कर सकता। निवृत्ति मार्ग का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य घर बार और बाल बच्चों का त्याग कर अकर्मण्य बन जाये और तमूरा खड़का कर अपना पेट पालता फिरे। त्याग मानसिक होता है और

उसमें वह शक्ति होती है जो देश, जाति, समाज और मानवीय आत्मा को बहुत उन्नत बना देती है। जो अपने गृह को, परिवार को, पड़ोस को, ग्राम को अपनी सहानुभूति, सत्यव्यवहार और त्याग बल से उन्नत नहीं बना सकता उसका देश और जाति को ऊँचा उठाने का राग अलापना अपनी आत्मा को ही प्रतारित नहीं करना है, प्रत्युत दूसरों के सामने ऐसे आदर्श उपस्थित करना है जो लोक संग्रह का बाधक है। निर्गुणवादियों ने लोक संग्रह की ओर दृष्टि डाली ही नहीं। वे संसार की असारता का राग ही गाते और उस लोक की ओर जनता को आकर्षित करने का उद्योग करते देखे जाते हैं जो सर्वथा अकल्पनीय है। वहां सुधा का स्रोत प्रवाहित होता हो, स्वर्गीय गान श्रवणगत होता हो, सुर दुर्लभ अलौकिक पदार्थ प्राप्त होते हों। वहां उन विभूतियों का निवास हो जो अचिन्तनीय कही जा सकती हैं। परन्तु वे जीवों के किस काम की जब उनको वे जीवन समाप्त करके ही प्राप्त कर सकते हैं ? मरने के उपरान्त क्या होता है, अब तक इस रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ। फिर केवल उस कल्पना के आधार पर उसको असार कहना जिसका हमारे जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है क्या बुद्धिमत्ता है ? यदि संसार असार है और उसका त्याग आवश्यक है तो उस सार वस्तु को सामने आना चाहिये कि जो वास्तव में कार्य-क्षेत्र में आकर यह सिद्ध कर दे कि संसार की असारता में कोई सन्देह नहीं। हमारे इन तर्कों का यह अर्थ नहीं कि हम परोक्षवाद का खण्डन करते हैं, या उन सिद्धान्तों का विरोध करने के लिये कटिबद्ध हैं जिनके द्वारा मुक्ति, नरक, स्वर्ग आदि की सत्ता स्वीकार की जाती है। यह बड़ा जटिल विषय है। आज तक न इसकी सर्वसम्मत निष्पत्ति हुई न भविष्य काल में होने की आशा है। यह विषय सदा ही रहस्य बना रहेगा। मेरा कथन इतना ही है कि सांसारिकता की समुचित रक्षा करके ही परमार्थ-चिन्ता उपयोगी बन सकती है, वरन् सत्य तो यह है कि सांसारिक समुन्नत त्यागमय जीवन ही परमार्थ है। हम आत्म-हित करते हुये जब लोकहित-साधन में समर्थ हों तभी मानव जीवन सार्थक हो सकता है। यदि विचार दृष्टि से देखा जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा

कि जो आत्म-हित करने में असमर्थ है वह लोक हित करने में समथ नहीं हो सकता। आत्मोन्नति के द्वारा ही मनुष्य लोक-हित करने का अधिकारी होता है। देखा जाता है कि जिसके मुख से यह निकलता रहता है कि 'अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम' 'दास मलूका यों कहै, सब के दाता राम', वह भी हाथ पाँव डाल कर बैठा नहीं रहता। क्योंकि पेट उसको बैठने नहीं देता। हाँ. इस प्रकार के विचारों से समाज में अकर्मण्यता अवश्य उत्पन्न हो जाती है, जिससे अकर्मण्य प्राणो जाति और समाज के बोझ बन जाते हैं। उचित क्या है? यहो कि हम अपने हाथ पाँव आदि को उन कर्मों में लगावें कि जिनके लिये उनका सृजन है। ऐसा करनेसे लाभ यह होगा कि हम स्वयं संसारसे लाभ उठायेंगे और इस प्रवृत्ति के अनुसार साँसारिक अन्य प्राणियों को भो लाभ पहुँचा सकेंगे प्रयोजन यह है कि सांसारिकता की रक्षा करते हुये. लोक में रहकर लोक के कर्त्तव्य का पालन करते हुये. यदि मानव वह विभूति प्राप्त कर सके जो अलौकिक बतलायी जाती है। तब तो उसकी जीवन यात्रा सुफल होगी, अन्यथा सब प्रकार की असफलता ही सामने आवेगी। रहा यह कि परलोक में क्या होगा उसको यथा तथ्य कौन बतला सका?

निर्गुणवाद की शिक्षा लगभग ऐसी ही है जो संसार से विराग उत्पन्न करती रहतो है। घर छोड़ो. धन छोड़ो विभव छोड़ो, कुटुंब-परिवार छोड़ो करो क्या? जप. तप और हरि भजन। जोवन चार दिन का है. संसार में कोई अपना नहीं। इसलिये सबको छोड़ो और भगवान का नाम जप कर अपना जन्म बनाओ। इस शिक्षा में लोक संग्रह का भाव कहाँ? इन्हीं शिक्षाओं का यह फल है कि आज कल हिन्दू समाज में कई लाख ऐसे प्राणी हैं जो अपने को संसार त्यागी समझते हैं और आप कुछ न कर दूसरों के सिर का बोझ बन रहे है। उनके बाल बच्चे अनाथ हों, उनकी स्त्री भूखों मरे उनकी बला से। वे देश के काम आवें या न आवें, जाति का उनसे कुछ भला हो या न हो. समाज उनसे छिन्न-भिन्न होता है तो हो. उनको इन बातों से कोई मतलब नहीं, क्योंकि वे भगवान के भक्त बन गये हैं और उनको इन पचड़ों से कोई काम नहीं। संसार में रह कर

कैसे जीवन व्यतीत करना चाहिये ? कैसे दूसरों के काम आना चाहिये ? कैसे कष्टितों का कष्ट-निवारण करना चाहिये ? कैसे प्राणीमात्र का हित करना चाहिये ? मानवता किसे कहते हैं ? साधुचरित्र का क्या महत्व है ? महात्मा किसका नाम है ? वे न इन बातों को जानते और न इन्हें जानने का उद्योग करते हैं। फिर भी वे हरि भक्त हैं और इस बात का विश्वास रखते हैं कि उनके लेने के लिये सीधे सत्य लोक से विमान आयेगा। जिस के ऐसे संस्कार हैं उससे लोक-संग्रह की क्या आशा है ? किन्तु कष्ट की बात है कि अधिकांश हमारा संसार-त्यागी-समाज ऐसा ही है। क्यों कि उसने त्याग और हरि-भजन का मर्म समझा ही नहीं, और क्यों समझता जब परोक्ष सत्ता ही से उसको प्रयोजन है और संसार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

महाप्रभु वल्लभाचार्यने हिन्दू समाजके इस रोग को उस समय पहचाना था और उन्होंने अपने सम्प्रदाय का यह प्रधान सिद्धान्त रक्खा कि गार्हस्थ्य धर्म में रह कर ही और सांसारिक समस्त कर्तव्यों का पालन करते हुये ही परमार्थ चिन्ता करनी चाहिये, जिससे समाज लोक संग्रह के मर्मको न समझ कर अस्त-व्यस्त न हो। त्याग का विरोध उन्होंने नहीं किया, किन्तु त्याग के उस उच्च आदर्श की ओर हिन्दू समाज की दृष्टि आकर्षित की जो मानस-सम्बन्धी सच्चा त्याग है। उनका आदर्श इस श्लोक के अनुसार था।

वनेषु दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्,
गृहेपु पंचेन्द्रिय निग्रहस्तपः
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
निवृत्त रागस्य गृहं तपोवनम्।

रागात्मक जनों के लिये वन भी सदोप बन जाता है घर में रह कर पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करना ही तप है। जो अकुत्सित कर्मों में प्रवृत्त होता है उसके लिये घर ही तपोबन है।' महाप्रभु वल्लभाचार्य की तरह गोस्वामी जी में भी लोक-संग्रह का भाव बड़ा प्रबल था। सामयिक मिथ्या-

चारों और अयथा विचारों से वे संतप्त थे। आर्य्य मर्यादा का रक्षण ही उनका ध्येय था। वे हिन्दू जाति की रगों में वह लहू भरना चाहते थे कि जिससे वह सत्य-संकल्प और सदाचारी बन कर वैदिक धर्म की रक्षा के उपयुक्त बन सके। वे यह भली भांति जानते थे कि लोक-संग्रह सभ्यता की उच्च सीढ़ियों पर आरोहण किये बिना ठीक ठीक नहीं हो सकता, वे हिन्दू जनता के हृदय में यह भाव भी भरना चाहते थे कि चरित्र बल ही संसार में सिद्धि-लाभ का सर्वोत्तम साधन है। इस लिये उन्होंने उस ग्रन्थ की रचना की जिसका नाम रामचरित मानस है और जिसमें इन सब बातों की उच्च से उच्च शिक्षा विद्यमान है। उनकी वर्णन-शैली और शब्द-विन्यास इतना प्रबल है कि उनसे कोई हृदय प्रभावित हुये बिना नहीं रहता। अपने महान् ग्रन्थ में उन्होंने जो आदर्श हिन्दू समाज के सामने रखे हैं वे इतने पूर्ण, व्यापक और उच्च हैं जो मानव समाज की समस्त आवश्यकताओं और न्यूनताओं की पूर्त्ति करते हैं। भगवान् रामचन्द्र का नाम मर्य्यादा पुरुषोत्तम है। उनकी लीलायें आचार-व्यवहार और नीति भी मर्य्यादित है। इसलिये रामचरित मानस भी मर्य्यादामय है। जिस समय साहित्य में मर्य्यादा का उल्लंघन करना साधारण बात थी, उस समय गोस्वामी जी को ग्रन्थ भर में कहीं मर्य्यादा का उल्लंघन करते नहीं देखा जाता। कवि कर्म्म में जितने संयत वे देखे जाते हैं हिन्दी संसार में कोई कवि या महाकवि उतना संयत नहीं देखा जाता और यह उनके महान् तप और शुद्ध विचार तथा उस लगन का ही फल है जो उनको लोक-संग्रह की ओर खींच रहा था।

गोस्वामी जी का प्रधान ग्रंथ रामायण है। उसमें धर्मनीति, समाज-नीति, राजनीति का सुन्दर से सुन्दर चित्रण है। गृहमेधियों से लेकर संसार त्यागी सन्यासियों तक के लिये उसमें उच्च से उच्च शिक्षायें मौजूद हैं। कर्त्तव्य-क्षेत्र में उतर कर मानव किस प्रकार उच्च जीवन व्यतीत कर सकता है, जिसप्रकार इस विषय में उसमें उत्तम से उत्तम शिक्षायें मौजूद हैं उसी प्रकार परलोक-पथ के पथिकों के लिये भी पुनीत ज्ञान-चर्चा और लोकोत्तर विचार विद्यमान है। हिन्दूधर्म के विविध

मतों का समन्वय जैसा इस महान् ग्रन्थ में मिलता है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में दृष्टिगत नहीं होता। शैवों और वैष्णवों का कलह सर्व-जन विदित है परन्तु गोस्वामीजी ने उसका जिस प्रकार निराकरण किया उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। समस्त वेद, शास्त्र और पुराणों के उच्च से उच्च भावों का निरूपण इस ग्रन्थ में पाया जाता है और अतीव प्राञ्जलता के साथ। काव्य और साहित्य का कोई उत्तम विषय ऐसा नहीं कि जिसका दर्शन इस ग्रन्थ में न होता हो। यह ग्रन्थ सरसता, मधुरता, और मनोभावों के चित्रण में जैसा अभूतपूर्व है वैसाही उपयोगिता में भी अपना उच्चस्थान रखता है। यही कारण है कि तीन सौ वर्ष से वह हिन्दूसमाज, विशेष कर उत्तरीय भारत, का आदर्श ग्रन्थ है। जिस समय मुसल्मानों का अव्याहत प्रताप था, शास्त्रों के मनन, चिन्तन का मार्ग धीरे धीरे बन्द हो रहा था, संस्कृत की शिक्षा दुर्लभतर हो रही थी और हिन्दू समाज के लिये सच्चा उपदेशक दुष्प्राप्य था। उस समय इस महान् ग्रन्थ का प्रकाश ही उस अन्धकार का नाश कर रहा था जो अज्ञात-रूप में हिन्दुओं के चारों ओर व्याप्त था। आज भी उत्तर भारत के गाँव गाँव में हिन्दू शास्त्र के प्रमाण-कोटि में रामायण की चौपाइयां गृहीत हैं। प्रायः अंग्रेज विद्वानों ने लिखा है कि योरोप में जो प्रतिष्ठा बाइबिल (Bible) को प्राप्त है भारतवर्ष में वह गौरव यदि किसी ग्रन्थ को मिला तो वह रामचरित मानस है। एक साधारण कुटी से लेकर राजमहलों तक में यदि किसी ग्रन्थ की पूजा होती है तो वह रामायण ही है। उसका श्रवण, मनन और गान सबसे अधिक अब भी होता है। व्याख्याता अपने व्याख्यानों में रामायण की चौपाइयों का आधार लेकर जनता पर प्रभाव डालने में आज भी अधिक समर्थ होता है। वास्तव बात तो यह है कि आज दिन जो महत्व इस ग्रन्थ को प्राप्त है वह किसी महान् से महान संस्कृत ग्रन्थ को भी नहीं। इन बातों पर दृष्टि रख कर जब विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी हिन्दी साहित्य के सर्वमान्य कवि ही नहीं हैं, हिन्दू संसार के सर्वपूज्य महात्मा भी हैं।]

मैं पहले कविवर सूरदास जी के विषय में अपनी सम्मति प्रकट कर

चुका हूं और अब भी यह मुक्त कंठ से कहता हूं कि सूरदास जी ने जिस विषय पर लेखनी चलायी है, उसमें उनकी समकक्षता करने वाला हिन्दी साहित्य में कोई अब तक उत्पन्न नहीं हुआ। किन्तु जैसी सर्वतोमुखी प्रतिभा गोस्वामी जी में देखी जाती है, सूरदास जी में नहीं।

गोस्वामीजी नवरस-सिद्ध महाकवि हैं। सूरदासजी को यह गौरव प्राप्त नहीं। कलाकी दृष्टि से सूरदासजी तुलसीदासजीसे कम नहीं हैं। दोनों एक दूसरेके समकक्ष हैं। किन्तु उपयोगिता दृष्टिसे तुलसीदासजीका स्थान अधिक उच्च है। दूसरी विशेषता गोस्वामी जी में यह है कि उनकी रचनायें बड़ी ही मर्य्यादित हैं। वे श्रीमती जानकी जी का वर्णन जहाँ करते हैं वहां उनको जगज्जननी के रूप में ही चित्रण करते हैं। उनकी लेखनी जानकी जी की महत्ता जिस रूप में चित्रित करती है वह बड़ी ही पवित्र है। जानकी जी के सौन्दर्य-वर्णन की भी उन्होंने पराकाष्ठा की है। किन्तु उस वर्णन में भी उनका मातृ पद सुरक्षित है। निम्न लिखित पंक्तियों को देखिये:—

१—जो पट तरिय तीय सम सीया।
जग अस जुवति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी।
रति अति दुखित अतनुपति जानी।
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही।
कहिय रमा सम किमि बैदेही।
जो छवि सुधा पयोनिधि होई।
परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदर सिंगारू।
मथै पानि पंकज निज मारू।
येहि विधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि, कहहिं सीय सम तूल।

सूरदास जी में यह उच्च कोटि की मर्यादा दृष्टिगत नहीं होती। वे जब श्री मती राधिका के रूप का वर्णन करने लगते हैं तो ऐसे अंगों का भी वर्णन कर जाते हैं जो अवर्णनीय हैं। उनका वर्णन भी इस प्रकार करते हैं जो संयत नहीं कहा जा सकता। कभी कभी इस प्रकार का वर्णन अश्लील भी हो जाता है। मैं यह मानूंगा कि प्राचीन काल से कवि-परम्परा कुछ ऐसी ही रही है। संस्कृत के कवियों में भी यह दोष पाया जाता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास भी इस दोष से मुक्त न रह सके। रघुवंश में वे इन शब्दों में पार्वती और परमेश्वर की वंदना करते हैं:—**"वागर्थमिव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ! जगतः पितरौ वंदे, पार्वती परमेश्वरौ"**। परन्तु उन्होंने ही कुमार सम्भव के अष्टमसर्ग में भगवान शिव और जगज्जननी पार्वती का विलास ऐसा वर्णन किया है जो अत्यन्त अमर्यादित है। संस्कृतके कई विद्वानों ने उनकी इस विषयमें कुत्सा की है। यह कवि-परम्परा ही का अन्धानुकरण है कि जिससे कवि-कुल-गुरु भी नहीं बच सके. फिर ऐसी अवस्था में सूरदास जी का इस दोष से मुक्त न होना आश्चर्यजनक नहीं। यह गोस्वामीजी की ही प्रतिभा की विशेषता है कि उन्होंने चिरकाल-प्रचलित इस कुप्रथाका त्याग किया और यह उनकी भक्तिमय प्रवृत्ति का फल है। इस भक्ति के बल से ही उनकी कविता के अनेक अंश अभूतपूर्व और अलौकिक हैं। इस प्रवृत्ति ने ही उन को बहुत ऊँचा उठाया और इस प्रवृत्ति के बल से ही इस विषय में वे सूरदास जी पर विजयी हुये। आत्मोन्नति. सदाचार-शिक्षा. समाज-संगठन, आर्य जातीय उच्च भावों के प्रदर्शन. सद्भाव. सत् शिक्षा के प्रचार एवं मानव प्रकृति के अध्ययन में जो पद तुलसी दास जी को प्राप्त है उस उच्च पद को सूरदास जी नहीं प्राप्त कर सके। दृष्टि-कोण की व्यापकता में भी सूरदास का वह स्थान नहीं है जो स्थान गोस्वामी जी का है। मैं यह मानूंगा कि अपने वर्णनीय विषयों में सूरदास जी की दृष्टि बहुत व्यापक है। उन्होंने एक एक विषय को कई प्रकार से वर्णन किया है। मुरली पर पचासों पद्य लिखे हैं तो नेत्रों के वर्णन में सैकड़ों पद लिख डाले हैं। परन्तु सर्व विषयों में अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण में जैसी विस्तृत दृष्टि गोस्वामीजी की है उनकी

नहीं। सूरदास जी का मुरली निनाद विश्व विमुग्धकर है। उनकी प्रेम-सम्बन्धी कल्पनायें भी बड़ी ही सरस एवं उदात्त हैं। परन्तु गोस्वामी जी की मेघ-गम्भीर गिरा का गौरव विश्वजनीन है और स्वर्गीय भी। उनकी भक्ति भावनायें भी लोकोत्तर हैं। इसीलिये मेरा विचार है कि गोस्वामीजी का पद सूरदास जी से उच्च है।

मैंने पहले यह लिखा है कि अवधी और व्रजभाषा दोनों पर उनका समान अधिकार था। मैं अपने इस कथन की सत्यता-प्रतिपादन के लिये उनकी रचनाओं में से दोनों प्रकार के पद्यों को नीचे लिखता हूं। उनको पढ़ कर आपलोग स्वयं अनुभव करेंगे कि मेरे कथन में अत्युक्ति नहीं है।

१—फोरइ जोग कपारु अभागा।
भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा।
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।
ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई।
हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती।
नाहिँ त मौन रहब दिन राती।
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा।
बवा सो लुनिय लहिय जो दीन्हा।
कोउ नृप होइ हमैं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।
जारइ जोग सुभाउ हमारा।
अनभल देखि न जाइ तुम्हारा।
तातें कछुक बात अनुसारी।
छमिय देवि बड़ि चूक हमारी।
तुम्ह पूंछउ मैं कहत डराऊँ।
धरेउ मोर घरफोरी नाऊँ।

रहा प्रथम अब ते दिन बीते ।

समउ फिरे रिपु होइँ पिरीते ।

जर तुम्हारि चह सवति उखारी ।

रूँधहु करि उपाइ बर बारी ।

तुम्हहिँ न सोच सोहाग बल,

निज बस जानहु राउ ।

मन मलीन मुंहु मीठु नृप,

राउर सरल सुभाउ ।

जौ असत्य कछु कहब बनाई ।

तौ विधि देइहि हमहिं सजाई ।

रेख खँचाइ कहहुँ बल भाखी ।

भामिनि भइहु दूध कै माखी ।

काह करउँ सखि सूध सुभाऊ ।

दाहिन बाम न जानउँ काऊ ।

नैहर जनम भरब बरु जाई ।

जिअत न करब सवति सेवकाई ।

रामायण

२—मोकहँ झूठहिं दोष लगावहिं ।

मइया इनहिं बान परगृह को नाना जुगुति बनावहिं ।

इन्ह के लिये खेलियो छोर्‌यो तऊ न उबरन पावहिं ।

भाजन फोरि बोरि कर गोरस देन उरहनो आवहिं ।

कबहुंक बाल रोवाइ पानि

गहि एहि मिस करि उठि धावहिं ।

करहिं आप सिर धरहिं
आन के बचन बिरंचि हरावहिं।
मेरी टेव बूझ हलधर सों संतत संग खेलावहिं।
जे अन्याउ करहिँ काहू को ते सिसु मोहिं न भावहिं।
सुनि सुनि बचन-चातुरी
ग्वालिनि हँसि हँसि बदन दुरावहिं।
बाल गोपाल केलि कल कीरति।
तुलसि दास मुनि गावहिं

३—अबहिं उरहनो दै गई बहुरो फिरि आई।
सुनि मइया तेरी सौं करौं याकी टेव
लरन की सकुच बेंचि सी खाई।
या व्रज में लरिका घने हौं ही अन्याई।
मुँह लाये मूँड़हिं चढ़ी अन्तहु
अहिरिनि तोहिं सूधी करि पाई।

कृष्ण गीतावली।

रामायण का पद्य अवधी बोल चाल का बड़ा ही सुन्दर नमूना है। उसमें भावुकता कितनी है और मानसिक भाव का कितना सुन्दर चित्रण है इसको प्रत्येक सहृदय समझ सकता है। स्त्री-सुलभ प्रकृति का इन पद्यों में ऐसा सच्चा चित्र है कि जिसको बारबार पढ़ कर भी जी नहीं भरता। कृष्ण गीतावली के दोनों पद भी अपने ढंग के बड़े ही अनूठे हैं। उनमें व्रजभाषा-शब्दों का कितना सुन्दर व्यवहार है और किस प्रकार महावरों की छटा है वह अनुभव की वस्तु है। बालभाव का जैसा चित्र दोनों पदों में है उसको जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। गोस्वामी जी की लेखनी का यही महत्व है कि वे जिस भाव को लिखते हैं उसका यथातथ्य चित्रण कर देते हैं और यही महाकवि का लक्षण है। गोस्वामी

जी ने अपने ग्रन्थों में से रामायण की मुख्य भाषा अवधी रखी है। जानकी मंगल, राम लला नहछू, बरवै रामायण और पार्वती मंगल की भाषा भी अवधी है। कृष्ण गीतावली को उन्होंने शुद्ध व्रजभाषा में लिखा है। अन्य ग्रन्थों में उन्होंने बड़ी स्वतंत्रता से काम लिया है। इनमें उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार यथावसर व्रजभाषा और अवधी दोनों के शब्दों का प्रयोग किया है।

गोस्वामीजी की यह विशेषता भी है कि उनका हिन्दी के उस समय के प्रचलित छन्दों पर समान अधिकार देखा जाता है। यदि उन्होंने दोहा-चौपाई में प्रधान-ग्रन्थ लिख कर पूर्ण सफलता पायी तो कवितावली को कवित्त और सवैया में गीतावली और विनय-पत्रिका को पदों में लिख कर मुक्तक विषयों के लिखने में भी अपना पूर्ण अधिकार प्रकट किया। उनके बरवे भी बड़े सुन्दर हैं और उनकी दोहावली के दोहे भी अपूर्व हैं। इस प्रकार की क्षमता असाधारण महाकवियों में ही दृष्टिगत होती है। मैं इन ग्रन्थों के भी थोड़े से पद्य आप लोगों के सामने रखता हूं। उनको पढ़िये और देखिये कि उनमें प्रस्तुत विषय और भावों के चित्रण में कितनी तन्मयता मिलती है और प्रत्येक छन्द में उनकी भाषा का झंकार किस प्रकार भावों के साथ झंकृत होता रहता है। विषयानुकूल शब्द-चयन में भी वे निपुण थे। नीचे के पद्यों को पढ़ कर आप यह समझ सकेंगे कि भाषा पर उनका कितना अधिकार था। वास्तव में भाषा उनकी अनुचरी ज्ञात होती है। वे उसे जब जिस ढंग में ढालना चाहते हैं ढाल देते हैं:—

४—बर दंत की पंगति कुंद कली
अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै
छवि मोतिन माल अमोलन की।
घुंघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर
कुण्डल लोल कपोलन की।

निवछावर प्रान करै तुलसी
बलि जाउँ लला इन बोलन की ।

५—हाट बाट कोट ओट अटनि अगार पौरि
खोरि खोरि दौरि दौरि दीन्हीं अति आगि है ।
आरत पुकारत सँभारत न कोऊ काहू
व्याकुल जहाँ सो तहाँ लोक चल्यो भागि है ।
बालधी फिरावै बार बार झहरावै झरैं
बूंदियाँसी लंक पघिराई पाग पागि है ।
तुलसी विलोकि अकुलानी जातुधानी कहै
चित्रहूं के कपिसों निसाचर न लागि है ।

कवितावली

६—पौढ़िये लाल पालने हौं झुलावौं ।
बाल विनोद मोद मंजुल मनि
किलकनि खानि खुलावौं ।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ
मति मृगनैनि बुलावौं ।
तुलसी भनित भली भामिनि
उर सो पहिराइ फुलावौं ।
चारु चरित रघुवर तेरे तेहि
मिलि गाइ चरन चित लावौं ।

७—बैठी सगुन मनावति माता ।
कब अइहैं मेरे बाल कुसल घर
कहहु काग फुरि बाता ।

दूध भात की दोनी दैहों
सोने चोंच मढ़ैहौं ।
जब सिय सहित विलोकि
नयन भरि राम लखन उर लैहौं ।
अवधि समीप जानि जननी
जिय अति आतुर अकुलानी ।
गनक बुलाइ पाय परि पूछत
प्रेम मगन मृदु बानी ।
तेहि अवसर कोउ भरत
निकट ते समाचार लै आयो ।
प्रभु आगमन सुनत तुलसी
मनो मरत मीन जल पायो ।

गीतावली

८—बावरो रावरो नाह भवानी ।
दानि बड़ो दिन देत दये
बिनु बेद बड़ाई भानी ।
निज घर की बर बात विलोकहु
हो तुम परम सयानो ।
सिवकी दई संपदा देखत
श्री सारदा सिहानी ।
जिनके भाल लिखी लिपि
मेरी सुख की नहीं निसानी ।
तिन रंकन को नाक सँवारत
हौं आयों नकवानी ।

दुख दीनता दुखी इनके दुख
जाचकता अकुलानी ।
यह अधिकार सौंपिये
औरहिँ भीख भली मैं जानी ।
प्रेम प्रसंसा विनय व्यंग जुत
सुनि विधि की बर बानी ।
तुलसी मुदित महेस मनहि मन
जगत मातु मुसकानी ।

९—अबलौं नसानी अब ना नसैहौं ।
राम कृपा भव निसा सिरानी
जागे फिर न डसैहौं ।
पायो नाम चारु चिंतामनि
उर कर ते न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी
चित कंचनहिँ कसैहौं ।
परवस जानि हस्यों इन इन्द्रिन
निज बस ह्वै न हंसैहौं ।
मन मधु कर पन करि तुलसी
रघुपति पद कमल बसैहौं ।

विनयपत्रिका

१०—गरब करहु रघुनन्दन जनि मन मौंह ।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह ।
डहकनि है उँजियरिया निसि नहिं घाम
जगत जरत अस लागइ मोंहि बिनु राम ।

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होइ ।
स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम ।
इनते भई सित कीरति अति अभिराम ।
विरह आग उर ऊपर जब अधिकाइ ।
ए अँखिया दोउ बैरिन देहिं बुताइ ।
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर ।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर ।

बरवै रामायण

११--तुलसी पावस के समै धरी कोकिला मौन ।
अबतो दादुर बोलि हैं हमैं पूछि है कौन ।
हृदय कपट बर बेष धरि बचन कहैं गढ़ि छोलि ।
अब के लोग मयूर ज्यों क्यों मिलिये मन खोलि ।
आवत ही हरखै नहीं नैनन नहीं सनेह ।
तुलसी तहाँ न जाइये कंचन बरसै मेह ।
तुलसी मिटै न मोह तम किये कोटि गुन ग्राम ।
हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रवि कुल रवि राम ।
अमिय गारि गारेउ गरल नारि करी करतार ।
प्रेम बैर की जननि जुग जानहिं बुध न गँवार ।

दोहावली

व्रजभाषा और अवधी के विशेष नियम क्या हैं, मैं इसे पहले विस्तार से लिख चुका हूं । मलिक मुहम्मद जायसी और सूरदास की भाषा में उक्त भाषाओं के नियमों का प्रयोग भी दिखला चुका हूं । गोस्वामी जी की रचना में भी अवधी और व्रज-भाषा के नियमों का पालन पूरा पूरा

हुआ है। मैं उनकी रचना की पंक्तियों को ले कर इस बात को प्रमाणित कर सकता हूं। किन्तु यह बाहुल्य मात्र होगा। गोस्वामी जी की उद्धृत रचनाओं को पढ़ कर आप लोग स्वयं इस बात को समझ सकते हैं कि उन्होंने किस प्रकार दोनों भाषाओं के नियमों का पालन किया-मैं उसका दिग्दर्शन मात्र ही करूंगा। युक्तविकर्ष के प्रमाण भूत ये शब्द हैं, गरब, अरघ, मूरति। कारकों का लोप इन वाक्यांशों में पाया जाता है 'बोरि कर गोरस', 'बाल गोवाई', सिर धरहिं आन के', 'वचन बिरंचि हरावहिं', 'पालने पौढ़िये', 'किलकनि खानि', 'तुलसी भनिति', सोनेचोंच मढ़ैहों', 'रामलखन उर लैहों', 'बेद बड़ाई' 'जगत मातु'। 'श', 'ण', 'क्ष' इत्यादि के स्थान पर 'स', 'न', 'छ' का व्यवहार 'सिंगारू', 'प्रसंसा', 'परबस', 'सिसु', 'पानि' 'भरन', 'गनक', 'लच्छि', आदि में है। पञ्चम वर्ण की जगह पर अनुस्वार का प्रयोग 'मंजुल', 'बिरंचि', 'कंचनहिं' आदि में मिलेगा। शब्द के आदि के 'य' के स्थान पर 'ज' का व्यवहार जुवति, जागु, जुगुति आदि में आप देखेंगे। संज्ञाओं और विशेषणों के, अपभ्रंश के अनुसार, उकारान्त प्रयोग के उदाहरण ये शब्द हैं, कपारू, मुहुं, मीठु, आदि। ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व-प्रयोग 'कमनीया', 'बाता', 'जुवति', 'रेख' इत्यादि शब्दों में हुआ है। प्राकृत शब्दों का उसी के रूप में ग्रहण तीय, नाह इत्यादि में है। ब्रजभाषा की रचना में आप को संज्ञायें क्रियायें दोनों अधिकतर ओकारान्त मिलेंगी। और इसी प्रकार अवधी की संज्ञायें और क्रियायें नियमानुकूल अकारान्त पायी जायँगी। उरा हनो, बहुरो, पायो, आयो, बड़ा, कहब, रहब, होब, देन, गउर इत्यादि इसके प्रमाण हैं। अधिकतर तद्भव शब्द ही दोनों भाषाओं में आये हैं। परन्तु जहां भाषा तत्सम शब्द लाने से ही सुन्दर बनती है वहां गोस्वामी जी ने तत्सम शब्दों का प्रयोग भी किया है। जैसे 'प्रिय', 'कुरूप', 'रिपु', 'असत्य', 'पल्लव' इत्यादि। मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने अधिकता से किया है। परन्तु विशेषता यह है कि जिस भाषा में मुहावरे आये हैं उनको उसी भाषा के रूप में लिखा है जैसे 'नयनभरि', 'मुंह लाये', 'मूड़हिं चढ़ी', 'जनम भरब', 'नकबानी आयो', 'ठकुरसुहाती', 'बवा सो लुनिय' इत्यादि।

अवधी में स्त्रीलिंग के साथ सम्बन्ध का चिन्ह सदा 'कै" आता है। गोस्वामी जी की रचनाओं में भी ऐसा ही किया गया है, 'दूध कै माखो', 'कै छाँह', इत्यादि इसके सबूत हैं। क्रिया बनाने में विधि के साथ इकार का संयोग किया जाता है उनकी कवितामें भी यह बात मिलती है जैसे 'भरि', 'फोरी', 'बोरि' इत्यादि। अनुप्रास के लिये तुकान्त में इस 'इ' को दीर्घ भी कर दिया जाता है। उन्होंने भी ऐसा किया है। देखिये 'जानी', 'होई' इत्यादि। ऐसे ही नियम-सम्बन्धी अन्य बातें भी आप लोगों को उनमें दृष्टिगत होंगी।

सूरदासजी के हाथों में पड़ कर ब्रजभाषा और गोस्वामीजी की लेखनी से लिखी जा कर अवधी प्रौढ़ता को प्राप्त हो गयी। इन दोनों भाषाओं का उच्च से उच्च विकास इनदोनों महाकवियों के द्वारा हुआ। साहित्यिक भाषा में जितना सौन्दर्य-सम्पादन किया जा सकता है इन दोनों महापुरुषों से इनकी रचनाओं में उसकी भी पराकाष्टा हो गई। अनुप्रासों और रस एवं भावानुकूल शब्दों का विन्यास जैसा इन कवि-कर्म्मनिपुण महाकवियों की कृति में पाया जाता है वैसा आज तक की हिन्दी भाषा की समस्त रचनाओं में नहीं पाया जाता भविष्य में क्या होगा, इस विषय में कुछ कहना असम्भव है। "जिनको सजीव पंक्तियाँ कहते हैं" वे जितनी इन लोगों की कविताओं में मिलती हैं उतनी अबतक की किसी कविता में नहीं मिल सकीं। यदि इन लोगों की शब्द माला में लालित्य नर्तन करता मिलता है तो भाव सुधा-वर्षण करते हैं। जब किसी भाषा की कविता प्रौढ़ता को प्राप्त होती है उस समय उसमें व्यंजना की प्रधानता हो जाती है। इन लोगों की अधिकांश रचनाओं में भी यही बात देखी जाती है।

गोस्वामी जी के विषय में योरोपीय या अन्य विद्वानों की जो सम्मतियां हैं उनमें से कुछ सम्मतियों को मैं नीचे लिखता हूं। उनके पढ़ने से आप लोगों को ज्ञात होगा कि गोस्वामी जी के विषय में विदेशी विद्वान् भी कितनी उत्तम सम्मति और कितना उच्च भाव रखते हैं। प्रोफ़ेसर मोल्टन यह कहते हैं।

' मानव प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर ग्रहणशीलता, करुणा से लेकर आनन्द तक के सम्पूर्ण मनोविकारों के प्रति संवेदनशीलता, स्थान स्थान पर मध्यश्रेणी का भाव जिस पर हँसते हुये महासागर के अनन्त बुद्बुदों की तरह परिहास क्रीड़ा करता है; कल्पना-शक्ति का स्फुरण जिसमें अनुभव और सृष्टि दोनों एक ही मानसिक क्रिया जान पड़ती हैं. सामञ्जस्य और अनुपात की वह धारणा जो जिसे ही स्पर्श करेगी कलात्मक बना देगी; भाषा पर वह अधिकार जो विचार का अनुगामी है और वह भाषा जो स्वयं ही सौन्दर्य्य है; ये सब काव्य-स्फूर्ति के पृथक् पृथक् तत्व जिनमें से एक भो विशेष मात्रा में विद्यमान हो कर कवि की सृष्टि कर सकता है। तुलसोदास में सम्मिलित रूप से पाये जाते हैं" १

एक दूसरे सज्जन की यह सम्मति है—

हम पैगम्बर (ईश्वरीय दूत) को उसके कार्य्यों के परिणामों की कसौटी पर ही कसते हैं। जब मैं यह कहता हूं कि पूरे नौ करोड़ मनुष्य अपने नैतिक और धार्मिक आचार-सम्बन्धी सिद्धान्तों को तुलसीदास की कृति

---

1 Grasp of human nature the most profound, the most subtle; responsivenesi to emotion throughout the whole scale from tragic pathes to rollicking jollity, with a middle range, over which plays a humour like the innumerable twinklings of a laughing ocean; powers of imagination so instinctive that to percieve and create seem the same mental act; a sense of symmetry and proportion that that will make everything it touches into art; mastery of language that is the servant of thought and language that is the beauty in it self; all these separate elements of poelic force, any one of which in consicuous degree might make a poet, are in Tulsidasa found in complete combination " Prof Moultons 'World Literature' P. 166.

1 "We judge of a prophet by his fruits and I give much less than usual estimate when I say that fully ninty millions of people have heard the or theories of moral and religious conduct upon his writtings. Is we take the iufluence exercised by him at present time as our test, he in one of the three or four great writers of Asia. "

J. R. A. S,, July 1930 P. 455.

ही से ग्रहण करते हैं तो अत्युक्ति नहीं करता, मेरा यह अनुमान साधारण जन संख्या से कुछ कम ही है। वर्त्तमान समय में उनका जितना प्रभाव है यदि उसके आधार पर हम अपना निर्णय स्थिर करें तो वे एशिया के तीन या चार महान लेखकों में परिगणित होंगे" १

डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन का यह कथन है:—

"भारतवर्ष के इतिहास में तुलसीदास का बहुत अधिक महत्व है। उनके काव्य की साहित्यिक उत्कृष्टता की ओर न भी ध्यान दें तो भागलपुर से लेकर पंजाब तक और हिमालय से लेकर नर्मदा तक समस्त श्रेणियों के लोगों का उन्हें आदर पूर्वक ग्रहण करना ध्यान देने योग्य बात है। तीन सौ से भी अधिक बर्षों से उनके काव्यका हिन्दू जनता को बोलचाल, तथा उसके चरित्र और जीवन से सम्बन्ध है। वह उनकी कृति को केवल उसके काव्य-गत सौन्दर्य के लिये ही नहीं चाहती है, उसे श्रद्धा की दृष्टि से ही नहीं देखती है, उसे धार्म्मिक ग्रंथ के रूप में पूज्य समझती है। दस करोड़ जनता के लिये वह बाइबिल (Bible) के समान है और वह उसे उतना ही ईश्वरप्रेरित समझती है जितना अंग्रेज़ पादड़ी बाइबिल को समझता है। पंडित लोग भले ही वेदों की चर्चा और उनमें से थोड़े से लोग उनका अध्ययन भी करें, भले ही कुछ लोग पुराणों के प्रति श्रद्धा भक्ति भी प्रदर्शित करें किन्तु पठित वा अपठित विशाल जनसमूह तो तुलसी कृत रामायण ही से अपने आचार-धर्म की शिक्षा ग्रहण करता है। हिन्दुस्थान के लिये यह वास्तव में सौभाग्य की बात है, क्योंकि इसने देश को शैव धर्म के अनाचरणीय क्रिया-कलाप से सुरक्षित रक्खा है। बंगाल जिस दुर्भाग्य के चक्कर में पड़ गया उससे उत्तरी भारत के मूल त्राण करनेवाले तो रामानन्द थे, किन्तु महात्मा तुलसी दास ही का यह काम था कि उन्हों ने पूर्व और पश्चिम में उनके मत का प्रचार किया और उसमें स्थायिता का संचार कर दिया।" १]

1 "The importance of Tulsidas in the history of India can not be overrated. Pulling the literary merits of his work out of the question, the fact of its universal acceptance by all classes, from Bhagalpur to the

हिन्दी संसार ने सूरदास जी और गोस्वामी जी के बाद का स्थान कविवर केशवदास जी को ही दिया है। मैं भी इसी विचार का हूं।

उनको 'उडुगन' कहा गया है। यदि वे उडुगन हैं तो प्रभात कालिक शुक्र (कवि) के समान प्रभा-विकीर्णकारी हैं। कविकर्म शिक्षाकी पूर्ण ज्योति रीति काल के प्रभात काल में केशवदासजीसे ही हिन्दी संसार को मिली। सब बातों पर विचार करने से यह स्वीकार करना पड़ता है कि साहित्य सम्बन्धी समस्त अंगों की पूर्ति पहले पहल केशव दास जी ने ही की। इनके पहले कुछ विद्वानों ने रीति ग्रन्थों की रचना का सूत्रपात किया था किन्तु यह कार्य केशवदास जी की प्रतिभा से ही पूर्णता को प्राप्त हुआ। इतिहास बतलाता है कि आदि में कृपाराम ने ही 'हित-तरंगिणी' नामक रस-ग्रन्थ की रचना की। इनका काल सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में अपने समय के पहले के कुछ सुकवियों की कुछ रचनाओं की भी चर्चा की है। किन्तु वे ग्रन्थ अप्राप्य हैं। ग्रन्थकारों के नाम तक का पता नहीं मिलता। इन्हीं के समसामयिक गोप नामक कवि और मोहन लाल मिश्र थे। इनमें से गोप नामक कवि ने, रामभूषण और

Punjab and from the Himalaya to the Narmada is surely worthy of note. It has been interwoven into the life, character, and speech of the Hindu population for more than three hundred years, and is not only loved and admired by them for its poetic beauty, but is reverened by them as their scriptures. It is the bible of a hundred millions of people, and is looked upon by them as much inspired as the bible is comsidered by the English clergymen. Pandits may talk of the vedas and of the Vpnishadas and a few may even study them; others may say they pin their faith on tha puranas: but to the vast majority of the people of Hindustan, learned and unlearned alike, their soul room of conduct is the so called Tulsikrit Ramayan. It is indeed fortunate that this is so, for it has saved the country from the tantric obscenities of Shaivism Ram chandra was the original saviour of Upper India from the fate which has befallen Bengal, but Tulsidas was the great apostle who carried his doctrine eastand west and made it an abiding faith."—

Modern Vernacular Literature of Hindustan, 42 43. P.

अलंकार चन्द्रिका नामक ग्रन्थों की रचना की है। नाम से ज्ञात होता है कि ये दोनों ग्रन्थ अलंकार के होंगे। किन्तु ये ग्रन्थ भी नहीं मिलते। इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ कैसे थे, साधारण या विशद। मेरा विचार है कि वे साधारण ग्रंथ ही थे। अन्यथा इतने शीघ्र लुप्त न हो जाते। मोहन लाल मिश्र ने 'शृंगार सागर' नामक ग्रंथ की रचना की थी। ग्रन्थ का नाम बतलाता है कि वह रस-सम्बन्धी ग्रन्थ होगा। इन लोगों के उपरान्त केशवदास जी ही कार्य-क्षेत्र में आते हैं। वे संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वंश-परम्परा से उनके कुल में संस्कृत के उद्भट विद्वान् होते आते थे। उनके पितामह पं० कृष्णदत्त मिश्र संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के रचयिता थे। उनके पिता पं० काशी-नाथ भी संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके बड़े भाई पं० बलभद्र मिश्र संस्कृत के विद्वान तो थे ही, हिन्दी भाषा पर भी बड़ा अधिकार रखते थे। इनका बनाया हुआ नखशिख-सम्बन्धी ग्रन्थ अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। ऐसे साहित्य-पारंगत विद्वानों के वंश में जन्म ग्रहण कर के केशवदास जी का हिन्दी भाषा के रीति-ग्रन्थों के निर्माण में विशेष सफलता लाभ करना आश्चर्यजनक नहीं। वे संकोच के साथ हिन्दी क्षेत्र में उतरे, जैसा निम्न लिखित दोहे से प्रकट होता है:—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़मति केशवदास।

परन्तु जिसविषय को उन्होंने हाथ में लिया उसको पूर्णता प्रदान की। उनके बनाये हुए 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' नामक ग्रन्थ रीति ग्रन्थों के सिरमौर हैं। पहले भी साहित्य विषय के कुछ ग्रन्थ बने थे और उनके उपरान्त भी अनेक रीति ग्रन्थ लिखे गये परन्तु अबतक प्रधानता उन्हीं के ग्रन्थों को प्राप्त है। जब साहित्य शिक्षा का कोई जिज्ञासु हिन्दी-क्षेत्र में पदार्पण करता है, तब उसको 'रसिक-प्रिया' का रसिक और 'कविप्रिया' का प्रेमिक अवश्य बनना पड़ता है। इससे इन दोनों ग्रन्थों की महत्ता प्रकट है। जिन्होंने इन दोनों ग्रन्थों को पढ़ा है वे जानते हैं कि इनमें कितनी प्रौढ़ता

है। रीति-सम्बन्धी सब विषयों का विशद वर्णन थोड़े में जैसा इन ग्रन्थों में मिलता है, अन्यत्र नहीं। 'रसिक-प्रिया' में शृंगार रस सम्बन्धी समस्त विशेषताओं का उल्लेख बड़े पाण्डित्य के साथ किया गया है। कवि-प्रिया वास्तवमें कविप्रिया है, कविके लिये जितनी बातें ज्ञातव्य हैं उनका विशद निरूपण इस ग्रन्थ में है। मेरा विचार है कि केशवदासजीकी कवि प्रतिभाका विकास जैसा इन ग्रन्थों में हुआ, दूसरे ग्रन्थों में नहीं। क्या भाषा, क्या भाव, क्या शब्दविन्यास, क्या भाव-व्यञ्जना, जिस दृष्टिसे देखिये ये दोनों ग्रन्थ अपूर्व हैं। उन्होंने इन दोनों ग्रन्थोंके अतिरिक्त और ग्रन्थोंको भी रचना की है। उनमें सर्व प्रधान रामचन्द्रिका है। यह प्रबन्ध-काव्य है। इस ग्रन्थके संवाद ऐसे विलक्षण हैं जो अपने उदाहरण आप हैं। इस ग्रन्थ का प्रकृति-वर्णन भी बड़ा ही स्वाभाविक है।

कहा जाता है कि हिन्दी संसार के कवियों ने प्रकृतिवर्णन के विषय में बड़ी उपेक्षा की है। उन्हों ने जब प्रकृति वर्णन किया है तब उससे उद्दीपनका कार्य ही लिया है। प्रकृति में जो स्वाभाविकता होती है, प्रकृतिगत जो सौन्दर्य होता है उसमें जो विलक्षणतायें और मुग्धकारितायें पायी जाती हैं उनका सच्चा चित्रण हिन्दी साहित्य में नहीं पाया जाता। किसी नायिका के बिरह का अवलम्बन कर के ही हिन्दी कवियों और महाकवियों ने प्रकृति-गत विभूतियों का वर्णन किया है। सौन्दर्य्य-सृष्टि के लिये उन्हों ने प्रकृति का निरीक्षण कभी नहीं किया। इस कथन में बहुत कुछ सत्यता का अंश है। कवि कुलगुरु वाल्मीकि एवं कविपुंगव कालिदास की रचनाओं में जैसा उच्च कोटि का स्वाभाविक प्रकृतिवर्णन मिलता है निस्सन्देह-हिन्दी साहित्य में उसका अभाव है। यदि हिन्दी संसार के इस कलंक को कोई कुछ धोता है तो वे कविवर केशवदास के ही कुछ प्राकृतिक वर्णन हैं और वे रामचन्द्रिका ही में मिलते हैं। मैं आगे चलकर इस प्रकार के पद्य उद्धृत करूंगा। यह कहा जाता है कि प्रबंध-काव्यों को जितना सुशृङ्खलित होना चाहिये रामचंद्रिका वैसी नहीं है। उसमें स्थान स्थान पर कथा-भागों की शृंखला टूटती रहती है। दूसरी यह बात कही जाती है कि जैसी

भावुकता और सहृदयता चाहिये वैसी इस ग्रन्थ में नहीं मिलती। ग्रन्थ क्लिष्ट भी बड़ा है। एक एक पद्यों का तीन तीन चार चार अर्थ प्रकट करने की चेष्टा करने के कारण इस ग्रन्थ की वहुतसी रचनायें बड़ी ही गूढ़ और जटिल हो गयी हैं, जिससे उनमें प्रसाद गुण का अभाव है। इन विचारों के विषय में मुझे यह कहना है कि किसी भी ग्रन्थ में सर्वाङ्ग-पूर्णता असम्भव है। उसमें कुछ न कुछ न्यूनता रह ही जाती है। संस्कृत के बड़े बड़े महाकाव्य भी निर्दोप नहीं रहे। इसके अतिरिक्त आलोचकों की प्रकृति भी एकसी नहीं होती। रुचिभिन्नता के कारण किसी को कोई बिषय प्यारा लगता है और कोई उसमें अरुचि प्रकट करता है। प्रवृत्ति के अनुसार ही आलोचना भो होती है। इसलिये सभी आलोचनाओं में यथार्थता नहीं होती। उनमें प्रकृतिगत भावनाओं का विकास भी होता है। इसीलिये एक ही ग्रन्थ के विषय में भिन्न भिन्न सम्मतियां दृष्टिगत होती हैं। केशव दास जी की रामचन्द्रिका के विषय में भी इस प्रकार की विभिन्न आलोचनायें हैं। किसी के विशेष विचारों के विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। किन्तु देखना यह है कि रामचन्द्रिका के विषय में उक्त तर्कनायें कहां तक मान्य हैं। प्रत्येक ग्रन्थकार का कुछ उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य के आधार परही उसकी रचना आधारित होती है। केशवदासजीकी रचनाओं में, जिन्हें प्रसाद गुण देखना हो वे 'कविप्रिया' और 'रसिक प्रिया' को देखें। उनमें जितनी सहृदयता है उतनी ही सरसता है। जितनी सुन्दर उनकी शब्द-विन्यास-प्रणाली है उतनी ही मधुर है उनकी भाव-व्यञ्जना। रामचन्द्रिका की रचना पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिये हुई है और मैं यह दृढ़ता से कहता हूं कि हिन्दी संसार में कोई प्रबन्ध-काव्य इतना पाण्डित्यपूर्ण नहीं है। मैं पहले कह चुका हूं कि वे संस्कृतके पूर्ण विद्वान थे। उनके सामने शिशुपाल-वध और 'नैषध' का आदर्श था। वे उसी प्रकार का काव्य हिन्दी में निर्माण करने के उत्सुक थे। इसीलिये रामचन्द्रिका अधिक गूढ़ है। साहित्य के लिये सब प्रकार के ग्रन्थों को आवश्यकता होती है। यथा-स्थान सरलता और गूढ़ता दोनों बांछनीय हैं। यदि लघुत्रयो आदरणीय है तो वृहत्रयी भी। रघुवंश को यदि आदर की दृष्टि से देखा जाता है तो

नैषध को भी। यद्यपि दोनों की रचना-प्रणाली में बहुत अधिक अन्तर है। प्रथम यदि मधुर भाव-व्यञ्जना के लिये आदरणीय है तो द्वितीय अपनी गम्भीरता के लिये। शेक्सपियर और मिल्टन की रचनाओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जासकती है। केशवदासजी यदि चाहते तो 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' की प्रणाली ही रामचन्द्रिका में भी ग्रहण कर सकते थे। परन्तु उनको यह इष्ट था कि उनकी एक ऐसी रचना भी हो जिसमें गम्भीरता हो और जो पाण्डित्याभिमानी को भी पाण्डित्य-प्रकाश का अवसर दे अथच उसकी विद्वत्ता को अपनी गम्भीरता की कसौटी पर कस सके। इस बात को हिन्दी के विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। प्रसिद्ध कहावत है - 'कवि को दीन न चहै बिदाई। पूछे केशव की कविताई।' एक दूसरे कविता-मर्मज्ञ कहते हैं:—

उत्तम पद कवि गंग को, कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीरता, सूर तीन गुन धीर।

इन बातों पर दृष्टि रख कर रामचन्द्रिका की गंभीरता इस योग्य नहीं कि उस पर कटाक्ष किया जावे। जिस उद्देश्य से यह ग्रन्थ लिखा गया है, मैं समझता हूं, उसकी पूर्त्ति इस ग्रन्थ द्वारा होती है। इस ग्रन्थ के अनेक अंश सुन्दर, सरस और हृदय ग्राही भी हैं। और उनमें प्रसाद गुण भी पाया जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह गंभीरता के लिये ही प्रसिद्ध है। मैं समझता हूं कि हिन्दी संसार में एक ऐसे ग्रन्थ की भी आवश्यकता थी जिसकी पूर्त्ति करना केशवदास जी का ही काम था। अब केशव-दास जी के कुछ पद्य मैं नीचे लिखता हूं। इसके बाद भाषा और विशेष-ताओं के विषय में आप लोगों की दृष्टि उनकी ओर आकर्षित करूंगा:—

१—भूषण सकल घनसार ही के घनश्याम,
कुसुम कलित केश रही छवि छाई सी।
मोतिन की लरी सिरकंठ कंठमाल हार,
और रूप ज्योति जात हेरत हेराई सी।

चंदन चढ़ाये चारु सुन्दर शरीर सब,
राखी जनु सुभ्र सोभा बसन बनाई सी।
शारदा सी देखियत देखो जाइ केशो राइ,
ठाढ़ी वह कुँवरि जुन्हाई में अन्हाई सी।

२—मन ऐसो मन मृदु मृदुल मृणालिका के,
सूत कैसो सुर ध्वनि मननि हरति है।
दार्यो कैसो बीज दाँत पाँत से अरुण ओंठ,
केशोदास देखि दृग आनँद भरति है।
एरी मेरी तेरी मोहिं भावत भलाई तातें,
बूझतहौं तोहि और बूझति डरति है।
माखन सी जीभ मुखकंज सी कोमलता में,
काठ सी कठेठी बात कैसे निकरति है।

३—किधौं मुख कमल ये कमला की ज्योति होति
किधौं चारु मुखचन्द्र चन्द्रिका चुराई है।
किधौं मृगलोचन मरीचिका मरीचि कैधौं,
रूप की रुचिर रुचि सुचि सों दुराई है।
सौरभ की सोभा की दलन घन दामिनी की,
केशव चतुर चित ही की चतुराई है।
एरी गोरी भोरी तेरी थोरी थोरी हांसी मेरे,
मोहन की मोहिनी की गिरा की गुराई है।

४—विधि के समान हैं विमानी कृत राजहंस,
विबुध विबुध जुत मेरु सो अचल है।

दीपत दिपत अति सातो दीप दोपियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है।
सागर उजागर को बहु वाहिनी को पति,
छनदान प्रिय किधौं सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ पथ गामी गंगा कैसो जल है।

५—तरु तालीस तमाल ताल हिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल लकुच बकुल कुल केर नारियर।
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहै।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै।
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन।
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र बन,

६—चढ़ो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुण मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन।

७—अरुण गात अति प्रात, पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुं केशवदास, कोकनद कोक प्रेममय।
परिपूरण सिंदूर पूर, कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को क्षत्र, मढ़्यो माणिक मयूख पट।
कै शोणित कलित कपाल यह किल कापालिक कालको,
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को,

८—श्रीपुर में बनमध्य हौं, तू मग करी अनीति।
कहि मुँदरी अब तियन की को करि है परतीति।

९—फलफूलन पूरे तरुवर रूरे कोकिल कुल कलरव बोलैं।
अति मत्त मयूरी पियरस पूरी बनबन प्रति नाचत डोलैं,
सारी शुक पंडित गुनगन मंडित भावनमय अर्थ बखानैं
देखे रघुनायक सीय सहायक मनहुँ मदन रति मधुजानैं।

१०—मन्द मन्द धुनि सों घन गाजैं।
तूर तार जनु आवझ बाजैं।
ठौर ठौर चपला चमकैं यों।
इन्द्रलोक तिय नाचति है ज्यों।
सोहैं घन स्यामल घोर घने।
मोहैं तिनमें बक पाँति मने।
शंखावलि पी बहुधा जलस्यों।
मानो तिनको उगिलै बलस्यों।
शोभा अति शक्र शरासन में।
नाना दुति दीसति है घन में।
रत्नावलि सी दिवि द्वार भनो।
वरखागम बांधिय देव मनो।
घन घोर घने दसहूं दिसि छाये।
मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आये।
अपराध बिना छिति के तन ताये।
तिन पीड़न पीड़ित ह्वै उठि धाये।
अति गाजत बाजत दुंदुभि मानो।
निरघात सबै पविपात बखानो।
धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।
सर जाल बहै जलधार बृथाहीं।

भट चातक दादुर मोर न बोले ।
चपला चमकै न फिरै खँग खोले ।
दुति वन्तन को विपदा वहु कीन्हीं ।
धरनी कहं चन्द्रवधू धर दीन्हीं ।

११--सुभ सर सोभै । मुनि मन लोभै ।
सर सिज फूले । अलि रस भूले ।
जलचर डोलैं वहु खग वोलैं ।
वरणि न जाहीं । उर उरझाहीं ।

१२--आरक्त पत्रा सुभ चित्र पुत्री
मनो विराजै अति चारु भेषा ।
सम्पूर्ण सिंदूर प्रभा बसै धौं
गणेश भाल स्थल चन्द्र रेखा ।

केशवदासजी को भाषा के विषय में विचार करने के पहले मैं यह प्रगट कर देना चाहता हूं कि इनके ग्रन्थ में जो मुद्रित हो कर प्राप्त होते हैं, यह देखा जाता है कि एकही शब्द के भिन्न भिन्न रूप हैं। इससे किसी सिद्धान्त पर पहुँचना बड़ा दुस्तर है। फिर भी सब बातों पर विचार करके और व्यापक प्रयोग पर दृष्टि रख कर मैं जिस सिद्धान्त पर पहुंचा हूं उसको आपलोगों के सामने प्रकट करता हूं। केशवदासजी के ग्रन्थों की मुख्य भाषा ब्रजभाषा है। परन्तु बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग भी उनमें पाया जाता है। यह स्वभाविकता है। जिस प्रान्त में वे रहते थे उस प्रान्त के कुछ शब्दों का उनकी रचना में स्थान पाना आश्चर्य्य-जनक नहीं। इस दोष से कोई कवि या महाकवि मुक्त नहीं। बुंदेलखण्डी भाषा लगभग ब्रजभाषा ही है और उसकी गणना भी पश्चिमी हिन्दी में ही है। हां, थोड़े से शब्दों या प्रयोगों में भेद अवश्य है। परन्तु इससे

ब्रजभाषा की प्रधानता में कोई अन्तर नहीं आता। केशवदासजी ने यथा स्थान बुंदेलखण्डी शब्दों का जो अपने ग्रंथ में प्रयोग किया है मेरा विचार है कि इसी दृष्टि से। ब्रजभाषा के जो नियम हैं वे सब उनकी रचना में पाये जाते हैं। इसलिये उन नियमों पर उनकी रचना को कसना व्यर्थ विस्तार होगा। मैं उन्हीं बातों का उल्लेख करूंगा जो ब्रजभाषा से कुछ भिन्नता रखती हैं॥

मैं पहले कह चुका हूं कि केशवदासजी संस्कृत के पंडित थे। ऐसी अवस्था में उनका संस्कृत के तत्सम शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने के लिये सचेष्ट रहना स्वाभाविकता है। वे अपनी रचनाओं में यथा शक्ति संस्कृत के तत्सम शब्दों को शुद्ध रूप में लिखना ही पसन्द करते हैं। यदि कोई कारण-विशेष उनके सामने उपस्थित न हो जावे। एक बात और है। वह यह कि बुंदेलखण्ड में णकार और शकार का प्रयोग प्रायः बोलचाल में अपने शुद्ध रूप में किया जाता है। इसलिये भी उन्होंने संस्कृत के उन तत्सम शब्दों को जिनमें णकार और शकार आते हैं प्रायः शुद्ध रूप में ही लिखने की चेष्टा की है। उसी अवस्था में उनको बदला है जब उनके परिवर्त्तन से या तो पद्य में कोई सौन्दर्य्य आता है या अनुप्रास की आवश्यकता उन्हें विवश करती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने ब्रजभाषा और अवधी के नियमों का पूरा पालन किया किन्तु जब उन्होंने किसी अन्य प्रान्त का शब्द लिया। तो उसको उसी रूप में लिखा। वे रामायण के अरण्य कांड में एक स्थान पर रावन के विषय में लिखते हैं: —

'इत उत चितै चला भणिआई'। भणिआ शब्द बुंदेलखण्डी है। उसका अर्थ है 'चोर' 'भणिआई' का अर्थ है 'चोरी'। गोस्वामीजी चाहते तो उसको 'भनिआई' अवधी के नियमानुसार बना लेते, परन्तु ऐसा करने में अर्थ-बोध में बाधा पड़ती। एक तो शब्द दूसरे प्रान्त का दूसरे यदि वह अपने वास्तव रूप में न हो तो उसका अर्थ बोध सुलभ कैसे होगा? इसलिये उसका अपने मुख्य रूप में लिखा जाना ही युक्ति-संगत था। गोस्वामीजी ने ऐसा ही किया। केशवदासजी की दृष्टि भी

इसी बात पर थी. इसीलिये उन्होंने वह मार्ग ग्रहण किया जिसकी चर्चा मैंने अभी की है। कुछ पद्य मैं लिख कर अपने कथन को पुष्ट करना चाहता हूं। देखियेः—

१—"सब श्रृंगार मनो रति मन्मथ मोहै।

२—सवै सिँगार सदेह सकल सुख सुखमा मंडित।

३—मनो शची विधि रची विविध विधि वर्णत पंडित।

४—जानै को केसव केतिक बार मैं सेस के सीसन दीन्ह उसासी।

ऊपर की दो पंक्तियों में एक में 'श्रृंगार और दूसरे में 'सिँगार' आया है। 'श्रृंगार' संस्कृत का तत्सम शब्द है। अतएव अपने सिद्धान्तानुसार उसको उन्होंने शुद्ध रूप में लिखा है, क्योंकि शुद्ध रूप में लिखने से छन्द की गति में कोई बाधा नहीं पड़ी। परन्तु दूसरी पंक्ति में उन्होंने उसका वह रूप लिखा है जो ब्रजभाषा का रूप है। दोनों पंक्तियां एक ही पद्य की हैं। फिर उन्होंने ऐसा क्यों किया? कारण स्पष्ट है। 'श्रृंगार' में पांच मात्रायें हैं और 'सिंगार' में चार मात्रायें हैं। दूसरे चरण में 'श्रृंगार' खप नहीं सकता था। क्योंकि एक मात्रा अधिक हो जाती। इस लिये उन्हें उसको ब्रजभाषा ही के रूप में रखना पड़ा। अपने अपने नियमानुसार दोनों रूप शुद्ध हैं। चौथे पद्य में उन्होंने अपने नाम को दन्त्य 'स' से ही लिखा, यद्यपि वे अपने नाम में तालव्य 'श' लिखना ही पसन्द करते हैं, यहां भी यह प्रश्न होगा कि फिर कारण क्या? इसी पंक्ति में 'सेस' और 'सीसन' शब्द भी आये हैं जिनका शुद्ध रूप 'शेष' और 'शीशन' है। इस शुद्ध रूप में लिखने में भी छन्द की गति में कोई बाधा नहीं पड़ती। क्योंकि मात्रा में न्यूनाधिक्य नहीं। फिर भी उन्होंने उसको ब्रजभाषा के रूप में ही लिखा। इसका कारण भी विचारणीय है वास्तव बात यह है कि उनके कवि हृदय ने अनुप्रास का लोभ संवरण नहीं किया। अतएव उन्होंने उनको ब्रजभाषा के रूप ही में लिखना पसंद किया। 'केसव' 'सेस' और 'सीसन' ने दन्त्य 'स' के सहित 'उसासी' के साथ आकर जो स्वारस्य

उत्पन्न किया है वह उन शब्दों के तत्सम रूप में लिखे जाने से नष्ट हो जाता। इस लिये उनको इस पद्य में तत्सम रूप में नहीं देख पाते। ऐसी ही और बातें बतलायी जा सकती हैं कि जिनके कारण से केशवदास जी एक ही शब्द को भिन्न रूपों में लिखते हैं। इससे यह न समझना चाहिये कि उनका कोई सिद्धान्त नहीं, वे जब जिस रूप में चाहते हैं किसी शब्द को लिख देते हैं। मेरा विचार है कि उन्होंने जो कुछ किया है नियम के अन्तर्गत ही रह कर किया है। दो ही रूप उनकी रचना में आते हैं या तो संस्कृत शब्द अपने तत्सम रूप में आता है अथवा ब्रज-भाषा के तद्भव रूप में, और यह दोनों रूप नियम के अन्तर्गत हैं। ऐसी अवस्था में यह सोचना कि शब्द व्यवहार में उनका कोई सिद्धान्त नहीं, युक्ति-संगत नहीं।

मैंने यह कहा है कि उनके ग्रन्थ की मुख्य भाषा ब्रजभाषा ही है। इसका प्रमाण समस्त उद्धृत पद्यों में मौजूद है। उनमें अधिकांश ब्रजभाषा के नियमों का पालन है। युक्त-विकर्ष, कारकलोप 'णकार', 'शकार', 'क्षकार' के स्थान पर 'न', 'स' और 'छ' का प्रयोग, प्राकृत भाषा के प्राचीन शब्दों का व्यवहार, पञ्चम वर्ण के स्थान पर अधिकांश अनुस्वार का ग्रहण इत्यादि जितनी विशेष बातें ब्रजभाषा की हैं वे सब उनकी रचना में पायी जाती हैं। उद्धृत पद्यों में से पहले, दूसरे और तीसरे नम्बर पर लिखे गये कबित्तों में तो ब्रजभाषा की सभी विशेषतायें मूर्त्तिमन्त हो कर विराजमान हैं। हां, कुछ तत्सम शब्द अपने शुद्ध रूप में अवश्य आये हैं। इसका हेतु मैं ऊपर लिख चुका हूं। उनकी रचना में 'गौरमदाइन', 'स्यों', 'बोक', 'बारोठा', 'समदौ', 'भाँड्यो' आदि शब्द भी आते हैं।

नीचे लिखी हुई पंक्तियां इसके प्रमाण हैं:—

१--देवन स्यों जनु देवसभा शुभ सीय स्वयम्बर देखन आई।

२— "दुहिता समदौ सुख पाय अबै।"

३ – कहूं भांड़ भांड़्यो करैं मान पावैं।

४— कहूं बोक बाँके कहूं मेष सूरे।

५— धनु है यह गौरमदाइन नाहीं।

६ — 'बारोठे को चार कहि करि केशव अनुरूप'।

ये बुन्देलखण्डी शब्द हैं। उनके प्रान्त की बोलचाल में ये शब्द प्रचलित हैं। इस लिये विशेष स्थलों पर उनको इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग करते देखा जाता है। किन्तु फिर भी इस प्रकार के प्रयोग मर्य्यादित हैं और संकीर्ण स्थलों पर ही किये गये हैं। इस लिये मैं उनको कटाक्ष योग्य नहीं मानता। उनकी रचना में एक विशेषता यह है कि वे तत्सम शब्दों को यदि किसी स्थान पर युक्त-विकर्ष के साथ लिखते हैं तो भी उसमें थोड़ा ही परिवर्तन करते हैं। जब उनको क्रिया का स्वरूप देते हैं तो भी यही प्रणाली ग्रहण करते हैं। देखिये:—

१— इनहीं के तपतेज तेज बढ़ि है तन तूरण।
इनहीं के तपतेज होहिंगे मंगल पूरण।

२— रामचन्द्र सीता सहित शोभत हैं तेहि ठौर।

३— मनो शची विधि रची विविध विधि वर्णत पंडित।

'तूरण', पूरण', 'शोभत', 'वर्णत', इत्यादि शब्द इसके प्रमाण हैं। ब्रज-भाषा के नियमानुसार इनको 'तूरन', 'पूरन', 'सोभत', 'बरनत', लिखना चाहिये था। किन्तु उन्होंने इनको इस रूप में नहीं लिखा। इसका कारण भी उनका संस्कृत तत्सम शब्दानुराग है। बुन्देलखण्डी भाषा में 'हतो' एक वचन पुल्लिंग में और 'हते' बहुवचन पुल्लिंग में बोला जाता है। इनका स्त्रीलिंग रूप 'हती', और हती होगा। ब्रजभाषा में ए दोनों तो लिखे जाते ही हैं, 'हुतो' और 'हुती' भी लिखा जाता है। वे भी दोनों रूपों का व्यवहार करते हैं। जैसे 'सुता विरोचन की हुती दीरघ जिह्वा नाम।'

उनको अवधी के 'इहाँ', 'उहाँ', 'दिखाउ' 'खिझाउ', 'दीन', 'कौन', इत्यादि का प्रयोग करते भी देखा जाता है। वे 'होइ' भी लिखते हैं, होय' भी देखिये :—

१- एक इहाँऊं उहाँ अतिदीन सुदेत दुहूं दिसि के जनगारी

२- प्रभाउ आपनो दिखाउ छोंड़ि बालि भाइ कै।

३- रिझाउ रामपुत्र मोहिं राम लै छुड़ाइ कै।

४- अन्न देइ सीख देइ। राखि लेइ प्राण जात।

५- हँसि बंधु त्यों दृगदीन। श्रुतिनासिका बिनु कीन।

६- कीधौं वह लक्ष्मण होइ नहीं।

इसका कारण यही मालूम होता है कि उस काल हिन्दी भाषा के बड़े बड़े कवियों का बिचार साहित्यिक भाषा को व्यापक बनाने की ओर था। इस लिये वे लोग कम से कम अवधी और ब्रजभाषा में कतिपय आवश्यक और उपयुक्त शब्दों के व्यवहार में कोई भेद नहीं रखना चाहते थे। इस काल के महाकवि सूर तुलसी और केशव को इसी ढंग में ढला देखा जाता है। उन्होंने अपनी रचना एक विशेष भाषा में ही अर्थात् अवधी या ब्रज-भाषा में की है। परन्तु एक दूसरे में इतना विभेद नहीं स्वीकार किया कि उनके प्रचलित शब्दों का व्यवहार विशेष अवस्थाओं और संकीर्ण स्थलों पर न किया जावे। इन महाकवियों के अतिरिक्त उस काल के अन्य कवियों का झुकाव भी इस ओर देखा जाता है। उनकी रचनाओं को पढ़ने से यह बात ज्ञात होगी।

केशव दास जी की रचनाओं में पांडित्य कितना है, उसके परिचय के लिये आप लोग उद्धृत पद्यों में से चौथे पद्य को देखिये। उस में इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग है जो दो अर्थ रखते हैं। मैं उनको स्पष्ट किये देता हूं। चौथे पद्य में उन्होंने महाराज दशरथ को विधि के समान कहा है, क्योंकि दोनों ही 'विमानी कृत राजहंस' हैं। इसका पहला अर्थ जो विधिपरक है यह है कि राजहंस उनका वाहन (विमान) है। दूसरा अर्थ जो महाराज दशरथ परक है, यह है कि उन्होंने राजाओं की आत्मा (हंस) को मानरहित बना दिया, अर्थात् सदा वे उनके चित्त पर चढ़े रहते हैं। सुमेरु पर्वत अचल है। दूसरे पद्य में उसी के समान उन्होंने महाराज दशरथ को भी अचल बनाया। भाव इसका यह है कि वे स्वकर्त्तव्य-पालन

में दृढ़ हैं। दूसरी बात यह है कि यदि वह विविध 'विबुध-जुत' है, अर्थात् विविध देवता उस पर रहते हैं तो महाराज दशरथ जी के साथ विविध विद्वान् रहते हैं। 'विबुध' का दोनों अर्थ है देवता और विद्वान्। दूसरे चरण में 'सुदक्षिणा' शब्द का दो अर्थ है। राजा दशरथ को अपने पूर्व पुरुष 'दिलीप' के समान बनाया गया है। इस उपपत्ति के साथ कि यदि उनके साथ उनकी पत्नी सुदक्षिणा थीं, जिनका उनको बल था, तो उनको भी सुन्दर दक्षिणा का अर्थात् सत्पात्र में दान देने का बल है। तीसरे चरण में उनको सागर समान कहा है, इस लिये कि दोनों ही 'बाहिनी' के पति और गम्भीर हैं। 'बाहिनी' का अर्थ सरिता और सेना दोनों है। इसी चरण में उनको सूर्य के समान अचल कहा है। इस कारण कि 'छनदान प्रिय' दोनों हैं। इस लिये कि महाराज दशरथ को तो क्षण क्षण अथवा पर्व पर्व पर दान देना प्रिय है और सूर्य 'छनदा' (क्षणदा) न-प्रिय है अर्थात् रात्रि उसको प्यारी नहीं है। चौथे चरण में महाराज दशरथ को उन्होंने गंगा-जल बनाया है, क्योंकि दोनों भगीरथ-पथ गामी हैं। महाराज दशरथ के पूर्व पुरुष महाराज भगीरथ थे अतएव उनका भगीरथ पथावलम्बी होना स्वाभाविक है। इस अंतिम उपमा में बड़ी ही सुन्दर व्यञ्जना है। गंगा-जल का पवित्र और उज्ज्वल अथच सद्भाव के साथ चुपचाप भगीरथ पथावलम्बी होना पुराण-प्रसिद्ध बात है। इस व्यंजना द्वारा महाराज दशरथके भावोंको व्यंजित करके कविने कितनी भावुकता दिखलायी है, इसको प्रत्येक हृदयवान भलीभांति समझ सकता है। अन्य उपमाओंमें भी इसी प्रकारकी व्यंजना है, परन्तु उनका स्पष्टीकरण व्यर्थ विस्तार का हेतु होगा। इस प्रकार के पद्यों से 'रामचन्द्रिका' भरा पड़ा है। कोई पृष्ट इस ग्रन्थका शायद ही ऐसा होगा कि जिसमें इस प्रकार के पद्य न हों। दो अर्थ वाला, आप ने देखा, उसमें कितना विस्तार है। तीन तीन चार चार अर्थ वाले पद्य कितने विचित्र होंगे उनका अनुभव आप इस पद्य से ही कर सकते हैं। मैं उन पद्यों में से भी कुछ पद्य आप लोगों के सामने रख सकता था। परन्तु उसकी लम्बी-चौड़ी व्याख्या से आप लोग तो घबरायेंगे ही, मैं भी घबराता हूं। इस लिये उनको छोड़ता हूं। केशवदासजी के

पांडित्य के समर्थक सब हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ हैं। इस दृष्टि से भी मुझे इस विषय का त्याग करना पड़ता है ॥

केशवदासजी का प्रकृति वर्णन कैसा है, इसके लिये मैं आप लोगों से उद्धृत पद्यों में से नम्बर ५, ६, ७, ९, १०, ११ को रचनाओं को विशेष ध्यान-पूर्वक अवलोकन करने का अनुरोध करता हूं। इन पद्यों में जहां स्वाभाविकता है वहां गम्भीरता भी है। कोई कोई पद्य बड़े स्वाभाविक हैं और किसी किसी पद्य का चित्रण इतना अपूर्व है कि वह अपने चित्रों को आंख के सामने ला देता है ॥

'रामचन्द्रिका' अनेक प्रकार के छन्दों के लिये भी प्रसिद्ध है। इतने छन्दोंमें आज तक हिन्दी भाषाका कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया। नाना प्रकार के हिन्दी के छन्द तो इस ग्रन्थ में हैं ही। केशवदासजी ने इसमें कई संस्कृत वृत्तों को भी लिखा है। संस्कृत वृत्तों की भाषा भी अधिकांश संस्कृत गर्भित है, वरन उसको एक प्रकार से संस्कृत की ही रचना कही जा सकती है। उद्धृत पद्यों में से बारहवां पद्य इसका प्रमाण है। भिन्न तुकान्त छन्दों की रचना का हिन्दी साहित्य में अभाव है। परन्तु केशव दास जी ने रामचन्द्रिका में इस प्रकार का एक छन्द भी लिखा है जो यह

मालिनी

गुणगण मणि माला चित्त चातुर्य्य शाला।
जनक सुखद गीता पुत्रिका पाय सीता।
अखिल भुवन भर्त्ता ब्रह्म रुद्रादि कर्त्ता।
थिरचर अभिरामी कीय जामातु नामी।

संस्कृत वृत्तों का व्यवहार सबसे पहले चन्द बरदाईने किया है। उनका वह छन्द यह है:—

"हरित कनक कांतिं कापि चंपेव गौरा।
रसित पद्म गंधा फुल्ल राजीव नेत्रा।

उरज जलज शोभा नाभि कोषं सरोजं ।
चरण कमल हस्ती लीलया राजहंसी ।

इसके बाद गोस्वामी जी को सँस्कृत छन्दों में सँस्कृत गर्भित रचना करते देखा जाता है। विनय पत्रिका का पूर्वार्द्ध तो सँस्कृत-गर्भित रचनाओं से भरा हुआ है। गोस्वामी जी के अनुकरणसे अथवा अपने सँस्कृत साहित्य के प्रेमके कारण केशवदासजी को भी सँस्कृत गर्भित रचना सँस्कृत वृत्तों में करते देखते हैं। इनके भी कोई कोई पद्य ऐसे हैं जिनको लगभग सँस्कृत का ही कहसकते हैं। इन्होंने ३०० वर्ष पहले भिन्न तुकान्त छन्द की नींव भी डाली, और वे ऐसा संस्कृत वृत्तों के अनुकरणसे ही कर सके।

(क)

इस सोलहवीं शताब्दी में और भी कितने ही प्रसिद्ध कवि हिन्दी भाषा के हो गये हैं। उनकी रचनाओं का उपस्थित किया जाना इस लिये आवश्यक है कि जिससे इस शताब्दी की व्यापक भाषा पर पूर्णतया विचार किया जा सके। इसी शताब्दी में एक भक्त स्त्री भी कवियित्री के रूप में सामने आती हैं और वे हैं मीराबाई। पहले मैं उनकी रचनाओं को आपके सामने उपस्थित करताहूं। मीराबाई बहुत प्रसिद्ध महिला हैं। वे चित्तौड़ के राणा की पुत्रवधू थीं। परन्तु उनमें त्याग इतना था कि उन्हों ने अपना समस्त जीवन भक्ति भाव में ही बिताया। उनके भजनों में इतनी प्रबलता से प्रेम-धारा बहती है कि उससे आर्द्र हुए बिना कोई सहृदय नहीं रह सकता। वह सच्ची वैष्णव महिला थीं और उनके भजनों के पद पद से उनका धर्म्मानुराग टपकता है इसी लिये उनकी गगना भगवद्भक्त स्त्रियों में होती है। उस काल के प्रसिद्ध सन्तों और महात्माओं में से उनका सम्मान किसी से कम नहीं है। उनकी कुछ रचनायें देखिये:—

"मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।
भाई तजा बन्धु तजा तजा सगा सोई।
साधु संग बैठि बैठि लोक लाज खोई।

भगत देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
दधि मथ घृत काढ़ि लियो डार दई छोई।
राणा विष प्यालो भेज्यो पीय मगन होई।
अब तो बात फैलि गई जाणै सब कोई।
मीरा राम लगण लागी होणी होय सो होई।

२—एरी मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोणा होय।
गगन मंडल पै सेज पिया की किस विध मिलना होय।
घायल की गति घायल जानै की जिन लाई होय।
जौहरीकी गति जौहरी जाने की जिन जौहर होय।
दरद की मारी बन बन डोलूं वैद मिला नहिँ कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी (जब) वैद सँवलिया होय।

३—बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति सांवरि सूरति नैना बने विसाल।
अधर सुधारस मुरली राजित उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट शोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्त बछल गोपाल।

४—बंसी वारो आयो म्हारे देस।
थारी सांवरी सूरत बारी बैस।
आऊं आऊं कर गया साँवरा कर गया कौल अनेक।
गिणते गिणते घिसगई उँगली घिसगई उँगलीकी रेख।
मैं बैरागिन आदि की थारे म्हारे कद को सँदेस।

जोगिण हुइ जंगल सब हेरूं तेरा नाम न पाया भेस।
तेरी सूरत के कारणे धर लिया भगवा भेस।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे घूंघरवाला केस।
मीरा को प्रभु गिरधर मिलि गये दूना बढ़ा सनेस।

सरस कविता के लिये इस शताब्दी में अष्ट छाप के वैष्णवों का विशेष स्थान है। इनमें से चार महाप्रभु वल्लभाचार्य्य के प्रमुख शिष्य थे— सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, तथा कुंभनदास। और शेष चार नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी तथा गोविन्दस्वामी, गोस्वामी विट्ठल नाथ के प्रमुख सेवकों में से थे। इनमें से सूरदासजी की रचनाओं को आपलोग देख चुके हैं, अन्यों की रचनाओं को भी देखिये:—

कृष्णदासजी जाति के शूद्र थे किन्तु अपने भक्ति-वल से अष्टछाप के वैष्णवों में स्थान प्राप्त किया था। उनके रचित (१) 'जुगलमान चरित्र' (२) 'भक्तमाल पर टीका' (३) 'भ्रमरगीत' और (४) 'प्रेम सत्व निरूप' नामक ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। उनका रचा एक पद देखिये:—

"मोमन गिरधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि
कै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो।
सजल श्याम घन बरन लीन ह्वै
फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर
यह तन जग सिर पटक्यो।

परमानन्दजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनमें भक्ति-विषयक तन्मयता बहुत थी। 'परमानंद सागर' नामक इनका एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इनका एक शब्द सिक्खों के आदि ग्रन्थ साहब में भी है। वह यह है:—

"तैं नर का पुराण सुनि कीना।
अनपायनी भगति नहिं उपजी भूखे दान न दीना।
काम न बिसर्यो, क्रोध न बिसर्यो, लोभ न छूट्यो देवा।
हिंसा तो मन ते नहिं छूटी बिफल भई सब सेवा।
बाट पारि घर मूंसि बिरानो पेट भरै अपराधी।
जेहि परलोक जाय अपकीरति सोई अविद्या सांधी।
हिंसा तो मन ते नहिं छूटी जीव दया नहिँ पाली।
परमानंद साधु संगति मिलि कथा पुनीत न चाली।"

उनका एक पद और देखिये:—

"ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े अति दुर्वल तन हारे।
मातु जसोदा पंथ निहारत निरखत साँझ सकारे।
जो कोई कान्ह कान्ह कहि बोलत अँखियन बहत पनारे।
यह मथुरा काजर की रेखा जे निकसे ते कारे।
परमानंद स्वामि बिनु ऐसे जस चन्दा बिनु तारे।

कुंभनदासजी गौरवा ब्राह्मण थे। इनमें त्याग-वृत्ति अधिक थी। एकबार अकबर के बुलाने पर फतेहपुर सीकरी गये, परन्तु उनको व्यथित होकर यह कहना पड़ाः—

"भक्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहियां टूटी बिसरि गयो हरिनाम।
जाको मुख देखे दुख लागै तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभन दास लाल गिरधर बिन और सबै बेकाम।"

इनके किसी ग्रन्थ का पता नहीं चलता। एक पद्य और देखियेः—

"जो पै चोप मिलन की होय।
तो क्यों रहै ताहि बिन देखे लाख करौ किन कोय।
जो ए बिरह परस्पर व्यापै जो कछु जीवन बनै।
लोक लाज कुल की मरजादा एकौ चित्त न गनै।
कुंभनदास जाहि तन लागी और न कछू सुहाय।
गिरधर लाल तोहि बिन देखे छिन छिन कलप बिहाय।"

अष्ट छाप के वैष्णवों में कवित्व शक्ति में सूरदास जी के उपरान्त नंददास जी का ही स्थान है। आप की सरस रचनाओं पर ब्रजभाषा गर्व कर सकती है। कहा जाता है कि आप गोस्वामी तुलसीदास जी के छोटे भाई थे। इस की सत्यता में संदेह भी किया जाता है। जो हो, परन्तु पद-लालित्य के नाते वे गोस्वामी जी के सहोदर अवश्य हैं। हिन्दी संसार में उनके विषय में एक कहावत प्रचलित है—"और कवि गढ़िया नंददास जड़िया।" मेरा विचार है कि यह कथन सत्य है। उन्होंने अठारह ग्रन्थों की रचना की है। 'रास पंचाध्यायी' से इनकी कुछ रचनायें यहां उद्धृत की जाती हैं:—

"परम दुसह श्री कृष्ण बिरह दुख व्याप्यो तिनमें।
कोटि बरस लगि नरक भोग दुख भुगते छिनमें।
सुभग सरित के तीर धीर बलबीर गये तहँ।
कोमल मलय समीर छबिन की महा भीर जहँ।
कुसुम धूरि धूँधरी कुंज छवि पुंजनि छाई।
गुंजत मंजु मलिंद बेनु जनु बजत सुहाई।
इत महकति मालती चारु चम्पक चित चोरत।
उत घनसारु तुसारु मलय मंदारु झकोरत।
नव मर्कत मनि स्याम कनक मनि मय ब्रजबाला।
बृन्दाबन गुन रीझि मनहुं पहिराई माला।"

चतुर्भुज दास जी कुम्भन दास जी के पुत्र थे। वे बाल्यकाल ही से कृष्ण-लीला-गान में मत्त रहते थे। लीला सम्बन्धी उनकी अनेक रचनायें हैं। उन्होंने 'द्वादशयश', 'भक्ति प्रताप', और 'हित जू को मंगल' नामक तीन ग्रन्थ बनाये। उनकी रचना देखिये:—

"जसोदा कहा कहौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मोपै कहत कहे नहिं जात।
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जौ बरजौं तौ आंखि दिखावै, रंचहुँ नाहिं सकात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात।"

छीत स्वामी मथुरा के चौबे थे। जादू टोना से इनको बड़ा प्रेम था। मथुरा में पांच चौबे गुण्डे माने जाते थे। ये उनके प्रधान थे। परन्तु श्री विट्ठलनाथ जी के सत्संग से उनके हृदय में भगवद्भक्ति का ऐसा प्रवाह बहा कि उनकी गणना अष्टछापके वैष्णवोंमें हुई। इनका ग्रन्थ कोई नहीं मिलता, फुटकर रचनायें मिलती हैं। इनमें से एक पद नीचे दिया जाता है:—

"भई अब गिरिधर सों पहचान।
कपट रूप छलबे आये हो पुरुषोत्तम नहिं जान।
छोटो बड़ो कछू नहिं जान्यो छाय रह्यो अज्ञान।
छीत स्वामि देखत अपनायो बिट्ठल कृपा निधान।"

गोबिन्द स्वामी सनाढ्य ब्राह्मण थे। उनकी भक्ति प्रसिद्ध है। वे बड़े आनन्दी जीव थे। विट्ठलनाथजी के मुख से भागवत के भगवल्लीला सम्बन्धी पदों को सुन कर कभी कभी उन्मत्त हो जाते थे। इनके भी फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं। उनमें से एक यह है:—

प्रात समै उठि जसुमति जननी
गिरधर सुत को उबटि न्हवावति

करि शृंगार बसन भूषन सजि
फूलन रचि रचि पाग बनावति।
छुटे बंद बागे अति सोभित
बिच बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित आजु
कि छवि कछु कहत न आवति।
विविध कुसुम की माला उर धरि
श्री कर मुरली बेत गहावति।
लै दरपन देखे श्री मुख को गोविंद
प्रभु चरनन सिर नावति।"

अष्टछाप के वैष्णवों के अतिरिक्त व्रजमंडल में दो ऐसे महापुरुष हो गये हैं जिनकी महात्माओं में गणना है। एक हैं स्वामी हित हरिवंश और दूसरे स्वामी हरिदास। हित हरिवंस जी ने राधा-वल्लभी सम्प्रदाय स्थापित किया था। इन्होंने 'राधा सुधानिधि' नामक एक संस्कृत काव्य की रचना भी की है। उनके ब्रजभाषा के ८४ पद्य बहुत प्रसिद्ध हैं। वास्तव में उनमें बड़ी सरसता है। उनके पद्यों में संस्कृत शब्द अधिक आते हैं। किन्तु उनका प्रयोग वे बड़ी रुचिरता से करते हैं। कुछ रचनायें उनकी देखिये:—

१—आजु बन नीको रास बनायो।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन बेनु बजायो।
कल कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचुपायो।
जुवतिन मंडल मध्य श्याम घन सारँग राग जमायो।
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलिरस सिंधु बहायो।
सकल उदार नृपति चूड़ामणि सुख बारिद बरखायो।
बरखत कुसुम मुदित नभ नायक इन्द्र निसान बजायो।
हित हरिवंस रसिक राधापति जस बितान जगछायो।

२—तनहिं राखु सतसंग में मनहिं प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कल्पतरु सेव।
रसना कटौ जु अनरटौ निरखि अन फुटौ नैन।
श्रवन फुटौ जो अन सुनौ बिन राधा जसु बैन।

स्वामी हरिदास ब्राह्मण थे। कोई इन्हें सारस्वत कहता है, कोई सनाढ्य। ये बहुत बड़े त्यागी और विरक्त थे। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के महात्मा थे। इनके शिष्यों में अनेक सुकवि और महात्मा हो गये हैं। ये गान-विद्या के आचार्य थे। तानसेन और बैजू बावरा दोनों इनके शिष्य थे। ये वृन्दावन में ही रहते थे। और बड़ी ही तदीयता के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। इनके पद्यों के तीन चार संग्रह बतलाये जाते हैं। उनके कुछ पद देखिये:—

१—"गहो मन सब रस को रस सार।
लोक वेद कुल कर्म्मै तजिये भजिये नित्य बिहार।
गृह कामिनि कंचन धन त्यागो सुमिरो श्याम उदार।
गति हरिदास रीति संतन की गादी को अधिकार।"

२—"हरि के नाम को आलस क्यों करत है रे।
काल फिरत सर साधे।
हीरा बहुत जवाहिर संचे कहा भयो हस्ती दर बाँधे।
बेर कुबेर कछू नहिं जानत चढ़े फिरत हैं काँधे।
कहि हरिदास कछू न चलत जब आवत अंतक आँधे।"

(ख)

अब मैं अकबर के दरबारी कवियों की चर्चा करूंगा। इनके दरबार में भी उस समय अच्छे-अच्छे सुकवि थे। मंत्रियों में रहीम खान खाना, बीरबल, और टोडरमल भी कविता करते थे। दरबारी कवियों में गंग और नरहरि का नाम बहुत प्रसिद्ध है। रहीम खान खाना मुसलमान थे। परन्तु हिन्दी भाषा के बड़े सरस हृदय कवि थे। उनकी रचनायें बड़े आदर की

दृष्टि से देखी जाती हैं। वे बड़े उदार भी थे और सहृदय कवियों को लाखों दे देते थे। उन्होंने फ़ारसी में भी रचनायें की थीं। उनका 'दीवान फ़ारसी', और 'वाक़याते बाबरी' का फ़ारसी अनुवाद बहुत प्रसिद्ध है। हिन्दी में भी उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की है। उनकी कुछ हिन्दी-रचनायें देखिये:—

१—कहि रहीम इकदीप तें, प्रगट सबै दुति होय।
तन सनेह कैसे दुरै, जरु दृग दीपक दोय।

२—छार मुंड मेलतु रहतु, कहि रहीम केहि काज।
जेहि रज रिषि पत्नी तरी, सो ढूंढ़त गजराज।

३—रहिमन राज सराहिये, जो ससि के अस होय।
रवि को कहा सराहिये, जो उगै तरैयन खोय।

४—यों रहीम सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अखियाँन लखि, आँखिन को सुख होत

५—ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उँजियारो लगै, बढ़े अंधेरो होय।

६—बालम अस मन मिलयउं जस पय पानि।
हंसिनि भई सवतिया लइ बिलगानि।
भोरहिं बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
एक घरी भरि सजनी रहु चुपचाप।
सघन कुंज अमरैया सीतल छाँहि।
झगरति आइ कोइलिया पुनि उड़ि जाहिं।
लहरत लहर लहरिया लहर बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार।

७—कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था।
कटि तट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलिबन अलबेला यार मेरा अकेला।

टोडरमल अकबर के कर-विभाग के प्रधान मंत्री थे। बही खाता का प्रचार सब से पहले इन्हीं के द्वारा हुआ। हिन्दी दफ़्तर को पहले पहल इन्होंने ही फ़ारसी में किया। ये प्रधान कवि नहीं हैं और न इनका कोई ग्रन्थ है। स्फुट कवितायें इनकी मिल जाती हैं। इनकी एक रचना देखिये।

गुन बिनु धन जैसे गुरु बिनु ज्ञान जैसे।
मान बिनु दान जैसे जल बिनु सर है।
कंठ बिनु गीत जैसे हित बिनु प्रीति जैसे।
वेश्या रस रीति जैसे फल बिनु तर है।
तार बिनु जंत्र जैसे स्याने बिनु मंत्र जैसे।
नर बिनु नारि जैसे पुत्र बिनु घर है।
टोडर सुकबि तैसे मन में बिचार देखो।
धर्म बिनु धन जैसे पच्छी बिना पर है॥

बीरबल अकबर के प्रधान मंत्रियों में से थे। जाति के ब्राह्मण थे, बड़े वीर भी थे। कविता के रसिक थे और स्वयं कविता करते थे। अपने समय में कविजन के कल्पतरु थे। प्रत्युत्पन्नमति ऐसे थे कि अकबर की दृष्टि में इसी कारण उनका विशेष आदर था। बड़े सरस हृदय थे और ललित कविता भी करते थे। दो एक पद्य देखिये:—

१—उछरि उछरि भेकी झपटैं उरग पर
उरग पै केकिन के लपटैं लहकि है।
केकिन के सुरति हिये की ना कछू है भय
एकी करी केहरि न बोलत बहकि है।

कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरैं
बैहर बहति बड़े जोर सों जहकि है।
तरनि के तावन तवासी भई भूमि रही
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है।

२—पेट में पौढ़ि के पौढ़े मही पर
पालना पौढ़ि के बाल कहाये।
आई जबै तरुनाई तिया सँग
सेज पै पौढ़ि के रंग मचाये।
छीर समुद्र के पौढ़नहार को
ब्रह्म कबौंचित तें नहिं ध्याये।
पौढ़त पौढ़त पौढ़त ही सों
चिता पर पौढ़न के दिन आये।

नरहरि अकबरी दरबार के प्रसिद्ध कवि थे। वे ज़िला फ़तहपूर—असनी गाँव के निवासी थे। शायद जाति के बंदीजन थे, कहा जाता है कि इनके एक छप्पे पर रीझ कर अकबर ने अपने समय में गावकुशी बंद कर दी थी। वह छप्पे यह है:—

अरिहुं दन्त तृन धरैं ताहि मारत न सबल कोइ।
हम संतत तृन चरहिँ बचन उच्चरहिं दीन होइ।
अमृत पय नितस्रवहिं बच्छ महि थम्भन जावहिं।
हिन्दुहिं मधुर न देहिं कटुक तुरकहिं न पियावहिं।
कह नरहरि कवि अकबर सुनो
बिनवत गऊ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियतु
मुयेहुं चाम सेवत चरन।

एक पद्य उनका और देखिये:—

सरवर नीर न पीवहीं स्वाति बुन्द की आस।
केहरि कबहुँ न तृन चरै जो ब्रत करै पचास।
जो ब्रत करै पचास विपुल गज-जूह बिदारै।
धन ह्वै गर्व न करै निधन नहिं दीन उचारै।
नरहरि कुल क सुभाउ मिटै नहिं जब लगि जीवै।
बरु चातक मरि जाय नीर सरवर नहिं पीवै।

कवि गंग अकबर-दरबार के एक नामी कवि थे। रचना जो इनकी मिलती है वह प्रौढ़ है। इनका कोई ग्रन्थ अब तक नहीं मिला है परन्तु जो स्फुट पद्य पाये गये हैं उनसे उनकी योग्यता का पूरा परिचय मिलता है। किसी किसी की यह सम्मति है कि इनका अन्तिम समय बड़ा दुःखद था। कहा जाता है कि वे हाथी के पैरों से रौन्दवा दिये गये। भिखारी दास का एक दोहा है जिसमें उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास जी के साथ इनकी भी प्रशंशा की है और इनको अच्छा कवि माना है। वह दोहा यह है:—

तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनकी कविता में मिली, भाषा विविध प्रकार।

रहीम खां खान खाना इनका बड़ा आदर करते थे. कवि गंग ने उनकी प्रशंसा में कुछ रचनायें भी की हैं। उनकी कुछ कवितायें नीचे लिखी जाती हैं:—

बैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूहमें वियोग आग भरकी।
गंग कहै त्रिविधि सुगंध लै पवन बह्यो,
लागतही ताके तन भई बिथा जर की।

प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पँह
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो पंक सूख्यो भूमि दरकी।
मृगहूं ते सरस विराजत बिसाल दृग देखिये,
न अस दुति कौलहू के दल में।
गंग घन दुज से लसत तन आभूषन ठाढ़े
द्रुम छाँह देख ह्वै गई विकल मैं।
चख चित चाय भरे शोभा के समुद्र माहिँ
रही ना सँभार दसा औरै भई पल में।
मन मेरो गरुओ गयो री बूड़ि मैं न पायो,
नैन मेरे हरुये तिरत रूप जल में।

इन प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त इस सोलहवीं सदी में नरोत्तमदास नामक एक बड़े सहृदय कवि हो गये हैं। वे ज़िला सीतापुर के रहने वाले ब्राह्मण थे। इनके दो ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। एक 'सुदामा चरित्र' और दूसरा 'ध्रुव चरित्र'। ये दोनों खण्ड काव्य हैं। इनमें से सुदामाचरित्र की कविता बड़ी ही सरस है। उसमें से दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—कोदो समाँ जुरतो भरि पेट न
चाहति तो दधिदूध मिठौती।
सीत न बीतत जो सिसियात
तो हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती।
जो जनती न हितूहरि से तो मैं
काहे को द्वारिका ठेलि पठौती।

या घर से कबहूं न गयो पिय
टूटो तवा अरु फूटी कठौती।

२—काहे बेहाल बिवाइन सों पुनि
कंटक जाल लगे पग जोये।
हाय महादुख पायो सखा तुम
आये इतै न किते दिन खोये।
देख सुदामा की दीन दसा
करुना करिकै करुना निधि रोये।
पानी परात को हाथ छुयो
नहिं नैनन के जल सों पग धोये।

केशवदास जी के बड़े भ्राता बलभद्र जी की चर्चा में पहले कर चुका हूं आप संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध विद्वान् थे। आप की संस्कृत रचनायें अधिक हैं। भागवत भाष्य और बलभद्री व्याकरण आप के उत्तम ग्रन्थ हैं। इनकी बनाई हुई हनुमन्नाटक एवं गोवर्धन सप्तशती की टीकायें भी बड़ी विशद् हैं। संस्कृत के इतने बड़े विद्वान् होने पर भी आप ने हिन्दी भाषा में दो ग्रन्थ लिखे, एक का नाम है दूषण विचार और दूसरा है नखशिख। दूषण विचार सुना है कि बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है. परन्तु मैंने इस ग्रन्थ को नहीं देखा। नखशिख सुन्दर ग्रन्थ है, और इसकी रचना बड़ी प्रौढ़ है। इसके जोड़ का नृपशंभु का नखशिख नामक ग्रन्थ है. परंतु यह ग्रन्थ उक्त ग्रन्थ के अनुकरण से ही लिखा गया है—और भी नखशिख के ग्रन्थ हैं. परन्तु बलभद्र जी के नखशिख की समता कोई नहीं कर सका। उसके दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ
बलभद्र बासर उनींदी लखी बाल मैं।
शोभा के सरोवर मैं बाड़वकी आभा कैधों
देवधुनि भारती मिली है पुन्य काल मैं।

काम कैवरत कैधों नासिका उडुप बैठ्यो
खेलत सिकार तरुनी के मुखताल मैं।
लोचन सितासित मैं लोहित लकीर मानों
बाँधे जुग मीन लाल रेसम के जालमें।१।

मरकत के सूत कैधों पन्नग के पूत अति राजत
अभूत तमराज के से तार हैं।
मखतूल गुन ग्राम सोभित सरस श्याम
काम मृग कानन कै कुहू के कुमार हैं।
कोपकी किरिन कै जलज नाल नील तंतु
उपमा अनंत चारु चँवर सिँगार हैं।
कारे सटकारे भींजे सोंधे सों सुगंध बास
ऐसे बलभद्र नव बाला तेरे बार हैं।२।

इसी समय में हरिनाथ, तानसेन, प्रवीण राय, होलराय, करनेस, लालनदास, मनोहर, रसिक आदि ऐसे कवि भी साहित्य क्षेत्र में आये, जो बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं, परन्तु उनकी रचनायें सुन्दर और भावमयी हैं। सब की रचनाओं के नमूने के लिये इस ग्रन्थ में स्थान का संकोच है। जो रचनायें अधिक मधुर हैं और जिनमें कुछ विशेषता है, उनमें से कुछ नीचे लिखी जाती हैं:—

बलि बोई कीरति लता कर्ण करी द्वैपात,
सींची मान महीप ने जब देखी कुम्हलात।
जाति जाति ते गुन अधिक सुन्यो न कबहूँ कान।
सेतु बाँधि रघुबर तरे हेलादे नृप मान।

हरिनाथ

खात हैं हरामदाम करत हराम काम धाम
धाम तिनही के अपजस छावैंगे।

दोजख में जैहैं तब काटि काटि कीड़े खैहैं
खोपड़ी को गूद काक टोंटन उड़ावैंगे।
कहै करनेस अबैधूस खात लाजै नाहिं
रोजा औनेवाज अंत काम नहिँ आवैंगे।
कबिन के मामिले में करै जौन खामी
तौन निमक हरामी मरे कफन न पावैंगे।

करनेस

दीप कैसी जाकी जोति जगर मगर होति
गुलाबास बादर मैं दामिनी अलूदा है।
जाफरानी फूलन मैं जैसे हेमलता लसै
तामैं उग्यो चन्द्र लेन रूप अजमूदा है।
लालन जू लालन के रंग से निचोरि रँगी
सुरँग मजीठ ही के रंगन जमूदा है।
बकि न बहूदा लखिछबिन को तूदाओप
अतर अलूदा अंगना का अंग ऊदा है।

लालनदास

स्वामी हितहरिवंस की शिष्य परम्परा और शिष्यों में तथा हरिदास स्वामी आदि महात्माओं के संसर्ग से अनेक सहृदय कवि इस शतक में उत्पन्न हुये. उनकी रचनायें बड़ी सरस हैं। उनमें से हितरूप लाल, गदाधर भट्ट, भगवान हित, नागरीदास, बिहारिनि दास, भट्ट महाराज, व्यासजी, सेवक जी, हरिवंस अली, और बिट्ठल बिपुल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से कुछ लोगों की रचायें भी देखिये:—

बिथुरी सुथरा अलकैं झलकैं
बिच आनि कपोल परीं जुछली।

मुसुकात जबै दसनावलि देखि
लजात तबै तब कुन्द कली ।
अति चंचल नैनफिरैं चहुधां नित
पोखत लाल है भांति भली ।
तिन के पद पंकज को मकरंद
सुनित्य लहै हरिबंस अली ।

हरिबंस अली

जैसे गुरु तैसे गोपाल ।
हरि तौ तबहीं मिलिहैं जबहीं श्रीगुरु होयँ कृपाल ।
गुरु रूठे गोपाल रूठि हैं वृथा जात है काल ।
एक पिता बिन गनिका सुत को कौन करे प्रतिपाल ।

व्यासजी

सजनी नवल कुंज बन फूले ।
अलिकुल संकुल करत कुलाहल सौरभ मनमथ मूले ।
हरखि हिंडोरे रसिक रास वर जुगुल परस्पर झूले ।
बिट्ठल बिपुल बिनोद देखि नभ देव बिमानन भूले ।

यह बिट्ठल विपुल जी का पद्य है । स्वामी हरिदास जी के आप शिष्य थे, उनका स्वर्गारोहण होने पर आप ही उनकी गद्दी पर बैठे । गुरु के चरणों में आप का इतना अनुराग था कि उनके शरीर का पात होने पर उन्होंने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध ली । एक रास के समय कहा जाता है कि स्वयं श्रीकृष्णजी ने उनकी आँखों की पट्टी खोली । एक बार रास में आप इतने प्रेमोन्मत्त हुये कि तत्काल देहान्त हो गया ।

बने बन ललित त्रिभंग बिहारी ।
बंसीधुनि मनु बंसी लाई आई गोपकुमारी ।

अरप्यो चारु चरन पद ऊपर लकुट कच्छ तरधारी ।
श्री भट मुकुट चटक लटकनि मैं अटकि रहे दृगप्यारी ।

श्री भट्ट

रक्त पीतसित असित लसत अंबुज वन सोभा ।
टोल टोल मद लोल भ्रमत मधुकर मधु लोभा ।
सारस अरु कलहंस कोक कोलाहल कारी ।
पुलिन पवित्र विचित्र रचित सुन्दर मनहारी ।

गदाधर भट्ट

सबै प्रेम के साधन तरु हरि ।
निकसत उमग प्रगट अंकुर वर पात पुराने परिहरि ।
गुन सुनि भई दास की आसा दरस्यो परस्यो भावै ।
जब दरस्यो तब बोलै चाहै बोले हूँ हंसि आवै ।

बिहारिनिदास

जसुमति आनंद कन्द नचावति ।
पुलकि पुलकि हुलसाति देखि मुख अति सुख पुंजहिं पावति
बाल जुवा वृद्धा किसोर मिलि चुटकी दै दै गावति ।
नुपुर सुर मिश्रित धुनि उपजति सुर विरंचि त्रिसमावति ।
कुंचित ग्रंथित अलक मनोहर झपकि वदन पर आवति ।
जन भगवान मनहुँ घन विधु मिलि चाँदनि मकर लजावति ।

हित भगवान

दिन कैसे भरूं री माई बिनदेखे प्रान अधार ।
ललित तृभंगी छैल छबीलो पीतम नंद कुमार ।
सुन री सखी कदमतर ठाढ़ो मुरली मंद बजावै ।
गनिगनि प्यारी गुनगन गावै चितवत चितहिं रिझावै ।

जियरा धरत न धीरज सजनी कठिन लगन की पीर।
रूप लाल हित आगर नागर सागर सुख की सीर।

हितरूप लाल

इन महात्माओं में अधिकतर ग्रन्थकार हैं, और एक एक ने कई कई ग्रन्थ लिखे हैं, इन सब बातों की चर्चा करने से अधिक विस्तार और विषयान्तर होगा अतएव मैं इस विषय को यहीं छोड़ता हूं। नाभादास जी के गुरु अग्रदास जी भी इसी शताब्दी में हुये। आप ने भी कई ग्रन्थों की रचना की है, 'राम भजन मंजरी' और 'भाषा हितोपदेश' उनके सुन्दर ग्रन्थ हैं। एक कविता उनकी भी देखिये:—

कुण्डल ललित कपोल जुगुल अरु परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा।
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाये।
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना आये।

इन उद्धरणों को देखकर आप सोचते होंगे, कि यह व्यर्थ विस्तार किया गया है, परन्तु आवश्यकताओं ने मुझको ऐसा करने के लिये विवश किया। मैं यह दिखलाना चाहता हूं कि सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी भाषा कैसे समुन्नत हुई किस प्रकार व्रजभाषा को प्रधानता मिली और उसका क्या स्वरूप स्थिर हुआ। अतएव मुझको सब प्रकार की रचनाओं का संकलन करना पड़ा। इस शताब्दी में अवधी और व्रजभाषा दोनों का सर्वांगीण शृंगार हुआ, दोनों में ऐसे लोकोत्तर ग्रन्थ लिखे गये, जैसे आज तक दृष्टिगोचर न हो सके। परन्तु एक बात देखी जाती है, वह यह कि व्रजभाषा का विकास बाद की शताब्दियों में भी बहुत कुछ हुआ, वह आगे चल कर भी अच्छी तरह फूली, फली और फैली, किन्तु अवधी को यह गौरव नहीं प्राप्त हुआ। प्रेम मार्गी सूफियों के कुछ ग्रन्थ गोस्वामी जी के पश्चात् भी अवधी भाषा में लिखे गये हैं, परन्तु प्रथम तो उनकी संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है, दूसरे व्रजभाषा की ग्रंथावली के सामने वे शून्य के

बराबर हैं। बाबा रघुनाथ दास का विश्राम सागर भी अवधी भाषा में लिखा गया है, और इसमें सन्देह नहीं कि यह भी अवधी भाषा का उत्तम ग्रन्थ है। उसका प्रचार भी हुआ। परन्तु इन कतिपय ग्रन्थों के द्वारा उस न्यूनता की पूर्ति नहीं होती जो व्रजभाषा की विशाल ग्रंथमालाओं के सामने अवधी को प्राप्त हुई। जब यह विचार किया जाता है कि व्रज-भाषा के इस व्यापकता और विस्तार का क्या कारण है तो कई बातें सामने आती हैं। मैं उनको प्रगट करना चाहता हूं।

यह देखा जाता है कि चिरकाल से मध्यदेश की भाषा को ही प्रधानता मिलती आयी है। जिस समय संस्कृत भाषा का गौरवकाल था। उस समय भी इस प्रान्त से ही उसका प्रचार अन्य प्रदेशों में हुआ। जब प्राकृत भाषा का प्रचार हुआ तब भी शौरसेनी को ही अन्य प्राकृतों पर विशिष्टता मिली और उसी का अधिक विस्तार अन्य प्रदेशों में हुआ। संस्कृत के नाटकों में शिष्ट भाषा के रूप में शौरसेनी ही गृहीत हुई है। कारण इसका यह है कि आर्य सभ्यता इसी स्थान से अन्य प्रदेशोंमें फैली। और इसी स्थान से आर्य्यों के विशिष्ट दलों ने जाकर अन्य प्रदेशों पर अधिकार किया। ऐसी अवस्था में उनकी भाषाओं का महत्व जो अन्य प्रान्तवालों ने स्वीकार किया तो यह आश्चर्य्यजनक नहीं, क्योंकि यह देखा जाता है कि राज्यभाषा ही प्रधानता लाभ करती है। जिस समय व्रज-भाषा का उदय हुआ उस समय भी मध्यदेश की ही राज्य-सत्ता का प्रभाव भारतवर्ष पर था। उन दिनों अकबर सम्राट् था और उसकी राजधानी अकबराबाद या आगरे में थी। जो व्रजप्रान्त के अन्तर्गत है। अतएव वहां की भाषा का प्रभाव अन्य प्रदेशों पर पड़ना स्वाभाविक था, विशेष कर उस अवस्था में जब कि अकबर के समस्त बड़े अधिकारी व्रजभाषा से स्नेह करते थे। इतना ही नहीं वे व्रजभाषा में स्वयं रचना करके भी उन दिनों उसे समादृत बना रहे थे। मैं राजा बीरबल, राजा टोडरमल और रहीम खां खानखाना की रचनाओं को ऊपर उद्धृत कर आया हूं। वे ही मेरे कथन के प्रमाण हैं, अकबर स्वयं व्रजभाषा में कविता करता था। कुछ पद्य उसके भी देखिये:—

"जाको जस है जगत में सबै सराहैं जाहि ।
ताको जीवन सफल है कहत अकब्बर साहि ।
साहि अकब्बर एक समै चले,
कान्ह बिनोद बिलोचन बालहिं ।
आहट ते अबला निरख्यो चकि
चौंकि चली करि आतुर चालहिं ।
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सुभई,
छबियों ललना अरु लालहिं ।
चम्पक चारु कमान चढ़ावत,
काम ज्यों हाथ लिये अहि बालहिं ।

यही नहीं, उनके दरबार के राजे महाराजे भी इस रँग में रँगे हुये थे । उनकी ब्रजभाषा की रचनायें बतलाती हैं कि जो राजे ब्रजप्रान्त से दूर के थे वे भी उसके प्रभाव से प्रभावित थे । बीकानेर के राजा के भाई पृथ्वीराज की एक रचना देखिये । आप अकबर के प्रसिद्ध दरबारी थे । उन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे थे । उनमें से एक ग्रन्थ 'प्रेम-प्रदीपिका' का एक पद्य यह है:—

"प्रेम इकंगी नेम प्रेम गोपिन को गायो ।
बचनन विरह विलाप सखी ताकी छवि छायो ।
ज्ञान जोग वैराग मधुर उपदेसन भाख्यो ।
भक्ति भाव अभिलाष मुख्य बनि तनु मन राख्यो ।
वहुविधि वियोग संयोग सुख सकल भाव समुझै भगत ।
यह अद्भुत 'प्रेम-प्रदीपिका' कहि अनंत उदित जगत ।"

कुछ लोगों ने यह लिखा है कि महाराज मानसिंह भी ब्रजभाषा में कविता करते थे, परन्तु उनकी कोई कविता मेरे देखने में नहीं आयी ।

मैंने अब तक जो लिखा, उससे यह पाया जाता है कि उस समय अकबर के दरबार में ब्रजभाषा की बड़ी चर्चा थी। यह मैं स्वीकार करूंगा कि रहीम खां खान खाना ने अवधी भाषामें भी रचना की है, पर उनकी अधिकांश रचनायें ब्रजभाषा की ही हैं। 'नरहरि' और 'गंग' की जो रचनायें ऊपर उद्धृत की गई हैं। उनकी भाषा भी प्रौढ़ ब्रजभाषा है। इससे ब्रजभाषा के अधिक प्रचार होने का रहस्य समझ में आ जाता है। इसके अतिरिक्त उन दिनों मथुरा वृन्दाबन में कृष्णावत संप्रदाय के ऐसे प्रसिद्ध महात्मा हुये, जिनका बहुत बड़ा प्रभाव अन्य प्रदेशों पर भी पड़ा। इन महात्माओं में से अधिकांश की रचनायें मैं ऊपर उद्धृत कर आया हूं। उनके पढ़ने से आप को ज्ञात होगा कि उस समय ब्रजभाषा कविता का प्रवाह कितना प्रबल था। जिस भाषा के सहायक सम्राट से लेकर उनके मंत्रि-मण्डल, उनके दरबारी राजे महाराजे और सामयिक अधिकांश महात्मागण हों उसका विशेष आदृत और विस्तृत हो जाना आश्चर्य्यजनक नहीं। मीराबाई के भजनों को भी आप पढ़ चुके हैं। वह भी भगवान कृष्णचन्द्र के प्रेम में ही रँगी थीं। उनकी रचनाओं से यह बात स्पष्टतया विदित होती है। उस समय ब्रजभाषा की समुन्नति में उनका भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। यह सच है कि उनकी भाषा में राजस्थानी शब्द मिलते हैं। परन्तु उनकी अधिकतर रचनायें ब्रजभाषा के ही रङ्ग में रँगी हैं। ब्रजभाषा के विस्तार का एक बहुत बड़ा हेतु और भी है। वह यह कि कृष्णावत सम्प्रदाय जहाँ जहाँ गया वहाँ वहाँ उस सम्प्रदाय की प्रिय भाषा ब्रजभाषा भी उसके साथ गई। भगवान् कृष्णचन्द्र और श्रीमती राधिका जिनके आराध्यदेव हों वे उनकी प्रिय भाषाका आदर क्यों न करते? भगवान कृष्णचन्द्र के गुणगान का अधिक सम्बन्ध ब्रजलीला ही से है। फिर ब्रजप्रान्त की भाषा आदृत क्यों न होती? कृष्ण-भक्ति के साथ ब्रजभाषा का घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये वह भी उनकी भक्ति के साथ साथ ही उत्तरीय भारत में, राजस्थान और गुजरात में, अपना प्रभाव विस्तार करने में समर्थ हुई।

एक बात और है, वह यह कि भगवान कृष्णचन्द्र शृंगार रस के देवता

हैं। पहले कुछ रीति ग्रन्थ के आचार्य्यों ने विष्णु भगवान को देवता माना। परन्तु उत्तर-काल में भगवान् कृष्णचन्द्र ही की प्रधानता हुई। इस लिये शृंगार रसके वर्णनमें उनकी व्रजलीलाको अधिकतर स्थान दिया गया। और व्रजलीला के साथही व्रजभाषा भी सादर गृहीत हुई। सत्रहवीं से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक जहां थोड़े से अन्य साहित्यके ग्रन्थ लिखे गये वहां शृंगार रसके ग्रन्थोंकी भरमार रही। पहले शृंगार रसके वर्णनमें कुछ संकोच भी होता था। परन्तु उसके कृष्ण-लीलामय होने के कारण जब यह भाव भी आकर उसमें सम्मिलित हो गया कि यह रूपान्तर से कृष्ण गुणगान है १ जो पवित्र और निर्दोष है तो बड़े असंयत भाव और अधिकतासे शृंगार रसकी रचनायें होने लगीं। काल पाकर साहित्य पर उसका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। कृष्ण गुणगान करने के बहाने उच्छृंखलताओं और अयथा वर्णनों ने स्थान ग्रहण किया, जिससे शृंगार-सम्बन्धी ग्रन्थ अनेक अंशों में कलुषित होने से न बचे और यह उक्त त्यागशील महात्माओं के उत्तम आदर्शों का बहुत बड़ा दुरुपयोग हुआ जो बाद को अनेक लांछनों का कारण बना। अष्ट छाप के वैष्णवों में जो भक्ति और पवित्रता पायी जाती है, स्वामी हित हरिवंश, स्वामी हरिदास आदि महात्माओंमें जो सच्ची भक्ति और तन्मयता अथच तदीयता देखी जाती है, विट्ठल विपुल में जो प्रेमोन्माद और तल्लीनता मिलती है, उसका शतांश भी उत्तर काल के शृंगार रस के ग्रन्थकारों में दृष्टिगत नहीं होता। इसलिये उनकी रचनाओं का कुछ अंश ऐसा बन गया जो निंदनीय कहा जा सकता है। यह मैं कहूंगा कि उस काल के कुछ रसिक राजा-महाराजाओं ने इस रोग को बढ़ाया और कुछ उस काल के उर्दू और फारसी साहित्य के संसर्ग ने। परन्तु यह सत्य है कि जहाँ व्रजभाषा की रचनाओं के विस्तार के और कारण हुये वहां एक कारण यह शृंगार रस का व्यापक प्रवाह भी हुआ। ऊपर जो पद्य उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे 'करनेस' लालनदास की रचनाओं

१ भिखारीदासजी लिखते हैं:—

'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई,
ना तौ राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।'

की ओर मैं आपलोगों की दृष्टि विशेष रूप से आकर्षित करता हूं। उनके देखने से आपलोगों को यह ज्ञात होगा कि इसी शताब्दी में ही कुछ कवियों ने व्रजभाषा की रचना में फ़ारसी और अरबी के अधिकतर शब्दों का भरना आरम्भ किया था। परन्तु ऐसे कवियों को सफलता प्राप्त नहीं हुई और न उनका अनुकरण हुआ। फ़ारसी अरबी के शब्दों के ग्रहण करने के वही नियम गृहीत रहे। अपनी आदर्श रचना द्वारा जिनका प्रचार सूरदास जी और गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया था अर्थात् व्रजभाषा की कविता में वेही शब्द आवश्यकतानुसार लिये गये जो अधिकतर बोलचाल में आते अथवा प्रचलित थे।

(ग)

इसी शतक में दादूदयाल जी का आविर्भाव हुआ। उनकी गणना निर्गुणवादी संतों में की जाती है। कोई उनको ब्राह्मण संतान कहता है, कोई यह कहता है कि वे एक धुनियाँ थे जिनको एक नागर ब्राह्मण ने पाला पोसा था। वे जो हों, किन्तु उनका हृदय प्रेम मय और उदार था। उनमें दयालुता की मात्रा अधिक थी, इसी लिये उनको दादूदयाल कहते हैं। उनको कलहविवाद प्रिय नहीं था। शान्तिमय जीवन ही उनका ध्येय था, इस लिये उनकी रचनाओं में वह कटुता नहीं मिलती जो कबीर साहब की उक्तियों में मिलती है। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि वे हिन्दू जाति से सहानुभूति रखते थे और उनके देवी-देवताओं और महात्माओं पर व्यंग बाण प्रहार करना उचित नहीं समझते थे। उनका बिचार यह था कि संत होने के लिये संत भाव की आवश्यकता है। इस दृष्टि से वे किसी महापुरुष की कुत्सा कर के अपने को सर्वोपरि बनाना नहीं चाहते थे। अतएव उनकी रचनाओं में यथेष्ट गंभीरता पायी जाती है। उनको यह ज्ञात था कि उस समय हिन्दू धर्म पर किस प्रकार आक्रमण हो रहा था, इस लिये उसके प्रति वे सहानुभूतिपूर्ण थे और इसी कारण उन्होंने वह मार्ग नहीं ग्रहण किया जिससे उसका धर्म-क्षेत्र कंटकित हो और औरों को उस पर अयथा आक्रमण करने का अधिक अवसर प्राप्त हो। वे हिन्दू संतान थे। इसलिये उनका हिन्दू संस्कार जाग्रत था और यही कारण है कि वे उसके धर्म-याजकों पर अनुचित कटाक्ष करते

नहीं देखे जाते। वे जितने ही मिथ्याचार के विरोधी थे उतने ही मिथ्या-वाद से दूर। वे यह जानते थे कि सत्य में बल है। इस लिये वे सत्य का प्रचार सत्य भाव ही से करते थे असंयत भावों के साथ नहीं। लगभग यह बात सभी हिन्दू निर्गुणवादियों में पायी जाती है, यहां तक कि कबीर साहब के प्रधान शिष्य धर्मदास, श्रुतगोपालदास आदि में भी यही भाव कार्य रत देखा जाता है। इन लोगों में भी हिन्दू धर्म के प्रति वह दुर्भाव नहीं देखा जाता जिससे हिन्दू धर्म के प्रति उनका असद्भाव प्रगट हो दादू-दयाल के हृदय का विनीत भाव इससे भी प्रगट होता है कि वे सब को दादा कहते थे और इसी लिये उनका नाम दादू पड़ा। उनकी कुछ रच-नायें आप के सामने उपस्थित की जाती हैं। इनको पढ़ कर आप लोगों को स्वयं यह ज्ञात होगा कि वे क्या थेः—

(१) अजहुँ न निकसे प्रान कठोर।

दरसन बिना बहुत दिन बीते सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारहुँ जुग बीते रैनि गंवाई भोर।
अवधि गये अजहूँ नहिं आये कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरख नहिं देखे मारग चितवत तोर।
दादू अइसहि आतुरिविरहिनि जैसहि चन्दचकोर।

(२) भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।

द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा।
वाद विवाद काहु सों नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा।
सम दृष्टी सूं भाइ सहज में आपहिं आप विचारा।
मैं तैं मेरी यहु मति नाहीं निरवैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आपा पर निरालंब निरधारा।
काहु के संगी मोह न ममता संगी सिरजन हारा।
मनही मनसूं समझु सयाना आनँद एक अपारा।

काम कलपना कदे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा ।
यहि पथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहज संभारा ।

(३) यह मसीत यह देहरा सत गुरु दिया देखाय ।
भीतर सेवा बन्दगी बाहर काहे जाय ।

(४) सुरग नरक संसय नहीं, जिवन मरण भय नाहिं ।
राम विमुख जे दिन गये सो सालै मन माहिं ।

(५) जे सिर सौंप्या राम कों, सो सिर भया सनाथ ।
दादू दे ऊरण भया जिसका तिसके हाथ ।

(६) कहताँ सुनताँ देखताँ लेताँ देताँ प्राण ।
दादू सो कतहूं गया माटी भरी मसाण ।

(७) आवरे सजणा आव सिर पर धरि पाँव ।
जाणी मैंडा जिंद असाड़े
तू रावैंदा राव वे सजणा आव ।
इत्थां उत्थां जित्थां कित्थां हौं जीवां तो नाल वे ।
मीयां मैंडा आव असाड़े
तू लालों सिर लाल वे सजणा आव ।

(८) म्हारे व्हाला ने काजे रिदै जो वानेहूं ध्यान धरूँ ।
आकुल थाए प्राणम्हारा को ने कही पर करूँ ।
पीवे पाखे दिन दुहेलां जाए घड़ी बरसांसौं केम भरूँ ।
दादू रे जन हरिगुण गातां पूरण स्वामी ते बरूँ ।

दादू दयाल में यह विशेषता थी कि वे पंजाबी और गुजराती भाषा में भी कविता कर सकते थे। उनकी इस प्रकार की रचनायें भी ऊपर उद्धृत की गयी हैं। नम्बर ७ की रचना पंजाबी और नम्बर ८ की गुजराती

भाषा की है। इस प्रकार की उनकी रचनायें थोड़ी हैं। अधिकांश रचनायें ब्रज भाषा की ही हैं जिसमें अधिकतर शब्द राजस्थानी भाषा के और थोड़े अवधी के आये हैं। उनकी भाषा भी संतों की भाषा के समान स्वतंत्र है। उसमें विशेष बन्धन नहीं। जब जहाँ आवश्यक समझते हैं अन्य भाषा के उपयुक्त शब्दों को ग्रहण कर लेते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि उनकी भाषा पर ब्रज भाषा और राजस्थानी भाषा का ही विशेष प्रभाव है। पहले पद्य को देखिये। वह बहुत ही प्रांजल है और इस भाव से लिखा गया है कि ज्ञात होता है कि वे सूरदासजी का अनुकरण कर रहे हैं। ऐसी उनकी कितनी ही रचनायें हैं। दूसरा पद्य ऐसा है जिसमें राजस्थानी शब्द अधिक आये हैं। फिर भी उसकी भाषा साफ़ और चलती है। दादूदयाल के विचार निर्गुणवादियों के से हैं, परन्तु अन्य निर्गुणवादियों के समान वे भी सगुणोपासक हैं और परमात्मा में अनेक गुणों की कल्पना करते रहते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने पूर्व के कबीर साहब इत्यादि निर्गुणवादियों को भी स्मरण किया है और स्थान स्थान पर पौराणिक महात्माओं को भी। स्वर्ग नरक इत्यादि का वर्णन भी उनकी रचनाओं में है और पौराणिक उन पापियों का भी जो पतितपावन के अपार अनुग्रह से पाप-मुक्त हो कर अच्छे पद को प्राप्त हो सके। इस लिये उनके विचार भी पौराणिक भावों से ही ओत-प्रोत हैं जो समय पर दृष्टि रख कर उनके द्वारा प्रकट किये गये हैं। राज-स्थान में उनके पंथवाले अधिक हैं, उनका कार्य-क्षेत्र भी आजीवन राज-स्थान ही रहा है।

चौथा प्रकरण।

उत्तर—काल।

(१)

सोलहवीं शताब्दी में हिन्दी साहित्यक्षेत्र में तीन धारायें प्रबल वेग से बहती दृष्टिगत होती हैं। पहली निर्गुणवाद सम्बन्धी दूसरी सगुणवाद या भक्तिमार्ग-सम्बन्धी और तीसरी रीति ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी। इस सदी में निर्गुणवाद के प्रधान प्रचारक कबीर साहब गुरु नानकदेव और

दादूदयाल थे। सगुणोपासना अथवा भक्तिमार्ग के प्रधान प्रवर्त्तक कविवर सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास थे। रीति ग्रंथ-रचना के प्रधान आचार्य केशवदास जी कहे जा सकते हैं। इन लोगोंने अपने अपने विषयोंमें जो प्रगल्भता दिखलायी वह उत्तर काल में दृष्टिगत नहीं होती। परन्तु उनका अनुगमन उत्तर काल में तो हुआ ही, वर्त्तमान काल में भी हो रहा है। मैं यथा शक्ति यह दिखलाने की चेष्टा करूंगा कि ई० सत्रहवीं शताब्दी में इन धाराओं का क्या रूप रहा और फिर अट्ठारवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में उनका क्या रूप हुआ। इन तीनों शताब्दियों में जो देश कालानुसार अनेक परिवर्त्तन हुये हैं और भिन्न भिन्न विचार भारत वसुन्धरा में फैले हैं। उनका प्रभाव इन तीनो शत्ताब्दियों की रचनाओं में देखा जाता है। साथ ही भाव और भाषा में भी कुछ न कुछ अन्तर होता गया है। इसलिये यह आवश्यक ज्ञात होता है कि इन शताब्दियों के क्रमिक परिवर्त्तन पर भी प्रकाश डाला जावे और यह दिखलाया जावे कि किस क्रम से भाषा और भावमें परिवर्तन होता गया। यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है कि इन तीनों शताब्दियों में न तो कोई प्रधान धर्म्म-प्रवर्त्तक उत्पन्न हुआ, न कोई सूरदास जी एवं गोस्वामी तुलसीदास जी के समान महाकवि, और न केशवदास जी के समान महान् रीति-ग्रन्थकार। किन्तु, जो साहित्य-सम्बन्धी विशेष धारायें सोलहवीं शताब्दी में बहीं वे अविच्छिन्न गति से इन शताब्दियों में भी बहती ही रहीं, चाहे वे उतनी व्यापक और प्रबल न हों। इन तीनों शताब्दियों में उस प्रकार की प्रभावमयी धारा बहाने में कोई कवि अथवा महाकवि भले ही समर्थ न हुआ हो, परन्तु इन धाराओं से जल ले ले कर अथवा इनके आधार से नई नई जल प्रणालियां निकाल कर वे हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के सेचन और उसको सरस और सजल बनाने से कभी विरत नहीं हुये। इन शताब्दियों में भी कुछ ऐसे महान् हृदय और भावुक दृष्टिगत होते हैं जिनकी साहित्यिक धारायें यदि उक्त धाराओं जैसी नहीं हैं, तो भी उनसे बहुत कुछ समता रखने की अधिकारिणी कही जा सकती हैं, विशेष कर रीतिग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में। परन्तु उनमें वह व्यापकता और विशदता नहीं मिलती, जो उनको उनकी समकक्षता का

गौरव प्रदान कर सके। मैंने जो कुछ कहा है, वह कहां तक सत्य है, इसका यथार्थ ज्ञान आप लोगों को मेरी आगे लिखी जाने वाली लेखमाला से होगा।

मैं पहले लिख आया हूं कि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में सोलहवीं शताब्दी में ही व्रजभाषा को प्रधानता प्राप्त हो गयी थी। और कुछ विशेष कारणों से हिन्दी के कवि और महाकवियों ने उसी को हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा स्वीकार कर लिया था। यह बात लगभग यथार्थ है परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उत्तर-काल के कवियों की मुख्य भाषा भले ही व्रजभाषा हो, किन्तु उसमें अवधी के कोमल, मनोहर अथच भावमयशब्द भी गृहीत हैं। जो कवि कर्म्म के मर्मज्ञ हैं वे भली भाँति यह जानते हैं कि अनेक अवस्थाओं में कवियों अथवा महाकवियों को ऐसे शब्द-चयन की आवश्यकता होती है, जो उनको भाव-प्रकाशन में उचित सहायता दे सकें और छन्दोगति में वाधक भी न हों। यदि वे 'ऐसो' लिखना चाहते हैं, परन्तु इस शब्द को वे इस लिये नहीं लिख सकते कि उससे छन्दोगति में वाधा पड़ती है और 'अस' लिखने से वे अपने भाव का द्योतन कर सकते हैं और छन्दोगति भी सुरक्षित रहती है तो वे ऐसी विशेष अवस्था में यह नहीं विचारते कि 'अस' शब्द अवधी का है, इस लिये उसको कविता में स्थान न मिलना चाहिये, वरन् वे यह सोचते हैं, कि हिन्दी भाषा का ही यह शब्द है और उसका प्रयोग हिन्दी साहित्य के एक विभाग में पाया जाता है। इस लिये संकीर्ण स्थलों पर उसके ग्रहण में आपत्ति क्या? हिन्दी साहित्य के महाकवियों को ऐसा करते देखा जाता है। क्योंकि वे जानते हैं कि बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में कुछ न कुछ भिन्नता होती ही है। मेरे कथन का सारांश यह है कि उत्तर काल के कवियों ने जिसे साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण किया उनमें से अधिकांश की मुख्य भाषा व्रजभाषा ही है, परन्तु अवधी के भी उपयुक्त शब्द उसमें गृहीत हैं। मेरा विचार है कि इससे साहित्य की व्यापकता बढ़ी है, उसका पथ अधिक प्रशस्त हुआ है, और कवि-कर्म्म में भी बहुत कुछ सुविधा प्राप्त हुई है। भाषा की शुद्धता की ओर दृष्टि आकर्षण कर

कुछ लोग इस प्रणाली का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि सुविधा पर दृष्टि रखकर यदि एक ही शब्दके अनेक रूप गृहीत होने लगेंगे तो इससे भाषा सम्बन्धी नियम की रक्षा न होगी और निरंकुशता को प्रश्रय मिलेगा। लोग बेतरह शब्दों को तोड़ मरोड़ कर मनमानी करेंगे और साहित्यक्षेत्र में उच्छृंखलता विप्लव मचा देगी। यह कथन बहुत कुछ युक्ति-संगत है, परन्तु ब्रजभाषा साहित्य के मर्म्मज्ञों अथवा महाकवियों ने यदि उक्त प्रणाली ग्रहण की तो इस उद्देश्य से नहीं कि निरंकुशता को प्रश्रय दिया जाय। शब्द गढ़ने के पक्ष पाती वे नहीं थे, न शब्दों को अधिक तोड़ने-मरोड़ने के समर्थक। वरन् उनका विचार यह था कि विशेष स्थलों पर यदि उपयुक्त अवधी के शब्द आ जाँय तो वे आपत्ति जनक नहीं। अवधी भाषा के कवियों को भी इस प्रणाली का अनुमोदन करते देखा जाता है। क्योंकि उनकी रचनाओं में भी ब्रजभाषा के शब्द विशेष स्थलों पर गृहीत होते आये हैं। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि यदि कोई विशेष क्षमतावान है और वह शुद्ध ब्रजभाषा में या शुद्ध अवधी ही में रचना करना चाहता है तो अनुचित करता है। भाषाधिकार कविता का विशेष गुण है। गुण का त्याग किसे वांछनीय होगा? परन्तु यह स्मरण रहना चाहिये कि कवि-परम्परा (Poetic license) का भी कुछ आधार है. कवि कार्य्य के जटिल पथ में वह सुविधा का अंगुलि-निर्देश है। इसी लिये ब्रजभाषा के साहित्यकारों ने, चाहे वे प्रारम्भिक काल के हों, अथवा माध्यमिक काल या उत्तर काल के, इस सुविधा से मुख नहीं मोड़ा।

एक बात और है। वह यह कि ब्रजभाषा और अवधी में अधिकतर उच्चारण का विभेद है। अन्यथा दोनों में बहुत कुछ एक रूपता है। इसका कारण यह है कि अवधी पर शौरसेनी का अधिकतर प्रभाव रहा है। भरत मुनि कहते हैं:—

'शौरसेन्याऽविदूरत्वात् इयमेवार्द्ध मागधी।''

इसका अर्थ यह है कि शौरसेनी से अविदूर (सन्निकट होनेके कारण) मागधी अर्द्ध मागधी कहलाती है। यह कौन नहीं जानता कि शौरसेनी से

व्रजभाषा की और अर्धमागधी से अवधी की उत्पत्ति है। व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों पश्चिमी हैं और अवधी पूर्वी। पछांह वालों की भाषा खड़ी होती है और पूर्व वालों की पड़ी। पछांह वालों के उच्चारण में उठान होतो है और पूर्व वालों के उच्चारण में लचक या उसमें चढ़ाव होता है और इसमें उतार। पछाँह वाले कहेंगे 'ऐसे', 'जैसे', 'कैसे', 'तैसे' और पूर्व वाले कहेंगे 'अइसे', 'जइसे', 'कइसे', 'तइसे' वे कहेंगे गयो' ये कहेंगे 'गयउ'। वे कहेगें 'होयहै' या 'ह्वै है' और ये कहेंगे 'होइहै'। वे कहेंगे रिझै है' ये कहेंगे 'रिझइहै'। वे कहेंगे 'कौन' ये कहेंगे 'कवन'। वे कहेंगे 'मैल' ये कहेंगे 'मइल'। वे कहेंगे 'पाँव' ये कहेंगे पाउ'। वे कहेंगे 'कीनो', 'लीनो', 'दीनो' और ये कहेंगे 'कीन', 'लीन', 'दीन'। इसी प्रकार बहुत से शब्द बतलाये जा सकते हैं। मेरा विचार है, इस साधारण उच्चारण विभेद के कारण एक दूसरे को परस्पर सर्वथा सम्पर्क-हीन समझना युक्ति संगत नहीं। उच्चारण-विभेद के अतिरिक्त कारक-चिन्हों, सर्वनामों और अनेक शब्दोंमें कुछ विभिन्नतायें भी दोनोंमें हैं विशेष कर ग्रामीण शब्दोंमें। उनसे जहाँ तक संभव हो बचनेको चेष्टा करनी चाहिये, यद्यपि हमारे आदर्श कवियों और महाकवियों ने अनेक संकीर्ण स्थलों पर इन बातों की भी उपेक्षा की है।

(क)

अब मैं प्रकृत विषय को लेता हूं, सत्रहवीं शताब्दी के निर्गुणवादी कवियों में मलूक दास और सुन्दरदास अधिक प्रसिद्ध हैं। क्रमशः इनकी रचनायें आप लोगों के सामने उपस्थित करके इनकी भाषा आदि के विषय में जो मेरा विचार है उसको मैं प्रकट करूंगा और विकास सूत्र से उनकी जांच पड़ताल भी करता चलूंगा। मलूकदास जी एक खत्री बालक थे। बाल्यकाल से ही इनमें भक्ति का उद्रेक दृष्टिगत होता है। वे द्रविड़ देश के एक महात्मा विट्ठल दास के शिष्य थे। इनका भी एक पंथ चला जिसकी मुख्य गद्दी कड़ा में है। भारतवर्ष के अन्य भागों में भी उनकी कुछ गद्दियां पाई जाती हैं। उनकी रचनाओं से यह सिद्ध होता है कि उनमें निर्गुण-वादी भाव था, फिर भी वे अधिकतर सगुणोपासना में ही लीन थे। सच्ची बात तो यह है कि पौराणिकता उनके भावों में भरी थी और वे उसके

सिद्धान्तों का अनुकरण करते ही दृष्टिगत होते हैं। वे दर्शन के लिये जगन्नाथ जी भी गये थे। वहाँ पर उनके नाम का टुकड़ा अब तक मिलता है। उनकी कुछ रचनायें देखिये:—

१—भील कब करी थी भलाई जिय आप जान।
फ़ील कब हुआ था मुरीद कहु किसका।
गीध कब ज्ञान की किताब का किनारा छुआ।
व्याध और बधिक निसाफ कहु तिसका।
नाग कब माला लै के बन्दगी करी थी बैठ।
मुझको भी लगा था अजामिल का हिसका।
एते बदराहों की बदी करी थी माफ़ जन।
मलूक अजाती पर एती करी रिस का।

२—दीनदयाल सुनी जबते तबते हिय में कछु ऐसी बसी है।
तेरोकहाय कै जाऊँ कहाँ मैं तेरे हितकी पट खैंचि कसी है।
तेरोही एक भरोस मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहिं तेरी हँसी है।

३—ना वह रीझै जप तप कीने ना आतम के जारे।
ना वह रीझै धोती नेती ना काया के पखारे।
दाया करै धरम मन राखै घर में रहे उदासी।
अपना सा दुख सबका जाने ताहि मिलै अबिनासी।
सहै कुसबद बादहू त्यागै छाड़ै गरब गुमाना।
यही रीझ मेरे निरंकार की कहत मलूक दिवाना।

४—गरब न कीजै बावरे हरि गरब प्रहारी।
गरबहिं ते रावन गया पाया दुख भारी।

जर न खुदी रघुनाथ के मन माँहिं सोहाती।
जाके जिय अभिमान है ताकी तोरत छाती।
एक दया औ दीनता ले रहिये भाई।
चरन गहो जाय साधु के रीझैं रघुराई।
यही बड़ा उपदेस है पर द्रोह न करिये।
कह मलूक हरि सुमिरि के भौसागर तरिये।

५—दर्द दिवाने बावरे अलमस्त फकीरा।
एक अकीदा लै रहे ऐसा मन धीरा।
प्रेम पियाला पीउ ते बिसरे सब साथी।
आठ पहर यों झूमते ज्यों माता हाथी।
साहब मिलि साहब भये कछु रही न तमाई।
कह मलूक तिस घर गये जहँ पवन न जाई।

६—अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहै सब के दाता राम।
प्रभुताही को सब मरै प्रभु को मरै न कोय।
जो कोई प्रभु को मरै प्रभुता दासी होय।

इनकी भाषा स्वतंत्र है। परन्तु खड़ी बोली और ब्रजभाषा का रंग ही उसमें अधिक है। ये फ़ारसी के शब्दों का भी अधिकतर प्रयोग करते हैं और कहीं कहीं छन्द की गति की पूरी रक्षा भी नहीं कर पाते। ऊपर के पद्यों में जिन शब्दों और वाक्यों पर चिन्ह बना दिया गया है उनको देखिये। ये शब्द विन्यास और वाक्य-रचना में अधिकतर ब्रजभाषा के नियमों का पालन करते हैं। परन्तु बहुधा स्वतन्त्रता भी ग्रहण कर लेते हैं। इनकी रचना में संस्कृत के तत्सम शब्द भी आते हैं पर अधिकतर उन पर युक्त-विकर्ष का प्रभाव ही देखा जाता है।

साधुओं में सुंदरदास ही ऐसे हैं जो विद्वान् थे और जिन्होंने काशी में बीस वर्ष तक रह कर वेदान्त और अन्य दर्शनों की शिक्षा संस्कृत द्वारा पाई थी। वे जाति के खण्डेल वाल बनिये और दादूदयाल के शिष्य थे। उन्होंने देशाटन अधिक किया था, अतएव उनका ज्ञान विस्तृत था। वे बाल ब्रह्मचारी और त्यागी थे। उनका कोई पंथ नहीं है। परन्तु सुन्दर और सरस हिन्दी रचनाओं के लिये वे प्रसिद्ध हैं। उनकी अधिकांश रचनाओं पर वेदान्त-दर्शन की छाप है और उन्होंने उसके दार्शनिक विचारों को बहुत ही सरलता से प्रकट किया है। कहा जाता है, उन्होंने चालीस ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से 'सुन्दरसांख्य-तर्क चिन्तामणि', 'ज्ञान विलास' आदि ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने साखियों की भी रचना की है। शब्द भी बनाये हैं। और बड़े ही सरस कवित्त और सवैये भी लिखे हैं। उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं।

१—बोलिये तो तब जब बोलिबे की सुधि होइ।
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये।
जोरिये तो तब जब जोरिबे की जान परै
तुक छंद अरथ अनूप जामैं लहिये।
गाइये तो तब जब गाइबे को कंठ होइ।
जौन के सुनत ही सुमन जाइ गहिये।
तुक भंग छंद भंग अरथ मिलै न कछु।
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिये।

२—गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो,
पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेघ सहे सिरसीत सहे,
तन धूप समै में पँचागिन धारी।

भूख सहै रहि रूख तरे
पर सुन्दर दास यहै दुख भारी ।
आसन छाड़ि के कासन ऊपर,
आसन मार्यो पै आस न मारी ।

३—देखहु दुर्मति या संसार की ।
हरि सो हीरा छांड़ि हाथ तें बाँधत मोट विकार की ।
नाना बिधि के करम कमावत खबर नहीं सिर भार की ।
झूठे सुख में भूलि रहे हैं फूटी आँख गँवार की ।
कोइ खेती कोई बनिजी लागे कोई आस हथ्यार की ।
अंध धुंध में चहुं दिसि धाये सुधि बिसरी करतार की ।
नरक जानि कै मारग चालैसुनि सुनि बात लबारकी
अपने हाथ गले में बाही पासी माया जार की ।
बारम्बार पुकार कहतहौं सौंहैं सिरजनहार की ।
सुंदरदास बिनस करि जैहै देह छिनक में छार की ।

४—धाइ पर्‍यो गज कूप में देखा नहीं बिचारि ।
काम अंध जानै नहीं कालबूत की नारि ।
लालन मेरा लाड़ला रूप बहुत तुझ माहिं ।
सुन्दर राखै नैन में पलक उघारै नाहिं ।
सुन्दर पंछी बिरछ पर लियो बसेरा आनि ।
राति रहे दिन उठि गये त्यों कुटुंब सब जानि ।
लवन पूतरी उदधि में, थाह लैन को जाइ ।
सुन्दर थाह न पाइये बिचही गयो बिलाइ ।

५—तो सही चतुर तू जान परवीन

अति परै जनि पींजरे मोह कूआ।

पाइ उत्तम जनम लाइ लै चपल

मन गाइ गोविन्द गुन जीति जूआ।

आपुही आपु अज्ञान नलिनी बँध्यो

बिना प्रभु विमुख कैबेर मूआ।

दास सुंदर कहै परम पद तौ लहै

राम हरि राम हरि बोल सूआ।

इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है परन्तु उसमें कहीं कहीं खड़ी बोली का शब्द-विन्यास भी मिल जाता है। जहां उन्होंने दार्शनिक विषयों का वर्णन किया है वहां उनकी रचना में अधिकतर संस्कृत शब्द आये हैं। जैसे निम्न लिखित पद्य में:—

ब्रह्म ते पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,

प्रकृति ते महतत्व पुनि अहंकार है।

अहंकार हूं ते तीन गुण सत रज तम,

तमहू ते महा भूत विषय पसार है।

रजहूं ते इन्द्री दस पृथक पृथक भई,

सत हूं ते मन आदि देवता विचार है।

ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सों कहत गुरु,

सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रम जार है।

देशाटन के समय प्रत्येक प्रान्त में जो बातें अरुचिकर देखीं अपनी रचनाओं में उन्होंने उनकी चर्चा भी की है। उनकी ऐसी रचनाओं में प्रान्तिक और गढ़े शब्दों का प्रयोग भी प्रायः देखा जाता है। निम्न लिखित पद्यांशों के उन शब्दों को देखिये जो चिन्हित हैं:—

१—आभड़ छोत अतीत सों कीजिये

२—बिलाईरु कूकुरु चाटत हांडी

३—रांधत प्याज बिगारत नाज न आवत लाज करैं सब भच्छन।

४—ब्राह्मण छत्रिय बैसरु सूद्र चारों ही बर्नके मच्छ बघारत

५—फूहड़ नार फतेपुर की...................।

६—फिर आवा नग्र मँझारी।

इनकी रचनाओं में विदेशी भाषा के शब्द भी आते हैं, किन्तु बहुत कम और नियमानुकूल। निम्न लिखित पद्य के उन शब्दों को देखिये जो चिन्हित हैं:—

१—'खबरि नहीं सिर भार की'

२—'कागद की हथिनी कीनी'

३—'खंदक कीना जाई'

४—'तब बिदा होइ घर आवा'

५—'मन में कछु फिकिरि उपावा'

इन पद्यों में 'आवा', 'उपावा' इत्यादि का प्रयोग भी चिंतनीय है। ये प्रयोग अवधी के ढंग के हैं। उनकी समस्त रचनाओं पर दृष्टि डालकर यह कहा जा सकता है कि निर्गुणवादियों की जितनी रचनायें हैं उनमें भाषा की प्राञ्जलता एवं नियम पालन की दृष्टि से सुंदरदासजी की कृति ही सर्वप्रधान है। जो भाषा-सम्बन्धी विभिन्नता कहीं कहीं थोड़ी बहुत मिलती है, साहित्यिक दृष्टि से वह उपेक्षणीय है। कतिपय शब्दों और वाक्य-विन्यास के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी भाषा खिचड़ी है और उन्होंने भी सधुक्कड़ी भाषा ही लिखी। इन्हीं के समय में दादू सम्प्रदाय में निश्चलदास नाम के एक प्रसिद्ध साधु-विद्वान् हो गये हैं,

जिन्होंने वेदान्त के विषयों पर सुंदर ग्रंथ लिखे हैं। उनकी भाषा के विषय में यही कहा जा सकता है कि वह लगभग सुंदरदास की सी ही है। इसी शताब्दी में लालदासी पंथ के प्रवर्त्तक लालदास और साधु सम्प्रदाय के जन्म दाता बीरभान एवं 'सत्यप्रकाश' नामक ग्रन्थ के रचयिता और एक नवीन मत के निर्माण कर्त्ता धरणीदास भी हुये। परन्तु उनकी रचनायें अधिकतर साधुओं की स्वतंत्र भाषा ही में हैं, विचार भी लगभग वैसे ही हैं। इसलिये मैं उनकी रचनाओं को ले कर उनके विषय में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं समझता।

(ख)

इस शताब्दी के भक्ति मार्गवाले सगुणवादी भक्तों की ओर जब दृष्टि जाती है तो सबसे पहले हमारे सामने नाभादासजी आते हैं। वैष्णवों में इनकी रचनाओं का अच्छा आदर है। इनकी विशेषता यह है कि इन्होंने शृंगार रस से मुख मोड़कर भक्ति-रस की धारा बहायी और 'भक्तमाल' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें लगभग २०० भक्तों का वर्णन है। अपनी रचना में उन्हों ने वैष्णवमात्र को समान दृष्टि से देखा, और स्वयं रामभक्त होते हुए भी कृष्णचन्द्र के भक्तोंमें भी उतनी ही आदर बुद्धि प्रकट की जितनी रामचन्द्रजी के भक्तों में। उनके विषय में जो कुछ उन्हों ने लिखा है उसमें भी उनके हृदयकी उदारता और पक्षपात हीनता प्रकट होती है। उनका ग्रंथ व्रजभाषा में लिखा गया है। इसका कारण उसकी सामयिक व्यापकता ही है। प्रियादासजी ने उनके ग्रन्थ पर टीका लिखी है, क्योंकि थोड़े में अधिक बातें कहने से उनका ग्रन्थ दुर्बोध हो गया है। उन्हों ने एक छप्पय में ही एक भक्त का हाल लिखा है। इसलिये थोड़े में ही उनको बहुत बातें कहनी पड़ीं। ऐसी अवस्था में उनका ग्रंथ गूढ़ क्यों न हो जाता? प्रियादासजी की टीका ने इस गूढ़ता को अधिकतर अपनी टीका के द्वारा बोधगम्य बना दिया। पद्य ही में 'अष्टयाम' नामक उनका एक ग्रन्थ और है। यह ग्रन्थ भी साहित्यिक व्रजभाषा ही में लिखा गया है। दोनों का एक एक पद्य देखिये:—

१—मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित छवि।
निरखत हरखत हृदय प्रेम बरखत सुकलित कवि।

भव निस्तारन हेत देत दृढ़ भक्ति सबन नित।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रमचित।
आनन्द कंद श्रीनंद सुत श्रीवृषभानु सुता भजन।
श्री भट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मनमोद घन।

भक्तमाल

२—परिखा प्रति चहुं दिसि लसत कंचन कोटि प्रकास।
विविध भांति नग जगमगत प्रति गोपुर पुरवास।
दिव्य फटिक मय कोट की शोभा कहि न सिराय।
चहुं दिसि अदभुत जोति मैं जगमगाति सुखदाय।

इनकी भाषा के विषय में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता मुझे नहीं ज्ञात होती। जो नियम साहित्यिक व्रजभाषा का मैं ऊपर लिख आया हूं उसका पालन इनकी कविता में अधिकतर पाया जाता है। इनकी रचनामें अनुप्रासों एवं ललित पद-विन्यास की भी छटा है। पद्यमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी आये हैं। परन्तु वे अधिकतर ऐसे हैं जो मधुर और कोमल कहे जा सकते हैं। इनकी रचना को देखने से यह ज्ञात होता है कि उत्तम वर्णके न होनेपर भी ये सुशिक्षित थे और ऐसा सत्संग उनको प्राप्त था जिसने उनके हृदय को भक्तिमान और भावुक बना दिया था। किसी किसी ने उनको अछूत जाति का लिखा है, और किसी ने यह लिखकर उनकी जाति-पाँति बताने में आनाकानी की है कि हरि-भक्तों की जाति नहीं पूछी जाती। वे जो हों, परन्तु वे भक्त थे और जैसा भक्त का हृदय होना चाहिये वैसाही उनका हृदय था, जो उनकी रचनाओंमें स्पष्ट प्रतिबिंबित है।

नाभादासजी के बाद हमारे सामने एक बड़े ही सरस हृदय कवि आते हैं। वे हैं रसखान। ये मुसलमान थे और इन्हों ने अपने को राजवंशी बतलाया है। नीचे के दोहे इस बात के प्रमाण हैं:--

देखि गदर, हित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की, ठसक छोड़ि रसखान।

...निकेतन श्री बनहिं, आय गोबरधन धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कै, जुगल सरूप ललाम।

इनमें एक और विशेषता पाई जाती है वह यह है कि एक विजातीय और विधर्मी पुरुष का भगवान श्री कृष्ण के प्रेममें तन्मय हो कर सर्वस्व-त्यागी बन जाना कम आश्चर्यजनक नहीं। परन्तु प्रेम में बड़ी शक्ति है। सच्चा प्रेम क्या नहीं करा सकता ? रसखान की रचनायें पढ़ने से ज्ञात होता है कि उनमें प्रेम की कितनी लगन थी। वे इतने सच्चे प्रेमी थे और भगवान श्री कृष्णके चरणों में उनका इतना अनुराग था कि गोस्वामी विट्ठलनाथ के प्रधान शिष्यों में उनकी भी गणना हुई और २५२ वैष्णवों की वार्त्ता में भी उनको स्थान मिला। इस घटना से भी इस बात का पता चलता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रचारित प्रेम-धारा कितनी सबल थी। रसखान का सूफी प्रेममार्गियों की ओर से मुंह मोड़ कर कृष्णावत सम्प्रदाय में सम्मिलित होना यह बात प्रकट करता है कि उस समय जनता का हृदय किस प्रकार इस सम्प्रदाय की ओर आकर्षित हो रहा था। जब रसखान के निम्नलिखित पद्यों को हम पढ़ते हैं तो यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार उनका हृदय परिवर्तित हो गया था और वे कैसे भगवान कृष्ण के अनन्य उपासक बन गये थे। इन पद्यों में अकृत्रिम भक्ति और प्रेमरस का स्रोत सा बह रहा है।

१--"मानुस हौं तो वही रस खान
बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो
चरौं नित नंद की धेनु मंझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो
धर्‌यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं वही
कालिंदी कूलकदंब की डारन।

२–या लकुटी अरु कामरिया पर
राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को
सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं।
आँखिन सों रसखान कबै
व्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूं कलधौत के धाम
करील के कुंजन ऊपर वारौं।

भगवान कृष्णचन्द्र को देवादिदेव कह कर भी उन्होंने उन्हें किस प्रकार प्रेम के वश में बतलाया है, इसको यह पद्य भली भाँति प्रकट कर रहा है:—

"सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहुं
जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड
अछेद अभेद सुबेद बतावैं।
जाहि हिये लखि आनँद ह्वै जड़
मूढ़ जनो रसखान कहावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया
भरि छाछ पै नाच नचावैं।"

रसखान की भाषा चलती और साफ सुथरी है। जितने पद्य उन्होंने बनायें हैं उनसे रस निचुड़ा पड़ता है। निस्संदेह व्रजभाषा ही में उनकी कविता लिखी गयी है। परन्तु खड़ी बोली के भी कोई कोई शब्द उनमें मिल जाते हैं। इसी प्रकार अवधी के भी।

रसखान के लिखे हुये दो ग्रन्थ पाये जाते हैं, 'सुजान रसखान' और 'प्रेम वाटिका' दोनों की भाषा एक ही है और दोनों में प्रेम का प्रवाह बहता दिखलायी पड़ता है। 'सुजान रसखान' के पद्य आप देख चुके हैं। दो दोहे 'प्रेम,वाटिका' के भी देखिये:—

अति सूछम कोमल अति हि अति पतरो अति दूर।
प्रेम कठिन सब ते सदा नित इक रस भर पूर।
डरै सदा चाहै न कछु सहै सबै जो होय।
रहै एक रस चाहि कै प्रेम बखानै सोय।

इसी प्रेम परायणता के कारण रसखान की गणना भक्तों में की जाती है। और यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनके दोनों ग्रन्थ भक्ति भावना से पूर्ण हैं। वे छोटे हों, परन्तु उनमें इतना प्रेम रस भरा है कि उसके कवि को सच्चा प्रेमिक मानने के लिये विवश होना पड़ता है। सच्ची तल्लीनता ही भक्ति है। इसलिये रसखान की गणना यदि वैष्णव भक्तों में हुई तो यथार्थ हुई। विधर्म्मी और विजातीय हो कर भी यदि उन्होंने भगवान कृष्णचन्द्र को पूर्ण रूपेण आत्म-समर्पण किया तो यह उनकी सच्ची भक्ति भावना ही थी। और ऐसी दशा में उनको कौन भक्त स्वीकार न करेगा ?

बनारसीदास जैन की गणना भी भक्त कवियों में होती है। यह कभी आगरा और कभी जौनपुर में रहते थे। इनका यौवन-काल प्रमादमय था। परन्तु थोड़े दिनों बाद इनमें ऐसा परिवर्तन हुआ कि इन्होंने अपने शृंगार रस के ग्रन्थ को फाड़ कर गोमती में फेंक दिया और ऐसी रचनाओं के करने में तल्लीन हुये जो भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी कही जा सकती हैं। इनके भाव-पूर्ण ग्रन्थों की संख्या आठ-दस बतलायी जाती है, जिनमें से अधिकतर पद्य में लिखे गये हैं। इनकी गद्य रचनायें भी हैं। ये जैन विद्वान थे, परन्तु इनमें संकीर्णता नहीं थी। इनका ध्रुव वंदना नामक ग्रंथ इसका प्रमाण है। इनके कुछ पद्य देखिये:—

१—काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
लिये हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्योंही पाँय गाड़ै पै न छाड़ै टेक पकरी।
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावै,
धावैं चहुं ओर ज्यों बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि झूठ के झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी।

२—भौंदू समझ सबद यह मेरा।
जो तू देखै इन आँखिन
को बिनु परकास न सूझै।
सो परकास अगिनि रवि
ससि को तू अपनो करि बूझै।
तेरे दृग मुद्रित घट अंतर
अंध रूप तू डोलै।
कै तो सहज खुलैं वै आँखैं
कै गुरु संगति खोलै।

३—भौंदू ते हिरदै की आंखैं।
जे करखैं अपनी सुख-सम्पति
भ्रम की सम्पति नाखैं
जिन आँखिन सों निरखि
भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारैं।
जिन आँखिन सों लखि सरूप
मुनि ध्यान धारना धारैं।

इनको भाषा प्राञ्जल व्रजभाषा है। इसमें कभी कभी कोई अपरिमार्जित शब्द आ जाता है, परन्तु उससे इनकी भाषा की विशेषता नहीं नष्ट होती। बनारसी दास ही ऐसे जैन कवि हैं जिन्होंने व्रजभाषा लिखनेमें पूरी सफलता लाभ की। इनकी गणना प्रतिष्ठित व्रजभाषा-कवियों में की जा सकती है। इनकी रचना इस बात का भी प्रमाण है कि सत्रहवीं सदी में व्रजभाषा इतनी प्रभावशालिनी हो गयी थी कि अन्य धर्मवाले भी उसमें अपनी रचनायें करने लगे थे।

(ग)

इस सत्रहवीं शताब्दी में रीति ग्रन्थकार बहुत अधिक हुये। और उन्होंने शृंगार रस, अलंकार और अन्य विषयों की इतनी अधिक रचनायें कीं, कि व्रजभाषा-साहित्य श्री सम्पन्न हो गया। यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि रीति ग्रन्थकारों ने शृंगार रस को ही अधिक प्रश्रय दिया परन्तु यह समय का प्रभाव था। यह शताब्दी जहांगीर और शाहजहाँ के राज्य-काल के अन्तर्गत है, जो विलासिता के लिये प्रसिद्ध है। जैसे मुसलमान बादशाह और उनके प्रभावशाली अधिकारीगण इस समय विलासिता-प्रवाह में बह रहे थे वैसे ही इस काल के राजे और महाराजे भी। यदि मुस्लिमदरबारों में आशिक़ाना मज़ामीन और शाइरी का आदर था तो राजे-महाराजाओं में रसमय भावों एवं विलासितामय वासनाओं का सम्मान भी कम न था। ऐसी अवस्था में यदि शृंगार रसके साहित्य का अधिक विकास हुआ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। ज्ञान विराग योग इत्यादि में एक प्रकार की नीरसता सर्व-साधारण को मिलती है। उसके अधिकारी थोड़े हैं। शृंगाररस की धारा ही ऐसी है जिसमें सर्वसाधारण अधिक आनन्द लाभ करता है, क्योंकि उसका आस्वादन जैसा मोहक और हृदयाकर्षक है वैसा अन्य रसों का नहीं। स्त्री-पुरुषों के परस्पर सम्मिलन में जो आनन्द और प्रलोभन है, बाल बच्चों के प्यार और प्रेम में जो आकर्षण है उसमें ही सांसारिकता और स्वाभाविकता अधिक है। प्राणीमात्र इस रस में निमग्न है। परमार्थ का आनन्द न इतना व्यापक है और न इतना मोहक, चाहे वह उच्च कोटि का भले ही हो। आहार-विहार, स्त्री-पुत्रों का स्नेह और उससे उत्पन्न आनंदानुभव पशु-

पक्षी-कृमि तक में व्याप्त है। परमार्थभावना उनमें है ही नहीं। यदि यह भावना मिलती है तो मनुष्य में ही मिलती है। परन्तु मनुष्य की इस भावना पर अधिकतर सांसारिकता का ही रंग चढ़ा है। परमार्थ-चिन्ता तो वह कभी कभी ही करता है। वह भी समष्टि-रूप से नहीं, व्यष्टि रूप से। यही कारण है कि कुछ महात्माओं और विद्या व्यसनी विद्वानों को छोड़ कर अधिकांश जनता शृंगार रस की ओर ही विशेष आकर्षित रहती है। और ऐसी दशा में यदि उसी के गीत अधिक कंठों से गाये जाते सुने जावें, उसी के ग्रन्थ अधिकतर सरस हृदय द्वारा रचे जावें और उनमें अधिकतर सरसता लालित्य और सुन्दर शब्द-विन्यास पाये जावें तो कोई आश्चर्य्य नहीं। अतएव सत्रहवीं शताब्दीमें यह स्वाभाविकता ही यदि बलवती हो कर कवि वृन्द द्वारा कार्य-क्षेत्र में आयी तो कोई विचित्र बात नहीं। इस शताब्दी के जितने बड़े बड़े कवि और रीतिग्रन्थकार हैं उनमें से अधिकांश इसी रंग में रँगे हुये हैं और उनकी संख्या भी थोड़ी नहीं है। मैं सब की रचनाओं को आप लोगों के सामने उपस्थित करने में असमर्थ हूं। उनमें जो अग्रणी और प्रधान हैं और जिनकी कृतियों में 'भावगत' सुन्दर व्यंजनायें अथवा अन्य कोई विशेषतायें हैं। मैं उन्हीं की रचनायें आप लोगों के सामने उपस्थित कर के यह दिखलाऊंगा कि उस समय व्रजभाषा का शृंगार कितना उत्तम और मनोमोहक हुआ और किस प्रकार व्रजभाषा सुन्दर और ललित पदों का भांडार बन गयी। जिन सुकवियों अथवा महाकवियों की रचनाओं ने व्रजभाषा संसार में उस समय कल्पना राज्य का विस्तार किया था उनमें से कुछ विशिष्ट नाम ये हैं—

(१) सेनापति, (२) बिहारी लाल, (३) चिन्तामणि, (४) मति राम, (५) कुलपति मिश्र, (६) जसवन्त सिंह, (७) बनवारी, (८) गोपाल चन्द्र-मिश्र, (९) बेनी और (१०) सुखदेव मिश्र। मैं क्रमशः इन लोगों के विषय में अपना विचार प्रकट करूंगा और यह भी बतलाऊंगा कि इनकी रच-नाओं का क्या प्रभाव व्रजभाषा पर पड़ा। बीच बीच में अन्य रसों के विशिष्ट महाकवियों की चर्चा भी करता जाऊंगा॥

(१) सेनापति कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उन्होंने 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'कवित्त-रत्नाकर' नामक दो ग्रन्थों की रचना की। वे अपने समय के बड़े ही विख्यात कवि थे। हिन्दू प्रतिष्ठित लोगों में इनका सम्मान तो था ही मुसलमानों के दरबारों में भी उन्होंने पूरी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। ब्रजभाषा जिन महाकवियों का गर्व कर सकती है उनमें सेनापति का नाम भी लिया जाता है। उनकी रचनायें अधिकतर प्रौढ़ सुन्दर. सरस और भावमयी हैं। षड्ऋतु का जैसा उदात्त और व्यापक वर्णन सेनापति ने किया वैसा दो एक महाकवियों की लेखनी ही कर सकी। उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम।
जिन कीन्हें जज्ञ जाकी विपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके।
गंगातीर वसति "अनूप" जिन पाई है।
महा जानमनि विद्या दान हूँते चिन्ता मनि।
हीरामनि दीक्षित ते पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी।
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।

कहा जाता है कि अंत में वे विरक्त हो गये थे और क्षेत्र-सन्यास ले लिया था। इस भाव के पद्य भी उनकी रचनाओं में पाये जाते हैं। एक पद्य देखिये:—

केतो करौ कोय पैये करम लिखोय ताते।
दूसरो न होय डर सोय ठहराइये।
आधी ते सरस बाति गई है बयस।
अब कुजन बरस बीच रस न बढ़ाइये।

चिंता अनुचित धरु धीरज उचित
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइये।
चारि बरदानि तजि पांय कमलेच्छन के
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइये।

विरक्ति-सम्बन्धी उनके दो पद्य और देखिये:—

१—पान चरनामृत को गान गुन गानन को।
हरिकथा सुने सदा हिये को हुलसिबो।
प्रभु के उतीरनि की गूदरी औ चीरनि की।
भाल भुज कंठ उरछापन कोलखिबो।
सेनापति चाहत है सकल जनम भरि
बृंदाबन सीमा ते न बाहर निकसिबो।
राधा मनरंजन की सोभा नैन कंजन की
मालगरे गुंजन की कुंजन को बसिबो।

२—महामोह कंदनि में जगत जकंदनि में
दीन दुख दुंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है कलेस सब भांतिन को
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै।
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं
डारौं लोक लाजकेसमाज बिसराय कै।
हरिजन पुंजनि में बृंदावन कुंजनि में
रहौं बैठि कहूं तरवर तर जाय कै।

एक पद्य उनका ऐसा देखिये जिसमें आर्य ललना की मर्यादाशीलता का बड़ा सुंदर चित्र है:—

फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी लाल,
भालदीनी बेंदी मृगमद की असित है।
अंग अंग भूषन बनाइ ब्रजभूषन जू
बीरी निज कर की खवाई अतिहित है।
ह्वै कै रस-बस जब दीबे को महावर के
सेनापति श्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाइ रही आँखिन सों
कही प्रानपति यह अति अनुचित है।

अब कुछ ऐसे पद्य देखिये जो ऋतु वर्णन के हैं, इनमें कितनी स्वाभाविकता, सरसता और मौलिकता है, उसका अनुभव स्वयं कीजियेः—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति
सेनापति को सुहाति सुखीजीवनकेगन हैं
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चंद्र चांदनी छिटिक रही
राम कैसो जस अध ऊरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब
मानहुं जगत छीर सागर मगन है।
सिसिर मैं ससि को सरूप पावै सविताऊ
घामहुं मैं चांदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होती सीतलता है सहस गुनी
रजनी की झांईं बासर में झमकति है।
चाहत चकोर सूर ओर दृगछोर करि
चकवा की छाती धरि धीर धमकति है।

चन्द के भरम होत मोद है कुमोदिनी को
ससि संक पंकजिनी फूलि ना सकति है।
सिसिर तुषार के बुखार से उखारतु है
पूस बीते होत सून हाथ पाथ ठिरिकै।
द्योस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ
सेनापति गाई कछू, सोचिकै सुमिरिकै।
सीत ते सहस कर सहस चरन ह्वै कै
ऐसो जात भाजि तम आवत है घिरिकै
जौ लौं कोक कोकीसों मिलत तौ लौं होत राति
कोक अति बीच ही ते आवतु है फिरिकै

एक मानसिक भाव का चित्रण देखिये और विचारिये कि उसमें कितनी स्वाभाविकता है:—

जो पै प्रान प्यारे परदेस को पधारे
ताते बिरह ते भई ऐसी तातिय की गति है
करि कर ऊपर कपोलहिं कमल नैनी
सेनापति अनिमनि बैठियै रहति है।
कागहिं उड़ावै कबौं-कबौं करै सगुनौती
कबौं बैठि अवधि के बासर गिनति है।
पढ़ी-पढ़ी पाती कबौं फेरि कै पढ़ति
कबौं प्रीतम के चित्र में सरूप निरखति है।

आप कहेंगे कि भाषा-विकास के निरूपण के लिये कवि की इतनी अधिक कविताओं के उद्धरण की क्या आवश्यकता थी। किन्तु यह सोचना चाहिये कि भाषा के विकास का सम्बन्ध शाब्दिक प्रयोग ही से नहीं है, वरन् भाव-व्यंजना से भी है। भाषा की उन्नति के लिये जैसे चुस्त और

सरस शब्द-विन्यास की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार मनोहर भाव-व्यंजना की भी। भाषा के विकास से दोनों का सम्बन्ध है। इस बात के प्रकट करने के लिये ही उनकी कविता कुछ अधिक उठाई गई। सेनापति की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। हम उनकी भाषा को टकसाली कह सकते हैं। न तो उनकी रचना में खड़ी बोली की छूत लग पायी है न अवधी के शब्दों का ही प्रयोग उनमें मिलता है। कहीं दो एक इस प्रकार के शब्दों का मिल जाना कवि के भाषाधिकार को लांछित नहीं करता। व्रजभाषा की पूर्व कथित कसौटी पर कसकर यदि आप देखेंगे तो सेनापति की भाषा बावन तोले पाव रत्ती ठीक उतरेगी। मैं स्वयं यह कार्य करके विस्तार नहीं करना चाहता। समस्त पदों से वे कितना बचते हैं, और किस प्रकार चुन चुन कर संस्कृत तत्सम शब्दों को अपनी रचना में स्थान देते हैं इस बात को आप ने स्वयं पद्यों को पढ़ते समय समझ लिया होगा। वे शब्दों को तोड़ते-मरोड़ते भी नहीं। दोषों से बचने की भी वे चेष्टा करते हैं। ये बातें ऐसी हैं जो उनकी कविता को बहुत महत्व प्रदान करती हैं। उनके नौ पद्य उठाये गये हैं। उनमें से एक पद्य में ही एक शब्द 'द्यौस' ऐसा आया है जिसको हम विकृत हुआ पाते हैं। परन्तु यह ऐसा शब्द है जो व्रजभाषा की रचनाओं में गृहीत है। इसलिये इस शब्द को स्वयं गढ़ लेने का दोष उनपर नहीं लगाया जा सकता। किसी कविता का सर्वथा निर्दोष होना असंभव है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक दोषों से उनकी कविता अधिकतर सुरक्षित है। इससे यह पाया जाता है कि उनकी कविता कितनी प्रौढ़ है। उनकी कविता की अन्य विशेषताओं पर मैं पहले ही दृष्टि आकर्षित करता आया हूं। इसलिये उसपर कुछ और लिखना बाहुल्य मात्र है। इनके जिन दो ग्रन्थोंकी चर्चा मैं ऊपर कर आया हूं उनमें से 'कवित्त रत्नाकर' अलंकार और काव्य की अन्य कलाओं के निरूपण का सुंदर ग्रन्थ है। काव्य-कल्पद्रुम' में उनकी नाना-रसमयी कविताओं का संग्रह है। दोनों ग्रन्थ अनूठे हैं और उनकी विशेषता यह है कि घनाक्षरी अथवा कवित्तों में ही वे लिखे गये हैं। कुछ दोहों को छोड़ कर दूसरा कोई छंद उसमें है ही नहीं।

(२) बिहारीलालका ग्रंथ व्रजभाषासाहित्य का एक अनूठा रत्न है और

इस बात का उदाहरण है कि घट में समुद्र कैसे भरा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण छोड़ कर और किसी ग्रंथ को इतनी सर्व-प्रियता नहीं प्राप्त हुई जितनी "बिहारी सतसई को"। रामचरित मानस के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है कि उसकी उतनी टीकायें बनी हों जितनी सतसई को अब तक बन चुकी हैं। बिहारी लाल के दोहाओं के दो चरण बड़े बड़े कवियों के कवित्तों के चार चरणों और सहृदय कवियों के रचे हुये छप्पयों के छः चरणों से अधिकतर भाव-व्यंजन में समर्थ और प्रभावशालिता में दक्ष देखे जाते हैं। एक अंग्रेज़ विद्वान् का यह कथन कि "Brevity is the soul of wit and it is also the soul of art" 'संक्षिप्तता काव्य चातुरी की आत्मा तो है ही, कला की भी आत्मा है।" बिहारी की रचना पर अक्षरशः घटित होता है। बिहारी की रचनाओं की पंक्तियों को पढ़ कर एक संस्कृत विद्वान् की इस मधुर उक्ति में संदेह नहीं रह जाता कि "अक्षराः कामधेनवः!" (अक्षर कामधेनु हैं) वास्तव में बिहारी के दोहों के अक्षर कामधेनु हैं जो अनेक सूत्र से अभिमत फल प्रदान करते हैं। उनको पठन कर जहां हृदय में आनंद का स्रोत उमड़ उठता है वहीं विमुग्ध मन नंदन कानन में बिहार करने लगता है। यदि उनकी भारती रस-धारा प्रवाहित करती है तो उनकी भाव-व्यंजना पाठकों पर अमृत-वर्षा करने लगती है। सतसई का शब्द-विन्यास जैसा ही अपूर्व है वैसा ही विलक्षण उसमें झंकार है। काव्य एवं साहित्य का कोई गुण ऐसा नहीं जो मूर्तिमन्त हो कर इस ग्रन्थ में विराजमान न हो और कवि कर्म्म की ऐसी कोई विभूति नहीं जो इसमें सुविकसित दृष्टिगत न हो। मानसिक सुकुमार भावों का ऐसा सरस चित्रण किसी साहित्य में है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु जी यही कहता है कि यह मान लिया जावे कि यदि होगा तो ऐसा ही होगा किन्तु यह लोच कहाँ? इस ग्रन्थ में शृंगार रस तो प्रवाहित है ही, यत्र तत्र अनेक सांसारिक विषयों का भी इसमें बड़ा ही मर्म-स्पर्शी वर्णन है। अनेक रहस्यों का इसमें कहीं कहीं ऐसा निरूपण है जो उसकी स्वाभाविकता का सच्चा चित्र आंखों के सामने ला खड़ा करता है। बिहारी

लाल ने अपने पूर्ववर्त्ती संस्कृत अथवा भाषा कवियों के भाव कहीं कहीं लिये हैं। परन्तु उनको ऐसा चमका दिया है कि यह ज्ञात होता है, कि घन-पटल से बाहर निकल कर हँसता हुआ मयंक सामने आ गया। इनकी सतसई के अनुकरण में और कई सतसइयां लिखी गईं, जिनमें से चंदन, विक्रम और रामसहाय की अधिक प्रसिद्ध हैं, परन्तु उस बूंद से भेंट कहां! पीतल सोना का सामना नहीं कर सकता। संस्कृतमें भी इस सतसईका पूरा अनुवाद पंडित परमानंद ने किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने कमाल किया है। परन्तु मूल मूल है और अनुवाद अनुवाद।

बिहारीलालकी सतसई का आधार कोई विशेष ग्रन्थ है अथवा वह स्वयं उनकी प्रतिभा का विकास है, जब यह विचार किया जाता है तो दृष्टि संस्कृत के 'आर्य्या-सप्तशती' एवं गोवर्धन सप्तशती की ओर आकर्षित होती है। निस्सन्देह इन ग्रन्थों में भी कवि-कर्म्म का सुन्दर रूप दृष्टिगत होता है। परन्तु मेरा विचार है कि रस निचोड़ने में बिहारीलाल इन ग्रन्थ के रचयिताओं से अधिक निपुण हैं। जिन विषयों का उन लोगों ने विस्तृत वर्णन करके भी सफलता नहीं प्राप्त की उनको बिहारीने थोड़े शब्द में लिख कर अद्भुत चमत्कार दिखलाया है। इस अवसर पर कृपा राम की 'हित तरंगिनी, भी स्मृतिपथ में आती है। परन्तु प्रथम तो उस ग्रन्थ में लगभग चार सौ दोहे हैं, दूसरी बात यह कि उनकी कृति में ललित कला इतनी विकसित नहीं है जितनी बिहारीलाल की उक्तियों में। उन्होंने संक्षिप्तता का राग अलापा है, परन्तु बिहारीलाल के समान वे इत्र निकालने में समर्थ नहीं हुये। उनके कुछ दोहे नीचे लिखे जाते हैं। उनको देखकर आप स्वयं विचारें कि क्या उनमें भी वही सरसता, हृदयग्राहिता और सुन्दर शब्द-चयन-प्रवृत्ति पाई जाती है जैसी बिहारीलाल के दोहोंमें मिलती है।

लोचन चपल कटाच्छ सर, अनियारे विष पूरि।
मन मृग बेधैं मुनिन के, जगजन सहित बिसूरि।
आजु सबारे हौं गयी, नंद लाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल।

पति आयो परदेस ते, ऋतु बसंत की मानि।
झमकि झमकि निज महल में, टहलैं करैं सुरानि।

बिहारी के दोहों के सामने ये दोहे ऐसे ज्ञात होते हैं जैसे रेशम के लच्छों के सामने सूत के डोरे। संभव है कि हित-तरंगिणी को बिहारी लाल ने देखा हो, परन्तु वे कृपाराम को बहुत पीछे छोड़ गये हैं। मेरा बिचार है कि बिहारी लाल की रचनाओं पर यदि कुछ प्रभाव पड़ा है तो उस काल के प्रचलित फ़ारसी साहित्य का। उर्दू शाइरी का तो तब तक जन्म भी नहीं हुआ था। फ़ारसी का प्रभाव उस समय अवश्य देश में विस्तार लाभ कर रहा था क्यों कि अकबर के समय में ही दफ़्तर फ़ारसी में हो गया था और हिन्दू लोग फ़ारसी पढ़ पढ़ कर उसमें प्रवेश करने लगे थे। फ़ारसी के दो बन्द के शेरों में चुने शब्दों के आधार से वैसी ही बहुत कुछ काव्य-कला बिकसित दृष्टिगत होती है जैसी कि बिहारी लाल के दो चरण के दोहों में। उत्तर काल में उर्दू शाइरी में फ़ारसी रचनाओं का यह गुण स्पष्टतया दृष्टिगत हुआ। परन्तु बिहारीलाल की रचनाओं के विषय में असंदिग्ध रीति से यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि अब तक बिहारीलाल के बिषय में जो ज्ञात है उससे यह पता नहीं चलता कि उन्होंने फ़ारसी भी पढ़ी थी। जो हो, परंतु यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि बिहारीलालके दोहों में जो थोड़े में बहुत कुछ कह जाने की शक्ति है वह अद्भुत है। चाहे यह उनकी प्रतिभा का स्वाभाविक विकास हो अथवा अन्य कोई आधार, इस विषय में निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता।

अब मैं उनकी कुछ रचनायें आप लोगों के सम्मुख उपस्थित करूंगा बिहारी लाल को शृंगार रस का महाकवि सभी ने माना है। इसलिये उसको छोड़कर पहले मैं उनकी कुछ अन्य रस की रचनायें आप लोगों के सामने रखता हूं। आप देखिये उनमें वह गुण और वह सार ग्राहिता है या नहीं जो उनकी रचनाओं की विशेषतायें हैं। संसार का जाल कौन नहीं तोड़ना चाहता, पर कौन उसे तोड़ सका ? मनुष्य जितनी ही इस उलझन के सुलझाने की चेष्टा करता है उतनाही वह उसमें उलझता जाता

है। इस गम्भीर विषय को एक अन्योक्ति के द्वारा बिहारीलाल ने जिस सुन्दरता और सरसता के साथ कहा है वह अभूतपूर्व है। वास्तव में उनके थोड़े से शब्दों ने बहुत बड़े व्यापक सिद्धांत पर प्रकाश डाला है:—

को छूट्यो येहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों २ सरुझि भज्यो चहै त्यों २ अरुझ्यो जात॥

यौवन का प्रमाद मनुष्य से क्या नहीं कराता ?, उसके प्रपंचों में पड़ कर कितने नाना संकटों में पड़े, कितने अपने को बरबाद कर बैठे, कितने पाप—पंक में निमग्न हुये, कितने जीवन से हाथ धो बैठे और कितनोंही ने उसके रस से भींग कर अपने सरस जीवन को नीरस बना लिया। हम आप नित्य इस प्रकार का दृश्य देखते रहते हैं। इस भाव को किस प्रकार बिहारीलाल चित्रण करते हैं उसे देखिये:—

इक भींजे चहले परे बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करत नै बै चढ़तीबार॥

परमात्मा आंख वालों के लिये सर्वत्र है। परंतु आज तक उसको कौन देख पाया ? कहा जा सकता है कि हृदय की आंख से ही उसे देख सकते हैं, चर्म-चक्षुओं से नहीं। चाहे जो कुछ हो, किन्तु यह सत्य है कि वह सर्व व्यापी है और एक एक फूल और एक एक पत्ता में उसकी कला विद्यमान है। शास्त्र तो यहां तक कहता है, कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्तिकिंचन'। जो कुछ संसार में है वह सब ब्रह्म है, इसमें नानात्व कुछ नहीं है। फिर क्या रहस्य है कि हम उसको देख नहीं पाते ? बिहारीलालजी इस विषय को जिस मार्मिकता से समझाते हैं उसकी सौ मुख से प्रशंसा की जा सकती है। वे कहते हैं:—

जगत जनायो जो सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
जिमि आंखिनि सब देखिये आंखि न देखी जाहिं॥

एक उर्दू शायर भी इस भाव को इस प्रकार वर्णन करता है:—

बेहिजाबी वहकि जल्वा हर जगह है आशिकार।
इसपर घूँघट वहकि सूरत आजतक नादीदा है॥

यह शेर भी बड़ा ही सुन्दर है। परन्तु भाव प्रकाशन किस में किस कोटि का है इसको प्रत्येक सहृदय स्वयं समझ सकता है। भावुक भक्त कभी कभी मचल जाते हैं और परमात्मा से भी परिहास करने लगते हैं। ऐसा करना उनका विनोद-प्रिय प्रेम है असंयत भाव नहीं। 'प्रेम लपेटे अटपटे बैन' किसे प्यारे नहीं लगते। इसी प्रकार की एक उक्ति बिहारी की देखिये। वे अपनी कुटिलता को इसलिये प्यार करते हैं। जिसमें त्रिभंगीलाल को उनके चित्त में निवास करने में कष्ट न हो, क्योंकि यदि वे उसे सरल बनालेंगे तो वे उसमें सुख से कैसे निवास कर सकेंगे ? कैसा सुन्दर परिहास है। वे कहते हैं:—

करौ कुबत जग कुटिलता तजौं न दीन दयाल।
दुखी होहुगे सरल चित बसत त्रिभंगी लाल।

परमात्मा सच्चे प्रेम से ही प्राप्त होता है। क्योंकि वह सत्य स्वरूप है। जिसके हृदय में कपट भरा है उसमें वह अन्तर्यामी कैसे निवास कर सकता है जो शुद्धता का अनुरागी है ? जिसका मानस-पट खुला नहीं। उससे अन्तर्पट के स्वामी से पटे तो कैसे पटे ? इस विषय को बिहारी लाल देखिये कितने सुन्दर शब्दों में प्रकट करते हैं:—

तौ लगि या मन सदन में हरि आवैं केहि बाट।
विकट जटे जौ लौं निपट खुलैं न कपट कपाट।

अब कुछ ऐसे पद्य देखिये जिनमें बिहारीलाल जीने सांसारिक जीवन के अनेक परिवर्तनों पर सुन्दर प्रकाश डाला है:—

यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिये जितो सनेह।
जो चाहै चटकन घटै मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त।
अति अगाध अति ऊथरो नदी कूप सर बाय।

सो ताको सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।
बढ़त बढ़त संपति सलिल मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत पुनि ना घटै बरु समूल कुम्हिलाय।
को कहि सकै बड़ेन सों लखे बड़ीयौ भूल।
दीन्हें दई गुलाब की इन डारन ये फूल।

कुछ उनके शृंगार रस के दोहे देखिये:—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहन हँसै देन कहै नटि जाय।
दृग अरुझत टूटत कुटुम जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये दई नई यह रीति।
तच्यो आंच अति बिरह की रह्यो प्रेम रस भींजि।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीजि पसीजि।
सघन कुंज छाया सुखद सीतल मन्द समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा यमुना के तीर।
मानहुं विधि तनअच्छ छवि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग पग पोंछनको कियो भूखन पायंदाज।

बिहारीलाल के उद्धृत दोहों में से सब का मर्म समझाने की यदि चेष्टा की जाय तो व्यर्थ विस्तार होगा. जो अपेक्षित नहीं। कुछ दोहों का मैंने स्पष्टो करण किया है। वही मार्ग ग्रहण करने से आशा है, काव्य मर्मज्ञ सुजन अन्य दोहों का अर्थ भी लगा लेंगे और उनकी व्यंजनाओं का मर्म समझ कर यथार्थ आनन्दलाभ करेंगे। बिहारी के दोहों का यों भी अधिक प्रचार है और सहृदय जनों पर उनका महत्व अप्रगट नहीं है। इसलिये उनके विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है। मैं पहले उनको रचना आदि पर बहुत कुछ प्रकाश डाल चुका हूं। इतना फिर और कह देना

चाहता हूं कि कला की दृष्टि से 'बिहारी सतसई' अपना उदाहरण आप है। कुछ लोगों ने बिहारी लाल की शृंगार सम्बन्धी रचनाओं पर व्यंग भी किये हैं और इस सूत्र से उनकी मानसिक वृत्ति पर कटाक्ष भी। मत भिन्नता स्वाभाविक है और मनुष्य अपने विचारों और भावों का अनुचर है। इसलिये मुझ को इस विषय में अधिक तर्क-वितर्क वांछनीय नहीं। परन्तु अपने विचारानुसार कुछ लिख देना भी संगत जान पड़ता है।

बिहारीलाल पर किसी किसी ने यह कटाक्ष किया है कि उनकी दृष्टि सांसारिक भोग-विलास में ही अधिकतर वद्ध रही है। उन्होंने सांसारिक वासनाओं और विलासिताओं का सुंदर से सुंदर चित्र खींच कर लोगों को दृष्टि अपनी ओर आकर्षित की। न तो उस 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का तत्व समझा और न उसकी अलौकिक और लोकोत्तर लीलाओं और रहस्यों का अनुभव प्राप्त करने की यथार्थ चेष्टा की। वाह्य जगत् से अन्तर्जगत् अधिक विशाल और मनोरम है। यदि वे इसमें प्रवेश करते तो उनको वे महान् रत्न प्राप्त होते जिनके सामने उपलब्ध रत्न कांच के समान प्रतीत होते। परन्तु मैं कहूंगा न तो उन्हों ने अन्तर्जगत से मुंहमोड़ा और न लोकोत्तरकी लोकोत्तरतासेही अलग रहे। क्या स्त्रीका सौन्दर्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' नहीं है? कामिनी-कुलके सौन्दर्यमें क्या ईश्वरीय विभूतिका विकास नहीं? क्या उनकी सृष्टि लोक-मङ्गलकी कामनासे नहीं हुई? क्या उनके हाव-भाव, विभ्रम-विलास लोकोपयोगी नहीं? क्या विधाता ने उनमें इस प्रकार की शक्तियां उत्पन्न कर प्रवंचना की? और संसार को भ्रान्त बनाया? मैं समझता हूं कि कोई तत्वज्ञ इसे न स्वीकार करेगा। यदि यह सत्य है कि संसार की रचना मङ्गलमयी है, तो इस प्रकार के प्रश्न हो ही नहीं सकते। जो परमात्मा की विभूतियां विश्व के समस्त पदार्थों में देखते हैं और यह जानते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्द है वे संसार की मङ्गलमयी और उपयोगी कृतियों को बुरी दृष्टि से नहीं देख सकते। यदि बिहारीलाल ने स्त्री के सौन्दर्य-वर्णन में उच्च कोटि की कवि-कल्पना से काम लिया, उनके नाना आनन्दमय भावों के चित्रण में अपूर्व कौशल दिखलाया, मानस की सुकुमार वृत्तियों के निरूपण में सच्ची भावुकता

प्रगट की। विश्व की सारभूत दो मङ्गलमयी मूर्तियों (स्त्री पुरुष) की मङ्गल-मयी कामनाओं की कमनीयता प्रदर्शित की और अपने पद्यों में शब्द और भाव विन्यास के मोती पिरोये तो क्या लोक-ललाम की लोकोत्तर लीलाओं को ही रूपान्तर से प्रगट नहीं किया ? और यदि यह सत्य है तो बिहारी लाल पर व्यंग-वाण वृष्टि क्यों ? मयंक में धब्बे हैं, फूल में कांटे हैं तो क्या उनमें सत्यं' 'शिवं' सुन्दरम्' का बिकास नहीं है ? बिहारी की कुछ कवितायें प्रकृति नियमानुसार सर्वथा निर्दोष न हों तो क्या इससे उनकी समस्त रचनायें निंदनीय हैं ? लोक-ललाम की ललामता लोकोत्तर है, इसलिये क्या उसका लोक से कुछ सम्बन्ध नहीं ? क्या लोक से ही उसकी लोकोत्तरताका ज्ञान नहीं होता ? तो फिर लोकका त्याग कैसे होगा ? निस्संदेह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि लोक का सदुपयोग ही वांछनीय है, दुरुपयोग नहीं। जहाँ सत्यं, शिवं सुन्दरम् है वहां उसको उसी रूप में ग्रहण करना कवि कर्म्म है। बिहारीलाल ने अधिकांश ऐसा ही किया है, वरन मैं तो यह कहूंगा कि उनकी कला पर गो० स्वामी जी का यह कथन चरितार्थ होता है कि 'सुंदरता कहँ 'सुंदर करहीं'। संसार में प्रत्येक प्राणी का कुछ कार्य होता है। अधिकारी-भेद भी होता है। संसार में कवि भी हैं, वैज्ञानिक भी हैं, दार्शनिक भी हैं, तत्वज्ञ भी हैं एवं महात्मा भी। जो जिस रूप में कार्यक्षेत्र में आता है, हमको उसी रूपमें उसे ग्रहण करना चाहिये और देखना चाहिये कि उसने अपने क्षेत्रमें अपना कार्य्य करके कितनी सफलता लाभ की। कविकी आलोचना करते हुये उसके दार्शनिक और तत्वज्ञ न होनेका राग अलापना बुद्धिमत्ता नहीं। ऐसा करना प्रमाद है, विवेक नहीं। मेरा विचार है कि बिहारी लाल ने अपने क्षेत्र में जो कार्य्य किया है वह उल्लेखनीय है एवं प्रशंसनीय भी। यदि उनमें कुछ दुर्बलतायें हैं तो वे उनकी वशेषताओं के सम्मुख मार्जनीय हैं, क्योंकि यह स्वाभाविकता है, इससे कौन बचा ?

बिहारीलाल की भाषा के विषय में मुझे यह कहना है कि वह साहित्यिक ब्रजभाषा है। उसमें अवधी के 'दीन', 'कीन' इत्यादि, बुन्देलखण्डी के लखबी और प्राकृत के मित्त ऐसे शब्द भी मिलते हैं। परन्तु उनकी संख्या

नितान्त अल्प है। ऐसे ही भाषागत और भी कुछ दोष उसमें मिलते हैं। किन्तु उनके महान् भाषाधिकार के सामने वे सब नगण्य हैं। वास्तव बात तो यह है कि उन्होंने अपने ७०० दोहों में क्या भाषा और क्या भाव, क्या सौन्दर्य, क्या लालित्य सभी विचार से वह कौशल और प्रतिभा दिखलायी है कि उस समय तक उनका ग्रन्थ समादर के हाथों से गृहीत होता रहेगा जब तक हिन्दी भाषा जीवित रहेगी ॥

बिहारी लाला के सम्बन्ध में डाक्टर जी: ए: ग्रियर्सन की सम्मति नीचे लिखी जाती है:—

"इस दुरूह ग्रन्थ (बिहारी सतसई) में काव्य-गत परिमार्जन, माधुर्य्य और अभिव्यक्ति-सम्बन्धी विदग्धता जिस रूप में पाई जाती है वह अन्य कवियों के लिये दुर्लभ है। अनेक अन्य कवियों ने उनका अनुकरण किया है, लेकिन इस विचित्र शैली में यदि किसी ने उल्लेख-योग्य सफलता पायी है तो वह तुलसीदास हैं, जिन्होंने बिहारी लाल के पहले सन् १५८५ में एक सतसई लिखी थी। बिहारी के इस काव्य पर अगणित टीकायें लिखी गई हैं। इसकी दुरूहता और विदग्धता ऐसी है कि इसके अक्षरों को कामधेनु कह सकते हैं"। १

३—त्रिपाठी बन्धुओं में मतिराम और भूषण विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनके बड़े भाई चिन्तामणि थे और छोटे नीलकंठ उपनाम जटाशंकर।

1 The elegance, poetic flavour, and ingenuity of expression in this difficult work, are considered to have been unapproached by any other poet. He has been imitated by numerous other poets, but the only one who has achieved any considerable excellence in this peculiar style is Tulsidas (No 128) who preceded him by writing a Satsai (treating of Ram as Bihari Lall's treated of Krishna) in the year 1585 A. D. ....

Behari's poem has been dealt with by innumerable commentatorso Its difficulty and ingenuity one so great that it is colled a veritable 'Akshar Kamdhenu.'

Modern Vernacular Literature of Hindustan P. 75

चारों भाई साहित्य के पारंगत थे और उन्हों ने अपने समय में बहुत कुछ प्रतिष्ठा लाभ की। आजकल कुछ विवाद इस विषय में छिड़ गया है कि वास्तव में ये लोग परस्पर भाई थे या नहीं, परन्तु अब तक इस विषय में कोई ऐसी प्रमाणिक मीमांसा नहीं हुई कि चिरकाल की निश्चित बात को अनिश्चित मान लिया जावे। चिंतामणि राजा-महाराजाओं के यहाँ भी आद्दत थे। उन्होंने सुन्दर रीति-ग्रन्थों की रचना की है, जिनका नाम 'छन्द-बिचार', 'काव्य-विवेक', 'कविकुल कल्पतरु' एवं 'काव्य-प्रकाश, है। उनकी बनाई एक रामायण भी है। परन्तु वह विशेष आद्दत नहीं हुई। कविता इनकी सुन्दर, सरस और परिमार्जित व्रजभाषा का नमूना है। इनको गणना आचार्य्यों में होती है। कहा जाता है कि प्राकृत भाषा की कविता करने में भी ये कुशल थे। कुछ हिन्दी रचनायें देखिये:—

१ चोखी चरचा ज्ञान की आछो मन की जीति।
संगति सज्जन की भली नीकी हरि की प्रीति।

२—एइ उधारत हैं तिन्हें जे परे मोह
महोदधि के जल फेरे ;
जे इनको पल ध्यान धरैं मन ते
न परैं कबहूं जम घेरे।
राजै रमा रमनी उपधान
अभै बरदान रहै जन नेरे।
हैं बल भार उदंड भरे हरि के
भुज दंड सहायक मेरे।

३—सरद ते जल की ज्यों दिन ते कमल की ज्यों,
धन ते ज्यों थल को निपट सरसाई है।
घन ते सावन की ज्यों ओप ते रतन की ज्यों।
गुन ते सुजन की ज्यों परम सहाई है।

चिन्तामनि कहै आछे अच्छरनि छंद की ज्यों,
निसागम चंद की ज्यों दृग सुखदाई है।
नगते ज्यों कंचन बसंत ते ज्यों बन की,
यों जोवन ते तन की निकाई अधिकाई है।

नीलकण्ठजी की रचनायें भी प्रसिद्ध हैं। किन्तु वे अधिकतर जटिल हैं। एक रचना उनकी भी देखिये:—

तन पर भारतीन तन पर भारतीन,
तन पर भारतीन तन पर भार हैं।
पूजैं देव दार तीन पूजैं देव दार तीन,
पूजैं देवदार तीन पूजैं देव दार हैं।
नीलकंठ दारुन दलेल खां तिहारी धाक,
नाकती न द्वार ते वै नाकती पहार हैं।
आँधरेन कर गहे, बहरे न संग रहे,
बार छूटे बार छूटे बार छूटे बार हैं।

इनमें मतिराम बड़े सहृदय कवि थे। ये भी राजा-महाराजाओं से सम्मानित थे। इन्होंने चार रीति ग्रन्थों की रचना की है। उनके नाम हैं ललित ललाम, रस-राज, छन्दसार और साहित्यसार। इनमें ललित ललाम और रस राज अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी और चिंतामणि की भाषा लगभग एक ही ढंग की है दोनों में वैदर्भी रीति का सुन्दर विकास है। इनकी विशेषता यह है कि सीधे सादे शब्दों में ये कूट कूट कर रस भर देते हैं। जैसा इनकी रचना में प्रवाह मिलता है वैसा ही ओज। जैसे सुन्दर इनके कवित्त हैं वैसे ही सुन्दर सवैये। इनके अधिकतर दोहे बिहारीलाल के टक्कर के हैं. उनमें बड़ी मधुरता पायी जाती है। यदि इनके बड़े भाई चिन्तामणि नागपुर के सूर्य्यवंशी भोंसला मकरन्दशाह के यहां रहते थे, तो ये बून्दी के महाराज भाऊसिंह के यहां समादृत थे। इससे

यह सूचित होता है कि उस समय ब्रजभाषा के कवियों की कितनी पहुंच राजदर्बारों में थी और उनका वहाँ कितना अधिक सम्मान था। देखिये कविवर मतिराम बूंदी का वर्णन किस सरसता से करते हैं:—

सदा प्रफुल्लित फलित जहँ द्रुम बेलिन के बाग।
अलि कोकिल कल धुनि सुनत रहत श्रवन अनुराग।
कमल कुमुद कुवलयन के परिमल मधुर पराग।
सुरभि सलिल पूरे जहाँ बापी कूप तड़ाग।
सुक चकोर चातक चुहिल कोक मत्त कल हंस।
जहँ तरवर सरवरन के लसत ललित अवतंस।

इनके कुछ अन्य पद्य भी देखियेः—

गुच्छनि के अवतंस लसै सिखि
पच्छनि अच्छ किरीट बनायो।
पल्लव लाल समेत छरी कर
पल्लव में मति राम सुहायो।
गुञ्जन के उर मंजुल हार
निकुंजन ते कढ़ि बाहर आयो।
आजु को रूप लखे ब्रजराजु को
आजु ही आंखिन को फल पायो।
कुंदन को रँग फीको लगै झलकै
असि अंगनि चारु गोराई।
आंखिन मैं अलसानि चितौनि
मैं मंजु बिलासनि की सरसाई।
को बिन मोल बिकात नहीं
मतिराम लहे मुसुकानि मिठाई।

ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि
त्यों त्यों खरी निकरै सुनिकाई ।

चरन धरै न भूमि बिहरै तहाँई जहाँ
फूले फूले फूलन बिछायो परजंक है ।
भार के डरनि सुकुमारि चारु अंगनि मैं
करति न अंगराग कुंकुम को पंक है ।
कहै मतिराम देखि बातायन बीच आयो
आतप मलीन होत बदन मयंक है ।
कैसे वह बाल लाल बाहर बिजन आवै
बिजन बयार लागे लचकति लंक है ।

मतिराम की कोमल और सरस शब्द माला पर किस प्रकार भाव-लहरी अठखेलियां करती चलती है' इसे आप ने देख लिया। उनके सीधे सादे चुने शब्द कितने सुंदर होते हैं. वे किस प्रकार कानों में सुधा वर्षण करते, और कैसे हृदय में प्रवेश करके उसे भाव-विमुग्ध बनाते हैं, इसका आनंद भी आप लोगों ने लेलिया। वास्तव बात यह है कि जिन महाकवियों ने ब्रजभाषा की धाक हिन्दी साहित्य में जमादी उनमें से एक मतिराम भी हैं। मिश्रबन्धुओं ने इनकी गणना नव-रत्नों में की है। मैं भी इससे सहमत हूं। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, परंतु उसमें उन्होंने ऐसी मिठास भरी है जो मानसों को मधुमय बनाये बिना नहीं रहती। साहित्यिक ब्रजभाषा के लक्षण मैं ऊपर बतला आया हूं। उनपर यदि इनकी रचना कसी जावे तो उसमें भाव और भाषा-सम्बन्धी महत्ताओं की अधिकता ही पायी जायगी, न्यूनता नहीं। उन्होंने जितने प्रसून ब्रज-भाषा देवी के चरणों पर चढ़ाये हैं, उनमें से अधिकांश सुविकसित और सुरभित हैं और यह उनकी सहृदयता की उल्लेखनीय विशेषता है।

वीर हृदय भूषण इस शताब्दी के ऐसे कवि हैं जिन्होंने समयानुकूल वीर रस-धारा के प्रवाहित करने में ही अपने जीवन की चरितार्थता समझी

जब उनके चारों ओर प्रबल वेग से शृंगार रस की धारा प्रवाहित हो रही थी उस समय उन्होंने वीर रस की धारा में निमग्न हो कर अपने को एक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष प्रतिपादित किया। ऐसे समय में भी जब देशानुराग के भाव उत्पन्न होने के लिये वातावरण बहुत अनुकूल नहीं था, उन्होंने देश-प्रेम-सम्बन्धी रचनायें करके जिस प्रकार एक भारत-जननी के सत्पुत्र को उत्साहित किया उसके लिये कौन उनकी भूयसी प्रशंसा न करेगा? यह सत्य है कि अधिकतर उनके सामने आक्रमित धर्म्म की रक्षा ही थी और उनका प्रसिद्ध साहसी वीर धर्म-रक्षक के रूप में ही हिन्दू जगत के सम्मुख आता है। परन्तु उसमें देश प्रेम और जाति-रक्षा की लगन भी अल्प नहीं थी। नीचे की पंक्तियां इसका प्रमाण है, जो शिवाजी की तलवार की प्रशंसा में कही गयी हैं:—

तेरो करवाल भयो दच्छिन को ढाल भयो
हिन्द को दिवाल भयो काल तुरकान को

इसी भाव का एक पूरा पद्य देखिये:—

राखी हिंदुआनी हिंदुआन को तिलक राख्यो
अस्मृति पुरान राखे वेद विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की धरा में
धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी मैं।
भूषन सुकवि जीति हद्दमरहट्टन की
देस देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहू के सपूत सिवराज समसेर तेरो
दिल्ली दल दाबिके दिवाल राखी दुनी मैं।

भूषण की जितनी रचनायें हैं वे सब वीर रस के दर्प से दर्पित हैं। शृंगार रस की ओर उन्हों ने दृष्टिपात भी नहीं किया। देखिये, नीचे के पद्यों की पदावली में धर्मरक्षा की तरंग किस प्रकार तरंगायमान है:—

१—देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे डूबे राव राने सबै गये लब की।
गौरा गनपति आप औरन को देत ताप,
आप के मकान सब मार गये दबकी।
पीरां पैगम्बरां दिगम्बरां दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गयी रही बात रबकी।
कासिहुं ते कला जाती मथुरा मसीत होती,
सिवाजी न होतो तौ सुनति होतीसबकी।

२—वेद राखे विदित पुरान राखे सारजुत,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखो है सिपाहिन की,
कांधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गरमैं।
मींड़ि राखे मुगल मरोरि राखे पादशाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं।

उनके कुछ बीररस के पद्यों को भी देखिये।

३—डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस हद्द हिन्दुआने की।
कढ़ि गयी रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गयी ठसक तमाम तुरकाने की।
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धकधक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।

मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय मुंड,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।

४—जीत्यो सिवराज सलहेरि को समर सुनि,
सुनि असुरन के सुसीने धरकत हैं।
देवलोक नागलोक नरलोक गावैं जस,
अजहूं लौं परे खग्ग दाँत खरकत हैं।
कटक कटक काटि कीट से उड़ाय केते,
भूषन भनत मुख मोरे सरकत हैं।
रनभूमि लेटे अधकटे कर लेटे परे,
रुधिर लपेटे पठनेटे फरकत हैं।

दो पद्य ऐसे देखिये जो अत्युक्ति अलंकार के हैं। उनमें से पहले में शिवाजी के दान की महिमा वर्णित है और दूसरे में शत्रु-दल के वाला और वालकों की कष्ट कथा विशद रूपमें लिखी गयी है। दोनों में उनके कवि-कर्म्म का सुन्दर विकास हुआ है।

५—आज यहि समै महाराज सिवराज तूही,
जगदेव जनक जजाति अम्बरीष सों।
भूषन भनत तेरे दान-जल जलधि में
गुनिन को दारिद गयो बहि खरीक सों।
चंद कर कंजलक चांदनी पराग
उड़बृंद मकरंद बुंद पुंज के सरीक सों।
कंद सम कयलास नाक गंग नाल,
तेरे जस पुंडरीक को अकास चंचरीकसों।

६—दुर्जन दार भजि भजि बेसम्हार चढ़ीं
उत्तर पहार डरि सिवा जी नरिंद ते।

भूषन भनत बिन भूषन बसन साधे भूषनपियासन
हैं नाहन को निंदते।
बालक अयाने बाट बीच ही बिलाने,
कुम्हिलाने मुख कोमल अमल अरबिन्दते।
दृग-जल कज्जल कलित बढ्यो कढ्यो मानो,
दूजो सोत तरनि तनूजा को कलिंद ते।

भूषण की भाषा में जहाँ ओज की अधिकता है वहाँ उस में उतनी सरसता और मधुरता नहीं। जितनी मतिराम की भाषा में है। यह सच है कि भूषण वीररस के कवि हैं और मतिराम शृंगार रस के। दोनों की प्रणाली भिन्न है। साहित्य-नियमानुसार भूषण की परुषा वृत्ति है और मतिराम की वैदर्भी। ऐसी अवस्था में भाषा का वह सौन्दर्य जो मतिराम की रचनाओं में है भूषण की वृत्ति में नहीं मिल सकता। किन्तु जहां उनको वैदर्भी वृत्ति ग्रहण करनी पड़ी है, जैसे छठें और सातवें पद्यों में, वहां भी वह सरसता नहीं आयी जैसी मतिराम की रचनाओं में पायी जाती है। सच्ची बात यह है कि भाषा लालित्य में वे मतिराम की समता नहीं कर सकते। किंतु उनकी विशेषता यह है कि उनमें धर्म की ममता है, देशका प्रेम है और है जातिका अनुराग। इन भावों से प्रेरित हो कर जो राग उन्होंने गाया उसकी ध्वनि इतनी विमुग्धकरी है, उसमें यथाकाल जो गूंज पैदा हुई, उसने जो जीवनी धारा बहायी वह ऐसी ओजमयी है कि उसकी प्रतिध्वनि अब तक हिन्दी साहित्य में सुन पड़ रही है। उसी के कारण हिन्दी-संसार में वे वीर-रस के आचार्य माने जाते हैं। उनका समकक्ष अब तक हिन्दी-साहित्य में उत्पन्न नहीं हुआ। आज तक इस गौरवमय उच्च सिंहासन पर वे ही आसीन हैं। और क्या आश्चर्य कि चिरकाल तक वे ही उस पर प्रतिष्ठित रहें।

इनकी मुख्य भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है और उसमें उसके सब लक्षण पाये जाते हैं। परंतु अनेक स्थानों पर इनकी रचना में खड़ी बोली के प्रयोग भी मिलते हैं। नीचे की पंक्तियों को देखिये:—

१—'अफजलखान को जिन्हों ने मयदान मारा'
२—'देखत में रुसतमखां को जिन खाक किया'
३—'कैद किया साथ का न कोई बीर गरजा'
४—'अफजल का काल सिवराज आया सरजा'

उन्होंने प्राकृत भाषा के शब्दों का भी यत्र तत्र प्रयोग किया है। 'खग्ग' शुद्ध प्राकृत शब्द है। पर निम्न लिखित पंक्ति में वह व्यवहृत है।

'भूषन भनत तेरी किम्मति कहाँ लौं कहौं
अजहूँ लौं परे खग्ग दाँत खरकत हैं।

पंजाबी भाषा का प्रयोग भी कहीं कहीं मिलता है। 'पीरां पैगंवरां दिगंवरां दिखाई देत' इस वाक्य में चिन्हित शब्द पंजाबी हैं। 'कोबी कहैं कहाँ ओ गरीबी गहे भागी जाहिं' इसमें 'कीबो' शब्द बुंदेलखंडी है। इसी प्रकार फ़ारसी शब्दों के प्रयोग करने में भी वे अधिक स्वतंत्र हैं, शब्द गढ़ भी लेते हैं। 'गाढ़े गढ़ लीने अरु बैरी कतलाम कीन्हे' 'चारि को सो अंक लंक चंद सरमाती हैं', 'जानि गैर मिसिल गुसीले गुसा धारि उर' इन वाक्य खंडों के चिन्हित शब्द ऐसे ही हैं। प्रयोजन यह कि उनकी मुख्य भाषा व्रजभाषा अवश्य है, परन्तु शब्द-विन्यास में उन्होंने बहुत स्वतंत्रता ग्रहण की है। फ़ारसी के शब्दों का जो अधिक प्रयोग उनकी रचना में हुआ, उसका हेतु उनका बिषय है, शिवाजी की विजय का सम्बन्ध अधिकतर मुसलमानों की सेना और वर्त्तमान सम्राट् औरंगज़ेब से था। इस लिये उनको अनेक स्थानों पर अपनी रचना में फ़ारसी अरबी के शब्दों का प्रयोग करना पड़ा। कहीं कहीं उनको उन्होंने शुद्ध रूप में ग्रहण किया और कहीं उनमें मनमाना परिवर्तन छन्द की गति के अनुसार कर लिया। इसी सूत्र से खड़ी बोली के वाक्यों का मिश्रण भी उनकी कविता में मिलता है। परन्तु इन प्रयोगों का इतना बाहुल्य नहीं कि उनसे उनकी मुख्य भाषा लाञ्छित हो सके।

(४) कुलपति मिश्र आगरे के निवासी चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। ये सँस्कृतके बड़े विद्वान् थे इन्हों ने काव्य-प्रकाश के आधार पर 'रस-रहस्य' नामक

एक ग्रन्थ लिखा है, उसमें काव्य के दसों अङ्गों का विशद वर्णन है इनके और भी ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। जिनमें 'संग्रह-सार', 'युक्ति-तरंगिनी, और 'नख शिख' अधिक प्रसिद्ध हैं। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के पुत्र रामसिंह के दरबारी कवि थे। अपने 'रस रहस्य' नामक ग्रन्थ में इन्होंने रामसिंह की बहुत अधिक प्रशंसा की है। इनकी अधिकांश रचना की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। जिसमें बड़ी ही प्राञ्जलता और मधुरता है। किंतु कुछ रचनायें इनका ऐसो भी हैं जिनमें खड़ी बोली के साथ फ़ारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग अधिकता से मिलता है। इससे पाया जाता है कि इन्हों ने फ़ारसी भो पढ़ो थी। इन्होंने ऐसी रचना भी की है जिस में प्राकृत के शब्द अधिकता से आये हैं। इन तीनों के उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं:—

१—ऐसिय कुञ्ज बनै छवि पुंज रहैं
अलि गुंजत यों सुख लीजै।
नैन विसाल हिये बनमाल बिलोकत
रूप सुधा भरि पीजै।
जामिनि जाम की कौन कहे जुग
जात न जानिये ज्यों छिन छीजै।
आनँद यों उमग्यो ही रहे पिय
मोहन को मुख देखिबो कीजै।

२—हूं मैं मुशताक़ तेरी सूरत का नूर देखि
दिल भरि पूरि रहे कहने जवाब से।
मेहर का तालिब फ़क़ीर है मेहरबान
चातक ज्यों जीवता है स्वातिवारे आब से।
तू तो है अयानी यह खूबी का खजाना तिसे
खोलि क्यों न दीजै सेर कीजिये सवाब से।

देर की न ताब जान होत है कबाब
बोल हयाती का आब बोलो मुख महताब से।

३—दुज्जन मद मद्दन समत्थ जिमि पत्थ दुहुँनि कर।
चढ़त समर डरि अमर कंप थर हरि लग्गय धर।
अमित दान दै जस वितान मंडिय महि मंडल।
चंड भानु सम नहिं प्रभानु खंडिय आखंडल।

कुलपति मिश्र अपने समय के प्रसिद्ध कवियों में थे उनकी गणना आचार्य्यों में होती है।

(५) जोधपुरके महाराज जसवन्तसिंह जिस प्रकार एक वीर हृदय भूपाल थे उसी प्रकार कविता के भी प्रेमी थे। औरङ्गज़ेब के इतिहास से इनका जीवन सम्बन्धित है। इन्हों ने अनेक संकट के अवसरों पर उसकी सहायता की थी, किन्तु निर्भीक बड़े थे। इसलिये इन्हें काबुल भेज कर औरङ्गज़ेबने मरवा डाला था। इनको वेदांत से बड़ा प्रेम था। इसलिये 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव प्रकास', 'आनन्द-विलास', 'सिद्धान्तसार' इत्यादि ग्रन्थ इन्होंने इसी विषय के लिखे। कुछ लोगों की सम्मति है कि इन्होंने पारंगत विद्वानों द्वारा इन ग्रन्थों की रचना अपने नाम से कराई। परन्तु यह बात सर्व-सम्मत नहीं। मेरा विचार है, इन्हों ने ऐसे समय में जब शृंगार रस का स्रोत बह रहा था, वेदान्त सम्बन्धी ग्रंथ रच कर हिन्दी-साहित्य भाण्डार को उपकृत किया था। 'भाषा भूषण' इनका अलंकार-सम्बन्धी ग्रंथ है। इस रचना में यह विशेषता है कि दोहे के एक चरण में लक्षण और दूसरे में उदाहरण है. यह संस्कृत के चन्द्रालोक ग्रंथ का अनुकरण है. मेरा विचार है कि इस ग्रन्थ के आधार से ही इन्हों ने अपनी पुस्तक बनाई है।

कविता की भाषा व्रजभाषा है और उसमें मौलिकता का सा आनन्द है। हां, संस्कृत अलंकारों के नामों का बीच बीच में व्यवहार होने से प्रांजलता में कुछ अन्तर अवश्य पड़ गया है। कुछ स्फुट दोहे भी हैं.

उनमें अधिक सरसता पायी जाती है । दोनों के उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं ।

मुख ससि वा ससि सों अधिक उदित जोति दिन राति।
सागर तें उपजी न यह कमला अपर सोहाति ।
नैन कमल ये ऐन हैं और कमल केहि काम ।
गमन करत नीकी लगै कनक लता यह बाम ।
अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अति सै रूप ।
जाचक तेरे दान ते भये कल्प तरु भूप ।
पर जस्ता गुन और को और विषे आरोप ।
होय सुधाधर नाहिं यह बदन सुधाधर ओप ।

महाराज जसवन्त सिंह ऐसे पहले हिन्दी साहित्यक हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा को एक नहीं कई सुन्दर पद्य ग्रन्थ राज्यासन पर विराजमान हो कर भी प्रदान किये । यह इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों व्रजभाषा किस प्रकार समादृत हो कर विस्तार-लाभ कर रही थी ।

(६) गोपालचन्द्र मिश्र छत्तीसगढ़ के रहनेवाले थे। इनके पुत्र का नाम माखनचन्द्र था । इन्होंने पांच ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें से 'जैमिनी अश्वमेध', 'भक्ति-चिंतामणि' और 'छन्दविलास' अधिक प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि एक हैहयवंशी राजा के ये मन्त्री थे और उनके यहाँ इनका बड़ा सम्मान था । 'छन्द-विलास' नामक ग्रन्थ वे अधूरा छोड़ गये थे । जिसे उनके पुत्र माखनचन्द्रने उनकी आज्ञासे पूरा किया था । ये सरस हृदय कवि थे और भावमयी रचना करनेमें समर्थ थे । इनके कुछ पद्य देखिये: —

१—सोई नैन नैन जो बिलोके हरि मूरति को।
सोई बैन बैन जे सुजस हरि गाइये ।
सोई कान कान जाते सुनिये गुनानुवाद
सोई नेह नेह हरि जू सों नेह लाइये ।

सोई देह देह जामैं पुलकित रोम होत,
सोई पाँव पाँव जाते तीरथनि जाइये।
सोई नेम नेम जे चरन हरि प्रीति बाढ़ै
सोई भाव भाव जो गुपाल मन भाइये।

२—दान सुधा जल सों जिन सींचि
सतो गुन बीच विचार जमायो।
बाढ़ि गयो नभ मण्डल लौं महि
मण्डल घेरि दसो दिसि छायो।
फूल घने परमारथ फूलनि
पुन्य बड़े फल ते सरसायो।
कीरति बृच्छ बिसाल गुपाल
सु कोविद बृन्द विहंग बसायो।

इनकी कविता की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है और उसमें मधुरता के साथ प्रांजलता भी है।

(७) सुखदेवमिश्र को गणना हिन्दी के आचार्यों में है। उन्होंने रीति ग्रन्थों की रचना बड़े पांडित्य के साथ की है। वे संस्कृत और भाषा दोनों के बड़े विद्वान् थे। उनके 'वृत्तविचार, रसार्णव', 'शृंगारलता' और 'नखशिख' आदि बड़े सुन्दर ग्रन्थ हैं। उनका अध्यात्म-प्रकाश प्रसिद्ध ग्रन्थ है। अनेक राज्य दरबारों में उनका सम्मान था। उन्हें कविराज को पदवी मिली थी। उनकी रचनायें प्रौढ़ काव्य-गुणों से अलंकृत और साहित्यिक व्रजभाषा के आदर्श-स्वरूप हैं। कुछ पद्य देखिये।

जोहै जहाँ मगु नन्द कुमार तहाँ
चली चन्दमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनों सब
फूल रही जनु कुन्द की डार है।

भीतर ही जु लखी सु लखी अब
　　　　बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्है गई मिलि यों
　　　　मिलि जात ज्यों दूध में दूध की धार है।
मंदर महिंद गन्ध मादन हिमालय में
　　　　जिन्हें चल जानिये अचल अनुमाने ते।
भारेक जरारे तैसे दीरघ दतारे मेघ
　　　　मण्डल विहंडैं जे वै सुंडा दंड ताने ते।
कीरति विसाल क्षिति पाल श्री अनूप तेरे
　　　　दान जो अमान कापै बनत बखाने ते।
इतै कवि मुख जस आखर खुलत
　　　　उतै पाखर समेत पील खुलै पीलखाने ते।

इनका अध्यात्म-प्रकाश वेदांतका बड़ा सुन्दर ग्रंथ है। उसकी रचना की बड़ी प्रशंसा है. उसमें विषय-सम्बन्धी ऐसी महत्तायें हैं कि उनके आधार से लोग इनको महात्मा कहने लगे थे। इसमें संदेह नहीं कि इनकी रचनायें व्रज-भाषा-साहित्य में अमूल्य हैं। उसी के बल से इन्होंने औरंगज़ेब के मंत्री फ़ाजिल अली से बड़ा सत्कार प्राप्त किया था, जो इस बातका सूचक है कि अकबर के समय से जो व्रजभाषा की धाक उनके वंशवालों पर जमी वह लगातार बहादुर शाह तक अचल रही।

(८) कालिदास त्रिवेदी सहृदयता में यथा नामः तथा गुणः अर्थात दूसरे कालिदास थे। 'कालिदास हज़ारा' इनका बड़ा सुंदर संग्रह कहा जाता है इसमें २०० से अधिक कवियों की रचनायें संगृहीत हैं। इसके आधार से शिवसिंह सरोजकार ने अनेक प्राचीन कवियों की जीवनी का उद्धार किया था। इनका नायिका-भेद का वधू-विनोद नामक ग्रंथ भी प्रसिद्ध ग्रंथ है। इन्होंने 'जंजीराबंद' नाम का एक ग्रंथ भी बनाया था। उसमें ३२ कवित्त

है, उसे सभी कवि-जीवनी लेखकों ने बड़ा अद्भुत बतलाया है। वास्तव में कालिदास बड़े सहृदय कवि थे। उनकी रचनायें एक सुविकसित सुमन के समान मनोहर और सुधानिधि की कला के समान कमनीय हैं। उनकी रचना की रसीली भाषा इस बात का सनद ब्रजभाषा को देती है कि वह सरस से सरस है:—

चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान कान्ह मोतन निहारि दै।
कालिदास कहै मेरी ओर हरे हेरि हरि,
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दै।
कुंवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया चारु,
लोचन चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेंहदी लगी है नंद लाल प्यारे,
लट उरझी है नेक बेसर सुधारि दै।
हाथ हंसि दीन्हों भीति अंतर परसि प्यारी,
देखत ही छकी मति कान्हर प्रवीन की।
निकस्यो झरोखे मांझ बिगस्यो कमल सम.
ललित अंगूठी तामैं चमक चुनीन की।
कालिदास तैसी लाली मेँहदी के बुंदन की,
चारु नखचंदन की लाल अँगुरीन की।
कैसी छबि छाजत है छाप के छलान की
सुकंकन चुरीन की, जड़ाऊ पहुंचीन की।

(९) आलम रसखानके समानही बड़ेही सरसहृदय कवि थे। कहाजाता है कि ये ब्राह्मण कुल के बालक थे। परंतु प्रेम के फंदे में पड़ कर अपने धर्म को तिलांजली देदी थी। शेख नामक एक मुसलमान स्त्री सरसहृदया कवि थी। उसके रस से ये ऐसे सिक्त हुये कि अपने धर्म को भी उसमें

डुबो दिया। अच्छा होता यदि जैसे मनमोहन की ओर रसखान खिँच गये उसी प्रकार वे शेख को भी उनकी ओर खींच लाते। परंतु उसने ऐसो मोहनी डाली कि वे ही उसकी ओर खिंच गये। जो कुछ हो लेकिन स्त्री-पुरुष दोनों की ब्रजभाषा की रचना ऐसी मधुर और सरस है जो मधु-वर्षण करती ही रहती है। ब्रजभाषा-देवी के चरणों पर इस युगल जोड़ी की कान्त कुसुमावलि अर्पण करते देख कर हम उस वेदना को भूल जाते हैं जो उनके प्रेमोन्माद से किसी स्वधर्मानुरागी जन को हो सकती है। इन दोनों में वृन्दावन विहारिणी युगल मूर्ति के गुणगान की प्रवृत्ति देखी जाती है। उससे भी मर्माहत चित्त को बहुत कुछ शान्ति मिलती है. उनका जो धर्म हो, परन्तु युगलमूर्त्ति उनके हृदय में सदा विराजती दृष्टिगत होती है। औरंगज़ेब के पुत्र मुअज्ज़म की दृष्टि में इन दोनों का अपने गुणों के कारण बड़ा आदर था। इनकी कुछ मनोहारिणी रचनायें नीचे लिखी जाती हैं:—

१—जा थल कीन्हें विहार अनेकन
 ता थल कांकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन
 ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं।
आलम जौन से कुंजन में करी
 केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी
 अब कान कहानी सुन्यो करैं।

२—चन्द को चकोर देखै निसि दिन को न लेखै,
चंद बिन दिन छबि लागत अँध्यारी है।
आलम कहत आली अलि फूल हेत चलै,
काँटे सी कटीली बेलि ऐसी प्रीति प्यारी है।

कारो कान्ह कहति गँवारी ऐसी लागति है,
मोहि वाकी स्यामताई लागत उँज्यारी है।
मन की अटक तहाँ रूप को बिचार कहां
रीझिवे को पैंडो तहाँ बूझ कछु न्यारी है।

३—प्रेम रंग पगे जगमगे जगे जामिनि के
जोबन की जोति जगि जोर उमगत है।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं
झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत हैं।
आलम सों नवल निकाई इन नैननि की
पाँखुरी पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख
जानति हैं रैनि ताते ताहि मैं रहत हैं।

४—कैधों मोर सोर तजि गयेरी अनत भाजि
कैधों उत दादुर न बोलत हैं ए दई।
कैधों पिक चातक बधिक काहू मारि डारे
कधों बकपाँति उत अंत गति ह्वै गई।
आलम कहत आली अजहूं न आये स्याम
कैधों उतरीति बिपरीति बिधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे ते रही
जूझि गये मेघ कैधों बीजुरी सती भई।

५—पैंडो समसूधो बैंडो कठिन किवार द्वार
द्वारपाल नहीं तहाँ सबल भगति है।

शेख भनि तहां मेरे त्रिभुवन राम हैं जु
दीनबंधु स्वामी सुरपतिन को पति है
बैरी को न बैर बरिआई को न परवेस
हीने को हटक नाहीं छीने को सकति है।
हाथी की हँकार पल पाछे पहुँचन पावै
चींटी की चिंघार पहिले ही पहुंचति है।

कहा जाता है कि आलमने माधवानल कामकंदला नामक एक प्रेम कहानी भी लिखी है। आशा है, कि इनका यह ग्रंथ भी सरसतापूर्ण होगा और इसमें भी इनके प्रेम-मय हृदय की कमनीय कलायें विद्यमान होंगी। किन्तु यह ग्रंथ देखने में नहीं आया। इसकी चर्चा ही मात्र मिलती है। अच्छा होता यदि इस पुस्तक का कुछ अंश मैं आपलोगों की सेवा में उपस्थित कर सकता। परन्तु यह सौभाग्य मुझको प्राप्त नहीं हुआ। आलम-दम्पति की रचनाओं में हृदय का वह सौन्दर्य दृष्टिगत होता है जिसकी ओर चित्त स्वभावतया खिंच जाता है। इनके ऐसे भावुक कवि ही किसी भाषा को अलंकृत करते हैं। जैसी ही इनकी भावमयी सुन्दर रचनायें हैं वैसी ही सरस और मुग्धकरी इनकी व्रजभाषा है। इनके अधिकांश पद्य सहृदयता की मूर्ति हैं, इन्हों ने इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य-भांडार को बड़े सुन्दर रत्न प्रदान किये हैं।

इन्हीं सहृदय दम्पति के साथ मैं ताज की चर्चा भी कर देना चाहता हूं। ये एक मुसलमान स्त्री थीं। इनके वंश इत्यादि का कुछ पता नहीं। परंतु इनकी स्फुट रचनायें यत्र तत्र पाई जाती हैं। मुसलमान स्त्री होने पर भी इनके हृदय में भगवान कृष्णचंद्र का प्रेम लबालब भरा था। इनकी रच-नाओं में कृष्ण-प्रेम की ऐसी सुंदर धारायें बहती हैं जो हृदय को मुग्ध कर देती हैं। इनके पद्यों का एक एक पद कुछ ऐसी मनमोहकता रखता है जो चित्त को बलात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इनकी रचना में पंजाबी शब्द अधिक मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये पंजाब प्रान्त

की रहनेवाली थीं। इनकी पद्य रचना में खड़ी बोली का पुट भी पाया जाता है। किन्तु इन्हों ने ब्रजभाषा में ही कविता करने की चेष्टा की है। इनके कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं। देखिये इनकी लगन में कितनी अधिक बिचारों की दृढ़ता है।

सुनौ दिल जानी मेड़े दिल की कहानी
तुम दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूं भुलानी
तजे कलमा कुरान साड़े गुनन गहूंगी मैं।
साँवला सलोना सिर ताज सिर कुल्ले दिये
तेरे नेह दाग मैं निदाग हो दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै
तांड़ नाल प्यारे हिंदुआनी हो रहूंगी मैं।

२—छैल जो छबीला सब रङ्ग में रङ्गीला
बड़ा चित्त का अड़ीला कहूं देवतों से न्यारा है।
माल गले मों है नाक मोती सेत सोहै कान
मोहै मनि कुंडल मुकुट सीस धारा है।
दुष्ट जन मारे सन्त जन रखवारे ताहि
चित हित वारे प्रेम प्रीति कर वारा है।
नन्द जू का प्यारा जिन कंस को पछारा
वह बृन्दावन वारा कृष्ण साहब हमारा है।

(१०) सिताराके राजा शंभुनाथ सुलंकी भी रीति ग्रन्थकारों में से हैं। उनके एक नायिका-भेद के ग्रन्थ की बड़ी प्रशंसा है. परन्तु वह अब मिलता नहीं। उनका एक नख-शिख का ग्रन्थ भी बड़ा चमत्कारपूर्ण है वे बड़े सहृदय और कवियों के कल्पतरु थे। कविता में कभी 'नृपशंभु' और

कभी 'शंभुकवि' अथवा 'नाथ कवि' अपनेको लिखते थे। बड़ी सरस ब्रज-भाषामें उन्होंने रचना की है। उनकी उत्प्रेक्षायें बड़ी मनोहर हैं। उनके जितने पद्य हैं उनमें से अधिकांश सरस हैं। उनकी भाषा को निस्संकोच टकसाली कह सकते हैं। ब्रजभाषा को अपनी रचना द्वारा उन्होंने भी गौरवित बनाया है। उनके दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—फाग रच्यो नन्द नन्द प्रवीन बजैं
बहु बीन मृदंग रबाबैं।
खेलतीं वै सुकुमारि तिया जिन
भूषण हूं की सही नहीं दाबैं।
सेत अबीर के धूंधरु मैं इमि
बालन की बिकसी मुख आबैं।
चाँदनी में चहुँ ओर मनों नृप
शंभु बिराज रही महताबैं।

२—कौहर कौल जपा दल विद्रुम का
इतनी जु बँधूक में कोति है।
रोचन रोरी रची मेंहदी नृपशंभु
कहै मुकुता सम पोति है।
पांय धरै ढरै ईंगुरई तिन मैं
खरी पायल की घनी ज्योति है।
हाथ द्वै तीनक चार हूं ओर लौं
चाँदनी चूनरी के रँग होति है।

इस शतक में एक मुसलमान सहृदय कवि भी रीति ग्रंथकार हो गये हैं। उनका नाम मुबारक है। अवध के बाराबंकी जिले में बिलग्राम नामक एक प्रसिद्ध क़स्बा है, जिसको विद्वानों और सहृदयों के जन्मभूमि होने

का गौरव प्राप्त है, यहीं अरबी, फारसी और संस्कृत के विद्वान मुबारक अली का जन्म हुआ था। इन्होंने 'अलक शतक' और 'तिल शतक' नामक दो ग्रन्थ सरस दोहों में लिखे हैं। इनकी स्फुट कवितायें भी बहुत सी मिलती हैं। इनकी भाषा व्रजभाषा है और उसमें प्रांजलता इतनी है कि मुक्त कंठ से उसकी प्रशंसा की जा सकती है इनकी रचना में प्रवाह है और इनकी कथनशैली भी मोहक है। मधुरता इनके शब्दों में भरी मिलती है। मुसलमान होने पर भी इन्होंने हिन्दी भाषा पर अपना जैसा अधिकार प्रकट किया है वास्तवमें वह चकितकर है। इनकी कुछ रचनायें देखिये:—

२—कान्ह की बाँकी चितौनि चुभी
झुकि काल्हि ह्वै झांकी है ग्वालि गवाछनि
देखी है नोखी सी चोखी सी कोरनि
ओछे फिरै उभरै चित जा छनि।
मार्‍यो सँभारि हिये में मुबारक
ए सहजै कजरारे मृगाछनि।
सींक लै काजर दे री गंवारिनि
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछनि।

२—कनक बरन बाल नगन लसत भाल
मोतिन के माल उर सोहै भलीभांति है
चंदन चढ़ाई चारु चंदमुखी मोहिनी सी
प्रात ही अन्हाइ पगु धारे मुसकाति है।
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारक जू
ढाँकि नख सिख ते निपट सकुचाति है।
चंद मैं लपेटि कै समेटि कै नखत मानो
दिन को प्रनाम किये रात चली जाति है।

(३) जगी मुबारक तिय बदन अलक ओप अति होइ।
मनो चंद की गोद में रही निसा सी सोइ।
(४) चिबुक कूप मैं मन पर्‍यो छबि जल तृषा बिचारि।
गहत मुबारक ताहि तिय अलक डोर सी डारि।
(५) चिबुक कूप रसरी अलक तिल सुचरस दृग बैल।
बारी बैस सिँगार की सींचत मनमथ छैल।
(६) गोरी के मुख एक तिल सो मोहिं खरो सुहाय।
मानहुं पंकज की कली भौंर बिलंब्यो आय।

कभी कभी वे अपनी रचना में दुरूह फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी कर देते हैं, परन्तु उसको व्रजभाषा के ढंग में बड़ी ही सुन्दरता से ढाल लेते हैं। नीचे का दोहा देखिये:—

अलक मुबारक तिय बदन लटक परी यों साफ़।
खुशनवीस मुनशी मदन लिख्यो काँच पर क़ाफ़।

(४)

इस शताब्दी में प्रसिद्ध प्रवन्धकार भी हुये। इनमें गुरु गोबिंद सिंह सब से प्रधान हैं। उनके अतिरिक्त उसमान, सबलसिंह चौहान, लाल और कवि हृदयराम का नाम लिया जा सकता है। प्रेम-मार्गी कवियों के वर्णन में उसमान के विषय में मैं पहले कुछ लिख चुका हूं। इस शताब्दी में इनकी ही रचना ऐसी है जो अवधी भाषा में की गयी है। इसके द्वारा उन्होंने उस परम्परा की रक्षा की है जिसको कुतबन अथवा मलिक मुहम्मद जायसी ने चलाया था। इनको छोड़ कर और सब प्रवन्धकार व्रजभाषा के सुकवि हैं। मैं पहले सबलसिंह चौहान और लाल के विषय में लिख कर उसके उपरांत पंजाब निवासी गुरु गोबिन्दसिंह और कवि हृदयराम के विषय में कुछ लिखूंगा:—

सबलसिंह चौहान इटावा ज़िले के प्रतिष्ठित जमींदार थे। उन्होंने महाभारत के अठारहों पर्वों के कथा भाग की रचना दोहा-चौपाई में की

है। 'रूप विलास पिंगल', 'षट् ऋतु बरवै' और 'ऋतूपसंहार' नामक ग्रन्थ भी उनके रचे बतलाये जाते हैं। उन्होंने महाभारत की रचना गोस्वामी जी के रामायण के आधार से की है। परन्तु उनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। वे पछाँह के रहने वाले थे। इस लिये उनकी रचना में खड़ी बोली और अवधी का पुट भी है। भाषा न तो जैसी चाहिये वैसी सरस है और न प्रांजल। फिर भी महाभारत की कथा का जनता को परिचय कराने के लिये उनका उद्योग प्रशंसनीय है। उनके इस ग्रन्थ का कुछ प्रचार भी हुआ। परन्तु वह सर्व साधारण को अपनी ओर अधिक आकर्षित न कर सका। उनकी रचना का नमूना लीजियेः—

लै के शूल कियो परिहारा।
वीर अनेक खेत महं मारा।
जूझी अनी भभरि कै भागे।
हँसि के द्रोण कहन अस लागे।
धन्य धन्य अभिमनु गुन आगर।
सब छत्रिन महं बड़ो उजागर।
धन्य सहोद्रा जग में जाई।
ऐसे वीर जठर जनमाई।
धन्य धन्य जग में पितु पारथ।
अभिमनु धन्य धन्य पुरुषारथ।
एक बार लाखन दल मारे।
अरु अनेक राजा संहारे।
धनु काटे शंका नहिं मन में।
रुधिर प्रवाह चलत सब तन में।
एहि अंतर बोले कुरु राजा।
धनुष नाहिं भाजत केहि काजा।

एक बीर को सबै डरत है ।
बेरि क्यों न रस धाय धरत हैं ।
बालक देखु करी यह करणी ।
सेना जूझि परी सब धरणी ।
दुर्योधन या विधि कह्यो,
कर्ण द्रोण सों बैन ।
बालक सब सेना बधी,
तुम सब देखत नैन ।

उनकी रचना में व्रजभाषा के नियम के विरुद्ध शकार, णकार और संयुक्त वर्णों का प्रयोग भी देखा जाता है। इसका कारण यह मालूम होता है कि बीर रस के लिये शायद परुषावृत्ति का मार्ग ग्रहण करना ही उन्होंने युक्तिसंगत समझा।

पुरोहित गोरेलाल महाराज छत्रसाल के दरबार के मान्य कवि थे। वे एक युद्ध में महाराज छत्रसाल के साथ गये और वहीं वीरता के साथ लड़ कर मरे। बीर रस की ओजमयी रचना करने में भूषणके उपरान्त इन्हीं का नाम लिया जाता है। 'छत्र प्रकाश' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसमें इन्होंने महाराज छत्रसाल की वीरगाथायें बड़ी निपुणता से लिखी हैं। यह दोहा चौपाई में लिखा गया है और प्रबन्ध ग्रन्थ है। इनकी भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। किन्तु उसमें बुन्देलखंडी शब्दों का प्रयोग आवश्यकता से कुछ अधिक है। फिर भी इनकी रचना ओजमयी और प्रांजल है और वे सब गुण उसमें मौजूद हैं जिन्हें वीर-रस की कविता में होना चाहिये। 'छत्रप्रकाश' विशाल ग्रन्थ है और इनका कीर्तिस्तम्भ है। इसके अतिरिक्त 'विष्णु विलास' और 'राजविनोद' नामक दो ग्रन्थ इन्हों ने और रचे। ये दोनों ग्रन्थ भी अच्छे हैं, परन्तु इनमें वह विशेषता नहीं पायी जाती जो 'छत्रप्रकाश' में है। गोरेलाल जी का उपनाम 'लाल' है। इनकी कुछ रचनायें देखियेः—

दान दया घमसान में जाके हिये उछाह ।
सोई बीर बखानिये ज्यों छत्ता छितिनाह ।
उमड़ि चल्यो दाराके सौंहैं, चढ़ी उदंड युद्ध-रस भौंहैं ।
तबदारादिल दहसति बाढ़ी, चूमन लगे सबन की दाढ़ी ।
को भुजदंड समर महिं ठोंकै, उमड़े प्रलय-सिंधु को रोकै ।
छत्रसाल हाड़ा तहँ आयो, अरुन रंग आनन छबि छायो
भयो हरौल बजाय नगारो, सारधार को पहिरनहारो
दौरि देस मुगलनके मारो, दपटि दिली के दलसंहारो ।
ऐंड़ एक सिवराज निबाही, करै आपने चित की चाही ।
आठ पात साही झक झोरै, सूबन पकरि दंड लै छोरै ।
काटि कटक किरवान बल बाँटि जंबुकनि देहु ।
ठाटि जुद्ध एहि रीति सों, बाँटि धरनि धरि लेहु ।

मैं यह बराबर प्रकट करता आया हूं कि सत्रहवीं शताब्दी में उत्तरी भारत में व्रजभाषा का प्रसार अधिक हो गया था । इस विस्तार के फलसे ही पंजाब प्रान्त में दो प्रतिष्ठित प्रबंधकार दृष्टिगत होते हैं । उनमें से एक हृदय-राम हैं और दूसरे गुरु गोविन्द सिंह । कवि हृदयराम जाति के खत्री थे । उन्होंने संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार से अपने ग्रंथ की रचना की और उसका नाम भी हनुमन्नाटक ही रक्खा । इस ग्रंथ की रचना इतनी सरस है और इस सहृदयता के साथ वह लिखा गया है कि गुरु गोबिन्द सिंह इस ग्रंथ को सदा अपने साथ रखते और उसकी मधुर रचनाओं को पढ़ पढ़ मुग्ध हुआ करते थे । इस ग्रंथ की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है । कहीं कहीं एक दो पंजाबी शब्द मिल जाते हैं । ग्रंथ की सरस और प्रांजल रचना देख कर यह प्रतीत नहीं होता कि यह किसी पंजाबी का लिखा हुआ है । कविहृदयराम में भाव चित्रण की सुंदर शक्ति है । उन्हों ने इस ग्रंथ को लिख कर यह बतलाया है कि उनमें प्रबंध काव्य लिखने की

कितनी योग्यता थी। रामायण की समस्त कथा इसमें वर्णित है किन्तु इस क्रम से कि उसमें कहीं अरोचकता नहीं आई। इसमें कवित्त और सवैये ही अधिक हैं। कोई कोई पद्य बड़े ही मनोहर हैं। उनमें से दो नीचे लिखे जाते हैं:—

१-ए बनबास चले दोउ सुंदर कौतुक को सियसंग जुटी है।
पाँवनपाव, न कोस चली अजहूं नहीं गाँव की सींवछुटी है।
हाथ धरे कटिपूछति रामहिं नाथ कहो कहाँ कंज कुटी है।
रोवत राघव जोवत सी मुख मानहुं मोतिन माल टुटी है।

२-एहो हनू कह श्रीरघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही।
है प्रभु, लंक कलंक बिना सुबसै बन रावन बाग की छाँहीं।
जीवत है कहिबेहि को नाथ! सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं।
प्रान बसै पद पंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं।

गुरु गोबिंद सिंह ब्रजभाषा के महाकवि थे। इनका बनाया हुवा दशम ग्रंथ बड़ा विशाल ग्रंथ है। समस्त ग्रंथ सरस ब्रजभाषा में लिखा गया है। ये बड़े बीर और सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक थे। गुरु नानक से ले कर गुरु अर्जुनदेव तक इनके सम्प्रदाय में शान्ति रही. परन्तु जहांगीर ने अनेक कष्ट दे कर गुरु अर्जुन देव को प्राण त्याग करने के लिये बाध्य किया तब सम्प्रदायवालों का रक्त खौल उठा और उन्हों ने मुसलमानों के सर्व-नाश का व्रत ग्रहण किया क्रमशः वर्द्धमान हो कर गुरु गोविन्दसिंह के समय में यह भाव बहुत प्रबल हो गया था। और इसी कारण जब गुरु तेगबहादुर उनके पिता का औरङ्गज़ेब द्वारा संहार हुआ तो उन्हों ने बड़ी बीरता से मुसल्मानों से लोहा लेना प्रारंभ किया। गुरु अर्जुनदेव ने ही आदि ग्रन्थ साहब का संग्रह तैयार किया था। इस ग्रन्थ में उनकी बहुत अधिक रचनायें हैं. जो अधिकतर ब्रजभाषा में लिखी गई हैं। उनकी कुछ रचनायें मैं पहले लिख आया हूं। विषय को स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ पद्य यहाँ और लिखे जाते हैं:—

बाहरु धोइ अंतरु मन मैला दुइ ओर अपने खोये ।
इहाँ काम क्रोध मोह व्यापा आगे मुसि मुसि रोये ।
गोविंद भजन की मति है होरा ।
बरमी मारी साँप न मरई नामु न सुनई डोरा ।
माया की कृति छोड़ि गंवाई भक्तीसार न जानै ।
वेद सास्त्र को तरकन लागा तत्त्व जोगु न पछानै ।
उघरि गया जैसा खोटा ढेवुआ नदरि सराफा आया ।
अंतर्यामी सब कछु जानै उस ते कहा छपाया ।
कूर कपट बंचन मुनियाँदा बिनसि गया ततकाले ।
सति सति सति नानक कह अपने हिरदै देखु समा ले ।
२-बंधन काटि बिसारे औगुन अपना बिरद समाऱ्या ।
होइ कृपाल मात पित न्याईं बारक ज्यों प्रति पाऱ्या ।
गुरु सिष राखे गुरु गोपाल ।
लीये काढ़ि महा भव जल ते अपनी नदर निहाल ।
जाके सिमरणि जम ते छुटिये हलति पलति सुख पाइये ।
सांसि गेरासि जपहु जप रसना नीति नीति गुण गाइये ।
भगती प्रेम परम पद पाया साधु संग दुख नाटे ।
छिजै न जाइ न किछु भव व्यापै हरि धनु निरमल गाँठे ।
अन्तकाल प्रभु भये सहाईं इत उत राखन हारे ।
प्रान मीत हीत धन मेरे नानक सद बलिहारे ।

गुरु अर्जुनदेव सत्रहवीं शताब्दी के आदि में थे । उनकी रचनायें उसी समय की हैं । मैं यह कह सकता हूं कि वह परमार्जित ब्रजभाषा नहीं है, परन्तु यही भाषा गुरु गोबिन्दसिंह के समय में अपने मुख्य रूपमें दृष्टिगत होती है । गुरु गोविन्दसिंह ने दशम ग्रन्थ में विष्णु के चौबीस

और ब्रह्मा एवं शिव के सात सात अवतारों की कथा लिखी है उन्होंने दुर्गापाठ का तीन अनुवाद कर के उसका नाम 'चंडी चरित्र' रखा है। पहला अनुवाद सवैयों में, दूसरा पौड़ियों में, और तीसरा नाना छन्दों में है। उन्होंने इस ग्रन्थ में ४०४ स्त्री-चरित्र भी लिखे हैं, और इस सूत्र से अनेक नीति और शिक्षा सम्बन्धी बातें कही हैं, उन्हों ने उसमें कुछ अपने जीवन-सम्बन्धी बातें भी लिखी हैं और कुछ परमात्मा की स्तुति और ज्ञान सम्बन्धी विषयों का भी निरूपण किया है। फ़ारसी भाषा में उन्हों ने 'ज़फ़रनामा' नामक एक राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थ लिख कर औरङ्गज़ेब के पास भेजा था। वह ग्रन्थ भी इसमें सम्मिलित है। अवतारों के वर्णन के आधार से उन्हों ने इसग्रन्थमें पुराणोंकी धर्म नीति, समाज नीति' एवं राजनीति-सम्बन्धी समस्त बातें एकत्रित कर दी हैं। यह बड़ा उपयोगी ग्रंथ है सिक्ख सम्प्रदाय के लोग इसको बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। ब्रजभाषा-साहित्य का इतना बड़ा ग्रन्थ सूर सागर को छोड़ कर अन्य नहीं है। इस ग्रन्थ में जितनी रचनायें गुरु गोविन्दसिंह की निज की हैं उनके सामने श्री मुख वाक पातसाही दस लिखा है। अन्य रचनाओं के विषय में यह कहा जाता है कि वे गुरु गोविन्दसिंहजी के द्वारा रचित नहीं हैं वे श्याम और राम नामक दो अन्य कवियों की कृति हैं जो उनके आश्रित थे। उक्त ग्रन्थ की कुछ रचनायें नीचे उपस्थित की जाती हैं। उनको पढ़ कर आपलोग समझ सकेंगे कि वे कैसी हैं और उनके भाव और भाषा में कितना सौन्दर्य्य एवं लालित्य है। पहले गुरु गोविन्दसिंह की निज रचनाओं को ही देखिये:—

१—चक्र चिन्ह अरु बरन जात
अरु पाँत नहिन जेहि।
रूप रङ्ग अरु रेख भेख
कोउ कहि न सकत केहि।
अचल मूरति अनभव
प्रकास अमितोज कहिज्जै।

कोटि इन्द्र इन्द्राणि साहि
साहाणि गणिज्जै ।
त्रिभुवण महीप सुर नर असुर
नेति नेति वर्णत कहत ।
तव सरब नाम कत्थय कवन
कर्म नाम वरणत सुमत ।

२—प्रभु जू तो कहँ लाज हमारी ।
नील कण्ठ नर हरि नारायन
नील बसन बनवारी ।
परम पुरुष परमेसर स्वामी
पावन पवन अहारी ।
माधव महा ज्योति मधु
मर्दन मान मुकुंद मुरारी ।
निर्विकार निजुर निद्रा बिन
निर्बिष नरक निवारी ।
किरपासिंधु काल त्रय दरसी
कुकृत प्रनासन कारी ।
धनुर्पानि धृत मान धराधर
अन विकार असि धारी ।
हौं मति मन्द चरनसरनागत
कर गहि लेहु उबारी ।

३—जीति फिरे सब देस दिसान को
बाजत ढोल मृदंग नगारे ।

गूंजत गूढ़ गजान के सुंदर
हींसत ही हय राज हजारे ।
भूत भविक्खव भवान के भूपति
कौन गनै नहीं जात विचारे ।
श्री पति श्री भगवान भजे बिन
अन्त को अन्तक धाम सिधारे ।

४—दीनन की प्रति पालि करै नित
सन्त उबार गनीमन गारै ।
पच्छ पसू नग नाग नराधिप
सर्व समै सब को प्रति पारै ।
पोखत है जल मैं थल मैं पल मैं
कलि के नहीं कर्म विचारै ।
दीन दयाल दयानिधि दोखन
देखत है पर देत न हारै ।

५—मेरु करो तृण ते मोहि जाहि
गरीब नेवाज न दूसरो तोसों ।
भूल छमो हमरी प्रभु आप न
भूलन हार कहूं कोउ मोसों ।
सेव करी तुमरी तिन के सभ ही
गृह देखिये द्रव्य भरो सो ।
या कलि में सब काल कृपानिधि
भारी भुजान को भारो भरोसो ।

अब दशम ग्रन्थ साहब की कुछ अन्य रचनायें भी देखिये:—

१—रारि पुरंदर कोपि कियो इत
जुद्ध को दैंत जुरे उत कैसे।
स्याम घटा घुमरी घन घोर कै
घेरि लियो हरि को रवि तैसे।
सक्र कमान के बान लगे सर
फोंक लसै अरि के उर ऐसे।
मानो पहार करार में चोंच
पसार रहे सिसु सारक जैसे।
मीन मुरझाने कंज खंजन खिसाने
अलि फिरत दिवाने बन डोलैं जित तित ही
कीर औ कपोत बिंब कोकिला कलापी
बन लूटे फूटे फिरैं मन चैन हू न कितहीं।
दारिम दरकि गयो पेखि दसनन पाँति
रूप ही की काँति जग फैलि रहो सित ही।
ऐसी गुन सागर उजागर सुनागर है लीनो
मन मेरो हरि नैन कोर चित ही।
३—चतुरानन मो बतिया सुन लै
सुनि के दोउ श्रौननि में धरिये।
उपमा को जवै उमगै मन तो
उपमा भगवानहिं की करिये।
परिये नहीं आन के पाँयन
पै हरि के गुरु के द्विज के परिये।
जेहि को जुग चारि मैं नाम जप्यो
तेहि सों लरिये, मरिये, तरिये।

४—जेहि मृग राखे नैन बनाय।
अंजन रेख स्याम पै अटकत सुंदर फांद चढ़ाय।
मृग मद देत जिनैं नरनारिन रहत सदा अरुझाय।
तिनके ऊपर अपनी रुचि सों रीझि स्याम बलि जाय।

५—सेत धरे सारी वृष भानु की कुमारी
जस ही की मनो बारी ऐसो रची है न को दई।
रंभा उरबसी और सची सी मँदोदरी
पै ऐसी प्रभा काकी जग बीच ना कछू भई।
मोतिन के हार गरे डार रुचि सों सिंगार
स्याम जू पै चली कवि स्याम रस के लई।
सेत साज साज चली साँवरे के प्रीति काज
चाँदनी में राधा मानो चाँदनी सो ह्वै गई।

गुरु गोविन्दसिंह की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उसमें व्रजभाषा-सम्बन्धी नियमों का अधिकतर पालन हुआ है। किसी किसी स्थान पर णकार का प्रयोग नकार के स्थान पर पाया जाता है। किन्तु यह पंजाब के बोलचाल का प्रभाव है। कोई कोई शब्द भी पंजाबी ढंग पर व्यवहृत हुये हैं। इसका कारण भी प्रान्तिकता ही है। परन्तु इस प्रकार के शब्द इतने थोड़े हैं कि उनसे व्रजभाषा की विशेषता नष्ट नहीं हुई है। कुल दशमग्रंथ साहब ऐसी ही भाषा में लिखा गया है, जिससे यह ज्ञात होता है कि उस समय व्रजभाषा किस प्रकार सर्वत्र समादृत थी। इस ग्रंथ में कहीं कहीं पंजाबी भाषा की भी कुछ रचनायें मिल जाती हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। पौड़ियों में लिखा गया चंडीचरित्र ऐसा ही है। ज़फ़रनामा फ़ारसी भाषा में है, यह मैं पहले बतला चुका हूं। अपने ग्रंथ में गुरुगोविन्द सिंह ने इतने अधिक छंदों का व्यवहार किया है जितने छंदों का व्यवहार आचार्य

केशवदास को छोड़ कर हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। इस ग्रंथ में युद्ध का वर्णन बड़ा ही ओजमय है। ऐसे ऐसे छंद युद्ध के वर्णनों में आये हैं जो अपने शब्दों को युद्धानुकूल बना लेते हैं। कहीं कहीं इस प्रकार के शब्द लिखे गये हैं जो युद्ध-कालिक दृश्य को सामने ला देते हैं और जिनके पढ़ने से युद्ध की मार काट, शस्त्रों का झनत्कार, बाणों की सनसनाहट और अस्त्रों के परस्पर टकराने की ध्वनि श्रवणगत होने लगती है। जैसे,

तागिड़दं तीरं छागिड़दं छुट्टे।
बागिड़दं बीरं लागिड़दं लुट्टे, इत्यादि

मेरा विचार है कि यह विशाल ग्रन्थ हिन्दीसाहित्य का गौरव है, और इसकी रचना कर के गुरु गोविन्द सिंह ने उसके भाण्डार को एक ऐसा उज्ज्वल रत्न प्रदान किया है जिसकी चमक दमक विचित्र और अद्भुत है।

आदि ग्रन्थ साहब में शान्त रस का प्रवाह बहता है। उसमें त्याग और विराग का गीत गाया गया है, उससे सम्बन्ध रखने वाली दया, उदारता, शान्ति एवं सरलता आदि गुणों की ही प्रशंसा की गयी है। यह शिक्षा दी गयी है कि मानसिक विकारों को दूर करो और दुर्दान्त इन्द्रियों का दमन। परन्तु उसकी दृष्टि संसार-शरीर के उन रोगों के शमन की ओर उतनी नहीं गयी जो उस पवित्र ग्रन्थ के सदाशय-मार्ग के कंटक स्वरूप कहे जा सकते हैं। दशम ग्रन्थ साहबकी रचना कर गुरु गोविंदसिंह ने इस न्यूनता की पूर्त्ति की है। उन्होंने अपने ग्रन्थ में ऐसे उत्तेजक भाव भरे हैं जिनसे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जो कंटक भूत प्राणियों को पूर्णतया विध्वंस कर सके। इस शक्ति के उत्पन्न करने के लिये ही उन्होंने अपने ग्रन्थ में युद्धों का भी वर्णन ऐसी प्रभाव शाली भाषा में किया है जो एक बार निर्जीव को भी सजीव बनाने में समर्थ हो। इसी उद्देश्य से उन्होंने सप्तशती के तीन तीन अनुवाद किये। पौड़ियों में जो तीसरा अनुवाद है, उसमें वह ओजस्विता भरी है जो सूखी रगों में भी रक्त संचार करती है। कृष्णावतार में खड्गसिंह के युद्ध का ऐसा ओजमय वर्णन है जिसे

पढ़ने से कायर-हृदय भी बीर बन सकता है। ऐसे ही विचित्र वर्णन और भी कई एक स्थलों पर हैं। यथा समय हिन्दू जाति में ऐसे आचार्य्य उत्पन्न होते आये हैं जो समयानुसार उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न करते जिससे वह आत्म-रक्षण में पूर्णतया समर्थ होती। उत्तर भारत में गुरु गोविंदसिंह और दक्षिण भारत में स्वामी रामदास सत्रहवीं सदी के ऐसे ही आचार्य थे। गुरु गोविंदसिंह ने पंजाब में सिक्खों द्वारा महान् शक्ति उत्पन्न की, स्वामी रामदास ने शिवा जी और महाराष्ट्र जाति की रगों में बिजली दौड़ा दी। इस दृष्टि से दशम ग्रन्थ की उपयोगिता कितनी है, इसका अनुभव हिन्दी भाषा भाषी विद्वान् स्वयं उस ग्रन्थ को पढ़कर कर सकते हैं।

इस सत्रहवीं शताब्दी में एक प्रेम-मार्गी कवि नेवाज भी हो गये हैं। कहा जाता है कि ये जाति के ब्राह्मण थे और छत्रसाल के दरबार में रहते थे। ये थे बड़े रसिक हृदय। जहां गोरे लाल पुरोहित बीर रस की रचनायें कर महाराज छत्रसाल में ओज भरते रहते थे। वहाँ ये शृंगार रस की रचनायें कर उन्हें रिझाते रहते थे। नेवाज नाम के तीन कवि हो गये हैं। इन तीनों की रचनायें मिल जुल गई हैं। किन्तु सरसता अधिक इन्हीं की रचना में मानी गयी है। इनका नेवाज नाम भ्रामक है। क्यों एक ब्राह्मण ने कवितामें अपना नाम 'नेवाज' रक्खा इसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। छत्रसाल ऐसे हिन्दू भाव-सम्पन्न राजा के यहां रह कर भी उनका नेवाज नाम से परिचित होना कम आश्चर्य्य जनक नहीं। जो हो परन्तु हिन्दी संसार में जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुये हैं उनमें एक यह भी हैं। इनकी रचना की मधुरता और भावमयता की सभी ने प्रशंसा की है। इनकी भाषा सरस ब्रजभाषा है। बुन्देलखंड में रह कर भी वे इतनी प्रांजल ब्रज-भाषा लिख सके, यह उनके भाषाधिकार को प्रकट करता है। उनके दो पद्य देखिये:—

(१) देखि हमैं सब आपुस में जो
कछू मन भावै सोई कहती हैं।

ए घरहाई लुगाई सबै निसि
द्यौस नेवाज हमें दहती हैं ।
बातें चबाव भरा सुनि कै
रिसिआवत पै चुप ह्वै रहती हैं ।
कान्ह पियारे तिहारे लिये
सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं ।

(२) आगे तो कीन्हीं लगा लगी लोयन
कैसे छिपै अजहूं जो छिपावत ।
तू अनुराग को सोध कियो
ब्रज की बनिता सबयों ठहरावत ।
कौन सकोच रह्यो है नेवाज
जो तू तरसै उनहूं तरसावत ।
बावरी जो पै कलंक लग्यौ तो
निसंक ह्वै क्यों नहीं अंक लगावत ।

(२)

अठारहवीं शताब्दी प्रारंभ करने के साथ सब से पहले हमारी दृष्टि महाकवि देवदत्त पर पड़ती है। जिस दृष्टि से देखा जाय इनके महाकवि होने में संदेह नहीं। कहा जाता है इन्होंने बहत्तर ग्रंथों की रचना की। हिन्दी भाषा के कवियों में इतने ग्रंथों की रचना और किसी ने भी की है, इसमें संदेह है। इन के महत्व और गौरव को देख कर ब्राह्मण जाति के दो विभागों में अब तक द्वंद्व चल रहा है। कुछ लोग सनाढ्य कह कर इन्हें अपनी ओर खींचते हैं और कोई कान्यकुब्ज कह कर इन्हें अपना बनाता है। पंडित शालग्राम शास्त्री ने थोड़े दिन हुये, 'माधुरी' में एक लम्बा लेख लिख कर यह प्रतिपादित किया है कि महाकवि देव सनाढ्य थे। मैं इस विवाद को अच्छा नहीं समझता। वे जो हों, किन्तु हैं ब्राह्मण जाति के

और ब्राह्मण जाति के न भी हों तो देखना यह है कि साहित्य में उनका क्या स्थान है। मेरा विचार है कि सब बातों पर दृष्टि रख कर यह कहना पड़ेगा कि ब्रजभाषा का मुख उज्ज्वल करनेवाले जितने महाकवि हुये हैं उन्हीं में एक आप भो हैं। एक दो विषयों में कवि-कर्म्म करके सफलता लाभ करना उतना प्रशंसनीय नहीं, जितना अनेक विषयों पर समभाव से लेखनी चला कर साहित्य-क्षेत्र में कीर्ति अर्जन करना। वे रीति-ग्रंथ के आचार्य ही नहीं थे और उन्होंने काव्य के दसो अंगों पर लेखनी चला कर ही प्रतिष्ठा नहीं लाभ की, वेदान्त के विषयों पर भी बहुत कुछ लिख कर वे सर्व देशीय ज्ञान का परिचय प्रदान कर सके हैं। इस विषय पर उनकी 'ब्रह्मदर्शन-पचीसी', 'तत्वदर्शन पचीसो', 'आत्म दर्शन-पचीसी' और 'जगत दर्शन पचीसो' आदि कई अच्छी रचनायें हैं। उनके 'नीत शतक', 'रागरत्नाकर', 'जाति विलास', 'वृक्ष विलास' आदि ग्रंथ भी अन्य विषयों के हैं और इनमें भी उन्होंने अच्छी सहृदयता और भावुकता का परिचय दिया है। उनका 'देव प्रपंच माया' नाटक भी विचित्र है। इसमें भी उनका कविकर्म्म विशेष गौरव रखता है। शृंगार रस का क्या पूछना! उसके तो वे प्रसिद्धि-प्राप्त आचार्य हैं, मेरा विचार है कि इस विषय में आचार्य केशवदास के बाद उन्हीं का स्थान है। उनकी रचनाओं में रीति ग्रंथों के अतिरिक्त एक प्रबन्ध-काव्य भी है जिसका नाम 'देव-चरित्र' है, उसमें उन्होंने भगवान कृष्ण चन्द्र का चरित्र वर्णन किया है। 'प्रेम चंद्रिका' भी उनका एक अनूठा ग्रंथ है, उसमें उन्होंने स्वतंत्र रूप से प्रेम के विषय में अनूठी रचनायें की हैं। कवि-कर्म्म क्या है? भाषा और भावों पर अधिकार होना और प्रत्येक विषयों का यथा तथ्य चित्रण कर देना। देव जी दोनों बातों में दक्ष थे। सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शताब्दी में यह देखा जाता है कि उस समय जितने बड़े बड़े कवि हुये उनमें से अधिकांश किसी राजा-महाराजा अथवा अन्य प्रसिद्ध लक्ष्मी पात्र के आश्रय में रहे। इस कारण उनकी प्रशंसा में भी उनको बहुत सी रचनायें करनी पड़ीं। कुछ लोगों की यह सम्मति है कि ऐसे कवि अथवा महाकवियों से उच्च कोटि की रचनाओं और सच्ची भावमय कविताओं के रचे जाने की आशा

करना विडम्बना मात्र है। क्योंकि ऐसे लोगों के हृदय में वह उच्छ्वासमय उच्च भाव उत्पन्न हो ही नहीं सकते जो एक आत्म-निर्भर स्वतंत्र अथच मनस्वी कवि अथवा महाकवि में स्वभावत: उद्भूत होते हैं। उन्मुक्त कवि कर्म्म हो कवि-कर्म्म है, जिसका कार्य्य चित्त का स्वतंत्र उद्गार है। जो हृदय किसी की चापलूसी अथवा तोषामोद में निरत है और अपने आश्रय-दाता की इच्छानुसार कविता करने के लिये विवश है, या उसकी उचित अनुचित प्रशंसा करने में व्यस्त है, वह कवि उसरत्न को कैसे प्राप्त कर सकता है जो स्वभावतया तरंगायमान मानस-उदधि से प्राप्त होते हैं। मेरा विचार है, इस कथन में सत्यता है। परन्तु इससे इस परिणाम पर नहीं पहुंचा जा सकता कि कोई कवि किसी के आश्रित रह कर सत्कवि या महाकवि हो ही नहीं सकता। क्योंकि प्रथम तो कवि स्वाधीनता-प्रिय होता है, दूसरी बात यह कि कवि का अधिकतर सम्बन्ध प्रतिभा से है। इसलिये किसी का आश्रित होना उसके कवित्व गुण का बाधक नहीं हो सकता। किसी आत्म विक्रयी की बात और है। हां, बंधन-रहित किसी स्वतंत्र कवि का महत्व उससे अधिक है, यह बात निस्संकोच भाव से स्वीकार की जा सकती है। कविवर देवदत्त में जो विलक्षण प्रतिभा विक-सित दृष्टिगत होती है उसका मुख्य कारण यही है कि वे स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे, जिससे वे किसी के आश्रय में चिरकाल तक न रह सके। जिस दरबार में गये उसमें अधिक दिन ठहरना उन्हें पसंद नहीं आया। मालूम होता है कि बंधन उनको प्रिय नहीं था। मैं समझता हूं, इससे हिन्दी साहित्यको लाभ ही हुआ। क्योंकि उनके उन्मुक्त जीवनने उनसे अधिकतर ऐसी रचनायें करायीं जो सर्वथा स्वतंत्र कही जा सकती हैं। प्रत्येक भाषा के साहित्य के लिये ऐसी रचनायें ही अधिक अपेक्षित होती हैं, क्योंकि उनमें वे उन्मुक्त धारायें बहती मिलती हैं जो पराधीनता एवं स्वार्थपरता दोष से मलिन नहीं होतीं। कविवर देवदत्त की रचनाओं का जो अंश इस ढंग में ढला हुआ है वही अधिक प्रशंसनीय है और उसी ने उनको हिन्दी साहित्य में वह उच्च स्थान प्रदान किया है जिसके अधिकारी हिन्दी संसार के इनेगिने कवि-पुंगव ही हैं। मिश्र बंधुओं ने अपने ग्रंथ में देव

जी के सम्बन्ध में निम्नलिखित कवित्त लिखा है:—

सूर सूर तुलसी सुधाकर नच्छत्र केसौ,
सेस कविराजन कौ जुगनू गनाय कै।
कोऊ परिपूरन भगति दिखरायो अब,
काव्यरीति मोसन सुनहु चित लाय कै।
देव नभ मंडल समान है कवीन मध्य,
जामैं भानु सितभानु तारागन आय कै।
उदै होत अथवत चारों ओर भ्रमत पै,
जाको ओर छोर नहिं परत लखाय कै।

इससे अधिक लोग सहमत नहीं हैं, इस पद्य ने कुछ काल तक हिन्दी संसार में एक अवांछित आंदोलन खड़ा कर दिया था। कोई कोई इस रचना को अधिक रंजित समझते हैं। परन्तु मैं इसको विवाद-योग्य नहीं समझता। प्रत्येक मनुष्य अपने विचार के लिये स्वतंत्र है। जिसने इस कवित्त की रचना की उसका विचार देव जी के विषय में ऐसा ही था। यदि अपने भाव को उसने प्रगट किया तो उसको ऐसा करने का अधिकार था। चाहे कुछ लोग उसको वक्रदृष्टि से देखें, परन्तु मेरा विचार है कि यह कवित्त केवल इतना ही प्रगट करता है कि देव जी के विषय में हिन्दी संसार के किसी किसी विदग्ध जन का क्या विचार है। मैं इस कवित्त के भाव को इसी कोटि में ग्रहण करता हूं और उससे यही परिणाम निकालता हूं कि देव जी हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में एक विशेष स्थान के अधिकारी हैं। कोई भाषा समुन्नत होकर कितनी प्रौढ़ता प्राप्त करती है देव जी की भाषा इसका प्रमाण है। उनका कथन है:—

कविता कामिनि सुखद पद सुबरन सरस सुजाति
अलंकार पहिरे बिसद अद्‌भुत रूप लखाति।

मैं देखता हूं कि उनकी रचना में उनके इस कथन का पूर्ण विकास है जितनी बातें इस दोहे में हैं वे सब उनकी कविता में पायी जाती हैं।

उनकी अधिकतर रचनायें कवित्त और सवैया में हैं। उनके कवित्तों में जितना प्रबल प्रवाह, ओज, अनुप्रास और यमक की छटा है, वह विलक्षण है। सवैयों में यह बात नहीं है, परन्तु उनमें सरसता और मधुरता छलकती मिलती है। दो प्रकार के कवि या महाकवि देखे जाते हैं, एक की रचना प्रसादमयी और दूसरे की गम्भीर, गहन विचारमयी और गूढ़ होती है। इन दोनों गुणों का किसी एक कवि में होना कम देखा जाता है, देव जो में दोनों बातें पाई जाती हैं और यह उनकी उल्लेखनीय विशेषता है। मानसिक भावों के चित्रण में, कविता को संगीतमय बनाने में भावानुकूल शब्द-विन्यास में, भावानुसार शब्दों में ध्वनि उत्पन्न करने में और कविता को व्यंजनामय बना देने में महाकवियों की सी शक्ति देव जी में पायी जाती है।

प्रायः ऐसे अवसर पर लोग तुलनात्मक समालोचना को पसन्द करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ऐसा करनेसे एक से दूसरे का उत्कर्ष दिखाने में बहुत बड़ी सहायता प्राप्त होती है। परन्तु ऐसी अवस्था में, निर्णय के लिये दोनो कवियों की समस्त रचनाओं की आलोचना होना आवश्यक है यह नहीं कि एक दूसरे के कुछ समान भाव के थोड़े से पद्यों को ले कर समालोचना की जाय और उसी के आधार पर एक से दूसरे को छोटा या बड़ा बना दिया जाय। यह एक देशिता है। कोई कवि दस विषयों को लिख कर सफलता पाता है और कोई दो चार विषयों को लिख कर ही कृतकार्य्य होता है। ऐसी अवस्था में उन दोनों के कतिपय विषयों को लेकर ही तुलनात्मक समालोचना करना समुचित नहीं। समालोचना के समय यह भी बिचारना चाहिये कि उनकी रचना में लोक-मंगल की कामना और उपयोगिता कितनी है। उसका काव्य कौन सा संदेश देता है। और उसकी उपयुक्तता किस कोटि की है। बिना इन सब बातों पर विचार किये कुछ थोड़ेसे पद्योंको लेकर किसी का महत्व प्रतिपादन युक्ति संगत नहीं। अतएव मैं यह मीमांसा करनेके लिये प्रस्तुत नहीं हूं कि जो हिन्दी संसारके महाकवि हैं उनमेंसे किससे देव बड़े हैं और किससे छोटे। प्रत्येक विषय में प्रत्येकको महत्व प्राप्त नहीं होता, और न सभी विषयों में सब को उत्कर्ष

मिलता। अपने अपने स्थान पर सब आदरणीय हैं, और भगवती वीणा पाणिके सभी वर पुत्र हैं। कविवर सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास क्षण-जन्मा पुरुष हैं. उनको वह उच्चपद प्राप्त है जिसके विषय में किसी का तर्क वितर्क नहीं। इसलिये मैंने जो कुछ इस समय कथन किया है, उससे उनका कोई सम्बन्ध नहीं॥

अब मैं आप लोगों के सामने देव जी की कुछ रचनायें उपस्थित करता हूं।' आप उनको अवलोकन करें और यह बिचारें कि उनकी कविता किस कोटि की है और उसमें कितना कवि-कर्म्म है:—

(१) पाँयन नूपुर मंजु बजैं कटि
किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत हिये
हुलसै बन माल सुहाई।
माथे किरीट बड़े दृग चंचल
मंद हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग मंदिर दीपक सुन्दर
श्री ब्रज दूलह देव सहाई।

(२) देव जू जो चित चाहिये नाह तो
नेह निवाहिये देह हर्‍यो परै।
जों समझाइ सुझाइये राह
अमारग मैं पग धोखे धर्‍यो परै।
नीके मैं फीके ह्वै आँसू भरो कत
ऊंचे उसास गरो क्यों भर्‍यो परै।
रावरो रूप पियो अँखियान भरोसो
भर्‍यो उबर्‍यो सो ढर्‍यो परै।

(३) भेष भये विष भावते भूषन
भूख न भोजन की कछु ईछो ।
मीचु की साध न सोंधे की साध
न दूध सुधा दधि माखन छीछो ।
चंदन तौ चितयो नहिं जात
चुभीचित माहिं चितौन तिरछो ।
फूल ज्यों सूल सिला सम सेज
बिछौनन बीच बिछो जनु बीछो ।

(४) प्रेम पयोधि परे गहिरे अभिमान
को फेन रह्यो गहि रे मन ।
कोप तरंगनि सों बहिरे पछिताय
पुकारत क्यों बहिरे मन ।
देव जू लाज-जहाज ते कूदि
रह्यो मुख मूंदि अजौं रहि रे मन ।
जोरत तोरत प्रीति तुही अब
तेरी अनीति तुही सहिरे मन ।

(५) आवत आयु को द्योस अथोत
गये रवि त्यों अँधियारियै ऐहै ।
दाम खरे दै खरीद करौ गुरु
मोह की गोनी न फेरि बिकैहै ।
देव छितीस की छाप बिना
जमराज जगाती महादुख दैहै ।
जात उठी पुर देह की पैठ अरे
बनिये बनियै नहिँ रैहै ।

(६) ऐसो जो हौं जानतो कि जै है तू विषै के संग
एरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि
नेह सों निहारि हेरि बदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि
चाबुक चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि
राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो।

(७) गुरु जन जावन मिल्यो न भयो दृढ़ दधि
मथ्यो न विवेक रई देव जो बनायगो।
माखन मुकुति कहाँ छाड्यो न भुगुति जहाँ
नेह बिनु सगरो सवाद खेह नायगो।
बिलखत बच्यो मूल कच्यो सच्यो लोभ भांड़े
नच्यो कोप आँच पच्यो मदन छिनायगो।
पायो न सिरावनि सलिल छिमा छींटन सों
दूध सो जनम बिनु जाने उफनायगो।

(८) कथा मैं न कंथा मैं न तीरथ के पंथा मैं न
पोथी मैं न पाथ मैं न साथ की बसीति मैं।
जटा मैं न मुंडन न तिलक त्रिपुंडन न
नदी कूप कुंडन अन्हान दान रीति मैं।
पीठ मठ मंडल न कुंडल कमंडल न
मालादंड मैं न देव देहरे की भीति मैं।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो
पाइए प्रगट परमेसर प्रतीति मैं।

(९) संपति मैं ऐंठि बैठे चौतरा अदालति के
बिपति मैं पैन्हि बैठे पाँय झुन झुनियां।
जे तो सुख संपति तितोई दुख बिपति मैं
संपति मैं मिरजा विपति परे धुनियां।
संपति ते बिपति बिपति हूं ते संपति है
संपति औ बिपति बराबरि कै गुनियां।
संपति मैं कांय कांय बिपति मैं भांय भांय
कांय कांय भांय भांय देखी सब दुनियां।

१०--आई बरसाने ते बुलाई बृषभानु सुता
निरखि प्रभानि प्रभा भानु की अथै गयी।
चक चकवान के चकाये चक चोटन सों
चौंकत चकोर चकचौंधी सी चकै गयी।
देव नन्द नन्दन के नैनन अनन्दमयी।
नन्द जू के मंदिरनि चंदमयी छै गयी।
कंजन कलिनमयी कुंजन नलिन मयी।
गोकुल की गलिन अलिनमयी कै गयी।

११--औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो
तामैं तीनो लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागर
सुन्यारे करि बाँचै कौन जांचै चित भंग मैं
आंखिनि मैं तिमिर अमावस की रैनि जिमि
जम्बू जल बुंद जमुना जल तरंग मैं।
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई
स्याम रङ्ग ह्वै करि समायो स्याम रङ्ग मैं।

१२--रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
सांसैं भरि आँसू भरि कहति दई दई ।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव
जकि जकि बकि बकि परति बई बई ।
दुहुँन को रूप गुन दोउ बरनत फिरैं
घर न थिराति रीति नेह की नई नई ।
मोहि मोहि मन भयो मोहन को राधिका मैं
राधिका हूं मोहि मोहि मोहनमयी भई ।

१३--जबते कुँवर कान्ह रावरी कलानिधान
कान परी वाके कहूं सुजस-कहानी सी ।
तब ही ते देव देखी देवतासी हँसति सी
खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी ।
छोही सी छली सी छीनि लीनी सी छकी सी छिन
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानीसी ।
बींधी सी बिधी सी बिष बूड़ी सी बिमोहित सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी सी ।

१४-- देखे अनदेखे दुख दानि भये सुखदानि
सूखत न आँसू सुख सोइबो हरै परो ।
पानि पान भोजन सुजन गुरुजन भूले
देव दुरजन लोग लरत खरे परो ।
लागो कौन पाप पल एकौ न परति कल
दूरि गयो गेह नयो नेह नियरे परो ।
हो तो जो अजान तौ न जानतो इतीकु बिथा
मेरे जिये जान तेरो जानिबो गरे परो ।

१५--तेरो कह्यो करि करि जीव रह्यो जरि जरि
हारी पाँय परि परि तऊ तैं न का सम्हार।
ललन बिलोके देव पल न लगाये तब
यों कल न दीनी तैं छलन उछलनहार।
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई
आपु विधि बूड्यो मांझ वाधा सिंधु, निराधार
एरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीने अब
ए केवार दैकै तोहिं मूंदि मारौं एक बार।

देव की भाषा साहित्यक ब्रजभाषा है और उनकी लेखनी ने उसमें साहित्यिकता की पराकाष्ठा दिखलायी है। उनकी रचनाओं में शब्द लालित्य नर्तन करता दृष्टिगत होता है। और अनुप्रास इस सरसता से आते हैं कि अलंकारों को भी अलंकृत करते जान पड़ते हैं; यह मैं स्वीकार करूंगा कि उन्होंने कहीं कहीं अनुप्रास, यमक आदि के लोभ में पड़ कर ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो गढ़े अथवा तोड़े-मोरोड़े जान पड़ते हैं। परन्तु वे बहुत अल्प हैं और उनकी मनोहर रचना में आकर मनोहरता ही ग्रहण करते हैं अमनोहर नहीं बनते। ब्रजभाषा के जितने नियम हैं उनका पालन तो उन्होंने किया ही है, प्रत्युत उसमें एक ऐसी सरस धारा भी बहा दी है जो बहुत ही मुग्ध करी है और जिसका अनुकरण बाद के कवियों ने अधिकतर किया है। उनकी रचनाओं में अन्य प्रान्तों के भी शब्द मिल जाते हैं, इसका कारण उनका देशाटन है। परंतु वे उनमें ऐसे बैठाले मिलते हैं जैसे किसी सुन्दर स्वर्णाभरणमें कोई नग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कविवर देवदत्त महाकवि थे और उनकी रचनाओं में अधिकांश महाकवि कीसी महत्तायें मौजूद हैं॥

इस शताब्दी में देव के अतिरिक्त भिखारी दास, श्री पति, कवीन्द्र गुमान मिश्र, रघुनाथ, दूलह, तोष और रसलीन ये आठ प्रधान रीति ग्रंथ कार हुये हैं। ये सब ब्रजभाषा के कवि हैं, परन्तु प्रत्येक में कुछ न कुछ

विशेषता है। इसलिये मैं प्रत्येक के विषय में कुछ लिख देना चाहता हूं। मैं इस उद्देश्य से ऐसा करता हूं कि जिससे व्रजभाषा की परम्परा का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान हो सके ॥

(१)

भिखारीदासजी की गणना हिन्दी संसार के प्रतिष्ठित रीति ग्रन्थकारों में है। उन्होंने भी काव्य के सब अङ्गों पर ग्रन्थ लिखे हैं और प्रत्येक विषयों का विवेचन पांडित्य के साथ किया है। कुछ नई उद्भावनायें भी की हैं। परन्तु ये सब बातें संस्कृत काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं। हां, हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में उनकी चर्चा करने का श्रेय उन्हें अवश्य प्राप्त है। अब तक इनके नौ ग्रन्थों का पता लग चुका है जिनमें काव्य-निर्णय और शृंगार-निर्णय विशेष प्रसिद्ध हैं। ये श्री वास्तव कायस्थ थे और प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई बाबू हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में रहते थे, इनकी कृति में वह ओज और माधुर्य्य नहीं है जैसा देवजीकी रचनाओं में है, परन्तु प्रांजलता उनसे इन में अधिक है। जैसा शब्द संगठन देवजी की कृति में है वह इनको प्राप्त नहीं, परन्तु इनकी भाषा अवश्य परिमार्जित है। इनके ग्रन्थ की मुख्य भाषा व्रजभाषा है, और उस पर इनको पूर्ण अधिकार है। किन्तु प्रौढ़ता होने पर भी अनेक स्थानों पर इनकी रचना शिथिल है। ये कविता में विविध प्रकार की भाषा के शब्दों के ग्रहण के पक्षपाती थे। जैसा इनके दोहों से प्रकट है:—

तुलसी गङ्ग दुवौ भये सुकविन के सरदार।
इनकी रचना में मिलो भाषा विविध प्रकार।
व्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोय।
मिलै संसकृत पारसिहुं पै अति प्रगट जु होय।

यही कारण है कि इनकी रचना में ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं जो व्रजभाषा के नहीं कहे जा सकते। ये अवध प्रान्त के रहनेवाले थे।

इसलिये इन्होंने इच्छानुसार अवधी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। फिर भी इनकी भाषा असंयत नहीं है और एक प्रकार की नियम बद्धता उसमें पायी जाती है। इनका 'काव्य निर्णय' नामक ग्रन्थ साहित्य सेवियों में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। मैं इनकी कुछ रचनायें नीचे लिखता हूं। इनके द्वारा आप इनकी कविता-गत विशेषताओं को बहुत कुछ जान सकेंगे।

१—सुजस जनावै भगतन ही सों प्रेम करै
चित्त अति ऊजड़े भजत हरि नाम हैं।
दीन के दुख न देखै आपनो सुखन लेखै
विप्र पाप रत तन मैन मोहै धाम हैं।
जग पर जाहिर है धरम निबाहि रहै
देव दरसन ते लहत बिसराम हैं।
दास जू गनाये जे असज्जन के काम हैं
समुझि देखो येई सब सज्जन के काम हैं।

२—कढ़ि कै निसंक पैठि जात झुंड झुंडन मैं
लोगन को देखि दास आनँद पगति है।
दौरि दौरि जहीं तहीं लाल करि डारति है
अङ्क लगि कंठ लगिबे को उमगति है।
चमक झमकवारी ठमक जमक वारी
रमक तमकवारी जाहिर जगति है।
राम असि रावरे की रन मैं नरन मैं
निलज वनिता सी होरी खेलन लगति है।

३—नैनन को तरसैये कहाँ लौं कहाँ
लौं हियो विरहागि मैं तैये।

एक घरी न कहूं कल पैये कहाँ
लगि प्रानन को कलपैये ।
आवै यही अब जी में विचार
सखी चलि सौतिहुं के घर जैये ।
मान घटे ते कहा घटि है जुपै
प्रान पियारे को देखन पैये ।

४—दृग नासा न तौ तप जाल खगी
न सुगन्ध सनेह के ख्याल खगी ।
स्रुति जीहा विरागै न रागै पगी
मति रामै रँगी औ न कामै रँगी ।
तप में ब्रत नेम न पूरन प्रेम न
भूति जगी न विभूति जगी ।
जग जन्म बृथा तिनको जिनके
गरे सेली लगी न नवेली लगी ।

५—कंज सकोच गड़े रहे कीच में
मीनन बोरि दियो दह नीरन ।
दास कहे मृग हूं को उदास कै
बास दियो है अरन्य गँभीरन ।
आपुस में उपमा उपमेय ह्वै
नैन ये निंदित हैं कवि धीरन ।
खंजन हूं को उड़ाय दियो हलुके
करि डार्‍यो अनङ्ग के तीरन ।

आप लोगों ने मतिराम के सीधे सादे शब्द-विन्यास देखे हैं । वे न तो अनुप्रास लाने की चेष्टा करते हैं और न अलङ्कार पर उनकी अधिक

दृष्टि है। फिर भी वैदर्भी रीति ग्रहण करके उन्होंने बड़ी सरस रचना की है। यही बात दासजी के विषय में भी कही जा सकती है। परन्तु मतिराम के शब्दों में जितना कल्लोल है, जितना सङ्गीत है, जितना मनोमोहनी शक्ति है उतनी दासजी की रचना में नहीं पायी जाती। उनके कोई कोई पद्य इस प्रकार के हैं। परन्तु मतिराम के अधिकांश पद्य ऐसे ही हैं। दासजी ने श्रीपतिजी के भावों का अधिकतर अपहरण किया है और उनकी प्रणाली को ग्रहण कर अपने पद्यों में जीवन डाला है। परन्तु श्रीपति की शब्द-माला में जो मंजुता मिलती है, दासजी में नहीं पायी जाती। फिर भी उनकी रचना कवि-कर्म्म से रहित नहीं है। उन्होंने 'बिष्णु-पुराण' का भी अनुवाद किया है और अमरकोश का भी, जिससे पाया जाता है कि उनका संस्कृत का ज्ञान भी अच्छा था। बिष्णु पुराण की रचना उतनी सरस और सुन्दर नहीं है। जितनी शृंगार निर्णय अथवा काव्य-निर्णय की। फिर भी उसमें कवितागत सौन्दर्य्य है। हां, शिथिलता अवश्य अधिक है। दासजीका काव्य-शास्त्र का ज्ञान उल्लेखनीय है। इसी शक्ति से उन्होंने काव्य-रचना में अपनी यथेष्ट योग्यता दिखलाई है। रीति ग्रन्थ के जितने आचार्य्य हिन्दी साहित्य में हैं उनमें इनका भी आदरणीय स्थान है।

(२)

भाव-सौन्दर्य्य-सम्पादन और सुगठित शब्द-विन्यास करने में इस शताब्दी में देव जी के बाद श्री पति का ही स्थान है। देव जी की रचना में कहीं कहीं इतनी गंभीरता है कि उसका भाव स्पष्ट करने के लिये अधिक मनोनिवेश की आवश्यकता होती है। किंतु श्री पति जी की रचनाओं में यह बात नहीं पाई जाती। वह चाँदनी के समान सुविकसित है और मालती के समान प्रफुल्ल। जैसी चाँदनी सुधामयी है, वैसी ही वह भी सरस है। जैसी मालती की सुरभि मुग्धकरी है वैसी ही वह भी बिमोहक है। श्रीपति जी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, उनका निवास स्थान कालपी में था। उनकी विशेषता यह है कि उनका स्वच्छन्द जीवन था और हृदय के स्वाभाविक उल्लास से वे कविता करते थे। इसलिये उनकी रचना भी उल्लासमयी है।

सलिल का वह निर्मुक्त प्रवाह जो अपनी स्वतंत्र गति से प्रवाहित होता रहता है, जैसा होता है, वैसी ही उनकी स्वतः प्रवाहिनी कविता भी है। उनका 'काव्य-सरोज' नामक ग्रंथ साहित्य-क्षेत्र में उच्च स्थान रखता है। दोषों का जैसा विशद वर्णन समालोचनात्मक दृष्टि से उन्होंने किया है वैसा उनके पहले का कोई कवि अथवा महाकवि नहीं कर सका। दोषों का इतना सूक्ष्म विवेचन उन्होंने किया है कि महाकवि केशवदास की उच्चतम रचनायें भी उनकी दोषदर्शक दृष्टि से न बच सकीं। इसग्रंथ के अतिरिक्त उनके छः ग्रंथ और हैं, जिनमें 'कवि-कल्पद्रुम', 'रससागर', 'अनुप्रास-विनोद' और 'अलंकार-गंगा' विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्होंने भी काव्य के सब अंगों का वर्णन किया है। और वह भी इस शैली से, जो विशदता और विद्वत्ता से पूर्ण है, सेनापति के समान उन्होंने भी ऋतुओं का वर्णन बड़ी भावुकता के साथ किया है। परंतु यह मैं कहूंगा कि उनके वर्णन में सरसता अधिक है। उनका वर्षा का वर्णन बहुत ही हृदय ग्राही है। एक विशेषता उनमें और पायी जाती है। वह यह कि उन्होंने नैतिक रचनायें भी की हैं और उसमें अन्योक्ति के आधार अथवा भावमय व्यंजनाओं के अवलम्बन से ऐसी भावुकता भरदी है कि उनके द्वारा हृदय अधिकतर प्रभावित होता है और उसमें सत्प्रवृत्ति जागृत होती है। उनके इस विषय के कोई कोई कवित्त बड़े ही अनूठे और उपयोगी हैं, जो एक आचरणशील उपदेशक का काम यथावसर करदेते हैं। उनकी कुछ रचनायें नीचे लिखी जाती हैं:—

१— सारस के नादन को वाद ना सुनात कहूं
नाहक ही बकवाद दादुर महा करै।
श्री पति सुकवि जहां ओज ना सरोजन को
फूल ना फुलत जाहि चितदै चहा करै।
बकन की बानी की बिराजत है राजधानी
काई सो कलित पानी फेरत हहा करै।
घोंघन के जाल जामैं नरई सिवाल व्याल
ऐसे पापी ताल को मराल लै कहा करै।

२—ताल फीको अजल कमल बिन जल फीको
कहत सकल कवि हवि फीको रूम को।
बिनु गुन रूप फीको, असर को कूप फीको
परम अनूप भूप फीको बिन भूम को।
श्रीपति सुकवि महा वेग बिनु तुरी फीको
जानत जहान सदा जोन्ह फीको धूम्र को।
मेँह फीको फागुन अबालक को गेह फीको
नेह फाको तिय को सनेह फीको सूम को।

३—तेल नीको तिल को फुलेल अजमेर ही को
साहब दलेल नीको सैल नीको चंद को।
विद्या को विवाद नीको राम गुन नाद नीको
कोमल मधुर सदा स्वाद नीको कंद को।
गऊ नवनीत नीको ग्रीषम को सीत नीको
श्रीपति जू मीत नीको बिना फरफंद को।
जात रूप घट नीको रेसम को पट नीको
बंसीबट तट नीको नट नीको नंद को।

४—बेधा होत फूहर कलपतरु थूहर
परमहंस चूहर की होत परिपाटी को।
भूपति मँगैया होत काम धेनु गैया होत
चूवत मयंद गज चेरा होत चाटी को।
श्री पति सुजान भनै बैरी निज बाप होत
पुन्न माहिं पाप होत साँप होत साटी को।
निर्धन कुबेर होत स्यार समसेर होत
दिनन को फेर होत मेर होत माटी को।

५—जल भरे झूमैं मानों भूमैं परसत आय
दसहूं दिसान घूमैं दामिनी लये लये।
धूरि धार धूमरे से धूम से धुंधारे कारे
धुरवान धारे धावैं छवि सों छये छये।
श्रीपति सुकवि कहै घोरि घोरि घहराहिं
तकत अतन तन ताप तें तये तये।
लाल बिनु कैसे लाज चादर रहेगी आज
कादर करत मोहिं बादर नये नये।

६—हारि जात बारि जात मालती बिदारि जात
बारिजात पारिजात सोधन मैं करीसी।
माखन सी मैन सी मुरारी मखमल सम
कोमल सरस तन फूलन की छरी सी।
गहगही गरुई गुराई गोरी गोरेगात
श्रीपति बिलौर सीसी ईंगुर सों भरीसी।
विज्जुथिर धरी सी कनक-रेख करी सी
प्रवाल छबि हरी सी लसत लाल लरीसी।

७—भौंरन की भीर लैके दच्छिन समीर धीर
डोलत है मंद अब तुम धौं कितै रहे।
कहै कवि श्रीपति हो प्रबल बसंत
मति मंत मेरे कंत के सहायक जितै रहे।
जागहि विरह जुर जोर ते पवन ह्वै कै
पर धूम भूमि पै सम्हारत नितै रहे।
रति को बिलाप देखि करुना अगार कछू
लोचन को मूंदि कै तिलोचन चितै रहे।

इनकी रचना में अनुप्रासों की कमी नहीं हैं, परन्तु अनुप्रास इस प्रकार से आये हैं कि शब्द माला उनसे कंठगत पुष्पमाला समान सुसज्जित होती रहती है। वास्तवमें ये ब्रजभाषा-साहित्य के आचार्य्य हैं और इनकी रचना भाव रूपी भगवान शिव के शिर को मन्दार माला है। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है और उसमें उसकी समस्त विशेषतायें पायी जाती हैं।

कवीन्द्र (उदयनाथ) कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे। इनका एक ग्रंथ 'रस-चन्द्रोदय' नामक अधिक प्रसिद्ध है। पिता के समान ये भी सरस हृदय थे। अपनी रचनाओं ही के कारण इनका कई राज-दर्बारों में अच्छा आदर हुआ। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है और उसकी बिशेशता यह है कि उसमें शृंगार रस का वर्णन उन्होंने बड़ी ही सरसता से किया। उनके कुछ पद्य देखिये:—

१—कैसी ही लगन जामैं लगन लगाई तुम
प्रेम की पगनि के परेखे हिये कसके।
केतिको छपाय के उपाय उपजाय प्यारे
तुम ते मिलाय के चढ़ाये चोप चसके।
भनत कविंद हमैं कुंज मैं बुलाय कर
बसे कित जाय दुख दे कर अबस के।
पगन में छाले परे, नाँघिबे को नाले परे
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

२—छिति छमता की, परिमिति मृदुता की कैधों
ताकी है अनीति सौति जनताकी देह की।
सत्य की सता है सीलतरु की लता है
रसना है कै विनीत पर नीत निज नेहकी।

भनत कविंद सुर नर नाग नारिन की
सिच्छा है कि इच्छा रूप रच्छन अछेह की।
पतिव्रत पारावार वारी कमला है
साधुता की कै सिला है कैकला है कुलगेह को।

'तोष' का मुख्य नाम तोषनिधि है। ये जाति के ब्राह्मण और इलाहाबाद जिले के रहने वाले थे। 'सुधानिधि' नामक नायिका भेद का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ इन्होंने रचा। यही इनका प्रधान ग्रन्थ है। 'विनय शतक' और 'नखशिख' नामक और दो ग्रन्थ भी इनके बताये जाते हैं। तोष की गणना ब्रजभाषा के प्रधान कवियों में होती है। इनको विशेषता यह है कि इनकी भाषा प्रौढ़ और भावमयी है। मिश्र बन्धुओं ने इनका एक काल ही माना है और उसके अन्तर्गत बहुत से कवियों को स्थान दिया है। उन्हों ने इनकी रचना को कसौटी मान कर और कवियों को रचनाओं को उसी पर कसा है। इस प्रकार जो कविता उन्हों ने प्रौढ़ और गम्भीर पायी उसे तोष की श्रेणी में लिखा। अन्य हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों ने भी तोष को आदर्श कवि माना है। इनमें यह विशेषता अवश्य है कि इन्हों ने अपनी रचनाओं में शिथिलता नहीं आने दी, और भाषा भी ऐसी लिखी जो टकसाली कही जा सकती है। उनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। और अधिकांश निर्दोष है। उनके कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं।

१—भूषन भूषित दूषन हीन
प्रवीन महारस मैं छवि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि
में परमारथ स्वारथ पाई।
औ उकतैं मुकतैं उलही कवि
तोष अनोखी भरी चतुराई।

होति सबै सुख की जनिता बनि
आवत जो बनिता कविताई।

२—श्रीहरि को छवि देखिबे को अँखियां
प्रति रोमन में करि देतो।
बैनन के सुनिबे कहँ श्रौन
जितै चित तू करतो करिहेतो।
मोढिग छोड़न काम कछू कहि
तोष यहै लिखतो बिधि एतो।
तौ करतार इती करनी करि कै
कलि मैं कल कीरति लेतो।

रघुनाथ बंदीजन महाराज काशिराज बरिवंड सिंह के राजकवि थे। उन्होंने इनको काशी के सन्निकट चौरा नामक एक ग्राम ही देदिया था। रघुनाथ ने 'रसिक मोहन', 'काव्य कलाधर' और 'इश्कमहोत्सव' नामक ग्रंथों की रचना की है और बिहारी सतसई की टीका भी बनाई है। इनकी विशेषता यह है कि इन्होंने खड़ी बोलचाल में भी कुछ कविता की है। इनकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। इनके कुछ पद्य देखिये:—

१—ग्वाल संग जैबो ब्रजगायन चरैबो ऐबो
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौं गुंज माल पर
कुंजन की सुधि आये हियो दरकत है।
गोबर को गारो रघुनाथ कछू याते भारो
कहा भयो महलनि मनि मरकत है।
मंदिर हैं मंदर ते ऊंचे मेरे द्वारिका के
ब्रज के खरक तऊ हिये खरकत हैं।

२—फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन
कहै रघुनाथ भरे चैन-रस सियरे ।
दौरि आये भौंर से करत गुनी गुन गान
सिद्धि से सुजान सुखसागर सों नियरे।
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी
चिरिया सी जागी चिन्ता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आजु
भोर कैसे नखत नरिंद भये पियरे ।

३—सूखति जात सुनी जब सों
कछु खात न पीवत कैसे धौं रैहै ।
जाकी है ऐसी दसा अबहीं
रघुनाथ सो औधि अधार क्यों पैहै ।
ताते न कीजिये गौन बलाय
ल्यों गौन करे यह सोस बिसैहै ।
जानत हौ दृग ओट भये तिय
प्रान उसासहिं के सँग जैहै ।

४—देखिबे को दुतिपूनो के चंद की
हे रघुनाथ श्रीराधिका रानी ।
आई बुलाय कै चौतरा ऊपर
ठाढ़ी भई सुख सौरभ सानी ।
ऐसी गयी मिलि जोन्ह की जोत
मैं रूप की रासि न जाति बखानी ।
बारन ते कछु भौंहन ते कछु
नैनन की छबि ते पहिचानी ।

एक खड़ी बोली की रचना देखिये:—

१—आप दरियाव पास नदियों के जाना नहीं
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि आसरे को कभी राखत ना
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी।
लायक हमारे जो था कहना सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है आप उसके न
आप कैसे चलो वह आप पास आवैगी।

गुमान मिश्र इसलिये प्रसिद्ध हैं कि उन्होंने संस्कृत के नैषध काव्य का अनुवाद ब्रजभाषा में किया। उनके रचे अलंकार नायिका-भेद आदि काव्य-सम्बन्धी कतिपय ग्रंथ और 'कृष्णचन्द्रिका' नामक एक अन्य ग्रंथ का भी पता चला है। परन्तु इनमें अबतक कोई प्रकाशित नहीं हुआ। ये संस्कृत के विद्वान् थे और हिन्दी भाषा पर इनका बड़ा अधिकार था। परंतु इनका नैषध का अनुवाद उत्तम नहीं हुआ। उसमें स्थान स्थान पर बड़ी जटिलता है। वाच्यार्थ भी स्पष्ट नहीं और जैसी चाहिये वैसी उसमें सरसता भी नहीं। फिर भी उसके अनेक अंश सुंदर और मनोहर हैं। ग्रंथ की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है किंतु उसमें संस्कृत का पुट अधिक है। कुछ पद्य देखिये:—

—हाटक हंस चल्यो उड़ि कै नभ में
दुगुनी तन ज्योति भई।
लीक सो खैंचि गयो छन में
छहराय रही छबि सोनमई
नैनन सों निरख्यो न बनाय कै
कै उपमा मन मांहि लई।

स्यामल चीर मनो पसऱ्यो
तेहि पै कलकंचन बेलि नई।

२—दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि
धूरि की धुंधेरी सों अँधेरी आभा भानुकी।
धाम औ धरा को माल बाल अबला को अरि
तजत परान राह चाहत परान की।
सैयद समर्थ भूप अली अकबर दल
चलत बजाय मारु दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फनतु फनीस उलटतु ऐसे
चोली खोलि ढोली ज्यों तमोली पाके पानकी।

कहा जाता है कि पिता का गुण यदि पुत्रमें नहीं तो पौत्रमें आता है। दूलह कालिदास त्रिवेदी के पौत्र थे, किंतु वे भाग्यवान थे कि उनके पिता कवीन्द्र भी सत्कवि थे। वास्तव में उनमें तीन पीढ़ियों द्वारा संचित कवि-कर्म्म का विकास था। दूलह की गणना हिन्दी संसार के प्रसिद्ध कवियों में है। उनका 'कवि कुल-कंठाभरण' नामक अलंकार का केवल एक ग्रंथ है, किन्तु इसी ग्रंथ के आधार से वे ख्याति-प्राप्त हैं। उनकी कुछ स्फुट रचनायें भी मिलती हैं, परन्तु उनकी संख्या भी अधिक नहीं। 'कवि कुल कंठाभरण' कवित्तों और सवैयों में रचा गया है। इसीलिये उसमें अलंकारों का निरूपण यथातथ्य हो सका है। उसकी प्रसिद्धि का कारण भी यही है। इसी सूत्र से उस काल के अलंकारानुरागी कवियों में उसका अधिक आदर हुआ। ग्रंथ की रचना साहित्यिक व्रजभाषा में है, उसमें यथेष्ट सरसता और मनोहरता भी है। उनकी अन्य रचनायें भी ऐसी ही हैं। कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—उत्तर उत्तर उत करख बखानौं 'सार'
दीरघ ते दीरघ लघू ते लघू भारीको

सब ते मधुर ऊख ऊख ते पियूख औ
पियूख हूं ते मधुर है अधर पियारी को ।
जहां क्रमिकन को क्रमै ते यथा क्रम
'यथासंख्य' बैन नैन नैन कोन ऐसे धारा को
कोकिल ते कल कंज दल ते अदल भाव
जीत्यो जिन काम की कटारी नोकवारी को

२—माने सनमाने तेई माने सनमाने
सनमाने सनमाने सनमान पाइयतु है ।
कहै कवि दूलह अजाने अपमाने
अपमान सों सदन तिनही को छाइयतु है ।
जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार
जान बूझ भूले तिनको सुनाइयतु है ।
काम बस परे कोऊ गहत गरूर है तो
अपनी जरूर जा जरूर जाइयतु है ।

बेनी नाम के दो कवि हो गये हैं। दोनों बंदी जन थे। पहले बेनी असनी के निवासी थे इनका समय सत्रहवीं ईस्वी शताब्दी का प्रारम्भ है। ये अपनी कविता में बेनी नाम ही रखते थे। दूसरे बेनी ज़िला रायबरेली के थे। ए इस शताब्दी में हुए। पद्योंमें अपने नामके बाद ए प्रायः कवि भी लिखते हैं, यही दोनों की पहचान है। पहले बेनी का कोई ग्रंथ अब तक नहीं मिला। उनकी स्फुट रचनायें अधिक मिलती हैं। शिव सिंह सरोज कार ने इनके एक ग्रंथ की चर्चा की है। पर वह अब तक अप्रकाशित है। संभव है कि वह अप्राप्य हो। इनमें दूसरे बेनी के समान विशेषतायें नहीं हैं। परंतु ये एक सरस हृदय कवि थे, इनकी भाषासे रस निचुड़ा पड़ता है। इनके दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं :—

१—छहरै सिर पै छवि मोर पखा
उनकी नथ के मुकता थहरैं।
फहरै पियरो पट बेनी इतै
उनकी चुनरी के झवा झहरैं।
रस रंग भिरे अभिरे हैं तमाल
दोऊ रस ख्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका
स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं।

२—कवि बेनी नई उनई है घटा
मोरवा बन बोलत कूकन री।
छहरैं बिजुरी छिति मंडल छ्वै
लहरै मन मैन भभूकन री।
पहिरो चुनरी चुनि कै दुलही
सँग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस योंही बितावति हो
मरिहो फिर बावरी हूकन री।

दूसरे बेनी गीति ग्रन्थकार हैं, उन्हों ने 'टिकैतराय प्रकाश' और 'रसविलास, नामक दो ग्रंथों की रचना की है। पहला ग्रन्थ अलंकार का और दूसरा रस सम्बन्धी है। भाषा इनकी भी सरस और सुंदर है। भावानुकुल शब्द-विन्यास में ये निपुण हैं। इनमें विशेषता यह है कि इन्होंने हास्यरस की भी प्रशंसनीय रचना की है और अधिकतर उसमें व्यंग से काम लिया है। ये हिन्दी संसार के 'सौदा' कहे जा सकते हैं। जैसे उर्दू कवियों में हजो कहने में सौदा का प्रधान स्थान है उसी प्रकार किसी को हँसी उड़ाने अथवा किसी पर व्यंग-बाण वर्षा करने में ये भी हिन्दी कवियों के अग्रणी हैं। ये जिससे खिजे या बिगड़े उसीकी गत बना दी

चाहे वह कोई स्थान हो वा कोई मनुष्य। परन्तु इनकी भाषा की विशेषता सर्वथा सुरक्षित रहती है। इनकी अन्य रचनायें भी मनोहारिणी और ललित हैं। हां, चटपटी प्रकृति उनमें भी प्रतिबिम्बित मिलती है। कुछ पद्य देखिये:—

१—घर घर घाट घाट बाट बाट ठाट ठटे
बेला औ कुबेला फिरैं चेला लिये आस पास।
कबिन सों बाद करैं भेद बिन नाद करैं
सदा उनमाद करैं धरम करम नास।
बेनी कबि कहै बिभिचारिन को बादसाह
अतन प्रकासत न सतन सरम नास।
ललना ललक नैन मैन की झलक
हँसि हेरत अलक रद खलक ललक दास।

इस पद्य में ललकदास एक महंत की पगड़ी उतारी गई है।

२—कारीगर कोऊ करामात कै बनाय लायो
लीनो दाम थोरो जानि नई सुघरई है।
राय जू को राय जू रजाई दीन्हीं राजी ह्वै कै
सहर में ठौर ठौर सुहरत भई है।
बेनी कबि पाय कै अघाय रहे घरी द्वैक
कहत न बनै कछु ऐसी मति ठई है।
साँस लेत उड़िगो उपल्ला औ भितल्ला सबै
दिन द्वै के बाती हेत रूई रहि गई है।

इस पद्य में एक रायजी की गत बनाई गयी है।

३—संभु नैन जाल औफनी को फूतकार कहा
जाके आगे महाकाल दौरत हरौली तें।

सातो चिरजीवी पुनि मारकंडे लोमस लौं
देखि कंपमान होत खोलें जब झोली तें।
गरल अनल औ प्रलय दावानल भर
बेनि कबि छेदि लेत गिरत हथोली तें।
बचन न पावैं धनवंतरि जो आवैं
हरगोबिंद बचावैं हरगोबिंद की गोली तें।

इस पद्य में एक बैद्य जी की नाड़ी बेतरह टटोली गयी है।

४—गड़िजात बाजी औ गयंद गन अड़ि जात
सुतुर अकड़ि जात मुसकिल गऊ की।
दाँवन उठाय पाय धोखे जो धरत कोऊ
आप गरकाप रहि जात पाग मऊ की।
बेनी कबि कहै देखि थर थर काँपै गात
रथन के पथ ना बिपद बरदऊ की।
बार बार कहत पुकार करतार तो सों
मीच है कबूल पै न कीच लखनऊ की।

इस पद्य में लखनऊ पर बेतरह कीच उछाली गई है।

५—चींटी की चलावै को मसा के मुख आय जाय
साँस की पवन लागे कोसन भगत है।
एनक लगाय मरू मरू कै निहारे परै
अनु परमानु की समानता खगत है।
बेनी कबि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं।
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।

ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि
जाके आगे सरसों सुमेरु सी लगत है।

इस पद्य में बेचारे दयाराम को खटाई में डाल दिया गया है। दो पद्य इनके शान्तरस के भी देखिये:—

१—पृथु नल जनक जजाति मानधाता ऐसे
केते भये भूप जस छिति पर छाइगे।
कालचक्र परे सक्र सैकरन होत जात
कहाँ लौं गनावौं विधि बासर बिताइगे।
बेनी साज संपति समाज साज सेना कहाँ
पाँयन पसारि हाथ खोले मुख बाइगे।
छुद्र छिति पालन की गिनती गिनावै कौन
रावन से बली तेऊ बुल्ला से बुलाइगे।

२—राग कीने रंग कीने तरुनी प्रसंग कीने
हाथ कीने चीकने सुगंध लाय चोली में।
देह कीने गेह कीने सुंदर सनेह कीने
बासर बितीत कीने नाहक ठिठोली में।
बेनी कबि कहै परमारथ न कीने मूढ़
दिना चार स्वाँग सो दिखाय चले होली में।
बोलत न डोलत खोलत पलक हाय
काठ से पड़े हैं आज काठ की खटोली में।

दो रचनायें शृंगार रस की भी देखिये:—

१—बिपत बिलोकत ही मुनि मन डोलि उठे
बोलि उठे, बरही बिनोद भरे बन बन।

अकल विकल ह्वै विकाने हैं पथिक जन
ऊर्ध मुख चातक अधोमुख मराल गन।
बेनी कवि कहत मही के महाभाग भये
सुखद संजोगिन बियोगिन के ताप तन।
कंज पुंज गंजन कृषी दल के रंजन
सो आये मान भंजन ए अंजन बरन घन।

२ करि की चुराई चाल सिंह को चुरायो लंक
ससि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन
दसन अनार हाँसी बीजुरी गँभीर की।
कहै कबि बेनी बेनी ब्याल की चुराय लीनी
रती रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चित हूं चुराय लीनो
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की।

इस कवि का वाच्यार्थ कितना प्रांजल है और उसके कथन में कितना प्रवाह है, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, पद्य स्वयं इसको बतला रहे हैं। ये उर्दू फ़ारसी अथवा अन्य भाषा के शब्दों को जिस प्रकार अपनी रचना के ढंग में ढाल लेते हैं, वह भी प्रशंसनीय है। मेरा विचार है कि हिन्दी साहित्य के प्रधान कवियों में ये भी स्थान लाभ के अधिकारी हैं।

प्रत्येक शतक में कोई न कोई सहृदय मुसलमान हिन्दी देवी की अर्चना करते दृष्टिगत होता है। सैयद गुलाम नबी (रसलीन) बिलग्रामी ऐसे ही सहृदय कवि हैं। मेरा विचार है कि अवधी की रचना में जो गौरव मलिक महम्मद जायसी को प्राप्त है, व्रजभाषा की सरस रचना के लिये उसी गौरव के अधिकारी रसखान, मुबारक और रसलीन हैं। रसलीन ने 'अंग दर्पण,' और 'रस प्रबोध' नामक ग्रन्थों की रचना की है। ये अरबी

फ़ारसी के नामी विद्वान् थे। फिर भी इन्होंने ब्रजभाषा में रचना की और इस निपुणता से की जो उल्लेखनीय है। इनके दोनों ग्रंथ दोहों में हैं। पहले में अंगों का वर्णन है और दूसरे में नव रसों पर सरस और भावमयी कविता है। इनको फ़ारसी और उर्दू के शेरों का अनुभव था जो दो बंदों में ही बहुत कुछ चमत्कार दिखला जाते हैं। इसलिये इन्हों ने उन्हीं का अनुकरण किया और अपने दोहों को वैसा ही चमत्कारक बनाया। इनकी सुन्दर सरस और भावमयी भाषा ब्रजभाषा देवी के चरणों पर चढ़ाने के लिये मुग्ध कर सुमनावलि-माला समान है। इनके दोहों को सुनकर यह जी कहने लगता है कि क्या कोई मुसलमान भी ऐसी टकसाली भाषा लिख सकता है ? किंतु रसलीन ने इस शंका का समाधान कर दिया है। इनकी कुछ रचनायें देखिये:—

१—अमी हलाहल मद भरे स्वेत स्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एकबार॥

२—मुख ससि निरखि चकोर अरु तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भँवर होत नयन रसलीन॥

३—सौतिन मुख निसि कमल भो पिय चख भये चकोर।
गुरुजन मन सागर भये लखि दुलहिन मुख ओर॥

४—मुकुल भये घर खोय कै कानन बैठे आय।
अब घर खोवत और के कीजै कौन उपाय॥

५—धरति न चौकी नगजरी याते उर में लाइ।
छाँह परे पर पुरुष की जनि तिय धरम नसाइ॥

इस शताब्दी में बहुत अधिक रीति ग्रंथकार हुये हैं। सब के विषय में कुछ लिखना हमारे उद्देश्य से सम्बन्ध नहीं रखता। सबकी भाषा लगभग एक ही है और एक ही विषय का वर्णन प्रायः सभी ने किया है। उनमें जो आदर्श थे और जिनमें कोई विशेषता थी उनके विषय में जो लिखना था

लिखा गया। परन्तु अब भी ऐसे कतिपय रीति-ग्रंथकार शेष हैं जिनका ब्रजभाषा-साहित्य में अच्छा स्थान है और जो प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते हैं। सब के सविशेष वर्णन के लिये मेरे पास स्थान नहीं। हां मैं यह अवश्य चाहता हूं कि उनकी रचना-शैली का ज्ञान आपलोगों को करा दूं, जिससे यह यथातथ्य ज्ञात हो सके कि इस शताब्दी में ब्रजभाषा का वास्तविक रूप क्या था इसलिये कुछ लोगों की रचनायें आपलोगों के सामने क्रमशः उपस्थित करता हूं:--

सूरति मिश्र आगरे के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये बिहारी सत-सई के प्रसिद्ध टीकाकार हैं, रीति-सम्बन्धी सात आठ ग्रन्थों की रचना भी इन्होंने की है। इनका एक पद्य देखिये :—

तेरे ये कपोल बाल अति ही रसाल
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है।
नेक दरपन समता की चाह करी कहूं
भये अपराधी ऐसो चित धारियत है।
सूरति सो याही ते जगत बीच आज हूं लौं,
उन के बदन पर छार डारियत है।

कृष्ण कवि बिहारीलाल के पुत्र कहे जाते हैं। इन्होंने बिहारीलाल के दोहों पर टीका की भांति एक एक सवैया लिखा है। वार्तिक में काव्य के समस्त अंगोका पूर्णतया निरूपण भी किया है। उनका एक पद्य देखिये:—

१—थोरे ई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहूं कान्ह मनौं भये आजु कालि के दानि।

२—ह्वै अति आरत मैं बिनती,
बहुबार करी करुना रस भीनी ।
कृष्ण कृपानिधि दीन के बंधु,
सुनी असुनी तुम काहे को कीनी ।
रीझते रंचक ही गुनसों वह बानी,
बिसारि मनों अब दीनी ।
जानि परी तुम हूं हरि जू,
कलि काल के दानिन की मत लीनी ।

अमेठी के राजा गुरुदत्त सिंह ने 'भूपति' नाम से कवितायें की हैं। उनके तीन ग्रंथ बतलाये जाते हैं। 'कंठभूषण' और 'रस रत्नाकर' दो रीतिग्रथों के अतिरिक्त उन्होंने एक सतसई भी बनाई थी। ये कवियों का बड़ा आदर सम्मान करते थे। इनकी रचनायें भी सरस हैं। दो दोहे देखिये :—

१—घूंघट पट की आड़ दै हँसति जबै वहदार ।
ससि मंडल ते कढ़ति छनि जनु पियूख की धार ।
२—भये रसाल रसाल हैं भये पुहुप मकरंद
मान सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद मंद ।

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण थे, भरतपुर दरबार में रहते थे। इनका 'रस पियूषनिधि' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसमें काव्य के समस्त लक्षणों का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इन्हों ने एक प्रवन्ध काव्य भी लिखा है। यह सिंहासन बतीसी का पद्यबद्ध रूप है। इसका नाम सुजन बिलास है। इनके दो ग्रंथ और हैं जिनमें से एक नाटक है, जिसका नाम माधव विनोद है। दूसरे का नाम 'लीलावती' है। 'माधव विनोद' का नाम भर नाटक है वास्तव में वह प्रेम-सम्बन्धी प्रवंध ग्रंथ है। इनकी रचना सुन्दर और सरस है। इनका एक पद्य देखिये:—

दिसि बिदिसन ते उमड़ि मढ़ि लीन्हों नभ,
छाड़ि दीन्हें धुरवा जवासे जूथ जरिगे।
डहडहे भये द्रुम रंचक हवा के गुन
कहूं कहूं मोरवा पुकारि मोद भरिगे।
रहि गये चातक जहाँ के तहाँ देखत ही
सोमनाथ कहै बूंदा बूंदि हूं न करिगे।
सोर भयो घोर चारों ओर महि मंडल मैं
आये घन आये घन आय कै उघरिगे।

शंभुनाथ मिश्र ने 'रस-कल्लोल', रस-तरंगिणी और 'अलंकार दीपक' नामक तीन ग्रंथ बनाये हैं। ये फ़तेहपुर के रहने वाले थे। इनकी रचना सुन्दर है। पर राजा भगवंत राय खीचो की प्रशंसा ही उसमें अधिक है। वे उनके आश्रयदाता थे। एक पद्य देखिये:—

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही
धौंसा की धुकार धूर परी मुँह याही के।
भय के अजीरन ते जीरन उजीर भये
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के।
बीर खेत बीच बरछी लै बिरुझानो
इतै धीरज न रह्यो संभु कौन हूं सिपाही के।
भूप भगवंत बीर ग्वाही कै खलक सब
स्याही लाई बदन तमाम पादसाही के।

ऋषिनाथ वंदी जन और असनी के रहने वाले थे। 'अलंकार मणि-मंजरी' नामक एक ग्रंथ इन्होंने बनाया है। उसका एक पद्य देखिये। इनकी रचनाओं में प्रतिभा झलकती मिलती है:—

छाया छत्र ह्वै कर करत महिपालन को
पालन को पूरो फैलो रजत अपार है ।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख स्रौनन में
जगत जगत हंस हास हीर हार है ।
ऋषि नाथ सदानंद सुजस बलंद
तमबृंद के हरैया चंद्र चंद्रिका सुढार है ।
हीतल को सीतल करत घनसार है
महीतल को पावन करत गंगधार है ।

रतन कवि गढ़वाल के राजा फ़तेह साह के यहां थे । उन्होंने 'फ़तेह-भूषण' और 'अलंकार-दर्पण' नाम के दो ग्रंथ रचे । इनकी रचना-शैली सुंदर और विशद है । एक पद्य देखिये :—

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन
कारे सटकारे बार छहरे छवानि छ्वै ।
स्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की
ओप वारी न्यारी रही बदन उँजारी ह्वै ।
मृगमद बेंदी भाल अनमोल आभरन
हरन हिये की तू है रंभा रति ही अवै ।
नीके नथुनी के तैसे युगल सुहात मोती
चंद पर च्वै रहे सु मानों सुधा बुंद द्वै ।

चंदन बंदी जन पुवांया के रहने वाले थे । राजा केसरीसिंह के यहाँ रहते थे । इन्हों ने दस बारह ग्रंथों की रचना की है, जिनमें से 'शृंगार-सागर' 'काव्याभरण' और 'कल्लोल तरंगिणी' अधिक प्रसिद्ध हैं । इन्हों ने एक प्रवन्ध काव्य भी लिखा है जिसका नाम 'शीत वसंत' है । ये फ़ारसी के भी शायर थे । इनका एक पद्य देखिये:—

ब्रजवारी गँवारी दै जानै कहा यह चातुरता न लुगायन मैं।
पुनि बारिनी जानि अनारिनी है रुचि एती न चंदन नायन मैं।
छवि रंग सुरंग के बिंदु बने लगैं इन्द्र बधू लघुतायन मैं।
चित जो चहैं दी चकसी रहैं दो केहिदी मेंहदी इन पायन मैं।

देवकी नंदन ब्राह्मण और कन्नौज के पास के रहनेवाले थे। इन्होंने चार पांच ग्रंथों की रचना की है, जिनमें 'श्रृंगार चरित्र' और 'अवधूत-भूषण' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका 'सरफ़राज़-चन्द्रिका' नामक ग्रंथ भी अच्छा है। इनकी भाषा टकसाली है और उसमें सहृदयता पाई जाती है। एक पद्य देखिये :—

मोतिन की माल तोरि चीर सब चीरि डारे
फेरि कै न जैहों आली दुख बिकरारे हैं।
देवकी नंदन कहैं धोखे नाग छौनन के
अलकैं प्रसून नोचि नोचि निर वारे हैं।
मानि मुखचंद भाव चोंच दई अधरन
तीनों ए निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे
तैसे मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं।

भानु कवि ने 'नरेन्द्र भूषण' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें विशेषता यह है कि अलंकारों के उदाहरण सब रसों के दिये हैं। इनकी रचना अच्छी है। ये बुन्देले थे और राजा रनजोर सिंह के यहां रहते थे। इनका एक पद्य देखिये:—

घन से सघन स्याम इंदु पर छाय रहे
बैठी तहां असित द्विरेफन की पाँति सी।
तिनके समीप तहाँ खंज की सी जोरी लाल
आरसी से अमल निहारे बहुभांति सी।

ताके ढिग अमल ललौहैं बिवि बिद्रुम से
फरकति ओप जामैं मोतिन की कांति सो।
भीतर ते कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि
सुन करि भानु परि काननसुहाति सी।

थान कवि वंदी जन थे। इनका मुख्य नाम थान राय था। इनकी भाषा ललित है और 'दलेल प्रकाश' नामक एक रीति-ग्रंथ ही इनका पाया जाता है। पद-विन्यास देखने से यह प्रतीति होती है कि भाषा पर इनको अच्छा अधिकार था एक पद्य देखिये:—

दासन पै दाहिनी परम हंस वाहिनी हौ,
पोथी कर बीना सुर मंडल मढ़त है।
आसन कँवल अंग अंबर धवल
मुखचंद सो अमल रंग नवल चढ़त है।
ऐसी मातु भारती की आरती करत थान
जाको जस विधि ऐसो पंडित पढ़त है।
ताकी दया दीठि लाख पाथर निराखर के
मुखते मधुर मंजु आखर कढ़त है।

रीति ग्रंथकारों के बाद अब मैं उन प्रेम-मार्गी कवियों की चर्चा करूंगा जो प्रेम में मत्त होकर अपने आंतरिक अनुराग से ही कविता करते थे। उनका प्रेममय उल्लास उनकी पंक्तियों में बिलसित मिलता है और उनके हृदय का मधुर प्रवाह प्रत्येक सहृदयको विमुग्ध बना देता है। इस शताब्दीमें मुझको इस प्रकारके चार पांच कवि-पुंगवही ऐसे दिखलायी पड़ते हैं जो उल्लेख योग्य हैं और जिनमें विशेषता पायी जाती हैं। वे हैं— घन आनन्द, नागरीदास, सीतल, बोधा और रसनिधि। क्रमशः इनका परिचय मैं आपलोगों को देता हूं।

घन आनंद वास्तव में आनन्द-घन थे। वे जाति के कायस्थ और निम्बार्क सम्प्रदाय के वैष्णव थे। कहा जाता है कि वे दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के मुंशी थे। ये सरस हृदय कवि तो थे ही, गान विद्या में भी निपुण थे। इनके रचे छः ग्रन्थ बतलाये जाते हैं, जिनमें 'सुजान-सागर', 'घनानंद कवित्त' और 'रसकेलि-बल्ली' नामक ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं जनश्रुति है कि ये 'सुजान' नामक एक वेश्या पर अनुरक्त थे। इनकी रचनाओं में उसका नाम बहुत आता है। उस वेश्या के दुर्भाव से ही इनके हृदय में विरक्ति उत्पन्न हुई और ये दिल्ली छोड़कर वृन्दावन चले गये। और वहीं युगलमूर्त्ति के प्रेम में मत्त होकर अपना शेष जीवन व्यतीत किया। सुना जाता है नादिरशाही ने इनके जीवन को समाप्त किया था। अंतिम समय में इन्हों ने यह रचना की थीः—

बहुत दिनन की अवधि आस पास परे
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को
गहि गहि राखत हो दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि ते उदास ह्वै कै
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करिकै पयान प्रान
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को।

ये शुद्ध व्रजभाषा के कवि माने जाते हैं। इनका दावा भी यही है, जैसा इस पद्य से प्रगट होता है।

नेही महा व्रजभाषा प्रवीन
औ सुन्दरता हुं के भेद को जानै।
योग वियोग की रीति में कोविद
भावना भेद स्वरूप को ठानै।

चाह के रंग में भीज्यो हियो
बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै
जो घन जू के कबित्त बखानै।

परन्तु मेरा विचार है कि इनकी भाषा साहित्यिक व्रजभाषा ही है, क्योंकि ये ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का प्रयोग करते नहीं देखे जाते। इसी प्रकार ये स्थान स्थान पर ऐसे शब्द लिख जाते हैं जो व्रजभाषा के नियमानुकूल नहीं कहे जा सकते। निम्नलिखित सवैया को देखिये:—

हमसों हित कै कित को नितहीं
इत बीच बियोगहिं पोइ चले।
सु अखैबट बीज लौं फैलि पर्‌यो
बनमाली कहाँ धौं समोइ चले।
घन आनँद छांह बितान तन्यो
हमैं ताप के आतप खोइ चले।
कबहूं तेहि मूल तौ बैठिये आय
सुजान जो बीजहिं बोइ चले।

इस सवैयामें 'पोइ', समोइ', 'खोइ', 'बोइ',के 'इ'के स्थानपर व्रजभाषा के नियमानुसार यकार होना चहिये। परन्तु इन्होंने अवधी के नियमानुसार 'इ' लिखा। इन्हीं को नहीं व्रजभाषा के अन्य कवियों और महाकवियों को भी इस प्रकार का प्रयोग करते देखा जाता है। कविवर सूरदास जी की रचनाओं में भी ऐसे प्रयोग अधिकता से — मिलते हैं। यदि कहा जाय कि प्राचीन व्रजभाषा में ऐसे प्रयोग होते थे तो यही मानना पड़ेगा कि व्रजभाषा में दोनों प्रकार के प्रयोग होते आये हैं। ऐसी अवस्था में यह नियम स्वीकृत नहीं हो सकता कि ऐसे स्थलों पर अवधी में जहाँ इ' का

प्रयोग होता है। ब्रजभाषा में 'य' लिखा जाता है। मैं तो देखता हूं कि सूरदास के समय से अब तक के ब्रजभाषा के कवि दोनों प्रयोग करते आये हैं। और इसी लिये मैं घन आनन्द की भाषा को भी साहित्यिक ब्रजभाषा ही मानता हूं। घन आनन्द जी की भाषा में इतनी विशेषता अवश्य है कि उसमें ब्रजभाषा-सम्बन्धी प्रयोग ही अधिक पाये जाते हैं। यह दिखलाने के लिये कि वे 'इ' के स्थान पर 'य' का प्रयोग भी करते हैं, मैं नीचे एक पद्य और लिखता हूं। उसके चिन्हित शब्दों को देखिये:—

तब तो दुरि दूरहिं ते मुसुकाय
बचाय कै और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी
रचाय कै नैनन मैं सरसे।
अबतौ उर माहिं बसाय कै मारत
ए जू बिसासी कहाँ धौं बसे।
कछु नेह निबाह न जानत हे तौ
सनेह की धार मैं काहे धँसे।

घन आनन्द जी के पद्यों की यह विशेषता है कि उससे रस निचुड़ा पड़ता है। जो वे कहते हैं इस ढंग से कहते हैं कि उनकी पंक्तियों में उनके आंतरिक अनुराग की धारा बहने लगती है। उनके पद्य का एक एक शब्द ऐसा ज्ञात होता है कि साँचे में ढला हुआ है और उसमें उनके भाव दर्पण में बिम्ब के समान प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। इनके समस्त ग्रन्थों की रचना वैदर्भी वृत्ति में है। इसीलिये उनमें सरसता और मनोहरता भी अधिक पायी जाती है। ब्रजभाषा के मुहावरों और बोलचाल की मधुरताओं को उन्होंने जिस सफलता से अंकित किया है, वैसी सफलता कुछ महाकवियों को ही प्राप्त हुई है। उन्होंने अपनी 'बिरह लीला' अरबी बह्र में लिखी है, जिससे यह पाया जाता है कि उस समय अरबी बह्र भी हिन्दी रचना में स्थान पाने लगे थे। इनके कुछ सरस और हृदयग्राही पद्य और देखिये:—

१— गुरनि बतायो राधा मोहन हूं गायो
सदा सुखद सुहायो बृन्दावन गाढ़े गहुरे।
अद्भुत अभूत महि मंडन परे ते परे
जीवन को लाहु हाहा क्यों न ताहि लहुरे।
आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही
सरस सुदेय सों पपीहा पन बहुरे।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भोर
ऐसे पावन पुलिन पर पतित परि रहुरे।

२— अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ
नेको सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ
झिझकैं कपटी जेनिसाँक नहीं।
घन आनँद प्यारे सुजान सुनो
इत एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ लला
मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

३— पर कारज देह को धारे फिरौ
परजन्य यथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ
सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
घन आनँद जीवन दायक हौ
कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूं वा बिसासी सुजान के
आँगन मो अँसुआन को लै बरसौ

४— पहले अपनाय सुजान सनेह
सों क्यों फिर नेह कौ तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मँझार
दई गहि बाँह न बोरिये जू।
घन आनँद आपने चातक को
गुन बाँधि कै मोह न छोरिये जू।
रस प्याय कै ज्याय बँधाय कै
आस बिसास में क्यों विष घोरिये जू।

उर्दू का एक शेर है, 'कागज़ पै रख दिया है कलेजा निकाल के'। सच्ची बात यह है कि घन आनंद जो कागज़ पर कलेजा निकाल कर रख देते हैं। एक नायिका कहती है कि 'काढ़ि करेजो दिखैबो परो'। मैं सोचता हूं, यदि उस नायिका के पास घन आनंद की सी सरस रचना की शक्ति होती तो उसको यह न कहना पड़ता। इनका वाच्यार्थ जितना प्रांजल है उतनी ही उसमें कसक है। दोनों के समागम से इनकी रचना में मणि-कांचन-योग हो गया है। वियोग-शृंगार की रचना में इन्होंने जो वेदना उत्पन्न की है, ऐसा कौन है कि जिसके हृदय पर वह प्रभाव नहीं डालती। वास्तव में घन आनंद जी ने इस प्रकार की रचना करने में बड़ी सफलता लाभ की है। इनकी कृति में आन्तरिक पीड़ा प्रवाहित मिलती है, परंतु हृदयों में वह सृजन करती है विचित्र मधुरता।

नागरीदास जी कृष्णगढ़ के महाराज थे। इनका मुख्य नाम सामंत सिंह था। वीर इतने बड़े थे कि बूंदी के हाड़ा राजा को समर में पराजित कर स्वर्ग लोक पहुंचाया। साहसी इतने बड़े कि अपने छिन गये राज्य को भी अपने पौरुष से पुनः प्राप्त कर लिया। किंतु त्याग उनमें बड़ा था और भगवान कृष्णचन्द्र की भक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि पा रही थी। इसलिये उन्होंने राज्य को तृण समान त्यागा और वृंदावन धाम में पधार कर भगवल्लीला में तल्लीन हो गये। जब तक जिये कृष्ण भक्ति-सुधा पान कर जिये, राज्य

भोगों और विभवों की ओर फूटी आंख से भी नहीं देखा। राज्यसिंहासन से उनको ब्रज रज प्यारी थी और राजसी ठाटों से भक्ति मयी भावना। उनमें तद्रीयता इतनी थी कि वे सदा भगवद्भजन में ही मत्त रहते। और संसार के समस्त सुखों की ओर आंख उठा कर भी न देखते। राजा-महाराजाओं में ऐसा सच्चा त्यागी कोई दृष्टिगत नहीं होता। वे गोस्वामी हित हरिवंश वा चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय में थे अतएव उन्हीं के समान उनमें आत्म विस्मृति सी थी। वे दिनरात भगवद्गुणगानमें रत रहते और हरि-यश वर्णन कर के स्वर्गीय आनंद लाभ करते मिलते। उनकी यह वृत्ति उनकी समस्त रचनाओं में दृष्टिगत होती है। उन्होंने लगभग सत्तर बहत्तर ग्रंथों की रचना की है। परन्तु उन सब में ललित पदों में भगवल्लीला ही वर्णित है। अधिकांश ग्रंथ ऐसे ही हैं कि जिनमें थोड़े से पद्यों में भगवान की किसी लीला का गान है। इन ग्रंथों की भाषा यद्यपि सरस ब्रजभाषा है फिर भी उसमें कहीं कहीं राजस्थानी भाषा के शब्द भी मिल जाते हैं। इनके पदों में बहुत अधिक मोहकता एवं मधुरता है। सवैयाओं में भी बड़ा लालित्य है। अन्य रचनायें इस कोटि की नहीं हैं। परन्तु प्रेमधारा उनमें भी बहती मिलती है, जिसकी अनेक भावों की तरंगें बड़ीही मुग्ध करी हैं। ब्रजभाषा की जितनी विशेषतायें हैं वे सब उनकी रचनाओं में मिलती हैं और कहीं कहीं उनमें ऐसी अनूठी उक्तियां पाई जाती हैं जो स्वर्णाभरण में मणि सी जटित जान पड़ती हैं। कुछ रचनायें नीचे लिखी जाती हैं:—

१—उज्जल पख की रैन चैन उज्जल रस दैनी।
उदित भयो उडुराज अरुन दुति मन हर लैनी।
महा कुपित ह्वै काम ब्रह्म अस्त्रहिं छोड्यो मनु।
प्राची दिसितें प्रज्वलित आवति अगिनि उठीजनु।
दहन मानपुर भये मिलन को मन हुलसावत।
छावत छपा अमंद चंद ज्यों ज्यों नभ आवत।
जगमगाति बन जोति सोत अमृत धारा से।

नव द्रुम किसलय दलनि चारु चमकति तारा से।
स्वेत रजत की रैन चैन चित मैन उमहनी।
तैसी मंद सुगंध पवन दिन मनि दुख दहनी।
सिला सिला प्रति चंद चमकि किरननि छबि छाई।
बिच बिच अंब कदंब अंब झुकि पायँन आई।
ठौर ठौर चहुं फेर हेर फूलन के सोहत।
करत सुगंधित पवन सहज मन मोहन जोहत।
ठौर ठौर लखि ठौर रहत मन्मथ सो भारी।
विहरत विविध विहार तहाँ गिरिवर गिरधारी।

२—भादौं की कारी अँध्यारी निसा
झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
स्यामा जू आपनी ऊंची अटा पै
छकी रसरीति मलारहिं गावै।
ता समै मोहन कौ दृग दूरि तें
आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूंघट टारै
दया कर दामिनी दीप दिखावै।

३—जौ मेरे तन होते दोय।
मैं काहू ते कछु नहिं कहतो
मोते कछु कहतो नहिं कोय।
एक जो तन हरि विमुखन के
सँग रहतो देस विदेस।

विविध भांति के जब दुख सुख
जहँ नहीं भक्ति लवलेस ।
एक जो तन सतसंग रंग रंगि
रहतो अति सुखपूर ।
जनम सफल करि लेतो ब्रज
बसि जहँ ब्रज जीवन मूर ।
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं
आयु तौ छिन छिन छीजै ।
नागरिदास एक तन ते अब
कहौ काह करि लीजै ।

आप को फ़ारसी भाषा का अच्छा ज्ञान था । इसलिये कुछ कवितायें ऐसी भी हैं जिनमें फ़ारसी बह्रों का प्रयोग अधिकता से है । इन्होंने 'इश्क़ चमन' नाम का एक ग्रंथ भी लिखा था । कुछ उसके पद्य भी देखिये—

१—इश्क़ चमन महबूब का वहां न जावै कोय ।
जावै सो जीवै नहीं जियै सो बौरा होय ।
२—ऐनबीब उठि जाहु घर अबस छुवै का हाथ ।
चढ़ी इश्क़ की कैफ़ यह उतर सिर के साथ ।
३—सब मज़हब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद ।
अरे इश्क़ के असर बिन ये सब ही बरबाद ।
४—आया इश्क़ लपेट में लागी चश्म चपेट ।
सोई आया खलक में और भरैं सब पेट ।

नागरीदास की सहचरी 'बनी ठनी' नाम की एक स्त्री थी । उनके सतसंग से वह भी युगल मूर्त्ति के प्रेम की प्रेमिका थी और उन्हीं के

समान सरस रचना करती थी। परंतु उसकी रचना में राजस्थानी शब्द अधिक आये हैं। एक पद्य देखिये:—

> रतनारी हो थारी आँखड़ियां।
> प्रेम छकी रस बस अलसाणी
> जाणि कमल की पाँखड़ियां।
> सुंदर रूप लुभाई गति मति
> हो गई ज्यों मधु माखड़ियां।
> रसिक बिहारी वारी प्यारी
> कौन बसे निसि काँखड़ियां।

स्वामी हरिवंस के टट्टी सम्प्रदाय में एक महन्त शीतल नाम के हो गये हैं। इन्होंने इश्कचमन नाम की एक पुस्तक चार भागों में लिखी है। ये संस्कृत के विद्वान थे और फ़ारसी का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। ये टट्टी सम्प्रदाय के महन्त तो थे ही, साथ ही प्रेममय हृदय के अधिकारी थे। इनकी रचना खड़ी बोली में हुई है, जिसमें फ़ारसी और ब्रजभाषा के शब्द भी अधिक आये हैं। हिन्दी में खड़ी बोली की नींव डालने-वाले प्रथम पुरुष यही हैं। इनकी भाषा ओजमयी और रचनाशैली सरस है, भाषा में प्रवाह है और कविता पढ़ते समय यह ज्ञात होता है कि सरस साहित्य का दरिया उमड़ता आ रहा है। इनमें लगन मिलती है और इनका प्रेम भी तन्मयता तक पहुंचा ज्ञात होता है। इस शताब्दी में यही एक ऐसे कवि पाये गये जिन्होंने ब्रजभाषा में कविता की ही नहीं। फिर भी इनकी रचना में ब्रजभाषा का पुट कम नहीं। इनकी रचनाओं में भक्ति की मर्म-स्पर्शिनी मधुरता नहीं पायी जाती। परन्तु उनका मानसिक उद्गार ओजस्वी है, जिसमें मनस्विता की पूरी मात्रा मिलती है। प्रेम के जिस सरस उद्यान में घूम कर रसखान और घन आनन्द बड़े सुन्दर कुसुम चयन कर सके उसमें इनका प्रवेश जैसा चाहिये वैसा नहीं। इनकी रचना में संस्कृत तत्सम शब्दों का बाहुल्य है मैं समझता हूं, वह वर्त्तमान खड़ी बोली के रूप की पूर्व सूचना है।

इन्हों ने इच्छानुसार लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु बनाया है और संस्कृत के तत्सम शब्दों को यत्र-तत्र ब्रजभाषा के रूप में भी ग्रहण किया है। एक बात और इनमें देखी जाती है। वह यह कि नायिका के शिख नख से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय फ़ारसी उपमानों को भी इन्होंने अपनी रचना में ग्रहण कर लिया है, जैसा इनके पहले के किसी हिन्दी के कवि अथवा महाकवि ने नहीं किया था। उन्हों ने शब्दों को इच्छा-नुसार तोड़ा मरोड़ा भी है और कई प्रान्तिक शब्दों से भी काम लिया है। इनके कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं। उनको पढ़िये और चिन्हित शब्दों पर विचार भी करते जाइये।

शिव विष्णु ईश बहु रूप तुई।
नभ तारा चारु सुधा कर है।
अंबा धारानल शक्ति स्वधा
स्वाहा जल पौन दिवाकर है।
हम अंशा अंश समझते हैं
सब खाक जाल से पाक रहें।
सुन लाल बिहारी ललित ललन
हम तो तेरे ही चाकर हैं।

२—कारन कारज ले न्याय कहै
जोतिस मत रवि गुरु ससी कहा।
ज़ाहिद ने हक्क़ हसन यूसुफ़
अरहन्त जैन छवि वसी कहा।
रति राज रूप रस प्रेम इश्क
जानी छवि शोभा लसी कहा।
लाला हम तुम को वह जाना जो
ब्रह्म तत्व त्वम असी कहा।

३—मुख सरद् चन्द् पर ठहर गया
जानो के बुंद पसीने का ।
या कुन्दन कमल कली ऊपर
झमकाहट रक्खा मोने का ।
देखे से होश कहां रहवै जो
पिदर बूअली सीने का ।
या लाल बदख्शां पर खींचा
चौका इल्मास नगीने का ।

४—हम खूब तरह से जान गये
जैसा आनँद का कन्द किया ।
सब रूप सील गुन तेज पुंज
तेरे ही तन में बन्द किया ।
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले
फिर विधि ने यह फरफन्द किया
चंपकदल सोनजुही नरगिस
चामीकर चपला चंद किया ।

५—मुख सरद चन्द्र पर झमझाकर
जगमगैं नखत गन जोतों से ।
कै दल गुलाब पर शबनम
के हैं कनके रूप उदोतों से ।
हीरे की कनियां मंद लगै हैं
सुधा किरन के गोतों से ।

आया है मदन आरती को
धर कनक थार में मोती से।

६—चंदन की चौकी चारु पड़ी
सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन
मानो एक दाड़िम फटा हुआ।
ऐसे में ग्रहन समै सोतल इक
ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ नभ ते अवनी,
अग उछलै नट का बटा हुआ।

इनकी कविता की भाषा कवि-कल्पित स्वतंत्र भाषा है। उसमें किसी भाषा के नियम की रक्षा नहीं की गयी है। सौन्दर्य के लिये हमारे यहां काम उपमान बनता है, परन्तु इन्हों ने यूसुफ़ को उपनाम बनाया यह फ़ारसी का अनुकरण है। इसी प्रकार की काव्य-नियम-सम्बन्धी अनेक अवहेलनायें इनकी रचना में पायी जाती हैं। परन्तु यह अवश्य है कि ये इस विचित्रता के पहले उद्भावक हैं।

बोधा प्रेमी जीव थे: कहा जाता है प्रेम अन्धा होता है (Love is Blind) प्रेम क्यों अन्धा होता है? इसलिये कि वह अपने रंग में मस्त होकर केवल अपने प्रेम पात्र को देखता है, और किसी को नहीं, संसार को भी नहीं। इसीलिये वह अन्धा है। जब किसी का प्रेम वास्तविक रूप से हृदय में जाग्रत हो जाता है, उस समय न तो हम उसके गुण दोष को देखते हैं, न उसके व्यवहार की परवा करते हैं, न उसकी कठोरता को कठोरता मानते हैं, न उसकी कटुता को कटुता समझते हैं, और न उसकी पशुता को पशुता। प्रेमोन्माद में न तो हम लोक मर्य्यादा का ध्यान करते हैं, न शिष्टता का, न कुल परम्परा का, न इसबात का कि हमको संसार क्या कहता है यदि यह अंधापन नहीं है तो क्या है? यदि यह प्रेम ईश्वरोन्मुख

हो तो उसमें यह शक्ति होती है कि वह दुर्गुण को गुण बना देता है, पशुता को मानवता से बदल देता है, दुर्जनता को सुजनता में परिणत कर देता है और इस बात का अनुभव कराता है कि 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' जो कुछ विश्व में है, ब्रह्म है। अतएव उसका संसार सोने का हो जाता है और सब ओर उसको 'सत्यं शिवं सुंदरं' दृष्टिगत होता है। किंतु जब यह प्रेम मनुष्य तक ही परिमित होता है तो उसमें स्वार्थपरता की बू आने लगती है और मनुष्य का इतना पतन हो जाता है कि वह उस उच्च सोपान पर नहीं चढ़ सकता जो जीवन को स्वर्गीय बना देता है। 'घन-आनन्द', 'रसखान' का आदिम जीवन कैसा हो रहा हो, यौवन-प्रमाद इनको कुछ काल के लिये भले ही भ्रांत बना सका हो, किन्तु उनका अन्तिम जीवन उज्ज्वल है और वे उस महान-हृदय के समान हैं, जो पथ-च्युत होकर भी अंत में सत्पथावलंबी हो जाता है। मानव-प्रेम यदि उच्च होकर आदर्श प्रेम में परिणत हो जाये तो वह मानव-प्रेम अभिनन्दनीय है। जिस मानव-प्रेम में स्वाथ की बू नहीं, वासनाओं का विकार नहीं, इन्द्रिय लोलुपता की कालिमा नहीं, लोभ लिप्सा का प्रलोभन नहीं, कर्तव्य ज्ञान की अवहेलना नहीं, वह स्वर्गीय है और उसमें लोक-कल्याण की विभूति विद्यमान है। इसीलिये वह वांछनीय है। दुःख है कि प्रेमिक जीव होने पर भी बोधा इस तत्व को यथातथ्य नहीं समझ सके। वे सरयूपारीण ब्राह्मण थे, परन्तु एक यवनी के प्रेम में ऐसे उन्मत्त हुए कि अपनी कुल मर्य्यादा को ही नहीं विसर्जन कर दिया' अपनी आत्मानुभूति को भी तिलांजलि दे दी। उनके मुख से प्रेम-मंत्र-स्वरूप जब निकलता है तब 'सुभान अल्लाह' निकलता है। उनके पद्यों में 'सुभान' ही का गुणगान मिलता है। उसमें ईश्वरानुराग की गंध भी नहीं आती। अच्छा होता यदि उन्होंने उस पंथ को स्वीकार किया होता, जिसको घनानंद और रसखान ने मानवी प्रेमोन्माद की समाप्ति पर ग्रहण किया, संतोष इतना ही है कि उन्होंने अपने धर्म को उस पर उत्सर्ग नहीं किया। हम अपने क्षोभ का शमन उसी से करते हैं। बोधा अपनी धुन के पक्के थे। प्रेम उनकी रग रग में भरा था। उनमें जब इतनी आत्म-विस्मृति हो गयी थी कि वे

सुभान के अभाव से संसार को अन्धकारमय देखते थे और वही उन को स्वर्गीय विभूति थी तो लोक परलोक से उनका सम्बन्ध हो क्या था ? देखिये, वे प्रेम के कंटकाकीर्ण मार्ग का चित्रण किस प्रकार करते हैं:—

१—अति खीन मृनाल के तारहुँ ते
तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है ।
सुई बेह हूं बेधि सकी न तहाँ
परतीति को टाँडो लदावनो है ।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ की
चढ़ि तापै न चित्त डगावनो है ।
यह प्रेम को पंथ करार महा
तरवार की धार पै धावनो है ।

२—लोक की लाज औ सोक प्रलोक को
वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ ।
गांव को गेह को देह को नातो
सनेह में हां तो करै पुनि सोऊ ।
बोधा सुनीति निबाह करै
धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ ।
लोक की भीति डेरात जो मीत
तो प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ

कवि के लिये सहृदय होना प्रधान गुण है । जिसका हृदय स्वभावतः द्रवणशील नहीं, जिसके हृदय में भावों का विकास नहीं, उसकी रचना में वह बात नहीं होती जिसको मर्मस्पर्शी कहा जाता है। बोधा की अधिकांश रचनायें ऐसी ही हैं, जिनसे उनका सरस हृदय कवि होना सिद्ध है । उनके दो ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। एक का नाम है 'विरह वारीश' और

दूसरे का 'इश्कनामा'। इन दोनों में उन्हों ने प्रेम सम्बन्धी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इश्कनामा सुभान की प्रशंसा से पूर्ण है। उनके कुछ मानसिक उद्गार ऐसे हैं जिनमें भावुकता की मात्रा अधिक पायी जाती है उनका वाच्यार्थ बहुत साफ़ है। उनकी भाषा ललित ब्रजभाषा है यद्यपि उसमें कहीं कहीं खड़ी बोली के प्रयोग भी मिल जाते हैं। उनकी रचना में जितने शब्द आते हैं वे उनके हृदय के रंग में रँगे होते हैं। इसलिये यदि वे कहीं शब्दों को तोड़ मरोड़ देते हैं या अन्य भाषा के शब्दों को लाते हैं तो उनका प्रयोग इस प्रकार करते हैं जिससे वे उनकी शैली के ढंग में ढले मिलते हैं। उनकी कुछ रचनायें देखिये:—

१—एक सुभान के आनन पै

कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।

कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिये

लखिकै मुसकाहट ताको।

सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि

बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।

जान मिलै तो जहान मिलै नहिं जान

मिलै तो जहान कहाँ को।

२—बोधा किसू सों कहा कहिये

सो बिथा सुनि पूरि रहे अरगाइ कै।

याते भलो मुख मौन धरैं उपचार

करैं कहूं औसर पाइ कै।

ऐसो न कोऊ मिल्यो कबहूं

जो कहै कछु रंच दया उर लाइ कै।

आवत है मुख लौं बढ़ि कै

फिर पीर रहै या सरीर समाइ कै।

३—कबहूं मिलिबो कबहूं मिलिबो
यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै गरेते फिरै
मन की मन ही में सिरैबो करै।
कवि बोधा न चाव सरो कबहूं
नितहूं हरवा सो हरैबो करै।
सहतेइ बनै करते न बनै
मन ही मन पीर पिरैबो करै।
हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत,
हित को न जानै ताको हितू न विसारिये।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिये।
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भांति अहै
आप को सराहै ताहि आप हूं सराहिये।
दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा
आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिये।

रसनिधि का मुख्य नाम पृथ्वी सिंह था वे दतिया राज्य के एक जागीरदार थे। उनका रचा हुआ 'रतन हज़ारा' नामक एक ग्रंथ है। यह विहारी सतसई के अनुकरण से लिखा गया है। बिहारी के दोहों से टक्कर लेने की इसमें चेष्टा की गई है। किन्तु कवि को इसमें सफलता नहीं प्राप्त हुई। उनके कुछ दोहे अवश्य सुन्दर हैं। उन्होंने 'अरिल्लों' और 'माझों' की भी रचना की है. वे भी संगृहीत हो चुके हैं। उनके कुछ स्फुट दोहे भी हैं। वे शृंगार रस के ही कवि थे। अन्य रसों की ओर उनकी दृष्टि कम गयी। महंत सीतल की तरह वे भी फ़ारसी के शब्दों, मुहावरों, उपमाओं और मुस्लिम संसार के आदर्श पुरुषों के भी प्रेमी थे अपनी रचनाओं में यथा

स्थान उन्होंने इन को ग्रहण किया है। उनकी कविता की भाषा ब्रजभाषा है परन्तु उन्होंने अन्य भाषा के शब्दों का व्यवहार भी स्वतंत्रता पूर्वक किया है। बिहारी लाल के भावों ही को नहीं उनके शब्दों और वाक्यों तक को आवश्यकतानुसार ले लिया है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रसनिधि चाहे रसनिधि न हों पर वे रसिक हृदय अवश्य थे। उनकी अनेक रचनायें सरस हैं और उनमें मधुरता पायी जाती है. उन्होंने फ़ारसी के कुछ ऐसे विषय भी ले लिये हैं जो अशिष्ट कहे जा सकते हैं। किन्तु उनकी मात्रा थोड़ी है। उनके कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं:—

१—रसनिधि वाको कहत हैं याही तें करतार
रहत निरंतर जगत कों वाही के करतार।

२—हित करियत यहि भाँति सों मिलियत है वहि भाँति
छीर नीर तैं पूछ लै हित करिबे की बात।

३—सुन्दर जोबन रूप जो बसुधा में न समाइ।
दृग तारन तिल बिच तिन्हैं नेही धरत लुकाइ।

४—मन गयंद छबि मद छके तोर जँजीरन जात।
हित के झीने तार सों सहजै ही बँधि जात।

५—उड़ो फिरत जो तूलसम जहाँ तहाँ बेकाम।
ऐसे हरुए को धर्‌यो कहा जान मन नाम।

६—अद्‌भुत गति यह प्रेम की लखो सनेही आइ।
जुरै कहूं, टूटै कहूं, कहूं गाँठ परि जाइ।

७—कहनावत मैं यह सुनी पोषत तन को नेह।
नेह लगाये अब लगी सूखन सगरी देह।

८—यह बूझन को नैन ये लग लग कानन जात।
काहू के मुख तुम सुनी पिय आवन की बात।

९—जेहि मग दौरत निरदई तेरे नैन कजाक।
तेहि मग फिरत सनेहिया किये गरेबां चाक।
१०—लेउ न मजनूं गोर ढिग कोऊ लैला नाम।
दरदवंत को नेक तौ लैन देउ बिसराम।

इन पद्यों में से छठे दोहे का उत्तरार्द्ध अक्षरशः बिहारीलाल के दोहे से ग्रहण कर लिया गया है। नवें दोहे में 'गरेबां चाक' बिलकुल फ़ारसी का मुहावरा है। दसवें दोहे में लैला मजनूं मुस्लिम संसार के प्रेमी और प्रेमिका हैं, जिनकी चर्चा कवि ने अपनी रचना में की है। व्रजभाषा के नियमों का भी इन्होंने कहीं कहीं त्याग किया है। चौथे दोहे के 'तोर' पांचवें दोहे के 'जान' और आठवें दोहे का 'लग लग' शब्दों के अन्तिम अक्षरों को व्रजभाषा के नियमानुसार इकार युक्त होना चाहिये। कवि ने ऐसा नहीं किया। दसवें दोहे का 'दरदवंत' शब्द भी इन्होंने गढ़ लिया है। 'दरद' फ़ारसी शब्द है और 'वंत' संस्कृत प्रत्यय है इन दोनों को मिला कर जो कर्तृवाचक संज्ञा बनायी गई वह उनकी निरंकुशता है। इस प्रकार की शब्द-रचना युक्ति-संगत नहीं। उनकी रचना में इस तरह की बातें अधिकतर पायी जाती हैं। फिर भी वह आदरणीय कही जा सकती है।

इस शताब्दी के नीतिकार कवि, वृन्द, बैताल, गिरधर कविराय और घाघ हैं। इनकी रचनाओं ने हिन्दी संसार में नूतनता उत्पन्न की है, अच्छे अच्छे उपदेशों और हितकर वाक्यों से उसे अलंकृत किया है। इसलिये मैं इन लोगों के विषय में भी कुछ लिख देना आवश्यक समझता हूं। इस उद्देश्य से भी उन लोगों के विषयमें कुछ लिखने की आवश्यकता है, जिससे यह प्रकट हो सके कि अट्ठारहवीं शताब्दी में कुछ ऐसे नीतिकार कवि भी हुये जिन्होंने अपना स्वतन्त्र पथ रक्खा, फिर भी उनकी रचनामें व्रजभाषा का पुट पाया जाता है। समाज के लिये नीति सम्बन्धी शिक्षा की भी यथा समय आवश्यकता होती है। इन कवियोंने इस बातको समझा और साहित्य के इस अंग की पूर्ति की, इस लिये भी उनकी चर्चा यहाँ आवश्यक है।

वृन्द औरंगज़ेब के दरबारी कवि थे। यह देखा जाता है कि अकबर के समय से ही मुग़ल सम्राटों के दरबार में कुछ हिन्दी कवियों का सम्मान होता आया है। अकबर के बाद जहांगीर और शाहजहां के दरबारों में भी हिन्दी-सत्कवि मौजूद थे। इसी सूत्र से औरंगज़ेब के दरबार में भी वृन्द का सम्मान था। औरंगज़ेब के पौत्र अज़ीमुश्शान ने व्रजभाषा और उर्दू दोनों में अच्छी रचनायें की हैं। वृन्द प्रायः उन्हीं के साथ रहते थे। अज़ीमुश्शान बंगाल, बिहार एवं उड़ीसे का सूबेदार था। वह ढाके में रहता था और वृन्द को भी अपने साथ ही रखता था। बिहारी लाल ने यदि शृंगार रस की सतसई बनाई तो वृन्द ने नीति सम्बन्धी विषयों पर सतसई की रचना कर व्रजभाषा को एक उपयोगी उपहार अर्पण किया। कहा जाता है कि वृन्द संस्कृत और भाषा के विद्वान् थे और गौड़ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे। वे कृष्णगढ़ के राजा राजसिंह के गुरु थे; मारवाड़ प्रांत उनका जन्म स्थान था। वृन्द के तीन ग्रंथ बतलाये जाते हैं, 'शृंगार शिक्षा', 'भावपंचाशिका' और 'वृन्द सतसई'। प्रधानता वृन्द सतसई को ही प्राप्त है, यही उनका प्रसिद्ध ग्रंथ है। उनकी रचनायें सरस एवं भावमयी हैं और कोमल शब्दों में की गयी हैं। उनका वाच्यार्थ प्रांजल है और कथन-शैली मनोहर। उपयोगिता की दृष्टि से वृन्द सतसई आदरणीय ग्रन्थ है, उसका यथेष्ट सम्मान हुआ भी। ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। नीति विषयक रचना होने पर भी वह कवितागत विशेषताओं से रहित नहीं है। कुछ पद्य देखिये:—

१—जो कछु वेद पुरान कही
सुन लीनीसबै जुग कान पसारे।
लोकहुं में यह ख्यात प्रथा छिन में
खल कोटि अनेकन तारे।
वृन्द कहै गहि मौन रहै किमि हां
हठि कै बहु बार पुकारे।

बाहर ही के नहीं सुनो हे हरि
भीतर हूं ते अहो तुम कारे ।
२—जो जाको गुन जानही सो तेहिं आदर देत ।
कोकिल अंबहि लेत है काग निबौरी हेत ।
३—ओछे नर की प्रीति की दीनी रीति बताय ।
जैसे छीलर ताल जल घटत घटत घटि जाय ।
४—करिये सुख को होत दुख यह कहु कौन सयान।
वा सोने को जारिये जासों टूटै कान ।
५—भले बुरे सब एक सों जौ लौं बोलत नाहिं ।
जानि परत हैं काक पिक ऋतु बसंत के मांहिँ।

इनके दोहों में विशेषता यह है कि प्रथमार्ध में जो विषय कहा गया है उत्तरार्द्ध में दृष्टांत देकर उसी को पुष्ट किया गया है । यह दृष्टान्तालंकार का रूप है । इस प्रणाली के ग्रहण से उन्होंने जो बात कही है उसको अधिक पुष्टि प्राप्त हो गयी है और इसी से इनकी सतसई की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है । वृन्द पहले कवि हैं जिन्होंने इस मार्ग को ग्रहण कर पूरी सफलता लाभ की । स्फुट श्लोक और दोहे इस प्रकार के मिलते हैं, परंतु ऐसे सात सौ दोहों का एक ग्रन्थ निर्माण कर देना वृन्द का ही काम था इस दृष्टि से व्रजभाषा साहित्य में उनका विशेष स्थान है ।

नीति विषयक रचनाओं में वृन्द के बाद बेताल का ही स्थान है । वे जाति के बंदीजन थे और चरखारी के राजा विक्रमशाह के दरबार में रहते थे । उनका कोई ग्रन्थ नहीं है । परन्तु स्फुट छप्पय अधिक मिलते हैं जो नीति-सम्बन्धी हैं । उनकी मुख्य भाषा व्रजभाषा है, परन्तु वे शब्द विन्यास में अधिक स्वतंत्र हैं । कभी ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं, कभी बैसवाड़ी और अवधी का । उनकी भाषा चलती और प्रांजल अवश्य है । भाव प्रकाशन-शैली भी सुन्दर है, यद्यपि उसमें कहीं कहीं उच्छृङ्खलता पायी जाती है । वे इच्छानुसार शब्द और मुहावरे भी गढ़

हैं, फ़ारसी और श्रुति कटु शब्द का प्रयोग भी ऐसे ढंग से करते हैं जिससे भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार नहीं पाया जाता। रोचकता उनकी रचना में है, साथ ही कटुता भी। कुछ पद्य उनके देखिये:--

१—दया चट्ट ह्वै गई धरम धँसि गयो धरन में।
पुन्न गयो पाताल पाप भो बरन बरन में।
राजा करै न न्याय प्रजा की होत खुआरी।
घर घर में बे पीर दुखित भे सब नर नारी।
अब उलटि दान गजपति मँगै सील सँतोष कितै गयो।
बैताल कहै बिक्रम सुनो यह कलियुग परगट भयो।

२—ससि बिनु सूनी रैनि ज्ञान बिनु हिरदय सूनो।
कुल सूनो बिनु पुत्र पत्र बिनु तरुवर सूनो।
गज सूनो इक दंत ललित बिनु सायर सूनो।
बिप्र सून बिनु बेद और बन पुहुप बिहूनो।
हरि नाम भजन बिनु संत अरुघटा सून बिनु दामिनी
बैताल कहै विक्रम सुनो पति बिनु सूनी कामिनी।

३—बुधि बिनु करै बेपार दृष्टि बिनु नाव चलावै।
सुर बिन गावै गीत अर्थ बिनु नाच नचावै।
गुन बिन जाय बिदेस अकल बिन चतुर कहावै।
बल बिन बाँधे जुद्ध हौस बिन हेत जनावै।
अन इच्छा इच्छा करे अन दीठी बातां कहै।
बैताल कहै बिक्रम सुनो यह मूरख की जात है।

४—पग बिन कटे न पन्थ बाहु बिन हटे न दुर्जन।
तप बिन मिलै न राज्य भाग्य बिन मिलै न सज्जन।

गुरु बिन मिलै न ज्ञान द्रव्य बिन मिलै न आदर।
बिना पुरुष शृंगार मेघ बिन कैसे दादुर।
बैताल कहै विक्रम सुनो बोल बोल बोलो हटे।
धिक्क धिक्क ता पुरुष को मन मिलाइ अन्तर कटे।

चिन्हित शब्दों और वाक्यों को देखिये। उनसे ज्ञात हो जावेगा कि जो दोष मैंने उनकी रचना में बतलाये हैं, वे सब उनमें विद्यमान हैं। फिर भी उपयोगिता-दृष्टि से बैताल की रचना सम्मान योग्य है।

गिरधर कविराय इस शताब्दी के तीसरे नीतिकार हैं। इन्हों ने अपनी प्रत्येक कुंडलिया के अन्त में अपने को गिरधर कविराय लिख कर प्रकट किया है। कविराय शब्द यह बतलाता है कि वे जाति के ब्रह्म-भट्ट थे। किसी दरबार से इनका सम्बन्ध नहीं पाया जाता। यदि हो भी तो इस विषय में कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता। जिस भाषा में उन्हों ने अपनी रचनायें की हैं उससे ये अवध प्रान्त के मालूम होते हैं। इनकी भाषा में खड़ी बोली, अवधी (बैसवाड़ी) और व्रजभाषा तीनों का मेल है। भाषा का झुकाव अधिकतर अवधी की ओर है। ये अनगढ़ और भद्दे शब्दों का प्रयोग भी कर जाते हैं, जिससे भाषा प्रायः कलुषित हो जाती है। ये सब दोष होने पर भी इनमें सीधे सादे शब्दों में यथार्थ बात कहने का अनुराग पाया जाता है, जो गुण है। इसी से इनकी रचनायें अधिकतर प्रचलित भी हैं। इस कवि का उद्देश्य जनता में नीति-सम्बन्धी बातों का प्रचार करना ज्ञात होता है। इसलिये उसने ठेठ ग्रामीण शब्दों के प्रयोग करने में भी संकोच नहीं किया। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। स्फुट रचनायें ही पायी जाती हैं जो कुछ लोगों के कण्ठ से सुनी जाती हैं। जो पठित नहीं हैं उनके मुख से भी कभी कभी कविरायजी की कुंडलिया सुन पड़ती है। इससे उनकी रचना की व्याप-कता प्रकट होती है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सन्तों की बानियों के समान उनकी रचना में भी साहित्यिकता नहीं मिलती, किन्तु यह सत्य

है कि उनका शब्द-विन्यास संयत नहीं । वे ऊटपटाँग बातें नहीं कहते, परंतु ऊटपटाँग शब्दों से अवश्य काम लेते हैं। उनके कुछ पद्य देखिये और उन शब्दों और वाक्यों पर भी विचार-दृष्टि डालते जाइये जो चिन्हित हैं:—

१—रहिये लटपट काटि दिन बरु घामे मां सोय।
छाँह न वाकी बैठिये जो तरु पतरो होय।
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै।
कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिये।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिये।

२—साँईं घोड़े आछतहिं गदहन पायो राज।
कौआ लीजे हाथ में दूरि कीजिये बाज।
दूरि कीजिये बाज राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिये कैद स्यार गजराज चढ़ायो।
कह गिरधर कविराय जहाँ यह बूझि बड़ाई।
तहाँ न कीजे भोर साँझ उठि चलिये साँईं।

३—साँईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरिनाकस अरु कंस को गयउ दुहुन को राज।
गयउ दुहुँन को राज बाप बेटा में बिगरे।
दुसमन दावादार भये महिमंडल सिगरे।
कह गिरिधर कविराय युगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई।

४--बेटा बिगरे बाप सों करि तिरियन सों नेहु।
लटापटी होने लगी मोहिँ जुदा करिदेहु।
मोहिं जुदा करि देहु घरी मां माया मेरी।
लैहौं घर अरु द्वार करौं मैं फजिहत तेरी।
कहगिरिधर कविराय सुनो गदहा के लेटा।
समै पर्‍यो है आय बाप से झगरत बेटा।

इनकी दो सरस रचनायें भी सुनियेः—

५—पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम।
यही सयानो काम राम को सुमिरन कीजै।
परस्वारथ के काज सीस आगे धरि दीजै।
कहगिरिधर कविराय बड़ेन की याही बानी।
चलिये चाल सुचाल राखिये अपनो पानी।

६—गुन के गाहक सहस नर बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला सब्द सुनै सब कोय।
सब्द सुनै सब कोय कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को एक रंग काग सब भये अपावन।
कह गिरिधर कविराय सुनौ हो ठाकुर मन के।
बिनु गुन लहै न कोय सरस नर गाहक गुन के।

इनकी एक श्रृंगार रसकी रचना भी सुनियेः—

७—सोना लादन पिय गये सूना करि गये देस।
सोना मिला न पिय मिले रूपा ह्वै गये केस।

रूपा ह्वै गये केस रोय रँग रूप गँवावा।
सेजन को बिसराम पिया बिन कबहुँ न पावा।
कह गिरिधर कविराय लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आउ कहा करिहौं लै सोना।

इनके किस किसी पद्य में साँईं शब्द मिलता है। यह किंवदन्ती है कि जिन कुंडलियाओं में साँईं शब्द आता है वे उनकी स्त्री की बनाई हुई हैं। सम्भव है कि ऐसा हो। परन्तु निश्चित रूप से कोई बात नहीं कही जा सकती। जो दो सरस पद्य मैंने ऊपर लिखे हैं और एक पद्य जो शृंगार रस का लिखा गया है उनसे कवि का सरस हृदय होना स्पष्ट है। शृंगार रस के पद्य में कितनी भावुकता है! इसका वाच्यार्थ कितना साफ़ है। मेरी सम्मति है कि गिरिधर कविराय वास्तव में कवि हृदय थे। हाँ, कुछ पद्यों में वे असंयत शब्द-प्रयोग करते देखे जाते हैं। इसका कारण पद्य गत विषय के यथार्थ चित्रण की चेष्टा है। प्रमाण-स्वरूप चौथे पद्य को देखिये। शिष्टता की दृष्टि से उसमें असंयत-भाषिता अवश्य है। परन्तु विषयानुसार वह बुरा नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से अपने इस प्रकार के प्रयोगों के विषय में वे इस योग्य नहीं कि उन पर कटाक्ष किया जाय। उनकी भाषा में भी अधिकतर अवधी और ब्रजभाषा के ही शब्द आते हैं। अन्य भाषा के या ग्रामीण शब्द जो यत्र तत्र आ गये हैं उनके लिये केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे यदि और अधिक संयत होते तो अच्छा था। कुछ लोगों की सम्मति है कि बेताल की भाषा इनकी भाषा से अच्छी है। निस्संदेह, शब्द-विन्यास में बेताल उनसे अधिक संयत हैं। परंतु दोनों के हृदय में अंतर है। वे असरस हृदय हैं और ये सरस-हृदय।

घाघ कौन थे, किस जाति के थे, यह नहीं कहा जा सकता। उनका नाम भी विचित्र है। उससे भी उनके विषयमें कुछ अनुमान नहीं किया जा सकता। कुछ लोग कहते हैं, वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे वे जो हों, परंतु उनके अनुभवी पुरुष होनेमें सन्देह नहीं। उन्होंने जितनी बातें कहीं हैं, वे सब नपी-तुली हैं

और उनमें समाजके मानसिक भावों का अनेक स्थल पर सुन्दर चित्र है, उन्होंने ऋतुओंके परिवर्त्तन और कृषि आदिके विषयमें कुछ बातें ऐसी कही जिनसे समय-ज्ञान पर उनका अच्छा अधिकार पाया जाता है। कैसी हवा बहने पर कितनी वृष्टि होने की आशा होती है, वर्षाके किन नक्षत्रोंका क्या प्रभाव होता है, और किस नक्षत्र में कृषिकार्य्य किस प्रकार करने से क्या फल होगा, इन सब बातों को उन्होंने बड़े अनुभव के साथ कहा है। भाषा उनकी ग्रामीण है और उसमें अवधी एवं बैसवाड़ी का मिश्रण पाया जाता है, उसमें ग्रामीणों की बोल चाल और मुहावरों का भी बहुत सुंदर व्यवहार है। उनके कथन में प्रवाह है और भाषा उनकी चलती है। कुछ रचनायें तो उनको ऐसी हैं जो समाज के हृदय का दर्पण हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं का युक्त प्रान्त के पूर्वी भाग में अधिक प्रचार है। प्रचार ही नहीं, उसके अनुसार लोग किसानी का काम करने में ही सफलता की आशा करते हैं। मूर्ख किसानों को भी उनकी रचनाओं को पढ़ते और उनके अनुसार कार्य करते देखा जाता है। नीति और लौकिक व्यवहार-सम्बन्धी बातें भी उन्होंने अधिकता से कही हैं। उनकी रचना में विशेषता यह है कि जिस भाषा में उन्होंने रचना की है उस पर उनका पूरा अधिकार ज्ञात होता है। उनकी दृष्टि इस ओर भी पाई जाती है कि उसमें सरलता और स्वाभाविकता की न्यूनता न हो। उनके कुछ पद्य देखिये:—

१—भुइयां खेड़े हर होइ चार।
घर होइ गिहिथिन गऊ दुधार।
रहर दाल जड़हन का भात।
गागल निबुआ औ घिउ तात।

२—सहरस खंड दही जो होइ।
बाँके नैन परोसै जोइ।
कहै घाघ तब सबही झूठा।
उहां छाड़ि इहँवैं बैकूंठा।

३—नसकट खटिया दुलकन घोड़।
कहै घाघ यह बिपति क ओर।
बाछा बैल पतुरिया जोय।
ना घर रहै न खेती होय।

४—बनियां क सखरज ठकुर क हीन।
बैद क पूत रोग नहिं चीन्ह।
पंडित चुप चुप बेसवा मइल।
कहैं घाघ पाँचों घर गइल।

५—माघ क ऊषम जेठ क जाड़।
पहिले बरषे भरि गये गाड़।
कहै घाघ हम होब बियोगी।
कुआँ खोदि कै धोइहैं धोबी।

६—मुये चाम से चाम कटावै।
सकरी भुइं महँ सोवै।
कहै घाघ ये तीनों भकुआ।
उढ़रि गये पर रोवै।

७—गया पेड़ जब बकुला बैठा।
गया गेह जब मुड़िया पैठा।
गया राज जहँ राजा लोभी।
गया खेत जहँ जामी गोभी।

८—नीचे ओद उपर बदराई।
कहै घाघ तब गेरुई खाई।
पछिवाँ हवा ओसावै जोई।
घाघ कहै घुन कबहुं न होई।

घाघ को रचनायें ग्रामोण भाषा में होने के कारण प्रायः हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उनकी उपेक्षा को है। परन्तु मैं समझता हूँ कि ऐसा करना उचित नहीं। घाघ ने जिस भाषा में अपनो रचना की है वह हिन्दी ही है और वास्तव में बोलचाल की भाषा है। साथ ही उनकी उक्तियां उपयोगिनी हैं। इस लिये उनकी रचना का महत्व कम नहीं। जिस समय व्रजभाषा और अवधी में रचना हो रही थो, उस समय एक ग्रामीण भाषा को रचना लेकर घाघ का सामने आना साहस का काम था उनका यह साहस प्रशंसनीय है, निन्दनीय नहीं। विषय की दृष्टि से भी उनकी रचना कम आदरणीय नहीं। उनकी रचनाओं में वह अनुभव भरा हुआ है, जिसका ज्ञान सब के लिये समान हित कारक है।

इन्हीं नीतिकार कवियों के साथ 'प्रीतम' कवि की चर्चा भी उचित ज्ञान पड़ती है। इनका असली नाम मुहिब्ब खां था। ये आगरे के रहने वाले थे। इन्होंने 'खटमलबाईसी' नामक एक छोटे से ग्रंथ की रचना को है, जिसमें बाईस कवित्त हास्य रस के हैं। शायद यही हिन्दी संसार का एक ऐसा कवि है जिसने एक रस पर इतनी थोड़ी रचना करके बहुत कुछ प्रसिद्धि प्राप्त की। हास्य रस की चर्चा होने पर प्रीतम को हिन्दी संसार का प्रत्येक सहृदय कवि प्रीति के साथ स्मरण करता है और उनकी रचनाओं को पढ़कर खिलखिला उठता है। उनकी रचना सरस है और साहित्यिक व्रजभाषा में लिखो गयी है। उसमें प्रतिभा झलकती है और वह चमत्कार दृष्टिगत होता है जो हास्य रस का चित्र सामने खड़ा कर देता है। दो पद्य देखिये: —

१ — जगत के कारन करन चारों वेदन के
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरिकै।
पोषन अवनि दुख सोषन तिलोकन के
समुद में जाय सोये सेस सेज करिकै।
मदन जरायो जो सँहारैं दृष्टि ही में सृष्टि
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरिबरिकै।

विधि हरि हर और इनसे न कोऊ
तेऊ खाट पै न सोवैं खटमलन सों डरिकै ।
२—बाघन पै गयो देखि बनन मैं रहैं छकि
साँपन पै गयो ते पताल ठौर पाई है ।
गजन पै गयो धूलि डारत हैं सीस पर
बैदन पै गयो काहू दारू ना बताई है ।
जब हहराय हम हरि के निकट गये
हरि मों सों कही तेरी मति भूल छाई है ।
कोऊ ना उपाय भटकति जिन डोलै सुन
खाट के नगर खटमल की दोहाई है ।

इस शताब्दी में तीन प्रसिद्ध प्रबंधकार भी हुये हैं। एक सूदन, दूसरे ब्रजवासी दास और तीसरे मधुसूदन दास। सूदन माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के राजा सूरजमल के यहाँ रहते थे। भूषण और गोरे लाल के उपरांत हिन्दी संसार के वीर रस के अन्यतम प्रसिद्ध कवि सूदन ही हैं। इनका सुजान चरित्र बड़ा विशद ग्रन्थ है. इसमें उन्हों ने सूरजमल के अनेक युद्धों का वर्णन बड़ी ही ओज पूर्ण भाषा में किया है । इस ग्रन्थ की भाषा खड़ी बोल चाल मिश्रित व्रजभाषा है । इसमें उनकी पंजाबी भाषा की कुछ रचनायें भी मिलती हैं। इसका कारण यह है कि प्रसंग वश जब किसी पंजाबी से कुछ कहलाना पड़ा है तब उसको उससे उन्होंने पंजाबी भाषा में ही कहलाया है इसलिये उनकी कृति में पंजाबी शब्दोंका प्रयोग भी मिलता है। किंतु उनकी संख्या थोड़ी है। अपने इस एक ग्रंथ के कारण ही हिन्दी संसार में सूदन को वीर रस के कवियों में एक विशेष स्थान प्राप्त है। इनके ग्रंथ में नाना छंद हैं. उनमें कवित्तों की संख्या भी पर्याप्त है। दशम ग्रंथ साहब में वीर रस के जैसे 'तागिड़दं तीरं' इत्यादि छंद लिखे गये हैं उसी प्रकार और उसी ढंग के कितने छंद इस ग्रंथ में भी हैं। कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं : —

१—एकै एक सरस अनेक जे निहारे तन
भारे लाज भारे स्वामि काज प्रतिपाल के।
चंग लौं उड़ायो जिन दिली की वजीर भोर
मारी बहु मीरन किये हैं बेहवाल के।
सिंह बदनेस के सपूत श्री सुजान सिंह
सिंह लौं झपटि नख दीन्हें करवाल के।
वेई पठनेटे सेल सांगन खखेटे
भूरि धूरि सों लपेटे लेटे भेंटे महाकाल के।
२—सेलन धकेला ते पठान मुख मैला होत
केते भट मेला हैं भजाये भ्रुव भंग मैं।
तंग के कसेते तुरकानी सब तंग कीनी
दंग कीनी दिली औ दुहाई देत बंग मैं।
सूदन सराहत सुजान किरवान गहि
धायो धीर धारि बीरताई की उमंग मैं।
दक्खिनी पछेला करि खेला तैं अजब खेल
हेला मारि गंग मैं रुहेला मारे जंग मैं।
३—बंगन के लाज मऊ खेत की अवाज यह
सुने व्रजराज ते पठान वीर बबके।
भाई अहमद खान सरन निदान जानि
आयो मनसूर तौ रहै न अब दब के।
चलना मुझे तो उठ खड़ा होना देर क्या है
बार बार कहेते दराज सीने सब के।
चण्ड भुज दण्ड वारे हयन उदण्ड वारे
कारे कारे डोलनि सवारे होत रब के।

एक पद्य इनका और सुनिये, जिस में श्रीमती पार्वती अपने घर का विचित्र हाल वर्णन कर रही हैं:—

आप विष चाखै भैया षट मुख राखै
देखि आसन मैं राखै बसवास जाको अचलै।
भूतन के छैया आस पास के रखैया
और काली के नथैया हूं के ध्यान हूं ते न चलै।
बैल बाघ वाहन वसन को गयन्द खाल
भांग को धतूरे को पसारि देत अँचलै।
घर को हवाल यहै संकर की बाल कहै
लाज रहै कैसे पूत मोदक को मचलै।

सूदन की रचना की विशेषता यही है कि उन्हों ने प्रौढ़ भाषा में वीर रस का एक उल्लेखनीय ग्रन्थ लिखा। ये व्रजभूमि के ही निवासी थे और व्रजराज कहलाने वाले राज दरबार में रहते थे इसलिये वे अपने ग्रंथ को साहित्यिक व्रजभाषा में ही लिख सकते थे। परन्तु उन्हों ने ऐसा नहीं किया। अनेक भाषाओं पर अपना अधिकार प्रकट करने के लिये पंजाबी और खड़ी बोली के वाक्य और शब्द भी उस में मिलाये। ऐसा करने से उनकी अनेक भाषाभिज्ञता तो प्रकट हुई परन्तु व्रजभाषा की साहित्यिकता सुरक्षित न रह सकी। उनकी व्रजभाषा उतनी प्रौढ़ नहीं है जितनी उसे होना चाहिये था। फिर भी सुजान चरित्र में उसका बड़ा सुन्दर साहित्यिक रूप कहीं कहीं दृष्टिगत होता है, जिससे उनका कविकर्म अपनी महत्ता बनाये रखता है।

व्रजबासी दास अपने 'व्रजविलास' के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। ये जाति के ब्राह्मण और वल्लभ सम्प्रदाय के शिष्य थे। मथुरा या वृन्दावन में इनका निवास था। इन्हों ने संस्कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का विविध छन्दों में अनुवाद किया परन्तु यह ग्रन्थ सर्व साधारण को उतना

प्रिय नहीं हुआ जितना 'व्रज विलास' व्रज विलास की रचना उन्हों ने सूर दास के पदों के आधार से की है। वरन यह कहा जा सकता है कि उनके पदों को, चौपाइयों, दोहाओं सोरठाओं और विविध छन्दों में परिणत कर दिया है। ये स्वयं इसको स्वीकार करते हैं। यथा:—

भाषा को भाषा करौं छमिये सब अपराध।
जेहि तेहि विधि हरि गाइये कहत सकल श्रुति साध।
या मैं कछुक बुद्धि नहिं मेरी।
उक्ति युक्ति सब सूरहिं केरी।
मोते यह अति होत ढिठाई।
करत विष्णु पद की चौपाई।

व्रजवासी दास का यह महत्व है कि वे व्रजविलास की रचना से अपनी प्रतिभा का कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते। परंतु उसमें उनका निजस्व भी देखा जाता है। उन्होंने स्थान २ पर कथाओंको संगठित रूपमें इस सरलता के साथ कहा है कि उनमें विशेष मधुरता आ गयी है। यह उनकी भावमयी और सरस प्रकृति काही परिणाम है। उन्होंने गोस्वामी जी का अनुकरण किया है, परन्तु उनकी भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है, जिससे सरसता टपकी पड़ती है। उनके ग्रंथ का शब्द-विन्यास इतना कोमल है और उसमें कुछ ऐसा आकर्षण मिलता है जो स्वभावतया हृदयों को अपनी ओर खींच लेता है। उनके इस ग्रंथ का प्रचार भी अधिक है, विशेष कर व्रजप्रांत और युक्त प्रान्त के पश्चिमीय भाग में। 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद मेरे देखने में नहीं आया। सुना है उसकी भाषा भी ऐसी ही ललित है। मैं उनके कुछ पद्य व्रजविलास से उठाता हूं। उनके पढ़ने से आपको यह अनुभव होगा कि उनकी रचनामें कितना लालित्य है। चन्द्रमा को देख कर कृष्णचन्द्र मचल गये हैं और उसको लेना चाहते हैं। माताने एक थाली में जल भर कर चन्द्रमा को उनके पास पकड़ मँगाया। उसी समय का यह वर्णन है। देखिये उसकी मनोहरता और स्वाभाविकता:—

लेहु लाल यह चन्द्र मैं लीन्हों निकट बुलाय।
रोवै इतने के लिये तेरी स्याम बलाय।
देखहु स्याम निहारि या भाजन में निकट ससि।
करी इती तुम आरि जा कारन सुन्दर सुअन।
ताहि देखि मुसुकाइ मनोहर।
बारबार डारत दोऊ कर।
चंदा पकरत जल के माहीं।
आवत कछु हाथ में नाहीं।
तब जल पुट के नीचे देखे।
तहँ चंदा प्रतिबिंब न पेखे।
देखत हँसीं सकल व्रज नारी।
मगन बाल छवि लखि महतारी।
तबहिं स्याम कछु हँसि मुसकाने।
बहुरो माता सों बिरुझाने।
लउँगौ री या चंदा लउँगौ।
वाहि आपने हाथ गँहूगौ।
यह तो कलमलात जल माहीं।
मेरे कर में आवत नाहीं।
बाहर निकट देखियत नाहीं।
कहौ तो मैं गहि लावौं ताही।
कहत जसोमति सुनहु कन्हाई।
तुअ मुख लखि सकुचत उडुराई।
तुम तेहि पकरन चहत गुपाला।
ताते ससि भजि गयो पताला।

अब तुमते ससि डरपत भारी।
कहत अहो हरि सरन तुम्हारी।
बिरुझाने सोये दै तारी।
लिय लगाय छतियां महतारी।
लै पौढ़ाये सेज पर हरि को जसुमति माय।
अति बिरुझाने आज हरि यह कहि कहि पछिताय।

देखिये इस पद्य में बालभाव का अथच माता के प्यार का कितना स्वाभाविक वर्णन है। निस्सन्देह, यह प्रवाह सूर-सागर से आया है। परन्तु उसको अपने ढंग से प्रवाहित कर ब्रजवासी दास ने बहुत कुछ सहृदयता दिखलायी है और यही उनका निजस्व है। जो लोग सूर-सागर में धँस कर उसका पूर्ण आनन्द लाभ करने के अधिकारी नहीं हैं उनके लिये ब्रजविलास की रचना है जो सर्व साधारण के हृदय में चिरकाल से आनन्द रस-धारा बहाती आयी है।

मधुसूदन दास माथुर चौबे थे इन्होंने 'रामाश्वमेध' नामक एक बड़ा मनोहर प्रबन्ध काव्य लिखा है, इसको संस्कृत रामाश्वमेध का अनुवाद नहीं कह सकते। यह अवश्य है कि उसी के आधार से इस ग्रंथ की रचना हुई है। परन्तु मधुसूदन दास ने अनेक स्थानों पर स्वतंत्र पथ भी ग्रहण किया है। उनके इस ग्रन्थ को हम रामचरित मानस का परिशिष्ट कह सकते हैं रामाश्वमेधकार ने राम चरित मानस का ही अनुकरण किया है और उसमें अधिकतर सफलता लाभ की है। उनकी यह रचना कहीं कहीं रामचरित मानस की भाषा से इतनी मिल जाती है कि वह ठीक गोस्वामी जी की कृति जान पड़ती है। अवधी भाषा ही में यह ग्रंथ लिखा गया है। परन्तु गोस्वामी जी की रचना के समान उसमें भी सँस्कृत के तत्सम शब्द अधिक आते हैं। उनकी भाषा को हम परिमार्जित अवधी कह सकते हैं, जिसमें कहीं कहीं गोस्वामी जी के समान ही ब्रजभाषा का पुट पाया जाता है। इस ग्रंथ का प्रचार बहुत कम हुआ, परन्तु ग्रंथ सुंदर और पठनीय है। इसके कुछ पद्य देखिये:—

सिय रघुपति पद कंज पुनीता।
प्रथमहिं बंदन करौं सप्रीता।
मृदु मंजुल सुन्दर सब भाँती।
ससि कर सरिस सुभग नखपाँती।
प्रणत कल्पतरु तरु सब ओरा।
दहन अज्ञ तम जन चित चोरा।
त्रिविध कलुष कुंजर घनघोरा।
जग प्रसिद्ध केहरि बरजोरा।
चिंतामणि पारस सुर धेनू।
अधिक कोटि गुन अभिमत देनू।
जन मन मानस रसिक मराला।
सुमिरत भंजन बिपति बिसाला।

इस शताब्दी में निर्गुण बादियों में चरन दास का नाम ही अधिक प्रसिद्ध है। उनके बाद उनकी शिष्या सहजोबाई और दयाबाई का नाम लिया जा सकता है। चरन दास जी राजपुताना-निवासी थे। कहा जाता है कि उन्नीस वर्ष की अवस्था में उनको वैराग्य हो गया था। वे बाल ब्रह्मचारी थे। उनके शिष्यों की संख्या बावन बतलायी जाती है। उनकी बावन गद्दियां अबतक वर्त्तमान हैं। उनके पंथवाले चरन दासी कहलाते हैं। उनके दो ग्रन्थ मिलते हैं, एक का नाम है 'ज्ञान स्वरोदय' और दूसरे का 'चरन दास की बानी' दादूदयाल का जो सिद्धान्त था लगभग वही सिद्धान्त उनका भी था। कबीर पंथ की छाया भी उनके पंथ पर पड़ी है। वे भी एक प्रकार से अपठित थे उनकी भाषा भी संत बानियों की सी ही है। उसमें किसी भाषा का विशेष रंग नहीं। परन्तु व्रजभाषा के शब्द उसमें अधिक मिलते हैं और कहीं कहीं राजस्थानी की झलक भी दृष्टिगत होती है। 'स्वरोदय' की रचना जटिल है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी अधिक आये हैं, और वे कहीं कहीं उसमें अव्यवस्थित रूप में पाये

जाते हैं जिससे भाषा का माधुर्य्य बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। यत्र तत्र छन्दोभंग भी है। उनके कुछ पद्य देखिये और जो चिन्हित शब्द हैं उन पर विशेष ध्यान दीजिये।

१—चार वेद का भेद है गीता का है जीव।
चरनदास लखु आप को तोमैं तेरा पीव।

२—मुक्त होय बहुरै नहीं जीव खोज मिटि जाय।
बुंद समुंदर मिलि रहै दुनिया ना ठहराय।

३—सूछम भोजन कीजिये रहिये ना पड़ सोय।
जल थोरा सा पीजिये बहुत बोल मत खोय।

४—सतगुरु मेरा सूरमा करै शब्द की चोट।
मारै गोला प्रेम का ढहै भरम का कोट।

५—धन नगरी धन देस है धनपुर पट्टन गाँव।
जहँ साधू जन उपजियो ताका बल बल जाँव।

६—जग माँही ऐसे रहो ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीर के आसरे पै जल छूवै नाहिं।

७—दया नम्रता दीनता छिमा सील संतोष।
इनकहं लै सुमिरन करै निहचै पावै मोख।

८—चरनदास यों कहत हैं सुनियो संत सुजान।
मुक्ति मूल आधीनता नरक मूल अभिमान।

९—चंद सूर्ज दोउ सम करै ठोढ़ी हिये लगाय।
षट चक्कर को बेध कर शून्य शिखर को जाय।

१०—ब्याह दान तीरथ जो करै। बस्तर भूषण घरपगधरै।

११—दहिने स्वर झाड़े फिरै, बाएं लघुशंकाय।
मुक्ती ऐसी साधिये, दीनों भेद बताय।

सहजोबाई और दयाबाई दोनों चरनदास की शिष्या थीं और दोनों ही दूसर वंश की थीं। दोनों ही आजन्म उनकी सेवा में रहीं और परमार्थ में ही अपना जीवन व्यतीत किया। इन दोनों की गुरु-भक्ति प्रसिद्ध है। इनकी रचनाओं में भी इसकी झलक पायी जाती है। भाषा इनदोनों की व्रजभाषा है। परंतु निर्गुणवादियों का ढंग भी उसमें पाया जाता है। ये दोनों भी चित्त की उमंग से ही कविता करती थीं। उनके बोध पर सत्संग का प्रभाव था, पढ़ी-लिखी वे थीं या नहीं, इस विषय में कहीं कुछ लिखा नहीं मिलता। सहजोबाई ने कोई ग्रंथ नहीं बनाया। उनकी स्फुट कवितायें पायी जाती हैं। उनमें से कुछ यहां लिखी जाती हैं:—

१—निश्चय यह मन डूबता लोभ मोह की धार।
चरनदास सतगुरु मिले सहजो लई उबार।

२—सहजो गुरु दीपक दियो नैना भये अनंद।
आदि अंत मध एक ही सूझि परै भगवंत।

३—जब चेतै जहँ ही भला मोह नींद मं जाग।
साधू की संगति मिलै सहजो ऊंचे भाग।

४—अभिमानी नाहर बड़ो भरमत फिरत उजार।
सहजो नन्हीं बाकरी प्यार करै संसार।

५—सीस कान मुख नासिका ऊंचे ऊंचे नाँव।
सहजो नीचे कारने सब कोई पूजे पाँव।

दयाबाई का एक ग्रंथ है, जिसका नाम है 'दयाबोध'। उसके आधार से उनके कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं:—

१—बौरी ह्वै चितवत फिरूं हरि आवैं केहि ओर।
छिन उट्ठूं छिन गिरि परूं रामदुखी मन मोर।

२—प्रेम पुंज प्रगटै जहां तहां प्रगट हरि होय।
दयादया करिदेत हैं श्री हरिदरसन सोय।

३—दया कुँवरि या जगत में नहीं रह्यो थिर कोय।
जैसो वास सराय को तैसो यह जग होय।
४—बड़ो पेट है काल को नेक न कहूं अघाय।
राजा राना छत्र पति सबकूं लीले जाय।
५—दुख तजि सुख की चाह नहिं नहिं बैकुंठ विमान।
चरन कमल चित चहत हौं मोहिं तुम्हारी आन।

उन्नीसवीं शताब्दी जैसे भारतवर्ष के लिये एक विचित्र शताब्दी है वैसे ही हिन्दी भाषाके लिये भी। इस शताब्दीमें धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक बड़े २ परिवर्तन जिस प्रकार हुये वैसे ही भाषा सम्बन्धी अनेक लौट फेर भी हुये। हिन्दी भाषा ही नहीं, भारतवर्ष की समस्त प्रान्तिक भाषाओं का काया कल्प इसी शताब्दी में हुआ। उर्दू भाषा की नींव अठारहवीं शताब्दीके उत्तरार्ध में पड़ चुकी थी। इस शताब्दी में वह भी खूब फली फूली। मीर, इंशा, ज़ौक़ और नासिख़ ऐसे महाकविओं ने उसका लोकोत्तर शृंगार किया। मुसलमान राज्य का वह अंतिम प्रदीप जो दिल्ली में धुँधली ज्योति धारण कर जलरहा था, उसका निर्वाण इसी शताब्दीमें हुआ। जिससे ब्रिटिश सूर्य्य अपनी अतुल आभा भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्तों में विस्तार करने में समर्थ हुआ। परिणाम उसका यह हुआ कि नवीन ज्योति के साथ नये नये भाव एवं बहुत से नूतन विचार देश में फैले और एक नवीन जागर्ति उत्पन्न हो गयी। इस जागर्ति ने भारत की वर्त्तमान सभ्यतामें हलचल मचा दी और उसमें नवीन आविष्कारों का उदय हुआ।

राजा राममोहन राय, परमहंस राम कृष्ण, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, स्वामी रामतीर्थ ऐसे धर्म सँस्कारक, न्यायमूर्त्ति महादेव गोविन्द रानाडे ऐसे समाज सुधारक, दादा भाई नौरोजी, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, माननीय गोपालकृष्ण गोखले, बाबू सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी एवं महात्मा गांधी ऐसे राजनीतिक नेता, महर्षि मालवीय जैसे हिन्दू धर्म के रक्षक, समाज के उन्नायक अथच राजनीतिके धुरंधर संचालक इसी शताब्दी

में उत्पन्न हुये। ऐसी दशा में यदि साहित्य में नव-स्फूर्ति उत्पन्न और हिन्दीभाषा को भी नवजीवन इस शताब्दी में प्राप्त हो तो कोई आश्चर्य्य नहीं। क्योंकि साहित्य सामाजिक भावों के विकास का ही परिणाम होता है। साहित्य के लिये अनुकूल भाषा की बड़ी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि इस शताब्दी में हिन्दी भाषा ने अपना कलेवर विचित्र रूप से बदला। उसमें यह परिवर्त्तन इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। पूर्वार्द्ध में पूर्वागत परम्परा ही अधिकतर दृष्टिगत होती है, यद्यपि उसमें परिवर्तन के लक्षण 'प्रगट हो गये थे। मैं क्रमशः परिवर्तन-प्रणाली को आप के सामने उपस्थित करूंगा।

इस शताब्दी में निम्न-लिखित प्रसिद्ध रीति ग्रंथकार हुये हैं। क्रमशः मैं इनका परिचय आप को दूंगा और यह भी बतलाता चलूंगा कि इनके समय में भाषा का क्या रूप था और उस पर समय का क्या प्रभाव पड़ाः—पद्माकर, ग्वाल, राय रणधीर सिंह, लछिराम, गोविंदगिल्लाभाई, प्रताप शाह।

पद्माकर का कविता काल अठारहवीं शताब्दीसे प्रारम्भ होता है, किंतु उनकी प्रौढ़ कविता का काल यही शताब्दी है। इसलिये हमने इसी शताब्दी में उनको रक्खा है। हिन्दी साहित्य संसार में पद्माकर एक विशेष स्थान के अधिकारी हैं। उनकी रचना में ऐसा प्रवाह है, जो हृदय को रस-सिक्त किये बिना नहीं रहता। शब्द विन्यास में उन्होंने ऐसी सहृदयता का परिचय दिया है जैसो महाकवियों में ही दृष्टिगत होती है। भाव को मूर्त्तिमन्त बनाकर सामने लाना उनकी विशेषता है। शब्द में झंकार पैदा करना, उसको भावचित्रण के अनुकूल बना लेना, अपनी उपज से उसमें अनोखे बेल बूटे तराशना, जिनमें रस छलकता मिले, ऐसी उक्तियों को सामने लाना उनकी रचना के विशेष गुण हैं। अनुप्रास एवं वर्ण मैत्री उनकी कविता का प्रधान अंग है, किन्तु इस सरसता और निपुणता से वे उसका प्रयोग करते हैं कि उनके कारण से न तो भाषा दब जाती है और न भाव के स्फुटन में व्याघात उपस्थित होता है। जैसे

दर्पण में से आभा फूटती है, वैसे ही उनकी वाक्यावली में से भाव विकसित होता रहता है। अलंकार इनकी कृति में आते हैं, किंतु उसे अलंकृत करने के लिये, दुरूह बनानेके लिये नहीं, उनकी भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। उसमें कहीं कहीं अन्य भाषा के शब्द भी आजाते हैं, परन्तु वे आभूषण में नग का काम देते हैं। उन्होंने कुछ भाव संस्कृत और भाषा के अन्य कवियों के भी लिये हैं, किंतु उनको बिलकुल अपना बना लिया है। साथ ही उनमें एक ऐसी मौलिकता उत्पन्न कर दी है, जिससे यह ज्ञात होता है कि वे उन्हीं की सम्पत्ति हैं।

पद्माकर जी बड़े भाग्यशाली कवि थे। वे उस वंश के रत्न थे जो सर्वदा बड़े बड़े राजाओं, महाराजाओं द्वारा आहत होता आया था। जितने राजदरबारों में उन का प्रवेश हुआ और जितने राजाओं-महाराजाओं से उन्हें सम्मान मिला, हिन्दी संसार के किसी अन्य कवि को वह संख्या प्राप्त नहीं हुई। वे तैलंग ब्राह्मण थे। इसलिये उनकी पूजा कहीं गुरुत्व लाभ करके हुई, कहीं कवि-कर्म्म द्वारा। उनके पूर्व पुरुष भी विद्वान और कवि थे और उनके पुत्र एवं पौत्र भी। उनके पौत्र गदाधर हिन्दी संसार के परिचित प्रसिद्ध कवि हैं। वे कवि-कर्म्म में तो निपुण थे ही, सम्मान प्राप्त करने में भी बड़े कुशल थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है। कहा जाता है कि 'रामरसायन' नामक एक राम-चरित्र सम्बन्धी प्रबंध काव्य भी उन्हों ने लिखा था। परंतु उसकी कविता ऐसी नहीं है जैसी उनके जैसे महाकवि की होनी चाहिये। इसलिये कुछ लोगों की यह सम्मति है कि वह ग्रंथ उनका रचा नहीं है। उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ जगद्विनोद है, जो हिन्दी भाषा-कवि-कुल का कण्ठहार है। प्रबोध पचासा और गंगालहरी भी उनके सुंदर ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में निर्वेद जैसा मूर्तिमन्त हो कर विराजमान है वैसी ही उनमें मर्म-स्पर्शिता भी है। पद्माकर के ग्रंथों की संख्या एक दर्जन से अधिक है, और उन सबों में उनकी प्रतिभा सुविकसित मिलती है। उनमें से कुछ कवितायें नीचे लिखी जाती हैं:-

१—ब्याधहूँ ते बिहद असाधु हौं अजामिल लौं
ग्राह ते गुनाही कहो तिन मैं गिनाओगे।

स्योरी हौं न सूद हौं न केवट कहूं को
त्यों न गौतमी तिया हौं जापैपगधरि आओगे।
राम सों कहत पद्‌माकर पुकारि
तुम मेरे महापापन को पारहूं न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी
साँचो ही कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे।

२—जैसो तैं न मोसों कहूं नेकहूं डरात हुतो
तैसो अब हौंहूं नेकहूं न तोसों डरिहौं।
कहै पद्‌माकर प्रचंड जो परैगो
तो उमंड करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं।
चलो चलु चलो चलु विचलु न बीच ही ते
कीच बीच नीच तो कुटुंब को कचरिहौं।
एरे दगादार मेरे पातक अपार तोहि
गंगा की कछार में पछारि छार करिहौं।

३—हानि अरु लाभ जानि जीवन अजीवन हू
भोगहूं वियोगहूं सँयोगहूं अपार है।
कहै पद्‌माकर इते पै और केते कहौं
तिनको लख्यो न वेदहूं मैं निरधार है।
जानियत याते रघुराय की कला को कहूं
काहू पार पायो कोऊ पावत न पार है।
कौन दिन कौन छिन कौन घरी कौन ठौर
कौन जानै कौन को कहा धौं होनहार है।

४—सोरह सिंगार कै नवेली के सहेलिन हूं
कीन्हीं केलि मन्दिर में कलपित केरे हैं।
कहै पदमाकर सु पास ही गुलाब पास
खासे खस खास खुसबोइन के ढेरे हैं।
त्यों गुलाब नीरन सों हीरन को हौज भरे
दम्पति मिलाय हित आरती उंजेरे हैं।
चोखी चांदनीन पर चौरस चमेलिन के
चन्दन की चौकी चारु चांदी के चँगेरे हैं।

५—चहचही चहल चहूंघा चारु चन्दन की
चन्द्रक चुनिन चौक चौकन चढ़ी है आब।
कहै पदमाकर फराकत फरसबंद
फहरि फुहारनि की फरस फबी है फाब।
मोद मद माती मन मोहन मिलै के काज
साजि मन मन्दिर मनोज कैसो महताब।
गोलगुलगादी गुल गोल में गुलाब गुल
गजक गुलाबी गुल गिंदुक गले गुलाब।

६—कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है।
कहै पदमाकर परागन में पौन हूं में
पानन में पीक में पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में
देखो दीप दीपन में दीपति दिगन्त है।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगर्‍यो बसन्त है।

७—पात बिन कीन्हें ऐसी भांति गन बेलिन के
परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं।
कहै पद्माकर बिसासी या बसन्त के सु
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं।
ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो
हरि सों हमारे ह्यां न फूले बन कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।

८—संपति सुमेर की कुबेर की जो पावै ताहि
तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना।
कहै पद्माकर सुहेम हय हाथिन के
हलके हजारन के बितर बिचारै ना।
दीन्हें गज बकस महीप रघुनाथ राय
याहि गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याहि डर गिरिजा गजानन को गोय रही
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना।

९—झांकति है का झरोखा लगी
लगि लागिबे को इहां फेल नहीं फिर।
त्यों पद्माकर तीखे कटाछनि की
सर कौ सर सेल नहीं फिर।
नैनन ही की घलाघल के घन
घावन को कछु तेल नहीं फिर।

प्रीति पयोनिधि मै धँसि कै हँसि कै
कढ़िबा हँसी खेल नहीं फिर।

०—ए ब्रज चन्द चलौ किन वा ब्रज
लूकै बसन्त की ऊकन लागीं।
त्यों पद्माकर पेखौ पलासन
पावक सी मनो फूँकन लागीं।
वै ब्रजनारी बिचारी बधू बन
बावरी लौं हिये हूकन लागीं।
कारी कुरूपकसाइनैं ये सु कुहू
कुहू कैलिया कूकन लागीं।

ग्वाल कवि मथुरा के रहने वाले ब्रह्मभट्ट थे। जगदम्बा का उनको इष्ट था। वे प्रतिभावान कवि माने जाते हैं। कहा जाता है किसी सिद्ध तपस्वी की कृपा से यह प्रतिभा उनको प्राप्त हुई थी। उनके बनाये ग्रंथों की संख्या साठसे ऊपर है. जिनमें अधिकतर 'गोपी-पचीसी,' 'रामाष्टक', 'कृष्णाष्टक' और गणेशाष्टक आदि के समान छोटे छोटे ग्रन्थ हैं। उनके 'साहित्यानंद, साहित्य-दर्पण. साहित्य-दूषण' इत्यादि पांच चार बड़े ग्रन्थ हैं। इनमें साहित्य के समस्त अंगों का विशेष वर्णन है वे राज दरबारों में घूमा करते थे। महाराज रणजीत सिंह से भी मिले थे। उन्हों ने इन्हें कुछ पुरस्कार भी दिया था। देशाटन अधिक करने के कारण उनको अनेक भाषाओं का ज्ञान था, उनमें उन्हों ने कविता भी की है। वेब्रज निवासीथे और ब्रजभाषापर उनको अधिकार भी था। परंतु स्वतंत्र प्रकृतिके थे. इसलिये उनकी रचनामें ब्रजभाषाके साथ खड़ी बोलीका मिश्रण भी है। उनकी कविता में जैसी चाहिये वैसी भावुकता भी नहीं। आन्तरिक प्रेरणाओं से लिखी गयी कविताओं में जो बल होता है. उनकी रचनाओं में वह कम पाया जाता है। उन्होंने बहुत अधिक रचनायें की हैं इस लिये सबमें कवि-कर्म्म का उचित निर्वाह नहीं हो सका. उनकी कविता में प्रवाह पाया

जाता है, परन्तु यथेष्ट नहीं। उर्दू और फारसी शब्दों का प्रयोग उनकी कविता में प्रायः देखा जाता है। ज्ञात होता है कि उनपर उर्दू शायरी का भी कुछ प्रभाव था। उनके कुछ पद्य देखिये :—

१—मोरन के सोरन की नेकौ ना मरोर रही
घोर हूं रही न घन घने या फरद की।
अंबर अमल सर सरिता बिमल भल
पंक को न अंक औ न उड़नि गरद की।
ग्वाल कवि चित में चकोरन के चैन भये
पंथिन की दूरि भई दूखन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर
चांदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की।

२—ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस बीजन झले हूं ना सुखात स्वेद
गात ना सुहात बात दावा सी डरापिनी।
ग्वाल कवि कहे कोरे कुंभन ते कूपन ते
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब
पीवत हूं पीवत मिटै न प्यास पापिनी।

३—जेठ को न त्रास जाके पास ये बिलास होंय,
खस के मवास पै गुलाब उछर्यो करै
बिहीं के मुरब्बे डब्बे चांदी के वरक भरे,
पेठे पाग केवरे मैं बरफ पर्यो करै।

ग्वाल कवि चंदन चहल में कपूर चूर,
चंदन अतर तर बसन खर्यो करै।
कंज मुखी कंज नैनी कंज के बिछौनन पै
कंजन की पंखी कर कंज ते कर्यो करै।

४—गीधे गीधे तार कै सुतारि कै उतारि कै जू
धारि कै हिये में निज बात जटि जायगी।
तारि कै अवधि करी अवधि सुतारिबे की
बिपति बिदारिबे की फाँस कटि जायगी।
ग्वाल कवि सहज न तारियो हमारो गिनो
कठिन परैगो पाप-पांति पटि जायगी।
यातें जो न तारिहौ तुम्हारी सौंह रघुनाथ
अधम उधारिबे की साख घटि जायगी।

५—जाकी खूब खूबी खूब खूबन कै खूबी यहाँ
ताकी खूब खूबी खूब खूबी नभ गाहना।
जाकी बद जाती बद जाती इहां चारन में
ताकी बद जाती बद जाती हां उराहना।
ग्वाल कवि येही परसिद्ध सिद्ध ते हैं जग
वही परसिद्ध ताकी इहाँ हां सराहना।
जाकी इहां चाहना है ताकी वहाँ चाहना है
जाकी इहाँ चाहना है ताकी उहाँ चाह ना।

६—चाहिये जरूर इनसानियत मानस को
नौबत बजे पै फेर भेर बजनो कहा।
जाति औ अजाति कहा हिंदू औ मुसलमान
जाते कियो नेह ताते फेर भजनो कहा।

ग्वाल कवि जाके लिये सीस पै बुराई लई
लाजहू गँवाई ताते फेर लजनो कहा।
या तो रंग काहू के न रंगिये सुजान प्यारे
रँगे तो रँगेई रहे फेर तजनो कहा।

७—दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि
खाओ पियो देव लेव यहीं रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादसाह भये
कहाँ ते कहाँ को गये लाग्यो ना ठिकाना है।
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
परवाना आये पर चले ना बहाना
इहां नेकी कर जाना फेर आना है न जाना है।

उनकी अन्य भाषाओं की भी रचनायें हैं। पर मैं अब उनको उठाना नहीं चाहता। एक एक पद उन भाषाओं का देख लीजिये:—

पूरबी भाषा—मोर परवा सिर ऊपर सोहै
अधर बँसुरिया राजत बाय।

गुजराती भाषा—तुम तो कहो छो
छैया मोटा ऊधमी छै
म्हारी मटकी मठानी ढुलकावा नो निदान छै।

पंजाबी भाषा—सादी खुशी एही आप
आरांदी खुशी दे विच।
जेही चाहो तेही करो नेही कानूं नस्स दै।

गोकुलनाथ महाराज काशिराज के दरबार के प्रसिद्ध कवि थे ये कविवर रघुनाथ के पुत्र थे, इनका भाषा-साहित्य का ज्ञान उच्च कोटि का माना

जाता है। इन्होंने साहित्य के सब अंगों पर रचनायें की हैं. रीति-सम्बन्धी सुन्दर ग्रन्थ भी बनाये हैं। 'कवि मुखमंडन, 'राधाकृष्ण बिलास, और 'चेत-चन्द्रिका, इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन्होंने अध्यात्म रामायण का अनुवाद भी किया है। 'सीताराम गुणार्णव' उसका नाम है। यह इनका प्रबन्ध ग्रन्थ है। इन्होंने एक बहुत बड़ा कार्य अपने पुत्र गोपीनाथ और शिष्य मणिदेव की सहायता से किया। वह है समस्त महाभारत और हरिवंश पर्व का व्रज-भाषामें सरस अनुवाद। यह अनुवाद काशीके महाराज उदित नारायण सिंह की बहुत बड़ी उदारताका फल है। यह कार्य्य लगभग पचास वर्षमें हुआ और इसमें उन्हों ने लाखों रुपये व्यय किये। यह मुझे ज्ञात है कि महाराज रणजीत सिंह ने भी समस्त महाभारत का अनुवाद सुन्दर व्रजभाषा में किसी कवि से कराया था। उन्होंने भी यह कार्य्य बहुत व्यय स्वीकार करके किया था मैंने इस ग्रन्थ को पढ़ा और देखा भी है! निज़ामाबाद निवासी स्व०-बाबा सुमेर सिंह के पास इसकी एक हस्त लिखित प्रति मौजूद थी। परन्तु अब वह अप्राप्य है। जहां तक मुझे ज्ञात है, यह ग्रन्थ मुद्रित भी नहीं हुआ परन्तु काशिराज के अनुवाद के तीन सँस्करण हो चुके हैं। इस ग्रन्थ की सुन्दर और मधुर रचना की बहुत अधिक प्रशंसा है। गोकुलनाथ ने ऐसे विशाल ग्रन्थ का अनुवाद अशिथिल और भावमयी भाषामें करके बहुत बड़ा गौरव प्राप्त किया है। इतना बड़ा प्रबन्ध काव्य अब तक हिन्दी के किसी कवि अथवा महाकवि द्वारा नहीं लिखा जा सका। सच बात तो यह है कि अकेले एक बहुत बड़ा प्रतिभाशाली कवि भी इस कार्य को नहीं कर सकता था। गोपीनाथ और मणिदेव भी गण्य कवियों में हैं। उनको पूर्ण सहायता से ही गोकुलनाथ को इतनी बड़ी कीर्ति प्राप्त होसकी। इस लिये वे भी कम प्रशंसनीय नहीं। इस अवनुाद की एक विशेषता यह है कि यदि यह न बताया जाय कि तीनों कवियों में से किस कवि ने किस पर्व का अनुवाद किया है तो ग्रन्थ की भाषा के द्वारा यह ज्ञात नहीं होसकता कि उसमें तीन कवियों की रचनायें हैं। वास्तव बात यह है कि तीनों ने इतनी योग्यता और विलक्षणता के साथ अनुवाद कार्य्य किया है कि भाषा में विभिन्नता आयी ही नहीं। ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है, उसमें उर्दू

फारसी अथवा अन्य भाषाके शब्द यत्र-तत्र आये हैं, परन्तु उसके अंग भूत बनकर, इस प्रकार नहीं कि जिससे भाषा की शैली में कोई व्याघात अथवा विषमता उत्पन्न हो। इन तीनों सुकवियों की रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे लिखेजाते हैं:—

१—सखिन के स्रुति मैं उकुति कल कोकिल की
　　　　गुरुजन हू के पुनि लाज के कथान की।
　गोकुल अरुन चरनांवुज पै गुंज पुंज
　　　　धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की।
　पीतम के स्रवन समीप ही जुगुति होति
　　　　मैन मंत्र तंत्र के बरन गुनगानी की।
　सौतिन के कानन मैं हालाहल ह्वै हलति
　　　　एरी सुखदानि तौन बजनि बिछुवानि की।

२—पेंच खुले पगरी के उड़ैं फिरैं
　　　　कुंडल की प्रतिमा मुख दौरी।
　तैसियै लोल लसैं जुलफैं रहैं
　　　　एहो न मानति धावति भौंरी।
　गोकुल नाथ किये गति आतुर
　　　　चातुर की छबि देखत बौरी।
　ग्वालनि ते कहि जात चल्यो
　　　　फहरात कँधा पर पीन पिछौरी।

गोकुलनाथ

३—विहँग अगनित भाँति के तहँ रमत बोलत बैन।
　मृगा आवत तासु तर ते लहत अतिसय चैन।

पलित नामक मूष शतमुख विवर करि तर तासु।
भयो निवसत अति विचच्छन चपल लच्छन जासु।
गोपीनाथ

४—काक के ये बचन सुनि कै कह्यो हंस सुजान।
एक गति सब विहग की तुम काक शतगतिवान।
एक गति सों उड़ब हम तुम यथा रुचित सुबंस।
बाँधि यहि बिधि बहस लागे उड़न बायस हंस।
मणिदेव

भाषा के विषय में इतना और कहना आवश्यक होता है कि अनुवादकों की प्रवृत्ति कहीं कहीं संस्कृत के शब्दों को तत्सम रूप में रखने ही की है इसलिये ब्रजभाषा के नियमानुसार शकार को सकार न करके प्रायः शकार ही रहने दिया गया है। इसी प्रकार अनुप्रास आदि के आधार से अधिक ललित बनाने की चेष्टा न कर सरलता ही पर विशेष दृष्टि रखी गयी है।

राय रणधीर सिंह जिला जौनपुर, सिंगरामऊ के निवासी थे। आप वहां के एक प्रतिष्ठित ज़मींदार थे। आप के यहाँ पण्डितों, विद्वानों, एवं कवियों का बड़ा आदर था। कविता में उनकी इतनी रुचि थी कि वह उनका एक व्यसन हो गया था उन्होंने पाँच ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें से 'नामार्णव' पिंगल का, 'काव्यरत्नाकर' नायिका भेद और अलंकार का और 'भूषण-कौमुदी, साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ है। ये एक सरस हृदय कवि थे इनका एक पद्य देखिये:-

मंजुल सुरंगवर सोभित अचित चारु
फल मकरंद कर मोदित करन हैं।
प्रमित विराग ज्ञान के सर सरस देस
विरद असेस जसु पांसु प्रसरन हैं।
सेवित नृदेव मुनि मधुप समाज ही के
रनधीर ख्यात द्रुत दच्छिन भरन हैं।

ईस हृदि मानस प्रकासित सहाई लसैं
अमल सरोज वरस्यामा के चरन हैं।

लछिराम ब्रह्मभट्ट थे और अमोढ़ा, जिला बस्ती उनका जन्म स्थान था। उन्होंने महाराज मान सिंह अवध नरेश के दरबार में रह कर साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। उन्हीं से उन्होंने कविराज की पदवी भी प्राप्त की थी। वे उनके दरबार की शोभा तो थे ही, उनकी कृपा के कारण अवध प्रांत के अनेक राजाओं के यहां भी सम्मानित थे। उन्होंने अलंकार के कई ग्रन्थ लिखे हैं, जो उस राजा के नाम से ही प्रख्यात हैं जिसकी कीर्ति के लिये उनकी रचना हुई है—जैसे 'प्रताप रत्नाकर' 'लक्ष्मीश्वर रत्नाकर', 'रावणेश्वरकल्पतरु', 'महेश्वर-विलास' आदि। इन्होंने नायिका-भेद, अलंकार और अन्य कुछ विषयों पर भी ग्रन्थ लिखे हैं और इस प्रकार इनके ग्रन्थों की संख्या दस-पन्द्रह है। कविता-शक्ति इनमें अच्छी थी, इनकी रचना भी सरस होती थी। परन्तु अधिकतर इनकी कृतिमें अनुकरण मात्र है। मौलिकता खोजने पर भी नहीं मिलता। इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें साहित्यिक गुण भी हैं। कोमल और सरस शब्दविन्यास करनेमें भी वे दक्ष थे। कुछ पद्य देखिये:—

१—भरम गँवावै झरबेरी संग नीचन ते
कंटकित बेल केतकीन पै गिरत है।
परिहरि मालती सुमाधवी सभासदनि
अधम अरूसन के अंग अभिरत है।
लछिराम सोभा सरवर में विलास हेरि
मूरख मलिंद मन पल ना थिरत है।
रामचन्द्र चारु चरनांबुज बिसारि देस
बन बन बेलिन बबूर में फिरत है।

२—भानु बंस भूषन महीप राम चन्द्र वीर
रावरो सुजस फैल्यो आगर उमंग में।

कवि लछिराम अभिराम दूनो सेस हूं सों
चौगुनो चमकदार हिम गिरि गंग मैं।
जाको भट घेरे तासों अधिक परे हैं और
पँच गुनो हीरा हार चमक प्रसंग मैं।
चंद मिलि नौगुनो नछत्रन सों सौगुनो है
सहस गुनो भो छीर सागर तरंग मैं।

३—सजल रहत आप औरन को देत ताप
बदलत रूप और बसन बरेजे मैं।
तापर मयूरन के झुंड मतवाले माले
मदन मरोरैं महा झरनि मरेजे मैं।
कवि लछिराम रंग साँवरो सनेही पाय
अरज न मानै हिय हरष हरेजे मैं।
गरजि गरजि बिरहीन के बिदारैं उर
दरद न आवै धरे दामिनी करेजे मैं।

गोविन्द गिल्ला भाई चौहान राजपूत थे। उनकी शिक्षा तो साधारण थी, किन्तु उन्होंने परिश्रम करके हिन्दी साहित्य में अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था उन्होंने तीससे अधिक ग्रन्थोंकी रचनाकी है। जिनमें 'साहित्य-चिन्तामणि,' 'शृंगार-सरोजिनी' 'गोविन्द हजारा' और 'विवेक-विलास' आदि बड़े ग्रन्थ हैं। इनमें 'शृंगार सरोजिनी' और 'साहित्य चिन्तामणि' रीति ग्रंथ हैं। ये काठियाबाड़ (गुजरात) के रहने वाले थे। फिर भी उन्होंने व्रजभाषामें रचना की है। भाषा टकसाली तो नहीं कही जा सकती। परन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि उसपर उनको अच्छा अधिकार था। उनकी रचना में सहृदयता है और कोमलता भी। परन्तु जैसी चाहिये वैसी भावुकता उसमें नहीं मिलती। कुछ पद्य देखियेः—

१—संपति करन और दारिद दरन सदा
कष्ट के हरन भव तारन तरन हैं।
भौन के भरन चारों फल के फरन
महाताप के हरन असरन के सरन हैं।
भक्त उद्धरन और विघन हरन सदा
जनम मरन महादुख के दरन हैं।
गोबिंद कहत ऐसे बारिज बरन बर
मोद के करन मेरे प्रभु के चरन हैं।

२—दाहिबो सरीर अरु लहिबो परमपद
चाहिबो छनिक माहिं सिंधुपार पाइबो।
गहिबो गगन अरु बहिबो बयारि संग
रहिबो रिपुन संग त्रास नहिँ लाइबो।
सहिबो चपेट सिंह लहिबो भुजंग मनि
कहिबो कथन अरु चातुर रिझाइबो।
गोबिँद कहत सोई सुगम सकल
पर कठिन कराल एक नेह को निभाइबो।

प्रताप साहि बंदीजन थे। और चरखारी के महाराज विक्रम शाह के दरबारी कवि थे। इन्होंने आठ-दस ग्रंथों की रचना की है, जिनमें से अधिकतर साहित्य संबंधी हैं। व्यंग्यार्थ कौमुदी नामक एक ध्वनि-सम्बन्धी ग्रन्थ भी इनका लिखा हुआ है जो अधिक प्रशंसनीय है। कहा जाता है कि रीति ग्रन्थों के अन्तिम आचार्य्य ये ही हैं। साहित्य में इनका ज्ञान विस्तृत था। इसलिये हिन्दी में साहित्य-विषयक जो न्यूनतायें थीं उनको उन्होंने पूरी करने की चेष्टा की और बहुत कुछ सफलता भी लाभ की। इनकी भाषा सरस ब्रज भाषा है। साथ ही वह बड़ी भावमयी है। कोमल

और मधुर शब्दविन्यास पर भी इनका अच्छा अधिकार देखा जाता है। कुछ रचनायें देखिये:—

१—सीख सिखाई न मानति है बरही
बससंग सखीन के आवैं।
खेलत खेल नये जग में बिन काम
वृथा कत जाम बितावै।
छोड़ि कै साथ सहेलिन को रहि कै
कहि कौन सवादहिँ पावै।
कौन परी यह बानि अरी
नित नीर भरी गगरी ढरकावै।

२—चंचलता अपनी तजि कै रस ही रस
सों रस सुन्दर पीजियो।
कोऊ कितेक कहै तुमसों तिनकी
कही बातन को न पतीजियो।
चोज चबाइनि के सुनियो न यही
इक मेरो कही नित कीजियो।
मंजुल मंजरी पै हो मलिंद
बिचारि कै भारसँभारि कै दीजियो।

३—तड़पै तड़िता चहुं ओरन ते
छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महा गिरि सृंगन पै
गन मंजु मयूरन के कहरैं।
इनकी करनी बरनी न परै
मगरूर गुमानन सों गहरैं।

घन ये नभ मंडल में छहरैं

घहरैं कहुँ जाय कहूं ठहरैं।

४—चंचला चपल चारु चमकत चारों ओर

झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत है।

सीतल समीर लगै दुखद वियोगिन

सँयोगिन समाज सुख साज सरसत है।

कहै परताप अति निविड़ अँधेरी माँहि

मारग चलत नाहिँ नेकु दरसत है।

झुमड़ि झलानि चहुं कोद ते उमड़ि आज

धाराधर धारन अपार बरसत है।

५—महाराज रामराज रावरो सजत दल

होत मुख अमल अनंदिन महेस के।

सेवत दरीन केते गव्वर गनीम रहैं

पन्नगपताल त्योंही डरन खगेस के।

कहै परताप धरा धँसत त्रसत कसमसत

कमठ पीठि कठिन कलेस के।

कहरत कोल हहरत हैं दिगीस दस

लहरत सिंधु थहरत फन सेस के।

इस शताब्दी के प्रबंध कारों में महाराज रघुराज सिंह का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। गोकुल नाथ की चर्चा पहले में कर चुका हूं। वे भी बहुत बड़े प्रबंधकार इस शताब्दी के हैं। परन्तु उनकी कृति में दो और कवियों का हाथ है। वे प्रसिद्ध रीतिग्रन्थकार भी हैं। इसलिये मैंने उनकी चर्चा रीति ग्रंथकारों में ही की है। महाराज रघुराज सिंह की जितनी रचनायें हैं सब उन्हीं की कृतियां हैं और उनमें प्रबंध ग्रन्थों की संख्या

अधिक है। इसलिये मैं उन्नीसवीं शताब्दी का सर्व श्रेष्ठ प्रबंधकार उन्हीं को मानता हूं। रीवां राज्य वंश वैष्णव है। उसकी धर्म्म परायणता प्रसिद्ध है। महाराज रघुराज सिंह के पितामह महाराज जै सिंह बड़े भक्त और सच्चे वैष्णव थे। उन्होंने अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र विश्वनाथ-सिंह को अपना राज्य भार सौंप दिया था। भगवत्भजन में ही वे रत रहते थे और भक्ति-सुख को राज्य-सुख से उच्च मानते थे। वे बड़े सहृदय कवि भी थे. लगभग अठारह ग्रन्थों की उन्हों ने रचना की थी। उनमें से हरिचरित चंद्रिका, हरिचरितामृत, कृष्णतरंगिणी आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। 'निर्णयसिद्धान्त' और 'वेदान्त प्रकाश' भी उनके सुन्दर ग्रन्थ हैं। उनकी रचना बड़ी ललित होती थी और कोमल एवं सरस पदविन्यास उनकी रचना का प्रधान गुण था। उन्हों ने अधिकतर प्रबंध ग्रन्थ ही लिखे और वह आदर्श उपस्थित किया जिसका अनुकरण बाद को उनके पुत्र महाराज विश्वनाथ सिंह और पौत्र महाराज रघुराज सिंह ने बड़ी श्रद्धा के साथ किया। उनकी भाषा साहित्यिक व्रजभाषा है। परन्तु उसमें अवधीके शब्द भी प्रायः आते रहते हैं। इनकी अधिकांश रचनायें दोहा और चौपाइयों में हैं। उनके कुछ पद्य देखियेः—

१—परसि कमल कुवलय बहत, वायु ताप नसि जाइ।
सुनत बात हरि गुननयुत, जिमि जन पाप पराइ।

२—बन वाटिका उपवन मनोहर फूल फल तरु मूल से।
सर सरित कमल कलाप कुवलय कुमुद बन विकसे लसे।
सुख लहत यों फल चखत मनुपोयत मधुप सों नीतिसों।
मन मगन ब्रह्मानंद रस जोगीस मुनिगन प्रीति सों।

३—कूजि रहे खग कुल मधुप, गूँजि रहे चहुं ओर।
तेहि बन लै गोगन सकल प्रविसे नंद किसोर।

उनके पुत्र महाराज विश्वनाथसिंहने भी अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। उन्होंने कबीरके बीजक और विनय पत्रिका की भी सुन्दर टीकायें लिखी हैं।

'आनंद रघुनंदन' नामक एक नाटक भी बनाया है। छोटे मोटे कई प्रबन्ध ग्रन्थ भी लिखे हैं। अपने पिता के समान इन्होंने भी अनेक धार्म्मिकग्रन्थों की रचना की है। इन्होंने संस्कृत में भी ग्रन्थ लिखे हैं उनमें से 'राधावल्लभी भाष्य', 'सर्व सिद्धांत' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भी कविता रचने में पिता का ही अनुकरण किया है। परंतु इनकी भाषा उतनी ललित नहीं है। संयुक्त वर्ण भी इनकी रचना में अधिक आये हैं। फिर भी इनकी अधिकतर कवितायें मनोहर हैं। एक पद्य देखियेः—

१—बाजी गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐंडवारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले राजबंस वारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के।
केते जातिवारे केते केते देसवारे जीव,
स्वान सिंह आदि सैल वारे जे सिकार के।
डंका की धुकार ह्वै सवार सबै एकै बार
राजैं वार पार बीर कोसल कुमार के।

महाराज रघुराज सिंह में पिता से पितामह का गुण अधिक है। इनकी कितनी ही रचनायें बड़ी सरस हैं। इन्होंने भी अनेक ग्रन्थों की रचना की है, जिसमें 'आनन्दांबुनिधि' जैसे विशाल ग्रंथ भी हैं। वंशपरम्परा से यह राज्य कवियों का कल्पतरु रहा है। महाराज रघुराज सिंह के आश्रय में भी अनेक कवि थे, जो उनके लिये कल्पतरु के समान ही कामद थे। आनंदांबुनिधि श्रीमद्भागवत का अनुवाद है। मैंने बाल्यावस्था में इस ग्रन्थ का कई पारायण किया है। इस ग्रंथ की भाषा चलती और सुन्दर है। इनका भक्ति भाव अपने पिता पितामह के समान ही मधुर और स्निग्ध था उसी की स्निग्धता और माधुरी इनकी रचनाओं में पायी जाती है। इन्होंने भी साहित्यिक ब्रजभाषा ही लिखी है, जिसमें यत्र तत्र अवधी का पुट भी पाया जाता है। उनके ग्रन्थों की संख्या जब देखी जाती है और कई वि-

शाल ग्रन्थों की विशालता पर जब ध्यान दिया जाता है तो बड़ा आश्चर्य होता है। राज्य-कार्य्य का संचालन करते हुये जो इनकी लेखनी धारावाहिक रूप से सदा चलती ही रही, यह कम चकितकर नहीं। उनके 'राम-स्वयंबर,' रुक्मिणी परिणाय' आदि ग्रन्थ भी सुन्दर, सरस और मनोहर हैं। उनकी कुछ रचनायें देखिये:—

१—कल किसलय कोमल कमल पद-तल सरि नहिं पाय।
एक सोचत पियरात नित एक सकुचत झरि जाय।
२—बिलसत जदुपति नखनि मैं अनुपम दुति दरसाति।
उडुपति जुत उडु अवलि लखि सकुचि २ दुरिजाति।
३—सविता दुहिता स्यामता सुरसरिता नख जोत।
सुतल अरुनता भारती चरन त्रिबेनी होत।
१—गुल्फ कुल्फ खोलनि हृदै हो तो उपमा तूल।
ज्यों इंदीवर तट असित द्वै गुलाब के फूल।
५—चारु चरन की आंगुरी मोपै बरनि न जाय।
कमल कोस की पाँखुरी पेखत जिनहिं लजाय।
६—जदुपति नैन समान हित बिधि ह्वै बिरचै मैन।
मीन कंज खंजन मृगहुँ समता तऊ लहै न।
७—सखि लखन चलो नृप कुँवर भलो।
मिथिला पति सदन सिया बनरो।
सिरमौर बसन तन में पियरो।
हठहेरि हरत हमरो हियरो।
८—उर सोहत मोतिन को गजरो
रतनारी अँखियन में कजरो।
चितये चित चोरत सखि समरो
चितये बिन जिय न जियै हमरो।

९—अलकैं अलि अजब लसैं चेहरा।
झपि झुलि रह्यो कटि लौं सेहरा।
चित चहत अरी लगि जाउँ गरे।
रघुराज त्यागि जग को झगरा।

१०—माधुरी माधवकी वह मूरति देखत ही दृगदेखे बनैरी।
तीन हूं लोक की जो रुचिराई सुहाई अहै तिनहीते घनैरी
सोभा सचीपति औ रति के पति की कछु आयो न मेरे मनैरी
हेरि मैं हार्‌यो हिये उपमा छबि हूं छबि पायो विराजित नैरी

महाराज रघुराज सिंह के वाच्यार्थ में कहीं कहीं अस्पष्टता है, कहीं कहीं शब्दोंका समुचित प्रयोग भी नहीं है। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा की साहित्य के अधिकतर उत्तम गुण उनकी रचनाओं में पाये जाते हैं। उनकी रचनायें भगवती वीणापाणि के चरणों में अर्पित सुन्दर सुमनमालाओं के समान हैं।

इन भक्त महाराजाओं के साथ हम एक और सहृदय भक्त की चर्चा करना चाहते हैं। वेहैं दीनदयाल गिरि। इनकी गणना दसनामी सन्यासियों में है। कोई इन्हें ब्राह्मणसंतान कहता है और कोई क्षत्रियसंतान। वे जोहों परंतु त्यागी पुरुष थे हृदय भी उदार था और भावुकता उसमें भरी थी। इनके बनाये पांच ग्रंथ हैं। उनके नाम हैं अनुराग बाग, दृष्टान्त तरंगिणी, अन्योक्ति माला, वैराग्यदिनेश और अन्योक्ति कल्पद्रुम। इन ग्रन्थों का विषय इनके नामानुकूल है। ये थे शैव किंतु हृदय उदारथा, इस लिये इनकी रचना में वह कटुता नहीं आयी है, जिसकी जननी साम्प्रदायिकता है। वह बड़ी ही सरस और मधुर है साथ ही बड़ी उपयोगिनी। इन्होंने सन्यासी का कार्य्य ही अधिकतर किया है। समाज को सत् शिक्षा देने ही में वे आजन्म प्रवृत्त रहे। इनकी भाषा टकसाली ब्रजभाषा है। वे संस्कृत के विद्वान हो कर भी अपनी रचना में संस्कृत के शब्दों का अधिक व्यवहार

नहीं करते थे। इनकी रचना में प्रवाह है और उसमें एक बड़ी ही मनोहर गति पायी जाती है। अन्य भाषा या उर्दू के शब्द भी कहीं कहीं इनके पद्यों में आ जाते हैं, परंतु वे नियमित होते हैं। उनकी व्यंजनायें मधुर हैं और भाव स्पष्ट। कहीं कहीं उत्तमोत्तम ध्वनियां भी उनमें मिल जाती हैं। अन्योक्ति की रचनायें जितनी सुन्दर और सरस इन्होंने की उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है। इनके कुछ पद्य देखिये: —

१—छोड़्यो गृहकाज कुल लाज को समाज सबै
एक ब्रजराज सों कियोरी प्रीतिपन है।
रहत सदाई सुखदाई पद पंकज में
चंचरीक नाईं भई छांड़ै नाहिं छन है।
रति-पति मूरति बिमोहन को नेमधरि
विषै प्रेमरंग भरि मनि को सदन है।
कुंवर कन्हाई की लुनाई लखि माई मेरा
चेरा भयो चित औ चितेरा भयोमन है।

२—कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने
नूपुर निनादनि सों कौन दिन बोलि हैं।
नीके मन ही के बुंद वृंदन सुमोतिन को
गहि कै कृपा की अब चोंचन सों तोलि हैं।
नेम धरि छेम सों प्रमुद होय दीन दयाल
प्रेम कोकनद बीच कब धौं कलोलि हैं।
चरन तिहारे जदुवंस राजहंस कब
मेरे मन मानस में मंद मंद डोलि हैं।

३—पराधीनता दुख महा सुखी जगत स्वाधीन।
सुखी रमत सुक वनविषै कनक पींजरे दीन।

४—केहरि को अभिषेक कब कीन्हों विप्र समाज।
निज भुजबल के तेज तें विपिन भयो मृगराज।

५—नाहीं भूलि गुलाब तू गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार।
बहुरि कटीली डार होहिंगी ग्रीषम आये।
लुवैं चलेंगी संग अंग सब जैहैं ताये।
बरनै दीन दयाल फूल जौ लौं तौ पाहीं।
रहे घेरि चहुं फेर फेरि अलि ऐहैं नाहीं।

६—चारों दिसि सूझै नहीं यह नद धार अपार।
नाव जर्जरी भार बहु खेवनहार गँवार।
खेवनहार गँवार ताहि पै है मतवारो।
लिये भँवर में जाय जहां जल जंतु अखारो।
बरनै दीन दयाल पथी बहु पौन प्रचारो।
पाहि पाहि रघुबीर नाम धरि धीर उचारो।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुछ ऐसे कवि भी हुये हैं जो न तो रीति ग्रंथकार हैं न प्रबंधकार, वरन प्रेम मार्गी हैं अथवा शृंगारिक कवि। उनकी संख्या बहुत बड़ी है, परंतु मैं उनमें से कुछ विशेषता-प्राप्त सहृदयों का ही उल्लेख करूंगा, जिससे यह ज्ञात हो सके कि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा किस प्रकार हिन्दी साहित्य को अलंकृत किया। इन लोगों में से सब से पहिले हमारे सामने ठाकुर कवि आते हैं। ठाकुर तीन हो गये हैं। इनमें से दो ब्रह्मभट्ट थे, और एक कायस्थ। असनी के रहनेवाले प्राचीन ठाकुर सत्रहवीं सदी के अन्त में या अठारहवीं के आदिमें पड़ते हैं। इन तीनों ठाकुरों की रचनायें एक दूसरे के साथ इतनी मिल गयी हैं कि इनको अलग करना कठिन है। तीनों ठाकुरों की सवैयाओं में कुछ ऐसी मधुरता है कि वह अपनी ओर हृदय को खींच लेती है, इससे अनेक सह-

दयों को ठाकुर की सवैयाओं को पढ़ते सुना जाता है। प्राचीन ठाकुर के विषय में कोई ऐसा परिचय चिन्ह नहीं मिलता कि जिसके आधार से उनको औरों से अलग किया जा सके। परन्तु जो दो ठाकुर उन्नीसवीं शताब्दी में हुये हैं उनका अंतर जानने के लिये जो बातें कही जाती हैं वे ये हैं। असनी वाले ब्रह्मभट्ट की रचना अधिकतर कवित्तों में है। उन्होंने सवैया भी लिखे हैं, किंतु उसके अंत में कोई कहावत लाने का नियम उन्होंने नहीं रक्खा है। दूसरे ठाकुर, जो कायस्थ थे, उन्होंने प्रायः अपनी रचना सवैया में की है और उसके अंत में कोई न कोई "कहावत अवश्य लाये हैं। इसी परिचय-चिन्ह के आधार से उनलोगों की रचना आपलोगों के सामने उपस्थित करूंगा। प्राचीन ठाकुर की रचना मैं हिन्दी साहित्य का इतिहास से लेता हूं, क्योंकि उसके रचयिता ने यह बतलाया है कि यह रचना उन्हीं की है। प्राचीन ठाकुर के विषय में यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि वे असनी के ब्रह्मभट्ट थे। परन्तु उनकी और बातों के विषय में सभी चुप हैं। ऐसी अवस्था में मुझको भी चुप रहना पड़ता है। उनकी रचनाओं के पढ़ने से यह ज्ञान होता है, कि वे एक सरस-हृदय कवि थे और ब्रजभाषा पर उनको अच्छा अधिकार था। दो पद्य देखिये:—

१—सजि सूहे दुकूलनि बिज्जु छटा सी अटान चढ़ी घटा जोवति हैं।
सुचितै ह्वै सुनैं धुनि मोरन की रसमाती सँजोग सँजोवति हैं।
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं हम आँसुन सों तन धोवति हैं।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं।

२—बौर रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।

ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत
भौंरन भीर चुपैबो चहै ना।
सीतल मंद सुगंधित बीर
समीर लगे तन धीर रहै ना।
व्याकुल कीन्हों बसंत बनाय कै
जाय कै कंत से कोऊ कहैना।

दूसरे ठाकुर भी असनी के रहने वाले थे उन्होंने बिहारी की सतसई पर टीका भी लिखी है। उनकी रचनायें भी सुंदर और सरस होती थीं उन्हों ने नीति सम्बन्धी जो कवित्त बनाये हैं वे बड़े ही उपयोगी और उपदेशमय हैं। जैसे ही उनके शृंगार रस के कवित्त सुंदर हैं वैसे ही नीति सम्बन्धी भी। उनके कुछ सवैये भी बड़े ही हृदयग्राही हैं। नीति-सम्बन्धी कबित्त यदि विवेकशील मस्तिष्क की उपज है तो सरस सवैये उनकी सहृदयता के नमूने हैं। उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं:—

१ बैर प्रीति करिबे की मन में न राखै संक
राजा राव देखि कै न छाती धक धाकरी।
आपने अमेंड के निबाहिबे की चाह जिन्हें
एक सो दिखात तिन्हें बाघ और बाकरी।
ठाकुर कहत मैं बिचार कै बिचारि देख्यो
यहै मरदानन की टेक औ अटाकरी।
गही तौन गही जौन छाड़ी तौन छाड़ी
जौन करी तौन करी बात ना करी सो नाकरी।

२—सामिल में पीर में सरीर में न भेद राखै
हिम्मत कपाट को उघारै तौ उघरि जाय।

ऐसो ठान ठानै तो बिनाहू जंत्र मंत्र किये
साँप के जहर को उतारै तौ उतरि जाय।
ठाकुर कहत कछु कठिन न जानो मीत
साहस किये ते कहौ कहा ना सुधरि जाय।
चारि जने चारि हू दिसा ते चारो कोन गहि
मेरु को हलाय कै उखारैं तो उखरि जाय।
३—हिलिमिलि लीजिये प्रवीनन ते आठों जाम
कीजिये अराम जासों जिय को अराम है।
दीजिये दरस जाको देखिबे को हौस होय
कीजिये न काम जासों नाम बदनाम है।
ठाकुर कहत यह मन में बिचारि देखो
जस अपजस को करैया सब राम है।
रूप से रतन पाय चातुरी से धन पाय
नाहक गँवाइबो गँवारन को काम है।
४—ग्वालन को यार है सिंगार सुभ सोभन को
साँचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देखि आपनो बखत लेखि
आनँद बिसेख रूप अकह कहानी को।
ठाकुर कहत साँचो प्रेम को प्रसंगवारो
जा लखि अनंग रंग दंग दधिदानी को
पुत्र नंद जी को अनुराग ब्रजबासिन को
भाग जसुमति को सुहाग राधारानी को।
५—कोमलता कंज ते गुलाब ते सुगंध लैके
चंद ते प्रकास गहि उदित उँजेरो है।

रूप रति आनन ते चातुरी सुजानन ते
नीर लै निवानन ते कौतुक निबेरो है।
ठाकुर कहत यों सँवार्‌यो विधि कारीगर
रचना निहारि जनचित होत चेरो है।
कंचन को रंग लै सवाद लै सुधा को
बसुधा को सुख लूटि कै बनायो मुख तेरो है।

६—लगी अंतर में करै बाहिर को
बिन जाहिर कोऊ न मानतु है।
दुख औ सुख हानि औ लाभ सबै
घर की कोऊ बाहर भानतु है।
कवि ठाकुर आपनी चातुरी सों
सब ही सब भाँति बखानतु है।
पर बीर मिले बिछुरे की बिथा
मिलि कै बिछुरै सोई जानतु है।

७—एजे कहैं ते भले कहिबो करैं मान
सही सो सबै सहि लीजे।
ते बकि आपुहिँ ते चुप होयगी
काहे को काहुवै उत्तर दीजै।
ठाकुर मेरे मतै की यहै धनि
मान कै जीवन रूप पतीजे
या जग में जनमें को जिये को
यहै फल है हरि सों हित कीजे।

८—वह कंज सोँ कोमल अङ्ग गुपाल
को सोऊ सबै तुम जानती हो।

बलि नेकु रुखाई धरे कुम्हिलात
इतोऊ नहीं पहचानती हौ।
कवि ठाकुर या कर जोरि कह्यौ
इतने पै बिनै नहीं मानती हौ।
दृग बान औ भौंह कमान कहो
अब कान लै कौन पै तानती हौ।

तीसरे ठाकुर बुंदेलखण्डी थे और सरस रचना करते थे। मैं यह बतला चुका हूं कि उनकी रचनाओं के अन्त में प्रायः कहावतें आती हैं। दो पद्य उनके भी देखिये:—

१—यह चारहूं ओर उदौ मुख चन्द की
चाँदनी चारु निहारि लैरी।
बलि जो पै अधीन भयो पिय प्यारी
तौ ए तौ विचार विचारि लैरी।
कवि ठाकुर चूकि गयो जु गोपाल तौ
तू बिगरी को सम्हारि लैरी।
अब रैहे न रैहे यहौ समयो बहती
नदी पाँव पखारि लैरी।

२—पिय प्यार करैं जेहि पै सजनी
तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मान करौं तौ परौं भ्रम में
फिर पाछे परे पछतैयत है।
कवि ठाकुर कौन की कासों कहौं
दिन देखि दसा बिसरैयत है।

अपने अटके सुन एरी भटू,
निज सौत के माय के जैयत है ।

इन तीनों ठाकुरों की रचना में यह बड़ी विशेषता है कि सीधे सादे शब्दों में रस की धारा बहा देते हैं । न अनुप्रास की परवा, न यमक की खोज, न वर्ण मैत्री की चिन्ता । वे अपनी बातें अपनी ही बोलचाल में कह जाते हैं और हृदय को अपनी ओर खींच लेते हैं । कवि कर्म है भी यही । जो बातें आगे-पीछे होती रहती हैं, उनको ले कर उनका चित्र बोलचाल में खींच देना सब का काम नहीं, सरस हृदय कवि ही ऐसा कर सकते हैं ।

रामसहाय दास, भवानीदास के पुत्र थे । वे जाति के कायस्थ थे और काशिराज महाराज उदित नारायण सिंह के आश्रय में रहते थे । उन्होंने चार ग्रंथों की रचना की है—'वृत्ततरंगिनी', 'ककहरा', 'रामसतसई' और 'वाणीभूषण' । 'वाणी भूषण' अलंकार का, 'वृत्ततरंगिनी' पिंगल का, और 'ककहरा' नीति सम्बन्धी ग्रंथ है । राम सतसई बिहारी सतसई के अनुकरण से लिखी गयी है । बिहारी ने अपने सतसई का नाम अपने नाम के आधार पर रक्खा है तो रामसहायदास ने भी अपनी सतसई का नाम अपने नाम के सम्बन्ध से ही रक्खा । इतना ही अनुकरण नहीं, उन्होंने बिहारी सतसई का अनुकरण सभी बातों में किया है । उनके दोहे बिहारी के दोहों के टक्कर के हैं । परंतु सहृदयता और भावुकता में बिहारी की समता वे नहीं कर सके । चंदन सतसई और बिक्रम सतसई भी बिहारी सतसई के ही आधार से लिखी गयी हैं । परंतु उन सतसइयों को भी बिहारी लाल की सतसई की सी सफलता भाव चित्रण में नहीं प्राप्त हुई । शब्द विन्यास में, बोल चाल की भाषा लिखने में, ब्रजभाषा के टकसाली शब्दों में सरसता कूट कूट भरदेने में बिहारी लाल अपने जैसे आप हैं । राम सतसई के कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—गुलफनि लौं ज्यों त्यों गयो करि करि साहस जोर ।
फिरि न फिर्‌यो मुरवान चपि चित अति खात मरोर ।

२—यों बिभाति दसनावली ललना बदन मँझार।
पति को नातो मानि कै मनु आई उडुनार।

३—सखि सँग जाति हुती सुती भट भेरो भो जानि।
सतरौंही भौंहनि करी बतरौंही अँखियाँनि।

४—सतरौंहैं मुख रुख किये कहै रुखौंहैं बैन।
रैन जगे के नैन ये सनें सनेह दुरैं न।

५—खंजन कंज न सरि लहैं बलि अलिको न बखानि।
एनी की अँखियानि ते ए नीकी अँखियानि।

पजनेस एक प्रतिभाशाली कवि माने जाते हैं। इनका जन्म-स्थान पन्ना कहा जाता है। और परिचय के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं। इन्होंने 'मधुर प्रिया' और 'नखशिख' नामक दो ग्रंथ बनाये थे। किंतु दोनों ग्रंथ अमुद्रित हैं। इनकी स्फुट रचनायें कुछ पायी जाती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उनको सँस्कृत और फ़ारसीका भी अच्छा ज्ञान था। इनकी रचनाओं की मुख्य भाषा व्रजभाषा है, किंतु उनमें अन्य भाषाओं के शब्द अधिकता से पाये जाते हैं, इस विषय में वे अधिक स्वतंत्र हैं। इनकी रचनाओं में अकोमल शब्दों का प्रयोग भी अधिक मिलता है। परुषा वृत्ति इन्हें अधिक प्यारी है। जो स्फुट पद्य मिले हैं, वे सब शृंगार रस के ही हैं। अवध नरेश महाराज मानसिंह इनकी रचनाओं को लोहे का चना कहते थे। तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने सरस पद-विन्यास किया ही नहीं। दोनों प्रकार के दो पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—छहरै छबीली छटाछूटि छिति मंडलपै
उमँग उँजेरो महा ओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज मंजुल मुखी के गात
उपमाधिकात कल कुंदन तबक सी।

फैली दीप दीप दीप दीपति दिपति जाकी
दीप मालिका की रही दीपति दबकि सो।
परत न ताब लखि मुखमहताब
जब निकसी सिताब आफताब के भभक सो।

२—मानसी पूजामयी पजनेस
मलेछन हीन करी ठकुराई।
रोके उदोत सबै सुर गोत
बसेरन पै सिकरालो बसाई।
जानि परै न कला कछु आज की
काहे सखी अजया इकल्याई।
पोखे मराल कहो केहि कारन एरी
भुजंगिनी क्यों पुसवाई।

पजनेस की रचना पद्माकर की रचना से सर्वथा विपरीत है। जैसी ही वह सरस, मधुर और प्रसाद गुणमयी है वैसी ही इनकी रचना जटिल परुष और अस्पष्ट है। किन्तु इनकी प्रसिद्धि ऐसी ही रचनाओं के कारण हुई है।

महाराज मानसिंह अवध नरेश थे। नीतिज्ञता, गुणज्ञता, सहृदयता, उदारता, भावुकता अथच बहुदर्शिता के लिये प्रसिद्ध थे। आप के दरबार में कवियों का बड़ा सम्मान था, क्योंकि उनमें कवि-कर्म्म की यथार्थ परख थी। वे स्वयं भी बड़ी सुन्दर कविता करते थे। कविता में अपना नाम 'द्विजदेव' लिखते थे। वे अवधी की गोद में पले थे, परन्तु कविता टकसाली ब्रजभाषा में लिखते थे। इस सरसता से पदविन्यास करते थे कि कविता पंक्तियों में मोती पिरो देते थे। जैसी सुन्दर ध्वनि होती थी वैसी ही सुन्दर व्यंजना। वास्तव बात यह है कि इनकी कविता भाव प्रधान है इसी से उसमें हृदय ग्राहिता भी अधिक है। केवल एक ग्रन्थ

'शृंगार-लतिका' इनका पाया जाता है। उसमें से कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—बाँके संक हीने राते कंज छवि छीने माते
झुकि झुकि झूमि झूमि काहू को कछू गनैन।
द्विजदेव की सों ऐसी बानक बनाय बहु
भाँतिन बगारे चित चाहन चहूंधा चैन।
पेखि परे प्रात जो पै गातन उछाह भरे
बार बार तातैं तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज मेरे प्रेम-धन लूटिबे को
बीरा खाइ आये कितै आप के अनोखे नैन।

२—घहरि घहरि घन सघन चहूंधा घेरि
छहरि छहरि विष बूंद बरसावै ना।
द्विजदेव की सों अब चूक मत दाँव अरे
पातकी पपीहा तू पिया की धुन गावै ना।
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ एरे
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तो बिन प्रान प्रान चाहत तजोई अब
कत नभ चन्द तू अकास चढ़ि धावै ना।

३—चित चाहि अबूझ कहैं कितने छवि
छीनी गयंदनि की टटकी।
कवि केते कहैं निज बुद्धि उदै
यह लीनी मरालनि की मटकी।
द्विजदेव जू ऐसे कुतर्कन में सब की
मति यों ही फिरै भटकी।

वह मन्द चलै किन भोरी भटू,
पग लाखन की अँखियाँ अटकी।

गिरधरदास का मुख्य नाम गोपाल चन्द्र था। आप भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पिता थे। इन्होंने चालीस ग्रन्थ बनाये, जिनके आधार से बाबू हरिश्चन्द्रजी की यह गर्वोक्ति है:—

जिन पितु गिरिधर दासने रचे ग्रन्थ चालीस।
ता सुत श्री हरिचन्द को को न नवावै सीस।

ग्रन्थों की संख्या अवश्य बड़ी है, पर अधिकांश ग्रन्थ छोटे और स्तोत्र-मात्र हैं। 'जरासन्ध-वध' महाकाव्य बड़ा ग्रन्थ है, परन्तु अधूरा है। इनकी अधिकांश रचनायें नैतिक हैं और उनमें सदाचार आदि की अच्छी शिक्षा है। इनकी भाषा व्रजभाषा है, परन्तु उसे हम टकसाली नहीं कह सकते। इनकी रचना जितनी युक्तिमयी है उतनी ही भावमयी। युक्तियां उत्तम हैं, परन्तु उनमें उतनी सरसता और मधुरता नहीं। कहीं कहीं रचना बड़ी जटिल है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि हिन्दी देवी की अर्चा इन्हों ने सुन्दर सुमनों से की है। इनके कुछ पद्य देखिये:—

१—सब के सब केसव केसव के हित के
गज सोहते सोभा अपार है।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरै सैलन
सैलन सैलहिं सीस प्रहार है।
गिरि धारन धारन सों पद के
जल धारन लै वसुधारन कार है।
अरि वारन वारन पै सुर वारन
वारन वारन वारन वार है।

२—बातन क्यों समुझावत हो मोहि
मैं तुमरो गुन जानति राधे।

प्रीति नई गिरधारन सों भई
कुंज में रीति के कारन साधे।
घूंघट नैन दुरावन चाहति दौरति
सो दुरि ओट ह्वै आधे।
नेह न गोयो रहै सखि लाज सों
कैसे रहै जल जाल के बाँधे।

३—जाग गया तब सोना क्या रे।
जो नरतन देवन को दुरलभ
सो पाया अब रोना क्या रे।
ठाकुर से कर नेह आपना
इंद्रिन के सुख होना क्या रे।
जब बैराग्य ज्ञान उर आया
तब चाँदी औ सोना क्या रे।
दारा सुवन सदन में पड़ि कै
भार सबों का होना क्या रे।
हीरा हाथ अमोलक पाया
काँच भाव में खोना क्या रे।
दाता जो मुख माँगा देवे
तब कौड़ी भर दोना क्या रे।
गिरिधर दास उदर पूरे पर
मीठा और सलोना क्या रे।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कोई ऐसा निर्गुणवादी संत सामने नहीं आता जिसने अपने सम्प्रदाय में कोई नवीनता उत्पन्न की हो या जिसने ऐसी रचनायें की हों जिनका प्रभाव साहित्य पर ऐसा पड़ा हो जो

अंगुलि-निर्देश-योग्य हो। सत्रहवीं शताब्दी में यारी साहब नामक एक मुसलमान ने कबीर साहब का मार्ग ग्रहण कर कुछ हिन्दी के शब्द (भजन) बनाये। ये सूफ़ी सम्प्रदाय के थे, परन्तु हिन्दी में प्रचार करने के कारण हिन्दुओं पर भी इनका प्रभाव पड़ा। इनके दो शिष्य थे—केशवदास और बुल्ला साहब। पहले हिन्दू थे और दूसरे मुसल्मान। ये अठारहवीं शताब्दी में हुये। इनकी रचनायें भी हिन्दी में हुईं और इन्होंने भी हिन्दू जनता को अपनी ओर आकर्षित किया। बुल्ला साहब के शिष्य गुलाल साहब हुये- ये जाति के क्षत्रिय थे, और इन्होंने भी निर्गुण वादियों की सी रच- नायें हिन्दी में कीं। यारी साहब अथवा बुल्ला साहब के रहन-सहन की प्रणाली अधिकतर हिन्दुओं के ढंग में ढली हुई थी। गुलाल साहब तक पहुंच कर वह सर्वथा हिन्दू भावापन्न हो गयी। वैष्णवों की तरह इन्होंने तिलक और माला इत्यादि का प्रचार किया और सत्य राम मंत्र का उपदेश। इनके शिष्य भीखा साहब हुये। ये जाति के ब्राह्मण थे। इस लिये इनके समय में इस परम्परा में ऐसे परिवर्त्तन हुये जो अधिकांश में वैष्णव सम्प्रदाय की अनुकूलता करते थे। ये अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुये और इन्हों ने भी हिन्दी भाषा में रचनायें कीं, जो वैसी ही हैं जैसी निर्गुणवादी साधुओं की होती हैं। इनके शिष्य गोविन्ददास हुये जो गोविन्द साहब के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपना एक अलग सम्प्रदाय चलाया, जिसका मंत्र है 'सत्य गोविंद'। ये भी ब्राह्मण और संस्कृत के विद्वान् थे। इसलिये इनके सम्प्रदाय की ओर हिन्दू जनता भी अधिक आकर्षित हुई। इनकी हिन्दी रचनायें भी पायी जाती हैं, परन्तु थोड़ी हैं और उनमें गंभीरता अधिक है। इस लिये सब साधारण में उनका अधिक प्रचार नहीं हुआ। इन्हीं के शिष्य पलटू दास हुये जो इस उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जीवित थे। यारी साहब की परम्परा इनके साथ ही समाप्त होती है। पलटू साहब जाति के बनिया थे, किन्तु सहृदय थे। जितनी रचनायें उन्हों ने कीं, चलती और सरल भाषा में। इस लिये उनकी रचनाओं का प्रचार अधिक हुआ। वे अपने को निर्गुण बनिया कहा करते और लिखते थे। कबीर साहब के समान कभी कभी ऊंची उड़ान भी भरते थे। उनके कुछ पद्य देखिये:—

१—पलटू हम मरते नहीं ज्ञानी लेहु विचार।
चारो जुग परलै भई हमहीं करनेहार।
हमहीं करनेहार हमहिँ कर्त्ता के कर्त्ता।
कर्त्ता जिसका नाम ध्यान मेरा ही धरता।
पलटू ऐना संत हैं सब देखै तेहि माँहिँ।
टेढ़ सोझ मुँह आपना ऐना टेढ़ा नाहिँ।
जैसे काठ में अगिन है फूल में है ज्यों बास।
हरिजन में हरि रहत हैं ऐसे पलटू दास।
सुनि लो पलटू भेद यह हँसि बोले भगवान।
दुख के भीतर मुक्ति है सुख में नरक निदान।
मरते मरते सब मरे मरै न जाना कोय।
पलटू जो जियतै मरै सहज परायन होय।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ऐसा काल है जिसमें बहुत बड़े बड़े परिवर्त्तन हुये। मैं पहले इस विषय में कुछ लिख चुका हूं। परिवर्त्तन क्यों उपस्थित होते हैं, इस विषय में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। किन्तु मैं यह बतलाऊंगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक अवस्था क्या थी। मुसलमानों के राज्य का अन्त हो चुका था और ब्रिटिश राज्य का प्रभाव दिन दिन विस्तार लाभ कर रहा था। अंगरेज़ी शिक्षा के साथ साथ योरोपीय भावों का प्रचार हो रहा था और 'यथा राजा तथा प्रजा' इस सिद्धान्त के अनुसार भारतीय रहन-सहन-प्रणाली भी परिवर्त्तित हो चली थी। अंगरेज़ों का जातीय भाव बड़ा प्रबल है। उनमें देश प्रेम की लगन भी उच्चकोटि की है। विचार स्वातंत्र्य उनका प्रधान गुण है। कार्य्य को प्रारम्भ कर उसको दृढ़ता के साथ पूर्ण करना और उसे बिना समाप्त किये न छोड़ना यह उनका जीवन व्रत है। उनके समाज में स्त्री जाति का उचित आदर है, साथ ही पुरुषों के समान उनका स्वत्व भी स्वीकृत है। बृटिश राज्य के संसर्ग

से और अंगरेजो भाषा की शिक्षा पाकर ये सब बातें. और इनसे सम्बन्ध रखनेवाले और अनेक भाव इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और प्रान्तों के साथ साथ हमारे प्रान्त में भी अधिकता से फैले। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्यसमाज का डंका बजाया. और हिन्दुओं में जो दुर्बलतायें रूढ़ियां और मिथ्याचार थे उनका विरोध सबल कण्ठ से किया। इन सब बातों का यह प्रभाव हुआ कि इस प्रकार के साहित्य क. देश को आवश्यकता हुई जो कालानुकूल हो और जिसमें हिन्दू समुदाय की वह दुर्बलतायें दूर हों जिनसे उसका प्रतिदिन पतन हो रहा था। यही नहीं. इस समय यह लहर भी वेग से सब ओर फैली कि किस प्रकार देशवासी अपने कर्त्तव्यों को समझें और कौनसा उद्योग करके वे भी वैसे हो बनें जैसे योरोप के समुन्नत समाजवाले हैं। कोई जाति उसी समय जीवित रह सकती है जब वह अपने को देशकालानुसार बना ले और अपने को उन उन्नतियों का पात्र बनावे जिनसे सब दुर्बलताओं का संहार होता है. और जिनके आधार से लोग सभ्यता के उन्नत सोपानों पर चढ़ सकते हैं। इन भावों का उदय जब हृदयों में हुआ तब इस प्रकार की साहित्य-सृष्टि की ओर समाज के प्रतिभा-सम्पन्न विबुधों की दृष्टि गयी और वे उचित यत्न करने के लिये कटिबद्ध हुए। अनेक समाचार-पत्र निकले और विविध पुस्तक-प्रणयन द्वारा भी इष्ट-सिद्धि का उद्योग प्रारम्भ हुआ।

बाबू हरिश्चन्द्र इस काल के प्रधान कवि हैं। प्रधान कवि ही नहीं, हिन्दी साहित्य में गद्य की सर्व-सम्मत और सर्व-प्रियशैली के उद्भावक भी आप ही हैं। हम इस स्थान पर यही विचार करेंगे कि उनके द्वारा हिन्दी पद्य में किन प्राचीन भावों का विकास और किन नवीन भावों का प्रवेश हुआ। बाबू हरिश्चन्द्र महाप्रभु वल्लभाचार्य्य के सम्प्रदाय के थे। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीमती राधिका में उनका अचल अनुराग था। इस सूत्र से वे ब्रजभाषा के भी अनन्य प्रेमी थे। उनकी अधिकांश रचनायें प्राचीन शैली की हैं और उनमें राधाकृष्ण का गुणानुवाद उसी भक्ति और श्रद्धा के साथ गाया गया है जिससे अष्टछाप के वैष्णवों की रचनाओं को महत्ता प्राप्त है। उन्हों ने न तो कोई रीति ग्रंथ लिखा है और न कोई

प्रबंध-काव्य। किंतु उनकी स्फुट रचनायें इतनी अधिक हैं जो सर्वतोमुखी प्रतिभावाले मनुष्य द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती हैं।

उन्होंने होलियों, पर्वों, त्योहारों और उत्सवों पर गाने योग्य सहस्रों पद्यों की रचना की है। प्रेम-रस से सिक्त ऐसे ऐसे कवित्त और सवैये बनाये हैं जो बड़े ही हृदयग्राही हैं। जितने नाटक या अन्य गद्य ग्रन्थ उन्होंने लिखे हैं, उन सब में जितने पद्य आये हैं वे सब ब्रजभाषा ही में लिखे गये हैं। इनमें प्राचीनता प्रेमी होने पर भी उनमें नवीनता भी दृष्टिगत होती है। वे देश दशा पर अश्रु बहाते हैं, जाति-ममता का राग अलापते हैं, जाति की दुर्बलताओं की ओर जनता की दृष्टि आकर्षित करते हैं, और कानों में वह मन्त्र फूंकते हैं जिससे चिरकाल की बंद आँखें खुल सकें उनके 'भारत-जननी' और 'भारत-दुर्दशा' नामक ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। बाबू हरिश्चन्द्र ही वह पहले पुरुष हैं जिन्हों ने सर्व प्रथम हिन्दी साहित्य में देश-प्रेम और जाति ममता की पवित्र धारा बहायी। वे अपने समय के मयंक थे। उनकी उपाधि 'भारतेन्दु' है। इस मयंक के चारों ओर जो जगमगाते हुये तारे उस समय दिखला पड़े, उन सबों में भी उनकी कला का विकास दृष्टिगत हुआ। सामयिकता की दृष्टि से उन्हों ने अपने विचारों को कुछ उदार बनाया। और ऐसे भावों के भी पद्य बनाये जो धार्मिक संकीर्णता को व्यापकता में परिणत करते हैं। 'जैन-कुतूहल' उनका ऐसा ही ग्रंथ है। उनके समय में उर्दू शाइरी उत्तरोत्तर समुन्नत हो रही थी। उनके पहले और उनके समय में ऐसे उर्दू भाषा के प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हुये जिन्होंने उसको चार चाँद लगा दिये। उनका प्रभाव भी इन पर पड़ा और इन्होंने अधिक उर्दू शब्दों को ग्रहणकर हिन्दी में 'फूलों का गुच्छा' नामक ग्रंथ लिखा जिसमें लावनियाँ हैं जो खड़ी बोली में लिखी गयी हैं। वे यद्यपि हिन्दी भाषा ही में रचित हैं, परंतु उनमें उर्दू का पुट पर्याप्त है। यदि सच पूछिये तो हिन्दी में स्पष्टरूप से खड़ी बोली रचना का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है। मैं यह नहीं भूलता हूं कि यदि सच्चा श्रेय हिन्दी में खड़ी बोली की कविता पहले लिखने का किसी को प्राप्त है तो वे महंत सीतल हैं। वरन मैं यह कहता हूं कि इस उन्नीसवीं

शताब्दी में पहले पहल यह कार्य्य भारतेन्दु जी ही ने किया। कुछ लोग उसको उर्दू की ही रचना मानते हैं। परंतु मैं यह मानने के लिये तैयार नहीं। इसलिये कि जैसे हिन्दी भाषा और संस्कृत के तत्सम शब्द उसमें आये हैं वैसे शब्द उर्दू की रचना में आते ही नहीं।

बाबू हरिश्चन्द्र नवीनता-प्रिय थे और उनकी प्रतिभा मौलिकता से स्नेह रखती थी। इसलिये उन्होंने नई नई उद्भावनायें अवश्य कीं, परंतु प्राचीन ढंग की रचना ही का आधिक्य उनकी कृतियों में है। ऐसी ही रचना कर के वे यथार्थ आनन्द का अनुभव भी करते थे। उनके पद्यों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके छोटे बड़े ग्रन्थों की संख्या लगभग १०० तक पहुंचती है। इनमें पद्य के ग्रन्थ चालीस पचास से कम नहीं हैं। परंतु ये समस्त ग्रन्थ लगभग ब्रजभाषा ही में लिखे गये हैं। उनकी भाषा सरस और मनोहर होती थी। वैदर्भी वृत्ति के ही वे उपासक थे। फिर भी उनकी कुछ ऐसी रचनायें हैं जो अधिकतर संस्कृत गर्भित हैं। वे सरल से सरल और दुरूह से दुरूह भाषा लिखने में सिद्धहस्त थे। ग़ज़लें भी उन्होंने लिखी हैं, जो ऐसी हैं जो उर्दू के उस्तादों के शेरों की समता करने में समर्थ हैं। मैं पहले कह चुका हूं कि वे प्रेमी जीव थे। इसलिये उनकी कविता में प्रेम का रंग बड़ा गहरा है। उनमें भक्ति भी थी और भक्ति मय स्तोत्र भी उन्होंने अपने इष्टदेव के लिखे हैं, परंतु जैसी उच्च कोटि की उनकी प्रेमसम्बन्धी रचनायें हैं वैसी अन्य नहीं। उनकी कविता को पढ़ कर यह ज्ञात होता है कि उनकी कवि-कृति इसी में अपनी चरितार्थता समझती है कि वह भगवल्लीला-मयी हो। वे विचित्र स्वभाव के थे। कभी तो यह कहते:—

जगजिन तृण सम करि तज्यो अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन लीजत वाको नाँव।
परम प्रेम निधि रसिकवर अति उदार गुनखान।
जग जन रंजन आशु कवि को हरिचंद समान।

कभी सगर्व होकर यह कहते—

चंद टरै सूरज टरै टरै जगत के नेम ।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को टरै न अविचल प्रेम ।

जब वे अपनी सांसारिकता को देखते और कभी आत्म-ग्लानि उत्पन्न होती तो यह कहने लगते ।

जगत-जाल में नित बँध्यो पर्‌यो नारि के फंद ।
मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कवि हरिचंद ।

उनकी जितनी रचनायें हैं इसी प्रकार विचित्रताओं से भरी हैं। कुछ उनमें से आप लोगों के सामने उपस्थित की जाती हैं:—

१—इन दुखियान को न सुख सपने हूं मिल्यो
यों ही सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी ।
प्यारे हरिचंद जूकी बीती जानि औधि जोपै
जै हैं प्रान तऊ एतो संग ना समायँगी ।
देख्यो एक बार हूं न नैन भरि तोहि यातें
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायँगी ।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय
मुएहूं पै आँखें ये खुली ही रह जाँयगी ।

२—हौं तो याही सोच में बिचारत रही रे काहें
दरपन हाथ ते न छिन बिसरत है ।
त्योंही हरिचंद जू बियोग औ सँजोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है ।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात तू तो
परम पुनीत प्रेम-पथ बिचरत है ।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति नाहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है ।

३—जानि सुजान हौं नेह करी सहि कै
बहु भाँतिन लोक हँसाई ।
त्यों हरिचंद जू जो जो कह्यो
सो करयो चुपह्वै करि कोटि उपाई ।
सोऊ नहीं निबही उन सों
उन तोरत बार कछू न लगाई ।
साँची भई कहनावतिया अरी
ऊँची दुकान की फीकी मिठाई ।

४—आजु लौं जौन मिले तो कहा
हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं ।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै
फल आपने भाग को पावैं ।
जो हरिचंद भई सो भई अब
प्रान चले चहैं याते सुनावैं ।
प्यारे जू है जग की यह रीति
बिदा के समै सब कंठ लगावैं ।

५—पियारो पैये केवल प्रेम में
नाहिं ज्ञान में, नाहिं ध्यान में, नाहिं करम कुल नेम में ।
नहिँ मंदिर में नहिँ पूजा में, नहिँ घंटा की घोर में ।
हरीचंद वह बाँध्यो डोलै एक प्रेम की डोर में ।

६—सम्हारहु अपने को गिरिधारी ।
मोर मुकुट सिरपाग पेच कसि राखहु अलक सँवारी ।
हिय हलकत बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी ।

चक्रादिकन सानदै राखो कंकन फँसन निवारी।
नूपुर लेहु चढ़ाय किंकिनी खीँचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकै बाँधो हो बनवारी।
हमनाहीं उनमें जिनको तुम सहजहिँ दीन्हों तारी।
बानो जुगओ नीके अबकी हरीचंद की बारी।

एक उर्दू की ग़ज़ल भी देखिये:—

दिल मेरा ले गया दग़ा कर के।
बेवफ़ा होगया वफ़ा कर के।

हिज्र की शब घटाही दी हमने।
दास्ताँ ज़ुल्फ़ की बढ़ा करके।

वक़्ते रहलत जो आये बालीं पर।
ख़ूब रोये गले लगा कर के।

सर्वे क़ामत ग़ज़बकी चालसे तुम।
क्यों क़यामत चले बपा कर के।

ख़ुद ब ख़ुद आज जो वह बुत आया।
मैं भी दौड़ा ख़ुदा ख़ुदा कर के।

दोस्तो कौन मेरी तुरबत पर।
रोरहा है रसा रसा कर के।

८—श्रीराधामाधव युगल प्रेम रसका अपने को मस्त बना।
पी प्रेम-पियाला भर भरकर कुछ इसमैका भी देखमज़ा।
इतबार न हो तो देख न ले क्या हरीचंद का हाल हुआ।

९—नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहति।

लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।
१०—तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहुछाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुं सुहाये।
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नयन मन सुख लहत।

उनकी इस प्रकार की रचनायें भी मिलती हैं, जिनमें खड़ी बोली का पुट पाया जाता है। जैसे यह पद:—

डंका कूच का बज रहा मुसाफ़िर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई।
जब चलना ही निश्चय है तो ले किन माल लदाई।
हरीचंद हरिपद बिनु नहिं तो रहि जैहो मुंह बाई।

किंतु उनकी इस प्रकार की रचना बहुत थोड़ी हैं। क्योंकि उनका विश्वास था कि खड़ी बोल चाल में सरस रचना नहीं हो सकती। उन्हों ने अपने हिन्दी भाषा नामक ग्रंथ में लिखा है कि खड़ी बोली में दीर्घान्त पद अधिक आते हैं, इसलिये उसमें कुछ न कुछ रूखापन आही जाता है। इस विचार के होने के कारण उन्होंने खड़ी बोल चाल की कविता करने की चेष्टा नहीं की। किन्तु आगे चल कर समय ने कुछ और ही दृश्य दिखाया, जिसका वर्णन आगे किया जावेगा। बाबू हरिश्चन्द्र जो रत्न हिन्दी भाषा के भाण्डार को प्रदान कर गए हैं वे बहुमूल्य हैं, यह बात मुक्त कंठ से कही जा सकती है।

पंडित बदरीनारायण चौधरी बाबू हरिश्चन्द्र के मित्रों में से थे। दोनों के रूप रंग में समानता थी और हृदय में भी। दोनों ही रसिक थे और

दोनों ही हिन्दी भाषा के प्रेमी। दोनों ही ने आजन्म हिन्दी भाषा की सेवा की और दोनों ही ने उसको यथा शक्ति अलंकृत बनाया। दोनों ही अमीर थे और दोनों ही ऐसे हँसते मुख, जो रोते को भी हँसादें। आज दोनों ही संसार में नहीं हैं, परन्तु अपनी कीर्त्ति द्वारा दोनों ही जीवित हैं। चौधरी जी की रचनायें अधिक नहीं हैं। किंतु जो हैं वे हिन्दी भाषा का शृंगार हैं। पंडित जी सरयूपारीण ब्राह्मण और प्रचुर सम्पत्ति के अधिकारी थे। फ़ारसी और संस्कृत का उन्हें अच्छा ज्ञान था, अंगरेज़ी भी कुछ जानते थे। उन्होंने मिर्ज़ापुर में रसिक समाज आदि कई सभायें स्थापित कीथीं और 'आनंदकादम्बिनी' नामक मासिक पत्रिका तथा 'नागरी-नीरद' नामक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। दोनों ही सुंदर थे और जब तक रहे अपने रस से हिन्दी संसार को सरस बनाते रहे। और क्यों न बनाते जब प्रेमघन उनके संचालक थे? घन आनंद के उपरांत कविता में चौधरी जी ने ही ऐसा सरस उपनाम अपना रक्खा जिसके सुनते ही प्रेम का घन उमड़ पड़ता है। वे आनंदी जीव थे और अपने रंग में सदा मस्त रहते थे इस लिये कुछ लोग यह समझते थे कि वे जैसा चाहिये वैसे मिलनसार नहीं थे। किंतु ऐसा वेही कहते हैं जो उनके अंतरंग नहीं। वास्तवमें वे बड़े सहृदय और सरस थे और जिस समय जी खोलकर मिलते रस की वर्षा कर देते। उनकी रचनायें सब प्रकार की हैं। किंतु ग्रंथाकार बहुत कम छपीं। भारत-सौभाग्य-नाटक उनका प्रसिद्ध नाटक है। जहां तक मुझे स्मरण है उन्होंने 'वेश्या-विनोद' नामक एक महानाटक लिखा था। परंतु वह छप न सका और कदाचित् पूरा भी नहीं हुआ। कुछ छोटी छोटी कवितायें उनकी छपी हैं, जो विशेष अवसरों पर लिखी जा कर वितरण की गयीं। उन्हों ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद को भी सुशोभित किया था। सभापतित्व के पद से जो भाषण उन्हों ने दिया था वह बड़ा ही विद्वत्तापूर्ण था, वह छप भी चुका है। उनके बहुत से सुंदर लेख और कितनी ही सरस कवितायें उनके सम्पादित पत्रों में मौजूद हैं। परन्तु दुःख है कि न तो अब तक उनका संकलन हुआ और न वे ग्रंथ रूप में परिणत हुये। उनकी अधिकांश रचनायें

व्रजभाषा में हैं और आजीवन उन्हों ने उसी की सेवा की। अंतिम समय में जब खड़ी बोली का प्रचार हो चुका था, उन्होंने कुछ खड़ी बोली की रचनायें भी की थीं। उनके कुछ पद्य देखिये:—

१—बगियान बसंत बसेरो कियो
बसिये तेहि त्यागि तपाइये ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने
तिन बीच वियोग बुलाइये ना।
घन प्रेम बढ़ाय के प्रेम अहो
विथा वारि वृथा बरसाइये ना।
इतै चैत की चाँदनी चाह भरी
चरचा चलिबे की चलाइये ना।

२—अब तो लखिये अलि ए अलियन
कलियन मुख चुंबन करन लगे।
पीवत मकरंद मनो माते,
ज्यों अधर सुधा रस में राते।
कहि केलि कथा गुंजरन लगे।
रस मनहुं प्रेम घन बरसन घन निज प्यारी के
करि आलिंगन लिपटे लुभाय मन हरन लगे।

उनके हृदय में भी समय के प्रभाव से देश प्रेम जाग्रत था। अतएव उन्हों ने इस प्रकार की रचनायें भी की हैं। एक पद्य देखिये:—

जय जय भारत भूमि भवानी।
जाकी सुजस पताका जग के दसहूं दिसि फहरानी।
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सुहानी।
जा श्री सोभा लखि अलका अरु अमरावती खिसानी।

प्रनमत तीस कोटि जन अजहुं जाहि जोरि जुग पानी।
जिन मैं झलक एकता की लखि जग मति सहमिसकानी।
ईस कृपा लहि बहुरि प्रेम घन बनहु सोई छवि खानी।
सोइ प्रताप गुन जन गरबित ह्वै भरी पुरी धन धानी।

उनकी एक खड़ी बोली की रचना भी देखिये जो अंतिम दिनों में की गई है।

मन की मौज।

१—मन की मौज मौज सागर सी सो कैसे ठहराऊँ।
जिसका वारापार नहीं उस दरिया को दिखलाऊँ।
तुमसे नाजुक दिल को भारी भँवरों में भरमाऊँ।
कहो प्रेमघन मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ।
२—तिरछी त्योरी देखि तुम्हारी क्यों कर सीस नवाऊँ।
हो तुम बड़े ख़बीस जान कर अन जाना बन जाऊँ।
हर्फ़ शिकायत ज़बाँ प आवे कहीं न यह डरलाऊँ।
कहो प्रेमघन मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ।
३—लूट रहे हो भली तरह मैं जानं बले छुपाऊँ।
करते हो अपने मन की मैं लाख चहे चिल्लाऊँ।
डाह रहे हो ख़ूब परा परबस मैं गो घबराऊँ।
कहो प्रेमघन मन की बातें कैसे किसे सुनाऊँ।

प्रेमघन जी ने गद्य में बहुत बड़ा कार्य्य किया है, उनके गद्यों में विलक्षणतायें और माधुर्य्य भी अधिक है। इसका वर्णन आगे गद्य-विभाग में होगा। इसलिये उसको यहां कुछ चर्चा नहीं की जाती।

पं० प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु काल के एक जगमगाते हुए नक्षत्र

थे। प्रकृति बड़ी स्वतंत्र थी, लगी—लिपटी बातें पसंद नहीं थीं। इसलिये खरी बातें कहना ही उनका व्रत था। वे बाबू हरिश्चन्द्र के बड़े प्रेमी थे और अपने 'ब्राह्मण' मासिक पत्र पर 'हरिश्चन्द्राय नमः' लिखा करते थे। इससे उनका हिन्दी भाषा-प्रेम प्रकट है। वे अधिक अर्थकृच्छ होने पर भी अपने 'ब्राह्मण' को बराबर निकालते रहे और उस समय तक अपने इस धर्म को निबाहा जब तक उनकी गाँठ में दाम रहा। देश-ममता, जाति-ममता, और भाषा-प्रेम उनकी रग रग में भरा था। आजीवन उन्हों ने इसको निबाहा।' इन तीनों विषयों पर उन्होंने बड़ी सरस रचनायें की हैं। जितनी पंक्तियाँ उन्होंने अपने जीवन में लिखीं, वे चाहे गद्य की हों या पद्य की, उन सबों में इन तीनों विषयों की धारा ही प्रबल वेग से बहती दृष्टिगत होती है। वे मूर्तिमन्त देश-भक्त थे। इसी लिये उनकी सब रचनायें इसी भाव से भरी हैं। उन्हों ने एक दर्जन पुस्तकें बँगला से अनुवादित कीं और पन्द्रह बीस पुस्तकें स्वयं लिखीं, जिनमें से 'प्रताप-संग्रह', 'मानस-विनोद', 'मन की लहर', 'ब्रेडला-स्वागत', 'लोकोक्तिशतक', 'तृप्यंताम्' आदि अनेक ग्रन्थ पद्य में लिखे गये हैं। इन सब में उनकी मानसिक प्रवृत्ति स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। उन्होंने प्रार्थना और विनय के पद भी कहे हैं और ईश्वर एवं धर्म-सम्बन्धी रचनायें भी की हैं, परन्तु उनमें वह ओज और आवेश नहीं पाया जाता, जो देश-अथवा जाति-सम्बन्धी रचनाओं में मिलता है। उनके पद्यों की एक ही भाषा नहीं है। कभी उन्हों ने अपनी बैसवाड़ी बोलचाल में रचना की है, कभी उर्दू-मिश्रित खड़ी बोली में, और कभी ब्रजभाषा में। अधिकांश रचनायें ब्रजभाषा ही में हैं। जितने पद्य उन्होंने देश और जाति-सम्बन्धी लिखे हैं, उनमें उनके हृदय का जीवन्तभाव बहुत ही जाग्रत मिलता है, जो हृदयों में तीव्रता के साथ जीवनी-धारायें प्रवाहित करता है। जब ब्रेडला साहब भारत में पधारे उस समय उन्होंने उनके स्वागत में जो कविता लिखी; उसमें देश की दशा का ऐसा सच्चा चित्रण किया कि उसकी बड़ी प्रशंसा हुई, यहां तक कि विलायत तक में उसकी चर्चा हुई। उनकी अधिकांश रचनायें इसी प्रकार की हैं। उनमें से कुछ मैं आप लोगों के सामने रखूँगा। पहले देखिये वे 'हिन्दी,

हिन्दू और हिन्दुस्तान' के विषय में क्या कहते हैं:—

चहहु जो साँचो निज कल्यान।
तो सब मिलि भारत संतान।
जपो निरंतर एक ज़बान।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्थान।
तबहिं सुधरि है जन्म निदान।
तबहिं भलो करि है भगवान।
जब रहि है निसि दिन यह ध्यान।
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।

अपनी 'तृप्यंताम्' नामक कविता में वे किस प्रकार अपने जातीय दुःख को प्रकट करते हैं, उसे भी सुनिये:—

केहि विधि वैदिक कर्म होत
कब कहा बखानत ऋक यजु साम।
हम सपने हूं में नहिं जानैं
रहैं पेट के बने गुलाम।
तुमहिं लजावत जगत जनम ले
दुहुँ लोकन मे निपट निकाम।
कहैं कौन मुख लाइ हाय
फिर ब्रह्मा बाबा तृप्यंताम्।

अपने बैसवाड़ी बोलचाल में देखिये, गोरक्षा के विषय में क्या कहते हैं:—

गैया माता तुम काँ सुमिरौं
कीरति सब ते बड़ी तुम्हारि।

करौ पालना तुम लरिकन कै
पुरिखन बैतरनी देउ तारि ।
तुम्हरे दूध दही की महिमा
जानैं देव पितर सब कोय ।
को अस तुम बिन दूसर जेहि
का गोबर लगे पवित्तर होय ।

बुढ़ापा का वर्णन अपनी ही भाषा में देखिये किस प्रकार करते हैं

हाय बुढ़ापा तोरे मारे अब तो
हम नकन्याय गयन
करत धरत कछु बनतै नाहीं
कहाँ जान औ कैस करन ।
छिन भरि चटक छिनै मां मद्धिम
जस बुझात खन होइ दिया ।
तैसे निखवख देखि परत हैं
हमरी अक्किल के लच्छन ।
अस कुछु उतरि जाति है जीते
बाजी बिरियां बाजी बात ।
कैसेउ सुधि ही नाहीं आवत
मूंडुइ काहें न दै मारन ।
कहा चहौं कुछु निकरत कुछु है
जीभ राँड़ का है यहु हालु ।
कोऊ येहका बात न समझै
चाहे बीसन दाँय कहन ।

दाढ़ी नाक याकमाँ मिलिगै
बिन दाँतन मुंहु अस पोपलान ।
दढ़िही पर बहि बहि आवति है
कबौं तमाखू जो फाँकन ।
बारौ पकिगै रीरौ झुकिगै
मूंड़ौ सासुर हालन लाग ।
हाथ पाँव कछु रहे न आपन
केहि के आगे दुख रवावन ।

उनकी एक ग़ज़ल देखिये:—

वो बदख़ू राह क्या जाने वफ़ा की ।
अगर ग़फ़लत से बाज़ आया जफ़ा की ।
मियां आये हैं बेगारी पकड़ने,
कहे देती है शोख़ी नक़्शे पा की ।
पुलिसने और बदकारों को शहदी,
मरज़ बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की ।
उसे मोमिन न समझो ऐ बिरहमन,
सताये जो कोई ख़िलक़त ख़ुदा की ।
बिधाता ने याँ मक्खियां मारने को,
बनाये हैं ख़ुशरू जवां कैसे कैसे ।
अभी देखिये क्या दशा देशकी हो,
बदलता है रंग आसमां कैसे कैसे ।

एक भजन भी देखिये:—

माया मोह जनम के ठगिया
तिनके रूप भुलाना ।

छल परपंच करत जग धूनत
दुख को सुख करि माना ।
फिकिर वहाँ को तनक नहीं है
अंत समै जहँ जाना ।
मुख ते धरम धरम गुहरावत
करम करत मनमाना ।
जो साहब घट घट की जानत
तेहि ते करत बहाना ।
येहि मनुआ के पीछे चलि के
सुख का कहाँ ठिकाना ।
जो परताप सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना ।

दो सवैयाओं को भी देखिये:—

बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोलै न 'नाहीं' न 'हाँ'। तुमहीं मनुहारि कै हारि परे सखियान की कौन चलाई तहाँ। बरषा है प्रताप जू धीर धरौ अब लौं मन को समझायो जहाँ। यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू पपिहा जब पूछि है 'पीव कहाँ'। आगे रहे गनिका गज गीध सुतौ अब कोऊ दिखात नहीं है। पाप परायन ताप भरे परताप समान न आन कहीं है। हे सुखदायक प्रेम निधे जग यों तो भले औ बुरे सबहीं हैं। दीनदयाल औ दीन प्रभो तुमसे तुमहीं हमसे हमहीं हैं।

पंडित अम्बिका दत्त व्यास संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान थे। बाबू हरिश्चन्द्र आप को बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे। बिहार प्रान्त में

आप का बड़ा सम्मान था। वहाँ आप संस्कृत के प्रोफ़ेसर थे। वे संस्कृत के विद्वान् ही नहीं थे, बहुत बड़े वक्ता भी थे। व्याख्यान के समय जनता को अपनी मूठियों में कर लेना उनके बायें हाथ का खेल था। बिहार में आर्य्यसमाज के संग जब जब उनका शास्त्रार्थ हुआ तब तब उन्हों ने विजय-पत्र प्राप्त किये। धारा प्रवाह संस्कृत बोलते थे और कठिन से कठिन शास्त्रोय बिषयों को इस प्रकार सुलझाते थे कि प्रति पक्षियों के दाँत खट्टे हो जाते थे। वे शास्त्र-पारंगत विद्वान् तो थे ही, उनकी धारणाशक्ति भी बड़ी प्रवल थी। एक काल में वे कई कार्य्य साथ साथ कर सकते थे। इस बिषय में उनकी कई बार परीक्षा ली गयी और वे सदा उसमें सफलता के साथ उत्तीर्ण हुये। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों की भी रचना की है। बाबू हरिश्चन्द्र की 'ललिता' नाटिका का अनुवाद संस्कृत में किया था। वेघटिका शतक थे। एक घंटे में संस्कृत के १०० अनुष्टुप वृत्तों की रचना कर देते थे। संस्कृत के इतने बड़े विद्वान् होने पर भी हिन्दी भाषा के बड़े अनुरागी थे। उन्हों ने हिन्दी भाषा में 'पीयूष-प्रवाह' नाम का एक मासिक पत्र भी निकाला था। उनकी गद्य और पद्य दोनों की रचनायें सुंदर और सरस होती थीं। वे आशु कवि थे। इस लिये हिन्दी समस्याओं की पूर्त्ति बात की बात में कर देते थे। उनके पिता पंडित दुर्गादत्त भी हिन्दी भाषा के बड़े अच्छे कवि थे। उन्हीं के प्रभाव से ये सब बिलक्षणतायें उनमें एकत्रीभूत थीं। एक बार उन्हें समस्या दी गयी।—

मूंदि गयी आंखैं तब लाखैं कौन काम की।

उन्हों ने तत्काल उसकी पूर्त्तियां की।:—

चमकि चमाचम रहे हैं मनिगन चारु
सोहत चहूँघा धूम धाम धन धाम की।
फूल फुलवारी फलफैलि कै फबे हैं तऊ
छबि छटकीली यह नाहिन अराम की।
काया हाड़ चाम की लै रामकी बिसारी सुधि
जामकी को जानै बात करत हराम की।

अम्बादत्त भाखैं अभिलाखैं क्यों करत झूठ
मूंदि गयीं आंखैं तब लाखैं कौन काम की।

वे साहित्याचार्य तो थे ही, 'भारतरत्न', 'बिहार भूषण', 'शतावधान' और 'भारत भूषण' आदि पदवियां भी उन्हें राजे-महाराजाओं तथा सनातन धर्म मण्डल दिल्ली से प्राप्त हुई थीं। उनको कितने ही स्वर्णपदक भी मिले थे। जब तक जीवित रहे, पटना कालेज की प्रोफ़ेसरी बड़ी ख्याति के साथ की। उनके जीवन का बहुत बड़ा काम यह है कि उन्होंने बिहार में 'संस्कृत-संजीवनी-समाज' नाम की एक संस्था स्थापित की थी। इस समाज के द्वारा सँस्कृत की अनिमियत शिक्षा-प्रणाली का ऐसा सुधार हुआ कि अब भी उसकी सहायता से सैकड़ों विद्यार्थी संस्कृत शिक्षा पा कर प्रतिवर्ष नाना उपाधियां प्राप्त करते हैं। संस्कृतके अतिरिक्त वे बँगला, मराठी, गुजराती और कुछ अँगरेज़ी भी जानते थे। उनकी संस्कृत और हिन्दी की छोटी-बड़ी पुस्तकों की संख्या लगभग ७८ है, जिनमें 'बिहारी-बिहार' जैसे बड़े ग्रंथ भी हैं। बिहारी लाल के ७०० दोहों पर उन्होंने जो कुंडलियाँ बनायी थीं, मुद्रित रूप में उन्हीं का नाम 'बिहारी-बिहार' है। इस ग्रंथ की भूमिका भी बड़ी विशद और सुन्दर है। उसी से इनके कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं। इनका हिन्दी उपनाम सुकवि था:—

१—मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे स्याम हरित दुति होय।
स्याम हरित दुति होय परत तन पीरी झाईं।
राधाहूँ पुनि हरी होति लहि स्यामल छाईं।
नैन हरे लखि होत रूप औ रंग अगाधा।
सुकवि जुगुल छवि धाम हरहु मेरी भव बाधा।

२—सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनो नील मनि सैल पर आतप पर्‌यो प्रभात।

आतप पर्‌यो प्रभात ताहि सों खिल्यो कमल मुख
अलक भौंर लहराय जूथ मिलि करत विविधसुख।
चकवा से दोउ नैन देखि एहि पुलकत मोहत।
सुकवि विलोकहु स्याम पीतपट ओढ़े सोहत।

देखिये 'भौंह'-सम्बन्धी उनकी यह रचना कितनी सुन्दर है:—

३—नैन कमल लखि उमँग भरे से।
भृकुटि व्याज जनु पाँनि करे से।
फरफरात पुनि ठटकारे से।
घूमत मलिंद मतवारे से।

उनके दो दोहे भी देखिये:—

४—गुंजा री तू धन्य है बसत तेरे मुख स्याम।
याते उर लाये रहत हरि तोको बसुयाम।
५—मोर सदा पिउ पिउ करत नाचत लखिघनश्याम।
या सों ताकी पाँख हूँ सिर धारी घनश्याम।

व्यास जी जयपुर निवासी थे। इसलिये बड़ी सरस व्रजभाषा में रचना करते थे। जिसे इसके प्रमाण की आवश्यकता हो वह इनकी रची 'सतसई' को देखे। वे जब तक जीवित रहे, हिन्दी संसार में भारतेन्दु के समान ही उनकी कीर्ति भी थी। उन्होंने हिन्दी-संसार को गद्य और पद्य के जितने ग्रंथ दिये हैं वे बड़े अमूल्य हैं और उनके लिये हिन्दी संसार उनका सदा ऋणी रहेगा।

बाबा सुमेर सिंह सिक्ख गुरु और पटने के महंत थे। ज़िला आज़मगढ़ के निज़ामाबाद क़स्बे में उनका निवास था। वे सिक्खों के तीसरे गुरु अमरदास के वंशज थे। इसलिये साहब ज़ादे कहे ज़ाते थे। जाति के भल्ले खत्री थे। परमात्मा ने उनको बड़ा सुन्दर रूप दिया था। जैसा

सुन्दर स्वरूप था, वैसा ही सुंदर उनका हृदय भी था। हिन्दी भाषा के बड़े प्रेमी थे, इस भाषाका ज्ञान भी उन्हें अच्छा था। वे संस्कृत भी जानते थे। बाबू हरिश्चन्द्र से उनकी बड़ी मैत्री थी। बनारस के महल्ले रेशम कटरे की बड़ी संगत में आ कर वे प्रायः रहते थे और यहीं दोनोंका बड़ा सरस समागम होता था। बाबा सुमेर सिंह ब्रजभाषा की बड़ी सरस कविता करते थे। उन्होंने इस भाषा में एक विशाल प्रबंध काव्य लिखा था, जो लगभग नष्ट हो चुका है केवल उसका दशम मंडल अबतक यत्र-तत्र पाया जाता है इस ग्रंथ का नाम 'प्रेम-प्रकाश' था। इसमें उन्हों ने सिक्खों के दश गुरुओं की कथा दश मंडलों में वृहत रूप से बड़ी ललित भाषा में लिखी थी। दशम मंडल में गुरु गोविन्द सिंह का चरित्र था। गुरुमुखी में वह मुद्रित हुआ और वही अब भी प्राप्त होता है। शेष नौ मण्डल कराल काल के उदर में समा गये। बहुत उद्योग करने पर भी न तो वे प्राप्त हो सके न उनका पता चला। उन्होंने 'कर्णाभरण' नामक एक अलंकार ग्रंथ भी लिखा था। अब वह भी अप्राप्य है। गुरु गोविंदसिंह ने फ़ारसी में जो 'ज़फ़रनामा' लिखा था उसका अनुवाद भी उन्हों ने 'विजय पत्र' के नाम से किया था। वह भी लापता है। उन्होंने संत निहाल सिंह के साथ दशम ग्रंथ साहब के जाप जी की बड़ी वृहत टीका लिखी थी, जो बहुत ही अपूर्व थी। वह मुद्रित भी हुई है, किंतु अब उसका दर्शन भी नहीं होता। उन्हों ने छोटे छोटे और भी कई ग्रंथ धार्म्मिक और रससम्बन्धी लिखे थे। परन्तु उनमें से एक भी अब नहीं मिलता। उन्होंने जितने ग्रंथों की रचना की थी उन सब में हिन्दू भाव ओतप्रोत था और यही उनकी रचनाओं का महत्व था। आज कल कुछ सिक्ख सम्प्रदायवाले अपने को हिन्दू नहीं मानते, वे उनके विरोधी थे। इसलिये भी उनके ग्रंथ दुष्प्राप्य हो गये। फिर भी उनकी स्फुट रचनायें 'सुंदरी तिलक' इत्यादि ग्रंथों में मिल जाती हैं। जब वे पटने में महन्त थे तो वहाँ से उन्होंने एक कविता-सम्बन्धी मासिक पत्रिका भी हिन्दी में निकाली थी। वह एक साल चल कर बन्द हो गयी। उसमें भी उनकी अनेक कवितायें अब तक विद्यमान हैं। उनकी दो कवितायें मुझे याद हैं। उनको मैं यहां लिखता

हूं। उन्हीं से आप लोग उनकी कविता की भाषा और उनके विचार का अनुमान कर सकते हैं:—

१—सदना कसाई कौन सुकृत कमाई नाथ
मालन के मनके सुफेरे गनिका ने कौन।
कौन तप साधना सों सेवरी ने तुष्ट कियो
सौचाचार कुबरी ने कियो कौन सुख भौन।
त्यों हरि सुमेर जाप जप्यो कौन अजामेल
गज को उबार्‌यो बार बार कवि भाख्यो तौन।
एते तुम तारे सुनो साहब हमारे राम
मेरी बार बिरद बिचारे कौन गहि मौन।

२—बातें बनावती क्यों इतनी हमहूं
सों छप्यो नहीं आज रहा है।
मोहन के बनमाल को दाग दिखाइ
रह्यो उर तेरे अहा है।
तू डरपै करै सौहैं सुमेर हरी
सुन सांच को आँच कहाँ है।
अंक लगी तो कलङ्क लग्यो जो
न अङ्क लगी तो कलङ्क कहा है।

बाबा सुमेरसिंह ने आजीवन कविता देवी ही की आराधना की। उन्होंने न तो गद्य लिखने की चेष्टा की और न गद्य ग्रन्थ रचे। उनका जीवन काव्यमय था और वे कविता पाठ करने और कराने में आनन्द लाभ करते थे। अपनी कविता के विषय में उनकी बड़ी बड़ी आशायें थीं। वे उसका बहुत प्रचार चाहते थे और कहा करते थे कि हिन्दू सिक्खों की भेद-नीति का संहार इसी के द्वारा होगा। परन्तु दुःख से

कहना पड़ता है कि अपने उद्योग में सफलता लाभ करने के पहले ही उनका स्वर्गवास हुआ और उनके स्वर्गवास होने पर उनकी कविता का अधिकांश लोप हो गया। जो कुछ शेष है वह यद्यपि उनकी वास्तविक कीर्ति के विस्तार के लिये पर्य्याप्त नहीं है, फिर भी अब उसी पर संतोष करना पड़ता है। काल की लीला ही ऐसी है।

भारतेन्दु का काल गद्य के उत्थान का काल था। सामयिक आवश्यकताओं के कारण इस समय गद्य का बहुत अधिक प्रचार हुआ। इन दिनों अनेक पत्र पत्रिकायें निकलीं और गद्य की पुस्तकें भी अधिक छपीं। स्कूलों एवं ग्रामीण पाठशालाओं केलिये कोर्स की बहुत अधिक पुस्तकें भी गद्य में हो लिखी गयीं। सनातन धर्म और आर्य्य समाज के विवाद के कारण अधिकतर वादसम्बन्धी ग्रन्थ भी गद्य में ही लिखे गये। इसी प्रकार बहुत सी सामाजिक और राजनीतिक पुस्तकों को भी गद्य का अवलम्बन ग्रहण करना पड़ा, क्योंकि पद्य द्वारा ये सब कार्य्य न तो व्यापक रूप से किये जा सकते थे और न वह सुविधा ही प्राप्त हो सकती थी जो गद्य द्वारा प्राप्त हो सकी। पश्चिमोत्तर प्रांत में ही नहीं, बिहार मध्यभारत और पंजाब तक में हिन्दी भाषा का विस्तार इन दिनों हुआ और इसका आधार गद्य ही था। जितनी हिन्दी पत्र पत्रिकायें इन प्रांतों में निकलीं या जो ग्रन्थ आवश्यकतानुसार लिखे गये उनमें से अधिकांश का आधार भी गद्य ही था। इसलिये इस समय के जितने विद्वान धार्मिक अथवा राजनीतिक पुरुष किंवा शिक्षा प्रचारक साहित्य क्षेत्र में उतरे उनको गद्य से ही अधिकतर काम लेना पड़ा फिर क्यों न इस समय अधिकतर गद्य ग्रन्थकार ही उत्पन्न होते। बाबू हरिश्चन्द्र के समय में जितने हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक हुये वे अधिकतर गद्य ग्रन्थकार हैं। उनका वर्णन मैं आगे चलकर करूंगा। गद्य के साथ साथ उस समय जिन प्रतिष्ठा प्राप्त लेखकों ने पद्य रचनायें भी कीं उनका वर्णन मैं ऊपर कर चुका। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ऐसे कुछ मान्य पुरुषों ने भी उस समय गद्य के साथ कुछ पद्य रचना भी की थी। परन्तु उनकी पद्य रचनायें बहुत थोड़ी हैं। इसलिये पद्य विभाग में मैंने उन्हें स्थान नहीं दिया।

यद्यपि किसी किसी के कुछ पद्य बड़े सुन्दर हैं। द्विवेदीजी की भी कोई कोई रचना बड़ी ही हृदय-ग्राहिणी है, एक पद्य देखिये:—

१—पिया हो कसकत कुस पग बीच।
लखन लाज सिय पिय सन
बोलीं हरुए आइ नगीच।
सुनि तुरंत पठयो लखनहिं
प्रभु जलहित दूरि सुजान।
लेइ अंक सिय जोवत कुस
कन धोवत पग अँसुआन।
बार बार झारत कर सों रज
निरखत छत बिललात।
हाय प्रिये मान्यो न कह्यो
लखु नहिं बन बिचकुसलात।
सहस सहचरी त्यागि सदन
मधि सासु ससुर सुखकारि।
हठ करि लगि मो संग सहत
तुम हाहा यह दुख भारि।
कहत जात यों प्रभु बहु बतियां
तिया पिया की छांह।
देइ गल बहियाँ चलीं बिहँसि
कहि यह सुख नाथ अथाह।

तो भी यह उचित नहीं ज्ञात हुआ कि उनको पद्य-विभाग में स्थान दिया जाय। क्योंकि उल्लेख योग्य पद्य-ग्रंथों के रचयिताओं को ही उसमें अब तक स्थान मिलता आया है। बाबू हरिश्चन्द्र के स्वर्गारोहण

के उपरान्त हिन्दी संसार में एक बहुत बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। वह विवाद यह था कि हिन्दी पद्य-रचना भी ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली में होनी चाहिये। उनके सामने इसका सूत्रपात्र मात्र हुआ था। कुछ लोगों के जी में यह बात उत्पन्न हो रही थी और आपस में इसकी चर्चा भी होने लगी थी। परंतु विचार ने आन्दोलन का रूप नहीं ग्रहण किया था। अब वह वास्तविक आन्दोलन बन गया था और ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली के पक्षपातियों में द्वन्द्व होने लगा था। इसका कारण सामयिक परिस्थिति थी। उर्दू का इस समय बोलवाला था और सरकारी कचहरियों में उसको स्थान प्राप्त हो गया था। वह दिन दिन वृद्धि लाभ कर रही थी और हिन्दी-क्षेत्रों पर भी अधिकार करती जाती थी। पंजाब से बिहार की सीमा पर्यन्त उसका डंका बज रहा था और अन्य प्रान्तों में भी प्रवेश-लाभ की चेष्टा वह कर रही थी। उसके पुष्ट पोषक मुस्लिम समाज और उसके नेता ही नहीं थे, हिन्दुओं का एक बहुत बड़ा दल भी उसका पक्षपाती था। उसके जहाँ और गुण वर्णन किये जाते थे वहाँ यह भी कहा जाता था कि उर्दू की गद्य और पद्य की भाषा एक है, हिन्दी को तो यह गौरव भी नहीं प्राप्त है। वास्तव बात यह है कि इन सुविधाओं के कारण वह उत्तरोत्तर उन्नत हो रही थी और उसका साहित्य-भांडार दिन-दिन उपयोगी ग्रन्थों से भर रहा था। उस समय जितने ग्रन्थ हिन्दी के निकले उनकी गद्य की भाषा तो खड़ी बोली की और पद्य की भाषा ब्रजभाषा होती थी। यह पद्य की भाषा युक्त प्रान्त के सब विभागों में तो किसी प्रकार समझ भी ली जाती थी, परन्तु बिहार या पंजाब या मध्य हिंद में उसका समझना दुस्तर था, क्योंकि वह एक प्रान्तीय भाषा थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उसका विस्तार एक प्रान्त ही तक परिमित नहीं था, वह अन्य प्रान्तों तक विस्तृत हो चुकी थी, जिसकी चर्चा मैं पहले कर भी चुका हूं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस समय जैसी सुगमता से खड़ी बोल चाल या गद्य की भाषा को लोग पश्चिमोत्तर प्रान्त या अन्य प्रान्तों में समझ लेते थे, ब्रजभाषा को नहीं समझ सकते थे। इस कारण हिन्दी भाषा उतना निर्बाध रूप से उन्नति नहीं कर सकती थी जितना

उर्दू। यह एक ऐसी बात थी जिससे उक्त आन्दोलन को उस समय बहुत बड़ा बल मिला। उन दिनों यह भी देखा जाता था कि अङ्गरेजी स्कूलों और ग्रामीण पाठशालाओं के अधिकतर हिन्दू लड़के कोर्स में उर्दू लेना ही पसंद करते थे। जहाँ और कारण थे वहाँ एक यह कारण भी उपस्थित किया जाता था कि हिन्दी पुस्तकों की गद्य की भाषा और होती है और पद्य की और, जिससे हिन्दू बालकों को एक प्रकार से कठिनता का सामना करना पड़ता है और विवश होकर उन्हें सुविधा की दृष्टि से) हिन्दी के स्थान पर उर्दू लेना पड़ता है। उन दिनों इस विचार से भी उक्त आन्दोलन को बहुत कुछ सहायता मिली थी। मुझको स्मरण है कि इस आन्दोलनको लेकर उस समय के दैनिक 'हिन्दुस्थान' तथा अन्य पत्रों में उभय पक्ष के लोगों में बड़ा द्वंद्व हुआ था। बिहार प्रान्त के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री के हाथ में इस आन्दोलन का झंडा था, वे बिहार और पश्चिमोत्तर प्रान्तों के अनेक स्थानों में घूम घूम कर उन दिनों यह प्रयत्न कर रहे थे कि पद्यमें भी खड़ी बोली को स्थान मिले और ब्रजभाषा का बहिष्कार किया जाय। यह आन्दोलन सामयिक परिस्थिति के कारण सफल हुआ और हिन्दी साहित्यिकों का एक दल इसके लिये कटिबद्ध हो गया कि ब्रजभाषा के स्थान पर वह खड़ी बोलचाल में कविता करे। इस दल के नेता पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी कहे जा सकते हैं। 'सरस्वती' के सम्पादन काल में उन्होंने खड़ी बोली का बड़ा आदर किया और बहुतों को उत्साहित कर खड़ी बोली की रचनायें उनसे करायीं। स्वयं भी उन्होंने खड़ी बोली की कवितायें लिखीं परन्तु स्व० पं० श्रीधर पाठक ही ऐसे पहले पुरुष हैं जिन्होंने खड़ी बोलचाल में एक कविता पुस्तक आदि में लिखी। यह कविता पुस्तक 'हरमिट' (Hermit) का अनुवाद है, जिसका हिंदी नाम एकान्तवासी योगी है। उन्होंने पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के पहले ही इस आन्दोलन में अग्र भाग लिया था और पंडित प्रतापनारायण मिश्र से खड़ी बोली के पक्ष में खड़े होकर पूरा वाद-विवाद किया था। मैं ऊपर लिख आया हूं कि बाबू हरिश्चन्द्र ने भी खड़ी बोली की कविता की है। ऐसे ही पं० बदरीनारायण चौधरी, पं० प्रतापनारायण मिश्र की भी कुछ रचनायें खड़ी बोली की हैं। परन्तु ग्रन्थ

रूप में खड़ी बोली में सर्व प्रथम रचना करने का श्रेय पं० श्रीधर पाठक ही को प्राप्त है।

खड़ी बोली और व्रजभाषा में क्या अन्तर है, यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्रज भाषा के विरोध के अन्तर्गत अवधी भाषा भी है। विवाद के समय खड़ी बोली के सामने व्रजभाषा ही इसलिये रखी गयी कि जिस समय आन्दोलन आरम्भ हुआ उस समय व्रजभाषा ही सर्वोत्तम समझी जाती थी और उसी का व्यापक विस्तार था, अवधी लगभग साहित्य संसार से उठ चुकी थी। कभी कभी कोई उसका निस्संदेह स्मरण कर लेता था। वास्तव बात तो यह है कि दोनों का बहुत बड़ा सम्बन्ध प्राकृत भाषा से है। दोनों अनेक अंशों में प्राकृत भाषा के ढंग में ढली हुई हैं। दोनों में प्राकृत भाषा के कई शब्द बिना परिवर्तित हुये पाये जाते हैं। दोनों का बहुत बड़ा सम्बन्ध बोल चाल की भाषा से है। परन्तु खड़ी बोलचाल जिस रूप में गृहीत है उस रूप में न तो वह जनता की बोलचाल की भाषा से अपेक्षित मात्रा में सम्बन्ध रखती है न प्राकृत भाषा से। और यह बहुत बड़ा अन्तर व्रजभाषा और खड़ी बोली में है। इस बात को और स्पष्ट करने के लिये मैं दोनों की विशेषताओं पर विशेष प्रकाश डालना चाहता हूं।

व्रजभाषा और अवधी की विशेषतायें मैं पहले बता चुका हूं। उनसे आप लोग अभिज्ञ हैं। अब मैं खड़ी बोली की विशेषताओं को बतलाऊँगा जिससे उनके परस्पर अंतर का ज्ञान यथातथ्य हो सके। हिन्दी भाषा के अब तक जितने व्याकरण बने हैं उनका सम्बन्ध खड़ी बोली से ही है। न तो कभी व्रजभाषा और अवधी का व्याकरण बना और न इधर किसी की दृष्टि गई। आज कल कुछ लोगों का ध्यान इधर आकर्षित है। नहीं कहा जा सकता कि यह कार्य्य होगा या नहीं। खड़ी बोली भाग्यवान है कि गद्य में स्थान मिलते ही उसके एक क्या कई व्याकरण बन गये। मुझको व्याकरण-सम्बन्धी सब बातें यहां नहीं लिखनी हैं। और न व्रजभाषा अवधी और खड़ी बोली के कारक चिन्हों, सर्वनामों और धातु-सम्बन्धी नाना रूपों के पारस्परिक अन्तरों को विशद रूप में दिखलाना इष्ट है। मैं यहां

केवल यही दिखलाना चाहता हूं कि अवधी और व्रजभाषासे खड़ी बोलचाल में कविता-गत शब्द-विन्यास और प्रयोगों का क्या अन्तर है। अवधी एवं व्रज-भाषा का अधिकतर सम्बन्ध तद्भव और अर्द्ध तत्सम शब्दों से है। इसके विरुद्ध खड़ी बोली का सम्बन्ध अधिकतर तत्सम शब्दों से है। खड़ी बोल-चाल का यह नियम है कि उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों को शुद्ध रूप में ही लिखने की चेष्टा की जाती है। खड़ी बोली वालों को तद्भव शब्द लिखने में कोई आपत्ति नहीं। परन्तु वे जहां तक हो सकेगा हिन्दी के शब्दों को तत्सम रूप में ही लिखेंगे। व्रजभाषा और अवधी में शकार, णकार, क्षकार आते ही नहीं। परन्तु खड़ी बोलचाल में ये तीनों अपने शुद्ध रूपमें आते हैं। उसमें लोग 'गुन', 'ससि', और 'पच्छ' कभी न लिखेंगे। जब लिखेंगे तब 'गुण', 'शशि' और 'पक्ष' ही लिखेंगे जो संस्कृत के तत्सम शब्द हैं। व्रजभाषा और अवधीवाले शब्दके आदि के यकार को प्रायः 'ज' लिखते हैं, परन्तु खड़ी बोलचाल वाले ऐसा नहीं करेंगे। वे 'जोग', 'जस', 'जाम', 'जम' न लिख कर 'योग', 'यश', 'याम' ही लिखेंगे युक्त विकर्ष अवधी और व्रजभाषा का प्रधान गुण है। परन्तु खड़ी बोल चाल वाले ऐसा करना उचित नहीं समझते। वे 'गरब', 'दरप', 'सरप', 'बरन', 'धरम', 'करम' न लिख कर 'गर्व', 'दर्प', 'सर्प', 'वर्ण', 'धर्म', 'कर्म' आदि ही लिखेंगे। व्यंजनों का पञ्चम वर्ण व्रजभाषा और अवधी में प्रायः अनुस्वार बन जाता है। खड़ी बोलचाल वाले संस्कृत के शुद्ध रूप की धुन में उनको मुख्य रूप में ही लिखना अच्छा समझते हैं। जैसे 'कलङ्क', 'अञ्जन', 'कण्ठ', 'अन्त', 'लम्पट' को 'कलंक' 'अंजन', 'कंठ', 'अंत', 'लंपट' न लिखेंगे। किन्तु कुछ लोग ऐसा करना पसंद नहीं करते। वे इस विषय में व्रजभाषा की प्रणाली ही ग्रहण करते हैं। मेरा विचार है कि सुविधा की दृष्टि से ऐसाही होना चाहिये, विशेष अवस्थाओं की बात दूसरी है। अवधी और व्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों के वकार प्रायः बकार बन जाते हैं, किन्तु खड़ी बोली में वे अपने शुद्ध रूप में ही रहते हैं। अधिकांश यह बात शब्द के आदिगत वकार के स्थान में ही कही जासकती है। मध्य-गत या शब्दांतके

वकार के विषय में नहीं। खड़ी बोलचाल के कवियों की रुचि यह देखी जाती है कि वे 'मुंह' के स्थान पर 'मुख', 'सिर' के स्थान पर 'शिर', 'होंठ' या 'ओंठ' के बजाय 'ओष्ठ', 'बाँह' के स्थान पर 'बाहु' इत्यादि लिखना ही पसंद करेंगे, यद्यपि उनका हिन्दी रूप लिखा जाय तो भाषा सदोष न हो जायगी। कुछ इस विचार के लोग हैं कि 'स्नेह', के स्थान पर 'सनेह', 'आलाप' के स्थान पर 'अलाप' 'केश' के स्थान पर 'केस', पलाश' के स्थान पर 'पलास', 'कमल' के स्थान पर 'कँवल' या 'कौल' लिखना ठीक नहीं समझते, यद्यपि इनका लिखा जाना अनुचित नहीं। क्योंकि बोलचाल में वे इसी रूप में गृहीत हैं। ये, वे, तद्भव शब्द हैं हिन्दी भाषा जिनके आधार से ही प्राकृत भाषा से अलग होकर अपने मुख्यरूप में परिणत हुई। ब्रजभाषा और अवधी में समस्त कारक-चिन्हों का आवश्यकतानुसार लोप कर दिया जाता है, विशेष कर कर्त्ता, कर्म, करण और अधिकरण के चिन्हों का। किन्तु खड़ी बोलचाल की रचनाओं में इनमें से किसी एक का भी लोप नहीं किया जाता। गद्य के अनुसार समस्त कारक-चिन्हों का अपने स्थान पर विद्यमान रहना नियम के अंतर्गत माना जाता है। उन्हीं अवस्थाओं में ऐसा नहीं किया जाता जब वाक्य मुहावरे के अंतर्गत हो जाता है। जैसे 'कान पड़ी आवाज़', 'आँखों देखी बात' 'रात बसे' इत्यादि। ब्रजभाषा और अवधी में आवश्यकता होने पर लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु प्रायः करदेते हैं और ऐसा करना उनमें नियमानुकूल माना जाता है। किन्तु खड़ी बोली इस प्रणाली को सदोष समझती है, इस लिये उस से बचती है। हां, पढ़ने के समय वह दीर्घ कारकचिन्हों और सर्वनामोंको ह्रस्व अवश्य पढ़ लेती है और पदान्त में ह्रस्ववर्ण को दीर्घ मान लेती है। परंतु कभी कभी, सब जगह नहीं। शब्दों का तोड़ना मरोड़ना और शब्द गढ़ लेना भी खड़ी बोली के नियमानुकूल नहीं है। वह ऐसा करना अच्छा नहीं समझती। खड़ी बोली में एक यह बात भी देखी जाती है कि संस्कृत के जिन शब्दों से अवधी या ब्रजभाषा का लिंग-भेद हो गया है उनको वह संस्कृत के अनुसार लिखती है। पवन, वायु इत्यादि शब्द इसके उदाहरण हैं। ब्रजभाषा और अवधी में प्रायः ये शब्द स्त्रीलिंग

लिखे जाते हैं, परंतु खड़ी बोली में अब ये पुल्लिंग लिखे जाने लगे हैं, यद्यपि यह सिद्धान्त अभी सर्व-सम्मत नहीं है। संस्कृत का यह नियम है कि संयुक्त वर्णों के आदिका अक्षर दीर्घ समझा जाता है। और उसका उच्चारण भी वैसा ही होता है। ब्रजभाषा और अवधी में ऐसा सब अवस्थाओं में नहीं होता, विकल्प से होता है। किन्तु खड़ी बोली में उसको दीर्घही माना जाता है और प्रायः उसका उच्चारण भी संस्कृत के अनुसार ही होता है। जैसे 'रामप्रसाद,' 'देवस्वरूप', 'गर्वप्रहारी' इत्यादि। इन तीनों शब्दों में हिन्दी बोलचाल में 'राम' के म का, 'देव' के व का और 'गर्व' के ब का उच्चारण विशेष कर अवधी और ब्रजभाषा में ह्रस्व ही करेंगे। परंतु खड़ी बोली में उसका दीर्घ उच्चारण करने की चेष्टा की जाती है, यद्यपि अब तक यह प्रणाली हिन्दी भाषा में कुछ संस्कृत प्रेमियों ने ही ग्रहण की है। मेरा विचार है कि ऐसा करने से सरल हिन्दी भाषा में एक प्रकार की कठोरता आ जाती है। विशेप अवस्था अथवा विकल्प की बात दूसरी है। ब्रजभाषा और अवधी के नियमों के बहिष्कार के साथ साथ उनके सुन्दर और मधुर शब्दों का भी खड़ी बोली में परित्याग किया जारहा है। वरन यह कहना चाहिये कि लगभग परित्याग कर दियागया है। तो भी कुछ क्रियायें ऐसी हैं जो अबतक खड़ीबोली के गद्य पद्य दोनों में गृहीत हैं मैं समझता हूं ऐसी क्रियाओं का संयत प्रयोग अनुचित नहीं। जैसे 'लखना,' 'निहारना,' 'निरखना' इत्यादि। ब्रजभाषा में 'दरसाना' एक क्रिया है जो संस्कृत के 'दर्शन' शब्द का तद्भव रूप है। कुछ लोग खड़ी बोलचाल में इसको अब इस रूप में लिखना पसन्द नहीं करते। वे उसके स्थान पर 'दर्शाना' लिखते हैं। ब्रजभाषा और अवधी दोनों में 'न', 'नि' और 'न्ह' को शब्दों के अन्त में लाकर एक बचन से बहुबचन बनाया जाता है। खड़ी बोली में ऐसा नहीं किया जाता। उसने अपने गद्य की प्रणाली ही को स्वीकृत कर लिया है। विशेष विशेष बातें मैंने बतला दीं। इस विषय में और अधिक लिखना बाहुल्य होगा।

खड़ी बोली की कविता में अधिकतर संस्कृत तत्सम शब्दों को ग्रहण कर लेने और उसको बिलकुल गद्य की प्रणाली में ढाल देने का यह परिणाम हुआ है कि वह कर्कश हो गई है। उसमें जैसा चाहिये वैसा

माधुर्य्य अब तक नहीं आया। खड़ी बोली की कविता ने प्रायः वही मार्ग ग्रहण किया है जो उर्दू भाषा की कविता का है। परंतु ब्रजभाषा या अवधी के शब्दों को लेने में वह उससे भी संकीर्ण है वरन संकीर्णतम है। उर्दू में आवश्यकतानुसार अबभी ब्रजभाषा के कोमल शब्द गृहीत हैं यहाँ तक कि संस्कृत के शब्द भी अपने ढंग में ढाल कर लेलिये जाते हैं। परंतु खड़ी बोली के प्रेमी ऐसा करना पाप समझते हैं। यद्यपि वे अपने इस उद्योग में पूर्णतया सफलता नहीं लाभ कर सके। उर्दू भाषा की कविता अधिकांश अरबी बह्र में की जाती है, जिसमें अधिकतर ध्यान वज़न पर रक्खा जाता है। इसलिये उसकी कविताओं का शब्द-विन्यास शिथिल नहीं जान पड़ता। वरन उसमें एक प्रकार का विचित्र ओज आ जाता है। हां, यह अवश्य है कि इस ओज के प्रपंच में पड़ कर हिन्दी के कितने शब्दों, सर्वनामों, कारक चिन्हों का कचूमर निकल जाता है और कितने बेतरह पिस जाते हैं। परंतु उर्दू वालों के छन्दोनियम कुछ ऐसे हैं कि वे इस प्रकार शब्दों की तोड़ मरोड़ को सदोष नहीं मानते। हिन्दी भाषा में यह प्रणाली गृहीत नहीं हो सकती, क्योंकि उससे कविता की भाषा अधिकतर दूषित हो जावेगी। ऐसी दशा में मेरा विचार है कि खड़ी बोली के पद्यकारों को हिन्दी के उपयुक्त शब्दों का परित्याग कभी नहीं करना चाहिये, चाहे वह अवधी का हो, चाहे ब्रजभाषा का। इससे भाषा सरस और ललित बन जावेगी और उसका कर्कशपन जाता रहेगा।

आन्दोलन के समय में बहुत सी ऐसी बातें भी गृहीत हो जाती हैं जो यथार्थ उपयोगिनी नहीं होतीं, किंतु स्थिरता आने पर उनका परित्याग ही उचित समझा जाता है। खड़ी बोली के आन्दोलन काल में कुछ ऐसे नियम स्वीकृत हुये हैं जो पद्य को सरस, सुन्दर, मनोहर और कोमल बनाने के बाधक हैं मैं सोचता हूं अब उनका विचार पूर्वक परित्याग किया जाना अनुचित नहीं। परिस्थिति के अनुसार सदा त्याग और ग्रहण होता आया है। अब भी इस सिद्धान्त से काम लिया जा सकता है। कुछ भाषा मर्मज्ञों का यह कथन है कि भाषा की कोमलता और मधुरता का बहुत अधिक सम्बन्ध सँस्कार से है। यदि यह हम स्वीकार भी कर लें तो भी यह

नहीं कहा जा सकता कि गद्य और पद्य को भाषा में कोई अन्तर नहीं होता। और पद्य के लिये कोमल, सरस और मधुर शब्द चुनने की आवश्यकता नहीं होती। संसार के साहित्य पर दृष्टि डाल कर देखिये, सब जगह इस सिद्धान्त का पालन हुआ है और वर्त्तमान काल में भी हो रहा है। फिर सँस्कार विषयक तर्क कैसा ? मेरा कथन इतना ही है कि पद्य की भाषा को यदि पद्य के योग्य बनाना अभीष्ट हो तो उसी भाषा के विभिन्न अंगों के उपयुक्त शब्दों का त्याग नहीं होना चाहिये। विशेष कर ऐसे शब्दों का जो व्यापक हों और जिनमें प्रान्तिकता अथवा ग्रामीणता की छूत अधिक न लगी हो। मैं यह भी मानता हूं कि हिन्दी भाषा राष्ट्रीयता की ओर बढ़ रही है, इस लिये उसके गद्य और पद्य में भी ऐसे ही शब्द प्रयुक्त होने चाहियें जो अन्य प्रान्तों में भी सुगमता से समझे जा सकें। निस्संदेह अगर ऐसे शब्द हैं तो संस्कृत ही के शब्द हैं। इसी लिये मैं भी उनके अधिक व्यवहार का विरोधी नहीं हूं। परन्तु क्या संस्कृत में कोमल, मधुर, और सरस शब्द नहीं हैं। फिर क्यों खड़ी बोली के पद्यों में संस्कृत के परुष शब्दों का प्रयोग प्रायः किया जाता है। दूसरी बात यह कि अवधी अथवा व्रजभाषा के ऐसे ही शब्दों के लेने का अनुरोध किया जाता है जो व्यापक, उपयुक्त और संस्कृत सम्भूत हों। बिदेशी भाषा के शब्द लिये जाँय और उनको खड़ी बोली की रचना में स्थान दिया जाय और अपने उपयोगी शब्दों को यह कह कर त्याग किया जावे कि वे व्रजभाषा या अवधी के हैं तो यह कहाँ तक युक्ति संगत है। व्रज-भाषा, खड़ी बोली और अवधी अन्य नहीं हैं वे एक ही हैं, आवश्यकता और देशकालानुसार हम उनके भाण्डार से उपयुक्त शब्द-संचय कर सकते हैं। इससे सुविधा ही होगी, असुविधा नहीं। मत-भिन्नता भी हितकारी है, यदि उसमें व्यर्थ ईर्ष्या-द्वेष की मात्रा न हो॥

जिस समय यह खड़ी बोली और व्रजभाषा का आन्दोलन चल रहा था उस समय एक और आन्दोलन भी बल प्राप्त कर रहा था। वह था सरकारी कचहरियों में हिन्दी भाषा के प्रचलित होने का उद्योग। हिन्दी हितैषियों का दल महर्षि-कल्प पूज्य पं० मदन मोहन मालवीय जी के

नेतृत्व में उस काल इस आन्दोलन को ओर विशेष आकर्षित था। इस लिये हिन्दी की समुन्नति के लिये उन दिनों जो साधन उपयुक्त समझे गये काम में लाये गये। नगर नगर में नागरी प्रचारिणी सभाओं का जन्म हुआ। नागरी के स्वत्व और उसके महत्व-सम्बन्धी छोटी बड़ी अनेक पुस्तिकायें निकाली गईं। स्थान स्थान पर नागरी लिपि के प्रचार की महत्ता का राग अलापा गया और दूसरे यत्न जो उचित समझे गये काम में लाये गये। इस आन्दोलन से भी खड़ी बोली की कविता के आन्दोलन को बड़ी सहायता पहुँची क्योंकि विपक्षी हिन्दी भाषा पर जो दोषारोपण करते थे, उचित मात्रा में उनका निराकरण करना भी आवश्यक ज्ञात हुआ। उस समय ऐसी बातें अवश्य कही गयीं कि खड़ी बोली की कविता ऐसी हो जो उर्दू कविताओं से पूरा तौर पर टक्कर ले सके। इस अवसर से कुछ कट्टर खड़ी बोली के प्रेमियों ने लाभ उठा कर इस बात का अवश्य प्रचार किया कि जहाँ तक हो ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का कोई सम्पर्क न रहे। इसको बहुत कुछ व्यवहारिक रूप भी दिया गया, परन्तु यह उत्तेजना के समय की बात थी। वह समय निकल जाने पर इस विषय में जो कट्टरता व्यापक रूप ग्रहण कर रही थी वह बहुत कुछ कम हो गयी और विवेकशील हृदयों से वह दुर्भाव निकल गया जो ब्रजभाषा से किसी प्रकार की सहायता न लेने के पक्ष में था। इस स्थिरता के समय में खड़ी बोलचाल की जो रचनायें हुई हैं, उनमें ब्रज-भाषा के सरस शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। परन्तु अब तक इस विषय में संतोष जनक प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न हुई। मेरी सम्मति यह है कि अब वह समय आ गया है जब संयत चित्त से भाषा मर्मज्ञ लोग इस विषय पर विचार करें और खड़ी बोली की कविता को कर्कशता दोष से दूषित होने से बचावें।

इस खड़ी बोली के आन्दोलन के समय में जो कवि उत्पन्न हुये और कार्य्य-क्षेत्र में आये उनकी चर्चा इस स्थान पर आवश्यक है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि किस प्रकार खड़ी बोली की कविता साहित्य-क्षेत्र में अग्र-सर हुई। यहाँ यह बात स्मरण रखना चाहिये कि ब्रजभाषा के कवि

उस समय भी थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। केवल अन्तर इतना ही है कि अब हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में खड़ी बोली को प्रधानता प्राप्त हो गयी है। आन्दोलन के पहले बाबू हरिश्चन्द्र और उनके समसामयिक कवियों को भी खड़ी बोली की दो एक स्फुट कवितायें करते देखा जाता है, यद्यपि उनमें खड़ी बोली का वह आदर्श नहीं पाया जाता जो बाद को दृष्टि गत हुआ। बाबू हरिश्चन्द्र के एक पद्य का कुछ अंश नीचे दिया जाता है जिससे आप अनुमान कर सकेंगे कि वे भी उस समय खड़ी बोली की रचना की ओर कुछ आकर्षित हुये थे। वे पंक्तियां ये हैं:—

कहां हो ऐ हमारे रामप्यारे।
किधर तुम छोड़ कर हमको सिधारे।
बुढ़ापे में यह दुख भी देखनाथा।
इसी के देखने को मैं बचा था।

इनके उपरान्त प० बदरीनारायण चौधरी और पं० प्रताप नारायण मिश्र को भी हिन्दी भाषा में खड़ी बोली की दो एक स्फुट कविता करते देखा जाता है। मैं इनकी कवितायें पहले के पृष्ठों में उद्धृत कर आया हूं। इसके बाद हमारे सामने श्रीधर पाठक आते हैं, जिन्होंने 'एकान्तवासी योगी' नामक खड़ी बोली चाल की एक पद्य पुस्तक ही लिख डाली।

पं० श्रीधर पाठक व्रजप्रान्त के रहने वाले थे, आगरे में उनका निवास था। इसीलिये व्रजभाषा से उनको स्वाभाविक प्रेम था। वे अँगरेज़ी और संस्कृत दोनों के विद्वान् थे। किंतु सरस-प्रकृति होने के कारण कविता रचने की ओर उनको विशेष प्रवृत्ति थी। पहले वे व्रजभाषा में ही कविता करते थे। परंतु समय की गति उन्हों ने पहिचानी और बाद को खड़ी बोली की ओर आकर्षित हुये। वे हिन्दी संसार में खड़ी बोली के पहले पद्यकार होने की दृष्टि से ही आदृत हैं। हिन्दी के कुछ स्फुट गद्य लेख और 'तिलस्माती मुँदरी' नामक एक उपन्यास भी उन्होंने लिखा है। परंतु कीर्ति उन्होंने पद्य-ग्रंथ लिख कर ही पाई।

संयुक्त प्रान्त की गवर्नमेंट के दफ्तर में पहले वे डिप्टी सुप-रिंटेन्डेन्ट थे; किन्तु बाद को सुपरिन्टेडेन्ट हो गये थे। इस कारण उनको समयाभाव था। फिर भी वे यथावकाश हिन्दी देवी की सेवा में रत रहे। खड़ी बोली का उनका पहला पद्य ग्रंथ एकान्तवासी योगी है। इसके बाद उन्होंने जगत सचाई सार और श्रान्त पथिक नामक दो और छोटे ग्रंथ लिखे। जगत सचाई सार उनका स्वरचित ग्रंथ है, शेष दोनों ग्रंथ अंग-रेज़ी ग्रंथों के अनुवाद हैं। ये दोनों ग्रन्थ भी छोटे हैं परन्तु इन्हीं के द्वारा उनको खड़ी बोली का पहला ग्रन्थकार होने का गौरव प्राप्त है। इनदोनों ग्रंथों की भाषा अधिकतर संस्कृत गर्भित है, उनमें खड़ी बोलचाल के नियमों की रक्षा भी यथार्थ रीति से नहीं हुई है। किसी भाषा की आदिम रचना में जो त्रुटियां होती हैं वे सब उनमें मौजूद हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने इन ग्रंथों की रचना कर के खड़ी बोली की कविता का मार्ग बहुत कुछ प्रशस्त बनाया। उनके कुछ पद्य देखिये:—

१—साधारण अति रहन सहन
मृदु बोल हृदय हरने वाला।
२—मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर
मनुज वंश का उँजियाला।
३—सभ्य सुजन सत्कर्म परायण सौम्य सुशील सुजान।
४—शुद्ध चरित्र उदार प्रकृति शुभ विद्या बुद्धि निधान।
५—प्राण पियारे की गुण गाथा साधु कहां तक मैं गाऊं।
६—गाते गाते नहीं चुके वह चाहे मैं ही चुक जाऊं।
७—विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
८—बलिहारौं त्रिभुवन धन उसपर वारौं काम करोर।

एकान्त वासी योगी।

९—शीतल मृदुल समीर चतुर्दिक
सुखित चित्त को करती है।

१०—कोमल कल संगीत सरस ध्वनि
तरु तरु प्रति अनुसरती है।

११—सकल सृष्टि की सुघर सौम्य
छबि एकत्रित तहँ छाई है।

१२—अति की बसै मनुष्यों ही के
मनमें अति अधिकाई है।

१३—मनन वृत्ति प्रति हृदय-मध्य
दृढ़ अधिकृत पाई जाती है।

१४—अति गरिष्ठ साहसिकलक्ष्य
उत्साह अमित उपजाती है।

१५—गति में गौरव गर्व दृष्टि में
दर्प धृष्टता युत धारी।

१६—देखूं हूं मैं इन्हें मनुज कुल
नायकता का अधिकारी।

१७—सदा बृहत व्यवसाय निरत
सुविचारवंत दीखैं सारे।

१८—सुगम स्वल्प आचार शील
औ शुद्ध प्रकृति के गुण धारे।

१९—कृषिकर भी प्रत्येक स्वत्व की
जाँच गर्व युत करता है।

२०—त्यों मनुष्य होने का मान

सबके समान मन धरता है ।

२१—धन तृष्णा का घृणित एक

सामान्य कुण्ड बन जावेगा ।

२२—नृपति शूर विद्वान आदि

कोई भी मान नहिं पावैगा ।

श्रान्त पथिक ।

१—इन पद्यों में किस प्रकार संस्कृत तत्सम शब्दों का आधिक्य है यह कथन करने की आवश्यकता नहीं। यह मैं स्वीकार करूंगा कि चन्द बरदाई के समय से ही हिन्दी भाषा की कविता में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग होने लगा था। उत्तरोत्तर यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। यहां तक कि अवधी भाषा के मुसल्मान कवियों ने भी अवसर आने पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार किया। परंतु इन लोगों का संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग परिमित है। उनकी प्रवृत्ति तद्भव या अर्द्ध तत्सम शब्दों के व्यवहार की ओर ही अधिक देखी जाती है। संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग वे किसी कारण विशेष के उपस्थित हो जाने पर ही करते थे। हाँ, गोस्वामी तुलसी दास अथवा प्रज्ञाचक्षु सूरदास आदि कुछ महाकवियों ने किसी किसी रचना में विशेष कर स्तुति और वंदना-सम्बन्धी पद्यों में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक किया है। और इस प्रकार किसी किसी पद्य को संस्कृतमय बना दिया है। परंतु ऐसे पद्यों की संख्या बहुत थोड़ी है, हम उनको अपवाद मानते हैं, वे नियम के अंतर्गत नहीं। पाठकजी के पद्यों में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य नियम के अंतर्गत है और यही खड़ी बोलचाल की रचना का बहुत बड़ा विशेषता है। तत्सम शब्दों के प्रयोग का जो आदर्श इन पद्यों में पाया जाता है, वह खड़ी बोली-संसार में आज तक गृहीत है। किसी किसी ने पाँव आगे भी बढ़ाया है और इससे अधिक संस्कृत-परुष-शब्दों से गर्भित रचनायें की हैं। अब तक यह प्रवाह चल

रहा है। परंतु कुछ लोगों ने इसका पूरा अनुकरण नहीं किया, उन्होंने कोमल तथा ललित शब्दों को ही अपनी रचनाओं में स्थान दिया। आज कल विशेष कर कोमल और सरस शब्दों में रचना करने की ओर लोगों की दृष्टि आकर्षित है, और पहले से खड़ी बोलचाल की रचनायें अधिक कोमल और सरस होने लगी हैं। प्राकृत भाषायें संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोग के प्रतिकूल थीं। इसकी कुछ प्रतिक्रिया अवधी और व्रजभाषा में हुई। खड़ी बोली की रचना में वह पूर्णता में परिणत हो गई।

२—व्रजभाषा और अवधी में हलंत का सस्वर प्रयोग होता है। प्राकृत में भी अनेक स्थलों पर यह प्रणाली गृहीत है। श्री धर जो ने अपनी खड़ी बोली की रचना में इस प्रणाली को स्वीकार कर लिया है। इसीलिये उनके ऊपर के पद्यों में 'चतुर्दिक', 'वृहत', एवं 'विद्वान' के अंतिम अक्षर जिन्हें हलंत होना चाहिये, सस्वर लिखे गये हैं। आज कल कुछ लोगों को देखा जाता है कि हलन्त वर्णों को हलन्त ही लिखना चाहते हैं। मैं समझता हूँ ऐसा करने से मुद्रण कार्य्य में हो असुविधा न होगी, अनेक खड़ी बोली के पद्यों की रचना में भी कठिनता होगी। विशेषकर उन रचनाओं में जो संस्कृत वृत्तों में की जाँयगी। इस लिये मेरा विचार है कि इस प्रणाली को स्वीकृत रहना चाहिये।

३—संस्कृत का नियम है कि संयुक्त वर्ण के पहले जो वर्ण होता है उसका उच्चारण दीर्घ होता है। एक शब्द के अन्तर्गत इस प्रकार का उच्चारण स्वाभाविक होता है। इस लिये उसमें जटिलता नहीं आती। वह स्वयं सरलता से दीर्घ उच्चरित होता रहता है। जैसे समस्त 'कलत्र', 'उन्मत्त' आदि। परंतु जहाँ वह समस्त रूप में होता है वहाँ उसका उच्चारण दीर्घ रूप में करने से हिन्दी रचनाओं में एक प्रकार को जटिलता आजाती है। इसलिये विशेष अवस्थाओं को छोड़ कर, मेरा विचार है कि उसका ह्रस्व उच्चरित होना ही सुविधा जनक है। ऊपर के पद्यों में 'सरस ध्वनि' और 'वृहत व्यवसाय' ऐसे ही प्रयोग हैं। संस्कृत के नियमानुसार 'सरस' के अंतिम 'स' को और 'वृहत' के 'त' को दीर्घ होना चाहिये। किंतु उसको दीर्घ बनाने से छन्दो भंग होगा। इसी लिये पद्यकार ने उसको ह्रस्व रूप

ही में ग्रहण किया। हिन्दी भाषा के पहिले आचार्य्यों की भी यही प्रणाली है। मेरा विचार है, इस प्रणाली को स्वीकृत रहना चाहिये। विशेष अवस्थाओं में उसके दीर्घ करने का मैं विरोधी नहीं।

४ ऊपर के पद्यों में एक स्थान पर आया है 'तरुतरुप्रति', और दूसरे स्थान पर आया है 'मन धरता है'। खड़ी बोलचाल के नियमानुसार इनको 'तरुतरु के प्रति' और 'मन में धरता है' होना चाहिये। इनमें कारक चिन्हों का लोप है। यह प्रयोग खड़ी बोलचाल के नियम के विरुद्ध है। 'के' का प्रयोग क्षम्य भी हो सकता है, क्योंकि वहाँ उसके बिना अर्थ की भ्रांति नहीं होती। परंतु 'में' का प्रयोग न होने से वाक्य का यह अर्थ होता है कि 'मन' स्वयं किसी वस्तु को धरता या पकड़ता है। कवि का भाव यह नहीं है। वह यह कहता है कि अपने 'मन' में कोई कुछ रखता या धरता है। ऐसा प्रयोग निस्सन्देह सदोष है। ऐसा होना नियमानुकूल नहीं। कवि ने ऐसा प्रयोग संकीर्णता में पड़ कर किया है। इससे उसकी असमर्थता प्रगट होती है। मेरा विचार है कि खड़ी बोलचाल के कवियों को इस असमर्थता-दोष से बचना चाहिये। खड़ी बोलचाल की रचनाओं में वहीं ऐसा प्रयोग करना चाहिये जहाँ वह मुहावरों के अंतर्गत हो, जैसा मैं ऊपर लिख आया हूं।

५—समस्त पदों को पद्य में यदि लाया जावे तो उसको उसी रूप में लाया जाना चाहिये जो शुद्ध है, उनके शब्दों को उलटना-पुलटना नहीं चाहिये। परन्तु प्रायः हिन्दी पद्यों में इस नियम की रक्षा पूर्णतया नहीं हो पाती। प्रयोजन यह कि सुन्दर बालक, कमल-दल, कमल-नयन, पंचमुख और बहुचिन्तित इत्यादि वाक्यों को इसी रूप में लिखा जाना चाहिये किन्तु वृत्त एवं छन्द के बन्धनों में पड़ कर उनके शब्दों को उलट-पुलट दिया जाता है। ऐसा अन्य भाषाओं में भी होता है। किन्तु यथा सम्भव इस दोष से बचना चाहिये। विशेष कर तत्पुरुष और बहुव्रिहो समासों में। ऊपर के पद्यों में एक स्थान पर 'साधारण अति' लिखा गया है। ऐसा प्रयोग उचित नहीं था। विशेषकर उस अवस्था में जब 'अति साधारण'

लिखा जा सकता था। मैं समझता हूं ऐसा अमनोनिवेश के कारण असावधानी से हो गया है। ऐसी असावधानी कदापि वांछनीय नहीं ॥

६—ऊपर के पद्यों में एक स्थान पर 'तहाँ' के स्थान पर 'तहँ' और दूसरी जगह 'नहीं' के स्थान पर 'नहिं' आया है। खड़ी बोलचालके नियमानुसार उनको शुद्धरूप में ही आना चाहिये था। संस्कृत में 'नहि' का प्रयोग 'नहीं' के अर्थ में होता है, जैसे 'नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणम्'। इस दृष्टि से देखा जावे तो 'नहिं' का प्रयोग सदोष नहीं है; क्योंकि वह संस्कृत का तत्सम शब्द है। यहां यह कहा जा सकता है कि गद्य में 'नहिं' का प्रयोग न होना इस विचार का बाधक है। किन्तु मैं इस बात को इसलिये नहीं मानता कि इससे पद्यको वह सुविधा नष्ट होती है जो गद्य की अपेक्षा उसे अधिक प्राप्त है। मेरा विचार है कि पद्य में संस्कृत के तत्सम शब्द होने का ध्यान रख कर यदि उसका प्रयोग संकीर्ण स्थलों पर किया जाय तो वह सदोष न होगा हाँ, 'नहिं' के 'हि' पर बिन्दी नहीं लगानी चाहिये। पद्य की बीसवीं पंक्ति का 'का' और बाईसवीं पंक्ति का 'भी' लघु पढ़ा जाता है यद्यपि वह लिखा गया है दीर्घ। हिन्दी भाषा के प्रचलित नियमानुसार दीर्घ को लघु पढ़ना छन्दोनियम के अन्तर्गत है। सवैया में प्रायः ऐसा किया जाता है। परंतु इस प्रकार का प्रयोग न होना ही वांछनीय है, क्योंकि प्रायः लोग ऐसे स्थानों पर अटक जाते हैं और छन्द को ठीक ठीक नहीं पढ़ सकते, यद्यपि उर्दू में ऐसे प्रयोगों की भरमार है। उर्दू में इस प्रकार का प्रयोग इसलिये नहीं खटकता कि उर्दू वाले इस प्रकार के प्रयोगों के पढ़ने के अभ्यस्त हैं। हिन्दी पद्यों में इस प्रकार के प्रयोग बहुत ही अल्प मिलते हैं इसलिये प्रायः पढ़ने में रुकावट उत्पन्न करते हैं। ऐसी दशा में जहाँ तक सम्भव हो इस प्रकार के प्रयोग से बचने की चेष्टा की जानी चाहिये।

७—अठारहवीं पंक्ति में 'और' के स्थान पर 'औ' लिखा गया है खड़ी बोलचाल की कविता में प्रायः 'और' ही लिख जाना अच्छा समझा जाता है। कुछ लोग अँगरेज़ी प्रणाली के अनुसार 'औ' के ऊपर 'कामा'

लगा कर उसके 'र' को उड़ा देते हैं उनका कथन है कि जब 'औ' से और का भाव प्रगट हो जाता है तो संकीर्ण स्थलों में उसका प्रयोग क्यों न किया जाय। मैं भी इस विचार से सहमत हूं। उर्दू वाले लिखने को तो अपने पद्यों में 'औ' लिख देते हैं, परन्तु अनेक स्थानों में उसका उच्चारण 'आ' ही कर लेते हैं। यह प्रणाली अच्छी नहीं, और न हिन्दी के लिये उपयुक्त है। इसलिये जहाँ तीन मात्रा वाला 'और' न प्रयुक्त हो सके, द्विमात्रिक 'औ' का लिखना आक्षेप-योग्य नहीं।

८—पंक्ति सात और आठ में 'निकाई' और 'करार' शब्द आये हैं। 'निकाई' ठेठ ब्रजभाषा है, 'करार' ब्रजभाषा के नियमानुसार अनुप्रास के झमेले में पड़ कर 'कराड़' से बनाया गया है। पाठक जी के बाद के खड़ी बोली के कविगण इस प्रकार के प्रयोग को अच्छा नहीं समझते और वे ब्रजभाषा के इस प्रकार के शब्दों से बचना चाहते हैं। परन्तु फिर भी 'निकाई' की निकाई पर कुछ लोग मुग्ध हैं। वे अबतक इसको अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं। मेरा विचार है कि ब्रजभाषा के ऐसे सरस शब्दों का बहिष्कार उचित नहीं, ऐसे शब्दों के ग्रहण करने से ही खड़ी बोली की कर्कशता दूर होगी। 'कराड़' को 'करार' कर देना मैं भी अच्छा नहीं समझता। ऐसे परिवर्तनों से बचना चाहिये यदि भावुकता भी साथ दे।

९—दसवीं पंक्ति में 'अनुसरती है' और अठारहवीं पंक्ति में 'धारे' क्रियाओं का प्रयोग है। न तो खड़ी बोली में 'अनुसरना' कोई क्रिया है, न 'धरना'। खड़ी बोलचाल में 'धरना' के स्थान पर 'रखना' का प्रयोग होता है। फिर भी उन्होंने इन क्रियाओं का प्रयोग अपनी खड़ी बोली की रचना में किया है। धारना क्रिया के रूपों का व्यवहार अब तक खड़ी बोल चाल की कविता में हो रहा है। २१ वीं और २२ वीं पंक्तियों में 'जावेगा', 'पावेगा' लिखा गया है। ये दोनों क्रियायें हिन्दी की हैं और अब तक इनका प्रयोग भी खड़ी बोली की रचना में हो रहा है। अन्तर इतना ही है कि 'जावेगा', 'पावेगा' अथवा 'जाएगा', 'पाएगा' लिखा जाता है। 'जावेगा', 'पावेगा' के विषय में मुझ को कुछ अधिक नहीं कहना है। यदि थोड़ा

सम्हल कर प्रयोग किया जावे तो खड़ी बोल चाल में उसका प्रयोग शुद्ध रूप में हो सकता है। हां, 'धारना' क्रिया के रूपों का प्रयोग अवश्य विचारणीय है। क्योंकि उसका प्रयोग दो अर्थों में होता है एक 'रखना' के और दूसरा 'पकड़ना' क्रिया के। उर्दू वाले इसके स्थान पर 'रखना' और 'पकड़ना' क्रिया के रूपों हो का प्रयोग करते हैं। हिन्दी गद्य में भी ऐसा ही होता है। इस लिये उसका प्रयोग खड़ी बोली की कविता के लिये अधिक अनुकूल नहीं है। उसमें एक प्रकार की ग्रामीणता है। परन्तु यह क्रिया उपयोगिनी बड़ी है। अनेक अवसरों पर वह अकेली दो दो क्रियाओं का काम दे जाती है और इसी लिये वह अब तक खड़ी बोली के पद्यों में स्थान पाती आती है। मेरा विचार है कि उसका सर्वथा त्याग उचित नहीं। हाँ, उसका बहुल प्रयोग अच्छा नहीं कहा जा सकता। अब रहा 'अनुसरती है' का प्रयोग। निस्सन्देह 'अनुसरना' हिन्दी में कोई धातु नहीं है। यह क्रिया व्रजभाषा से ही आयी है, परन्तु उसको खड़ी बोली का रूप दे दिया गया है। क्रिया है बड़ी मधुर। इस पर कवित्व की छाप है। मेरा विचार है कि व्रजभाषा की ऐसी क्रियाओं को खड़ी बोलचाल का रूप दे कर ग्रहण कर लेना युक्ति-संगत है। इससे खड़ी बोली वह सिद्धि प्राप्त कर लेगी जो सरसता की जननी है। पंक्ति १२ में 'अधिकाई' और 'बसैहै' का प्रयोग है। 'बसैहै' में गहरा दूरान्वय दोष है। वह तो ग्रहणीय नहीं। अब रहा यह कि 'बसैहै, जलहै' इत्यादि प्रयोग खड़ी बोलचाल की कविता में होना चाहिये या नहीं। किसी क्रिया का वर्त्तमान काल का रूप खड़ी बोलचाल में इस प्रकार नहीं बनता। इस लिये इस प्रकार का प्रयोग अच्छा नहीं, 'अधिकाई' लिखा जाना भी असुन्दर है। 'देखूंहूं' और 'दीखै' क्रियाओं का प्रयोग पंक्ति १६ और १७ में हुआ है, यह प्रयोग भी खड़ी बोली के नियमों के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार पंक्ति ८ के 'बलिहारौं' 'वारौं' क्रियाओं का व्यवहार भी खड़ी बोली के नियमों के अनुसार नहीं। इसलिये मेरी सम्मति यही है कि इस प्रकार की क्रियाओं से खड़ी बोलचाल की रचनाओं को सुरक्षित रखना चाहिये। पाठक जी की खड़ी बोली की आदिम रचनाओं में इस प्रकार की क्रियाओं का आना

उतना तर्क-योग्य नहीं, क्योंकि वह खड़ी बोली के प्रसार का आदिम काल था। मुझे हर्ष है कि उनके बाद के सहृदय कवियों ने इस प्रकार के प्रयोगों की उपेक्षा कर के खड़ी बोली की कविता का मार्ग अधिकतर निर्दोष बना दिया है।

आपलोग यदि एक बार सिंहावलोकन से काम लेंगे तो यह ज्ञात हो जायगा कि खड़ी बोली का अस्तित्व उसी समय से है जब से ब्रजभाषा अथवा अवधी का। खुसरो की कवितामें उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वरन यह कहा जा सकता है कि जैसा सुन्दर आदर्श खड़ी बोली की कविता का उन्होंने उपस्थित किया उन्नीसवीं शताब्दी के अंततक वैसा आदर्श नहीं उपस्थित किया जा सका। कबीर साहब की रचनाओं में भी उसका रंग पाया जाता है। भूषण के कवित्तों में भी उसकी झलक मिलती है। महन्त सीतल ने तो एक प्रकार से उसकी बांह ही पकड़ ली और उस निरावलम्बा को बहुत कुछ अवलम्बन दिया। इंशा अल्ला खां ने अपनी रानी केतकी की कहानी में और नज़ीर अकबराबादी ने अपनी स्फुट रचनाओं में उसका रङ्ग रूप दिखलाया। रघुनाथ, ग्वाल कवि और सूदन की रचनाओं में भी उसकी छटा दृष्टिगत होती है और वह करवट बदलती ज्ञात होती है। बाबू हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण और पं० बदरी नारायण चौधरी ने तो उसके कतिपय स्फुट पद्य बना कर उसे वह शक्ति प्रदान की जिसके आधार से पं० श्रीधर पाठक ने उसको दो सुन्दर पुस्तकें भी प्रदान कीं। इसी समय पं० अम्बिका दत्त व्यास ने 'कंस वध' नामक एक साधारण काव्य निदर्शन रूप में लिखा परन्तु अपने उद्योग में वे सर्वथा असफल रहे। खड़ी बोल चाल की कविता का रूप इन लोगों की रचनाओं में अधिकतर अस्पष्ट है और उसके शब्द विन्यास भी अनियम बद्ध पाये जाते हैं। परन्तु पाठक जी के दो ग्रन्थों (एकान्तवासी योगी और श्रान्त पथिक) में उसका रूप बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है और उसके शब्द-विन्यास के नियम भी बहुत कुछ व्यवस्थित देखे जाते हैं। पाठक जी का हृदय वास्तव में ब्रजभाषा मय था। उनकी ब्रजभाषा की रचनायें जितनी हैं बड़ी सरस और सुन्दर हैं।

उनकी 'काश्मीर-सुखमा' नाम की पुस्तिका उनकी समस्त रचनाओं में सर्वोत्तम है, किन्तु उसकी भाषा ब्रजभाषा है। उनके जीवन का अन्तिम समय भी ब्रजभाषा की सेवा ही में बीता। यदि वे इस स्वाभाविक प्रेम के जाल में न फँसते और दो एक मौलिक ग्रन्थ खड़ी बोल चाल के पद्यों में और लिख जाते तो उस समय वह कुछ और अधिक उन्नत हो जाती। फिर भी उन्हों ने पहले पहल जितना किया उसके लिये वे चिर स्मरणीय हैं और खड़ी बोली कविता का क्षेत्र उसके लिये उनका कृतज्ञ है।

पाठक जी के उपरान्त खड़ी बोली के कविता-क्षेत्र में हमको पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा का दर्शन होता है। ये ब्रजभाषा के ही कवि थे और उसमें सुन्दर और सरस रचना करते थे। परन्तु सामयिक रुचि का इन पर भी प्रभाव पड़ा और ये खड़ी बोली में ही कविता लिखने लगे। शर्मा जी आर्य समाजी विचार के हैं। आर्य समाज की कट्टरता प्रसिद्ध है। शर्म्मा जी भी अपने विचार के कट्टर हैं। इनकी यह कट्टरता इनकी रचना में ही नहीं, इनके शब्दों में भी फूटी पड़ती है। आर्य-समाज के सिद्धान्त के अनुसार समाज संशोधन सम्बन्धी विचार प्रकट करने के लिये इनको खड़ी बोली उपयुक्त ज्ञात हुई। इस लिये इनका उसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। इनके धार्मिक विचारों में भी उग्रता है। इस सूत्र से भी इनको खड़ी बोली की कविता करनी पड़ी क्योंकि उस समय आर्य्य समाज को जनता में अपना सिद्धान्त प्रचार करने के लिये ब्रजभाषा से खड़ी बोली ही उन्हें अधिक प्रभाव जनक ज्ञात पड़ी। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनकी खड़ी बोली की रचना में ब्रजभाषा का पुट बराबर आवश्यकता से अधिक रहा और अब तक है। इन्हों ने छोटी मोटी कई पुस्तकें बनाई हैं किन्तु इनकी छपी हुई चार पुस्तकें अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके नाम ये हैं—शङ्कर सरोज, अनुराग रत्न, गर्भ रण्डारहस्य और वायस विजय। इनकी रचना की विशेषता यह है कि उसमें समाज संशोधन, मिथ्याचार खंडन और परम्परागत रूढ़ियोंका निराकरण उत्कट रूप में पाया जाता है। इनसे पहले इस ढंग की रचनाओं का अभाव था। समय ने इनके ही द्वारा इस अभाव की पूर्ति करायी। खड़ी बोल चाल में

आप की ही ऐसी पहली रचना है. जिसमें समाज को उसके अन्ध विश्वासों के लिये गहरी फटकार मिलती है। इस विषय में हिन्दी साहित्य क्षेत्र में कबीर के बाद इनका ही स्थान है। मुँहफट और अक्खड़ भी ये वैसे ही हैं। जब आवेश में आते हैं तो इनके उद्गार में ऐसे शब्द भर जाते हैं जिन से एक प्रकार का स्फोट सा होता ज्ञात होता है। शर्मा जी हिन्दी संसार के एक ख्याति प्राप्त और मान्य कवि हैं। इनको गुण ग्राहकों ने पदक और उपयुक्त पदवियां भी प्रदान की हैं। इनका ब्रजभाषा का एक पद्य नीचे लिखा जाता है:

१—मंगल करन हारे कोमल चरन चारु

मंगल से मान मही गोद में धरत जात।

पंकज की पाँखुरी से आँगुरी अँगूठन की

जाया पंचबान जो की भँवरी भरत जात।

शंकर निरख नख नग से नखत स्रेनी

अंबर सों छूटि छूटि पाँयन परत जात।

चाँदनी में चाँदनी के फूलन की चाँदनी पै

हौले हौले हंसन की हाँसी सी करत जात।

एक पद्य खड़ी बोल चाल का देखिये:—

२—कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है

कि श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है।

यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है

कि राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है।

शंकर कसौटी पर कंचन की लीक है

कि तेज ने तिमिर के हिये में तीर मारा है।

काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है

कि ढाल पर खाँड़ा कामदेव का दुधारा है।

एक पद्य ऐसा देखिये जिसमें खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों का गहरा रंग है:—

३—ताकत ही तेज न रहैगो तेजधारिन में
मंगल मयंक मंद पीले पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे तड़ागन में
डूबडूब शंकर सरोज सड़ जायँगे।
खायगो कराल काल केहरी कुरंगन को
सारे खंजरीटन के पंख झड़ जाँयगे।
तेरी अँखियान सों लड़ैंगे अब और कौन
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायँगे।

एक पद्य डाँट फटकार का भी देखिये:—

४—ईश-गिरिजा को छोड़ यीशु गिरजा में जाय
शंकर सलोने मैन मिस्टर कहावेंगे।
बूट पतलून कोट कमफ़ाट टोपी डाटि
जाकेट की पाकेट में वाच लटकावेंगे।
घूमेंगे घमंडी बने रंडी का पकड़ हाथ
पियेंगे बरंडी मीट होटल में खावेंगे।
फारसी की छार सों उड़ाय अँगरेज़ी पढ़ि
मानो देवनागरी का नाम ही मिटावेंगे।

इनकी एक रचना बिचित्र भाषा भाव की देखिये:—

बाबा जी बुलाये बीर डूंगरा के डोकरा ने
जैमन को आसन बछेल के बिछाये री।
ओंड़े ऊदला महेरी के सपोट गये झार
गये झोर रोट झार पेट भरे खाये री।

छोड़ी न गजरभत नेक हूं न दोरिया में
रोंथ रोंथ रखी दर भुजिया अघायेरी।
संतन के रेवड़ जो चमरा चरावत हैं
शंकर सो बाने बंद बेंडुआ कहाये री।

एक पद्य ऐसा देखिये जिसमें फारसी के मुहावरे और शब्द दोनों कसरत से शामिल हैं:—

बाग़ की बहार देखो मौसिमे बहार में तो
दिले अन्दलीप को रिझाया गुले नरसे।
हम चकराते रहे आसमाँ के चक्करमें
तौभी लौ लगी ही रही माह के महर से।
आतिशे मुसीबत ने दूर की कुदूरत को
बात को नबात मिली लज्ज़ते शकर से।
शंकर नतीजा इस हाल का यही है बस
सच्ची आशिकी में नफ़ा होता है ज़रर से।

एक उर्दू पद्य देखिये जो हसब हाल है:—

बुढ़ापा नातवानी ला रहा है।
ज़माना ज़िन्दगी का जा रहा है।
किया क्या ख़ाक आगे क्या करेगा।
अख़ीरी वक्त दौड़ा आ रहा है।

इस खड़ी बोली के उत्थान के समय में ब्रजभाषा के कवियों की कमी नहीं है। इस समय भी ब्रजभाषा के सुकवि उत्पन्न हुये और उन्हों ने उसी की सेवा आजन्म की। उनमें से जो दो अधिक प्रसिद्ध हैं वे हैं लाला सीताराम बी० ए० और स्वर्गीय रायदेवीप्रसाद पूर्ण। लाला सीताराम बी० ए० बहुभाषाविद् हैं। उनको संस्कृत, अंगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी आदि

कई भाषाओं का अच्छा ज्ञान है। उन्होंने कई अँग्रेज़ी नाटकों का अनुवाद उर्दू में भी किया है। ब्रजभाषा की उन्हों ने यह सेवा की कि "मेघदूत" "ऋतु-संहार" 'रघुवंश' का पद्यानुवाद सरल भाषा में कर के उसे सौंपा। संस्कृत के 'मालती माधव' 'उत्तर राम चरित्र' आदि नाटकों का अनुवाद भी गद्यपद्यमयी भाषा में किया। आप गद्य पद्य दोनों लिखने में अभ्यस्त हैं। अपनी वृद्धावस्था में भी कुछ न कुछ हिन्दी-सेवा करते ही रहते हैं। आप के पद्य के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं जो रघुवंश के पद्यानुवाद से लिये गये हैं:—

भये प्रभात धेनु ढिग जाई।
पूजि रानि माला पहिराई।
बच्छ पियाइ बाँधि तब राजा।
खोल्यो ताहि चरावन काजा।
परत धरनि गा चरन सुहावन।
सो मग धूरि होत अति पावन।
चली भूप तिय सोई मग माहीं।
स्मृति, श्रुति अर्थ संग जिमि जाहीं।
चौसिंधुन थन रुचिर बनाई।
धरनिहिँ मनहुँ बनी तहँ गाई।
प्रिया फेरि अवधेश कृपाला।
रक्षा कीन्ह तासु तेहि काला।
कबहुँक मृदु तृन नोचि खिलावत।
हाँकि माछि कहुँ तनहिँ खुजावत।
जोदिसि चलत चलत सोई राहा।
एहि विधि तेहि सेवत नर नाहा।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कानपुर के एक प्रसिद्ध वकील थे। आपने

आजन्म हिन्दी भाषा की सेवा की और जबतक जिये उसको अपनी सरस रचनाओं से अलंकृत करते रहे। आप बड़े सहृदय कवि और वक्ता थे, धर्म्म प्रेमी भी थे। ब्रह्मावर्त्त सनातनधर्म मण्डल की स्थापना भी आप ही ने की थी। 'काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' के आप प्रत्यक्ष प्रमाण थे। उन्होंने रसिक वाटिका नामक एक मासिक पत्रिका भी निकाली थी। पीछे से धर्म कुसुमाकर नामक एक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया। आपने ब्रजभाषा में अनेक सुन्दर रचनायें की हैं। उनमें से कुछ पुस्तकाकार भी छपी हैं। उन्होंने मेघदूत का 'धाराधर धावन' नाम से बड़ा सुन्दर और सरस अनुवाद किया है। उनका 'चन्द्र कला भानु-कुमार' नाटक भी अच्छा है। उनके कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं:—

वर्षा आगमन।

१—सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगो बसुधा लगी सुखमा लहन।
लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन बृच्छ मंजुल बिपुल।
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इन्द्र बधून अवली छटा मानिक बरन।
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चन्द्रहाँस समान-दमकति चंचला त्यों भली।
नील नीरद सुभग सुरधनु वलित सोभाधाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनस्याम।
कूप कुंड गँभीर सर वर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे लगे झरना झरन।
रटत दादुर त्रिविधि लागे रुचन चातक बचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन।

मेघ गरजत मनहुँ पावस भूप को दल सकल ।
विजय दुंदुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल ।

२—तुम्हरे अद्भुत चरित मुरारी ।
कबहूं देत विपुल सुख जग में कबहुँ देत दुख भारी ।
कहुँ रचि देत मरुस्थल रूखो कहुँ पूरन जल रासि।
कहुँ ऊसर कहुँ कुंज विपिन कहुँ कहुँ तम हूँ परकास।

३—माता के समान पर पतिनी बिचारी नहीं,
रहे सदा पर धन लेन ही के ध्यानन मैं ।
गुरुजन पूजा नहीं कीन्हीं सुचि भावन सों,
गीधे रहे नानाविधि विषय विधानन मैं ।
आपुस गँवाई सबै स्वारथ सँवारन मैं,
खोज्यो परमारथ न बेदन पुरानन मैं ।
जिनसों बनी न कछु करत मकानन मैं,
तिनसों बनैगी करतूत कौन कानन मैं ।

उनका एक बिरहा भी देखिये:—

१—अच्छे अच्छे फुलवा बीन रे मलिनियाँ
गूँधि लाओ नीके नीके हार ।
फूलन को हरवा गोरी गरे डरिहौं
सेजिया में होइ है बहार ।

चौथा-प्रकरण

वर्त्तमान काल

यह वर्त्तमानकाल बीसवीं ईस्वी शताब्दी के आदि में ही प्रारम्भ होता है। हिन्दी भाषा के लिये इसको स्वर्णयुग कह सकते हैं। इस काल में जितना वह विस्तृत हुई, फूली फली, उन्नत बनी, वह उल्लेखनीय है। कोई वह समय था जब हिन्दी भाषा के विद्वान् इने गिने थे और उसको एक साधारण भाषा समझ कर हिन्दी संसार के प्रतिष्ठित पुरुषों की दृष्टि भी उसकी ओर आकर्षित होते संकुचित होती थी। किंतु वर्त्तमान काल में संस्कृत और अँगरेज़ी के उच्च कोटि के विद्वान् ही क्या उसके पुनीत चरणों पर भारतवर्ष के वे महापुरुष भी पुष्पाञ्जलि अर्पण करते दृष्टिगत होते हैं जो लोकमान्य और देश-पूज्य हैं। मेरा अभिप्राय महर्षिकल्प पं० मदन-मोहन मालवीय और महात्मा गांधी से है। मालवीय जी चिरकाल से हिन्दी भाषा के लिये बद्ध-परिकर और उत्सर्गीकृत—जीवन हैं। वर्त्तमान काल में उनको महात्मा गांधी की सहयोगिता भी प्राप्त हो गयी है, जिससे हिन्दी भाषा की समुन्नति और सौन्दर्य्य वृद्धि के लिये मणि-कांचन-योग उपस्थित हो गया है। राष्ट्रीयता के भावों के साथ देश में एक भाषा का प्रश्न भी छिड़ा। इस आन्दोलन ने हिन्दी भाषा को उस उच्चसिंहासन पर बैठाला जिसकी वह अधिकारिणी थी। आजदिन देश के बड़े बड़े नेता तथा अधि-कतर सर्वमान्य विद्वान् सम्मिलित स्वर से यही कह रहे हैं कि राष्ट्रभाषा यदि हो सकती है तो हिन्दी भाषा। इस विचार से उसमें एक नवीन स्फूर्ति आगयी है और उसके प्रत्येक विभागों में यथेष्ट उन्नति होती दृष्टिगत हो रही है। भारतवर्ष का कोई प्रान्त ऐसा नहीं है जहाँ इस समय हिन्दी भाषाकी पहुँच न हो और जहाँ से हिन्दी भाषा का कोई न कोई पत्र अथवा पत्रिका न निकल रही हो। उसके प्रसार का भी यथेष्ट यत्न किया जा रहा है और उसके प्रत्येक विभागों के भाण्डार की वृद्धि में लोग सयत्न हैं। इस समय मेरे सामने उसके पद्य-विभाग का विषय है। मैं देखना चाहता हूं कि

इस शताब्दी के आरम्भ से आज तक वह किस प्रकार उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाभ कर रहा है।

मैं खड़ी बोली की कविता के अन्दोलन के विषय में पहले चर्चा कर आया हूं। यह आन्दोलन सबलता से चला और उसको सफलता भी प्राप्त हुई। परंतु नियम बद्धता और स्थिरता का इसमें अभाव था। कोई ऐसा संचालक उस समय तक उसको प्राप्त नहीं हुआ था जो उसका मार्ग प्रशस्त करे और तन मन से इस कार्य्य में लग कर वह आदर्श उपस्थित करे जिस-पर अन्य लोग चल कर उसको उन गुणों से अलंकृत कर सकें जो सत्क-विता के लिये वांछनीय होते हैं। सौभाग्य से उस समय प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का सम्पादकत्व लाभ कर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी कार्य्य-क्षेत्र में उतरे और उन्होंने इस दिशा में प्रशंसनीय प्रयत्न किया। कविताप्रणाली का मार्ग धीरे धीरे प्रशस्त होता है। काल पा कर ही उसकी कोई पद्धति सुनिश्चित होती है। कार्य्य-क्षेत्र में आने पर ज्यों ज्यों उसके दोष प्रकट होते हैं, उस पर तर्क-वितर्क और मीमांसायें होती हैं त्यों त्यों वह परिमार्जित बनती है और उसमें आवश्यकतानुसार सरस, सुंदर और भावमयी पदावली का समावेश होता है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस समय अपना कार्य्य प्रारम्भ किया उस समय हिन्दी खड़ी बोली की कविता का आरम्भिक काल था। उल्लेख योग्य दस-पाँच पद्य-ग्रंथ उस समय तक निर्मित हुये थे और भाषा एक अनिश्चित और असंस्कृत मार्ग पर चल रही थी। प्रत्येक लेखक खड़ी बोली की कविता-रचना का एक अपना सिद्धांत रखता था और उसी के अनुसार कार्य-रत था। यह मैं स्वीकार करूंगा कि उर्दू भाषा का आदर्श उस समय सब के सामने था जो यथेष्ट उन्नत थी। किन्तु कई विशेष कारणों से उसका यथातथ्य अनुकरण हिन्दी भाषा की खड़ी बोली की कविता नहीं कर सकती थी। हिन्दी और उर्दू में बहुत साधारण अन्तर है। उर्दू की जननी हिन्दी भाषा ही है। कुछ लोगों का यह विचार है कि हिन्दी उर्दू के आदर्श पर बनी है। कम से कम मेरा हृदय इसको स्वीकार नहीं करता। उर्दू के क्रियापद अधिकांश हिन्दी भाषा के हैं। हिन्दी भाषाके सर्वनाम कारक और अनेक प्रत्यय उर्दू भाषा

के जीवन हैं। उनके अभाव में उर्दू का अस्तित्व लोप हो जायगा। वह फ़ारसी बन जायगी अथवा कोई ऐसी भाषा जिसका नामकरण भी न हो सकेगा। फ़ारसी, अरबी के अधिक शब्द हिन्दी में मिला कर उर्दू गढ़ी गयी है अथवा उसका आविर्भाव हुआ है। ऐसी दशा में वह हिन्दी भाषा का रूपान्तर छोड़ और कुछ नहीं है। जब उर्दू की प्रवृत्ति अधिकतर फ़ारसी और अरबी प्रयोगों की ओर झुकी और लम्बे लम्बे समस्त पद भी उसमें इन भाषाओं के आने लगे उस समय वह हिन्दी से सर्वथा भिन्न ज्ञात होने लगी। यह बात हिन्दी के अस्तित्व का बाधक थी इस लिये उसका कोई निज का मार्ग होना आवश्यक था जिससे वह अपने मुख्य-रूप को सुरक्षित रख सके। उसका अपने वास्तविक रूप में विकसित होना भी वांछनीय था। अतएव खड़ी बोली की कविता उस मार्ग पर चली जो उसका लक्ष्य था। उसके कुछ पथ-प्रदर्शक इस मार्ग को जानते थे। अतएव वे उसके लक्ष्य की ओर सतर्क हो कर चल रहे थे। परन्तु कुछ लोग उर्दू की अनेक बातों का अन्धानुकरण करना चाहते थे। ऐसे अवसर पर जिन लोगों ने खड़ी बोली की कविता को उचित पथ पर चलाया उनमें से पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी अन्यतम हैं। अपनी 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका में उन्होंने अधिकतर खड़ी बोली की कविता ही प्रकाशित करने की ओर दृष्टि रखी और अनेक कृत-विद्यों को इस कार्य्य के लिये उत्साहित करके अपनी ओर आकर्षित किया। मुझको यह ज्ञात है कि जो खड़ी बोलचाल की कवितायें उनके पास उस समय 'सरस्वती' में प्रकाशित करने के लिये जाती थीं उनका संशोधन वे बड़े परिश्रम से करते थे और संशोधित कविता को ही 'सरस्वती' में प्रकाशित करते थे। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता था कि खड़ी बोली की कविता करनेवालों का ज्ञान बढ़ता था और वे यह जान सकते थे कि उनको किस मार्ग पर चलना चाहिये। इस प्रणाली से धीरे धीरे खड़ी बोली की कविता का मार्ग भी प्रशस्त हो रहा था। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इतना ही नहीं किया, उन्होंने कुछ खड़ी बोली की रचनायें भी कीं और इस रीति से भी उन्होंने खड़ी बोली की कविता-प्रणाली जनता के सामने उपस्थित की। उनका कुमार-

सम्भव-सार' यद्यपि छोटी पुस्तक है, परंतु उसकी खड़ी बोली की कविता बहुत परिमार्जित और सुंदर है। उसका प्रभाव भी उस काल की खड़ी बोली की कविता पर बहुत कुछ पड़ा। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के विद्वान् और उसके प्रेमी हैं। इस लिये उनके गद्य और पद्य दोनों की भाषा संस्कृत बहुला है। गद्य तो गद्य उनके पद्य में भी सँस्कृत के कर्कश शब्द आ गये हैं। जिसका प्रभाव उनके शिष्यों की रचना पर भी पड़ा है। आदिम अवस्थाओं में ऐसा होना स्वाभाविक था। सुधार विशेषकर कविता में, यथाक्रम ही होता है।

जो भाषा साहित्यिक बन कर बोलचाल की भाषा से अधिक दूर पड़ जाती है, काल पा कर वह साहित्य ही में रह जाती है और उसका स्थान धीरे धीरे एक नयी भाषा ग्रहण करने लगती है। इस दृष्टि से और इस विचार से भी कि उर्दू और हिन्दी भाषा की रचनायें अधिकतर पास पास हो जायें, कुछ मननशील विद्वानों का यह विचार हुआ कि खड़ी बोलचाल की कविता की भाषा जहाँ तक हो बोलचाल के निकट हो और उसमें अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्द न भरे तो अच्छा। संस्कृत शब्दमयी रचना को सर्व साधारण समझ भी नहीं सकते। इस लिये भी बोलचाल की सरल भाषा में कविता रचने की आवश्यकता होती है। यह मैं स्वीकार करूंगा कि अन्य प्रान्तों से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि जैसे गद्य संस्कृत भाषामय होता है वैसे ही पद्य भी हो क्योंकि संस्कृत के शब्द समान रूप से सब प्रान्तों में समझे जाते हैं। मेरा 'प्रिय-प्रवास' इसी विचार से अधिकतर संस्कृत गर्भित है। मैं इसका विरोध नहीं करता। आवश्यकतानुसार कुछ ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जाँय। परन्तु अधिकतर ऐसे ही ग्रन्थों की आवश्यकता है जिनकी भाषा बोलचाल की हो जिससे अधिक हिन्दी भाषा-भाषी जनता को लाभ पहुँच सके। अभी इधर ध्यान बहुत कम गया है, उस समय भी ऐसी भाषा लिखने वालों को लोग कड़ी दृष्टि से देखते थे और समझते थे कि ऐसा कर के वह हिन्दी भाषा के उच्च आदर्श को अधः पतित कर रहा है। सन् १९०० ईस्वी में नागरी प्रचारिणी सभा का भवन-प्रवेशोत्सव था। उस समय मैंने एक

लम्बी कविता हिन्दी भाषा सम्बन्धिनी लिखी थी यह कविता 'प्रेम-पुष्पो-पहार' के नाम से अलग पुस्तकाकार छपी है। मैंने उसे बोलचाल की भाषा में लिखा है। उत्सव में बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री भी आये थे। उन्होंने मेरे पढ़ने से पहले ही उस कविता को मुझसे लेकर पढ़ लिया। पढ़ कर बहुत आनन्दित हुये, बोले खड़ी बोली की कविता ऐसी ही भाषा में होनी चाहिये। परन्तु मेरी इस कविता को स्व० पं० बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) ने उनकी दृष्टि से नहीं देखा। जब मैंने उत्सव के समय सभा में यह कविता पढ़ी तो कविता समाप्त होने पर वे मेरे पास अपने स्थान से उठ कर आये और कहा कि यह उर्दू कविता है। आप इसे हिन्दी क्यों कहते हैं। मुझसे उन्होंने सभाभवन से बाहर आकर भी उसके विषय में बड़ा तर्क-वितर्क किया। बाबू काशी प्रसाद जायसवाल से भी उन्होंने उसके विषय में अनेक तर्क किये।

उस ग्रन्थ के कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं :—

चारडग हमने भरे तो क्या किया।
　　है पड़ा मैदान कोसों का अभी।
काम जो है आज के दिन तक हुए।
　　हैं न होने के बराबर वे सभी।
हो दशा जिस जाति की ऐसी बुरी।
　　बन गयी हो जो यहाँ तक बेखबर।
फिर भले ही जाय गरदन पर छुरी।
　　पर जो उफ़ करने में करती है कसर।
आप हो जिसकी है इतनी बेबसी।
　　है तरसती हाथ हिलाने के लिये।
आस हो सकती है उससे कौन सी।
　　हो सके है क्या भला उसके किये।
कम नहीं जिन से अँधेरी टूटती।
　　भूल सकता है समय जिनको नहीं।

पर अमावस के सितारों की तरह।
लोग जो इसमें चमकते हैं कहीं।

ये पद्य बिलकुल बोलचाल के हैं। इनमें कुछ शब्द फ़ारसी के भी आ गये हैं। इस लिये प्रेमघन जी ने इनको हिन्दी का पद्य नहीं माना। इतना ही नहीं मुझ से ही तर्क-वितर्क कर के वे शान्त नहीं हुये, उसकी चर्चा उन्होंने उक्त बाबू साहब से भी की, जिससे पाया जाता है कि उस समय हिन्दी के ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् भी हिन्दीको खड़ी बोली रचनाके विषय में क्या विचार रखते थे। पंडित जी का तर्क यह था कि जो हिन्दी छन्दों में कविता की जावे और संस्कृत तत्सम शब्द जिसमें अधिक आवें वही खड़ी बोली की हिन्दी कविता मानी जा सकती है अन्यथा वह उर्दू है। मेरी रचना में हिन्दी के तद्भव शब्द अधिक आये हैं, और कहीं कहीं फ़ारसी के शब्द भी आ गये हैं, संस्कृत के तत्सम शब्द कम हैं, इसीलिये वे उसको हिन्दी की रचना मानने के लिये तैयार नहीं थे। उस समय हिन्दी की खड़ी बोली कविता के लिये अधिकतर लोगों के यही विचार थे। अब भी कुछ लोगों के येही विचार हैं। मैं इस विचार से सहमत नहीं हूं। तद्भव शब्दों में लिखी गयी शिष्ट बोलचाल की हिन्दी ही वास्तव में खड़ी हिन्दी भाषा की रचना कही जा सकती है और ऐसी ही रचना सर्व साधारण के लिये विशेष उपकारक हो सकती है। इस तर्क का कोई अर्थ नहीं कि यदि 'अइली गइली' का प्रयोग किया जावे और ग्रामीण भाषा लिखी जावे तब तो वह हिन्दी है और यदि शिष्ट बोलचाल की भाषा के आधार से तद्भव शब्दों में हिन्दी भाषा की कविता लिखी जावे तो वह उर्दू है। यह बिलकुल अयथा विचार है। कुछ मुसलमान विद्वानों का विचार भी ऐसा ही है। वे 'ज़फ़र' और 'नज़ीर' की निम्न लिखित रचनाओं को उर्दू की कहते हैं, हिन्दी की नहीं :—

१—यों ही बहुत दिन गुड़िया मैं खेली।
कभी अकेली कभी दुकेली
जिससे कहा चल तमाशा दिखला।
उसने उठा कर गोदी में ले ली।

कुछ कुछ मोहें समझ जोआई ।

एक जा ठहरी मोरी सगाई ।

आवन लागे बाम्हन नाई ।

कोई ले रुपया कोई ले धेलो ।

ब्याह का मेरे समाँ जब आया ।

तेल चढ़ाया मढ़ा छवाया ।

सालू सूहा सभी पिन्हाया ।

मेंहदी से रँग दिये हाथ हथेली

सासरे के लोग आये जो मेरे ।

ढोल दमामे बजे घनेरे ।

सुभ घड़ी सुभ दिन हुये जो फेरे ।

सइयां ने मोहें हाथ में लेली ।

जफ़र

२—यारो सुनो ए दधि के लुटैया का बालपन ।
ओ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन ।
मोहन सरूप नृत्य करैया का बालपन ।
बन बन में ग्वाल गौएं चरैया का बालपन ।
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन ।
क्या क्या कहूं मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन ।
परदे में बालपन के ये उनके मिलाप थे ।
जोती सरूप कहिये जिन्हें सो वो आप थे ।

नज़ीर

परंतु, हम देखते हैं कि इंशा अल्ला खां ठेठ हिन्दी लिखने का प्रण करके भी अपनी 'रानी केतकी' की कहानी में निम्न लिखित पद्यों को लिखते हैं:—

आतियां जातियां जो साँसें हैं ।
उनके बिन ध्यान यह सब फांसें हैं ।

बात यह है कि इंशा इनको हिन्दी का पद्य ही समझते हैं। शिष्ट भाषा में लिखे जाने के कारण वे उनको उर्दू नहीं मानते। यदि वे उनको उर्दू मानते तो उन्हें अपने ठेठ हिन्दी के ग्रन्थ में स्थान न देते। उनका सोचना ठीक था। जो उन पद्यों को उर्दू कहते हैं वे यह समझते ही नहीं कि हिन्दी किसे कहते हैं। तद्भव शब्दों में लिखी गयी हिन्दी वास्तविक हिन्दी है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द मिल जाँय तो भी वह हिन्दी है। उर्दू उसको किसी प्रकार से नहीं कहा जा सकता। बोलचाल के उर्दू शब्द मिल जाने पर भी वह हिन्दी ही रहेगी, उर्दू तब भी न होगी। अधिकतर फ़ारसी अरबी के शब्द मिलने ही पर उसको उर्दू नाम दिया जा सकेगा। फिर भी वह हिन्दी का रूपान्तर मात्र है। क्योंकि जब तक क्रिया, कारक, सर्वनाम हिन्दी के रहेंगे तब तक कुछ अन्य भाषा के शब्द उसके हिन्दी कहलाने का अधिकार नहीं छीन सकते। मुझको इसकी चर्चा यहाँ इस लिये करनी पड़ी कि इस शताब्दी के आरम्भ में खड़ी बोली की पद्य रचना का विषय कितना विवादास्पद था। इस समय यह विषय बहुत स्पष्ट हो गया है, पर अब भी अधिकतर खड़ी बोलचाल की हिन्दी कविता में तत्सम संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग होता है। मेरा विचार है कि अब वह समय आ गया है कि सरल और तद्भव शब्दों ही में खड़ी बोली की कविता की जावे, जिसमें कहीं कहीं कोमल, मधुर एवं सरस संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी हो। मैंने अपने चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, बोलचाल, नामक ग्रंथों की रचना इसी आदर्श पर की है॥

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के उपरान्त बहुत से खड़ी बोली के कवि हिन्दी संसार के सामने आये। उनमें कुछ ऐसे हैं जिन्हों ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। मैं उनकी चर्चा यहां कर देना आवश्यक समझता हूं। इन कवियों में अधिकतर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

के 'स्कूल' वाले ही हैं। कोई कोई ऐसे हैं जिनका मार्ग भिन्न है। भिन्न मार्गियों में सब से पहले मेरी दृष्टि स्व० लाला भगवानदीन की ओर जाती है। इसलिये पहले मैं उनकी चर्चा करके तब आगे बढ़ूंगा॥

१—लाला भगवानदीन प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों में थे। प्राचीन साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। उन्हों ने कई ग्रन्थों की सुन्दर टीकायें लिखी हैं और अलंकार का भी एक ग्रंथ प्रचलित गद्य में निर्माण किया है। वे अच्छे समालोचक भी थे। उन्हों ने पद्य में भी चार-पाँच ग्रंथ लिखे हैं। वे ब्रजभाषा में ही पहले कविता करते थे। बाद को खड़ी बोली की ओर प्रवृत्त हुये। वे कायस्थ थे इसलिये फ़ारसी और उर्दू का ज्ञान भी उनका यथेष्ट था। उनकी खड़ी बोली की हिन्दी कविता की विशेषता यह है कि उन्होंने उसमें उर्दू का रंग उत्पन्न करने की चेष्टा की और अरबी बहों से भी काम लिया। उनके 'वीर पञ्चरत्न' और 'वीरमाता' नामक ग्रंथ ऐसे ही हैं। उनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

॥ चांदनी ॥

१—खिल रही है आज कैसी
भूमि तल पर चाँदनी।
खोजती फिरती है किसको
आज घर घर चाँदनी।
घन घटा घूँघट हटा मुसकाई
है कुछ ऋतु शरद।
मारी मारी फिरती है इस
हेतु दर दर चाँदनी।
रात की तो बात क्या दिन में
भी बन कर कुंद कास

छाई रहती है बराबर
भूमि तल पर चाँदनी ।
सेत सारी युक्त प्यारी
की छटा के सामने ।
जँचती है ज्यों फूल के
आगे हो पीतर चाँदनी ।
स्वच्छता मेरे हृदय की
देख लेगी जब कभी ।
सत्य कहता हूं कि कँप
जायेगी थर थर चाँदनी ।
नाचने लगते हैं मन
आनन्दियों के मोद से ।
मानुषी मन को बना
देती है बन्दर चाँदनी ।
भाव भरती है अनूठे
मन में कवियों के अनेक ।
इनके हित हो जाती है
जोगी मछन्दर चाँदनी ।
वह किसी की माधुरी
मुसकान की मनहर छटा ।
'दीन' को सुमिरन करा
देती है अकसर चाँदनी ।

२—होमर जो यूनान का कवि आदि कहाया ।
उसने भी सुयश वीरों का है जोश से गाया ।

फिर दोसी ने भी नाम अमर अपना बनाया।
जब फ़ारसी बीरों का सुयश गाके सुनाया।
सब बीर किया करते हैं सम्मान कलम का।

एक पद्य व्रजभाषा का देखिये।

सघन लतान सों लखात बरसात छटा
सरद सोहात सेत फूलन की क्यारी में।
हिमऋतु काल जल जाल के फुहारन में
शिशिर लजात जात पाटल कतारी में।
सौरभित पौन ते बसन्त दरसात नित
ग्रीषम लौं दुख दहक्यो है चटकारी में।
दीन कवि सोभाषट ऋतु की निहारी सदा
जनक कुमारी की पियारी फुलवारी में।

२ पं० गयाप्रसाद शुक्ल वर्तमान कवियोंमें विशेष स्थानके अधिकारी हैं। आप की राष्ट्रीय रचनायें बड़ी ओजस्विनी हैं और खड़ी बोली के क्षेत्र में आप का यही उल्लेखनीय कार्य्य है। खड़ी बोली की कविता में आपने जातीयता का वह राग अलापा है जिसकी ध्वनि हृदयों में ओज का संचार करती रहती है। आप की राष्ट्रीय कवितायें त्रिशूल नामसे निकली हैं। आपने अपने 'सनेही' उपनाम से जो रचनायें की हैं वे बड़ी ही सरस और मधुर हैं। आप व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही भाषाओं में रचना करते हैं। किंतु आप की प्रसिद्धि खड़ी बोली की रचनाओं के लिये ही है। क्योंकि उनकी पंक्तियां प्रायः बड़ी सजीव होती हैं। आप 'सुकवि' नामक एक मासिक पत्रिका भी निकालते हैं। उनकी दोनों भाषाओं की कुछ कवितायें नीचे लिखी जाती हैं।

वह बेपरवाह बने तो बने
हमको इसकी परवाह का है।

वह प्रीति का तोड़ना जानते हैं
ढँग जाना हमारा निबाह का है।
कुछ नाज़ जफ़ा पर है उनको
तो भरोसा हमें बड़ा आह का है।
उन्हें मान है चन्द्र से आनन पै
अभिमान हमें भी तो चाह का है।
दाह रही दिल में दिन द्वैक बुझी
फिर आपै कराह नहीं अब।
मानि कै रावरे रूरे चरित्र गुन्यो
हिय में कि निबाह नहीं अब।
चाहक चारु मिले तुमको चित
माँहि हमारे भी चाह नहीं अब।
जो तुममें न सनेह रहा हमको भी
नहीं परवाह रही अब।
रावन से बावन बिलाने हैं बचे न एक
चाल नहिं काल से किसी की चल पाई है।
कौरव कुटिल कुल कुल के कुठार भये
कृष्ण जू से कंस की न दाल गल पायी है।
हाय की हवा सों जल गये हैं जवन जूथ
हासिल हुकुम पै न लागे पल पायी है।
याते बल पाय फल पाय लेहु जीवन को
दीन कलपाय कहो कौने कलपाई है।
चित्त के चाव चोचले मन के
वह बिगड़ना घड़ी घड़ी बन के।

चैन था नाम था न चिन्ता का
थे दिवस और ही लड़कपन के।
झूठ जाना कभी न छल जाना
पाप का पुण्य का न फल जाना।
प्रेम वह खेल से खिलौनों से
चन्द्र तक के लिये मचल जाना।
चन्द्र था और और ही तारे
सूर्य्य भी और थे प्रभाधारे।
भूमि के ठाट कुछ निराले थे
धूलिकण थे बहुत हमें प्यारे।
सब सखा शुद्ध चित्त वाले थे
प्रौढ़ विश्वास प्रेम पाले थे।
अब कहाँ रह गईं बहारें वे
उन दिनों रंग ही निराले थे।
सत्य रूप हे नाथ तुम्हारी शरण गहूंगा।
जो व्रत है ले लिया लिये आमरण रहूंगा।
ग्रहण किये मैं सदा आप के चरण रहूंगा।
भीत किसी से और न हे भयहरण रहूंगा।
पहली मंज़िल मौत है प्रेम पंथ है दूर का।
सुनता हूं मत था यही सूली पर मंसूर का।

३—पंडित रामचरित उपाध्याय ने खड़ी बोली की कविता करने में कीर्ति अर्जन की है वे भी वर्तमान काल के प्रसिद्ध कवियों में हैं। वे संस्कृत के विद्वान् हैं और हिन्दी भाषा पर भी उनका अच्छा अधिकार है। पहले वे ब्रजभाषा में कविता करते थे। उन्होंने बिहारी लाल के ढंग पर

एक सतसई भी लिखी है। परन्तु अब तक वह हिन्दी संसार के सामने नहीं आई। उन्होंने 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक एक बड़ा काव्य खड़ी बोली में लिखा है और इसके अतिरिक्त और भी पाँच सात पुस्तकें खड़ी बोली ही में लिखी हैं। खड़ी बोली की रचना करने में ये निपुण हैं और शुद्ध भाषा लिखने की अधिकतर चेष्टा करते हैं। इनकी भाषा प्रायः संस्कृत-शैली की होती है और उसमें संस्कृत के ढंग से ही भावप्रकाशन देखा जाता है। इनकी रचनाओं में भी सामयिकता पाई जाती है, अन्योक्ति द्वारा व्यङ्ग करने में आप अपने समान आप हैं। उनका वाक्य-विन्यास प्रायः मधुर, कोमल और सरस है। ये ही खड़ी बोली के ऐसे कवि हैं जिन्होंने जब से उसकी सेवा का व्रत लिया अन्य भाषा की ओर प्रवृत्त नहीं हुये। उनकी कुछ रचनायें नीचे दी जाती हैं :—

सरसता सरिता जयिनी जहाँ
नव नवा नव नीति पदावली।
तदपि हा! वह भाग्य-विहीन की
सुकविता कवि ताप करी हुई।
मन रमा रमणी रमणीयता
मिल गयीं यदि ये विधि योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा
रसिकता सिकता सम है उसे।
सुविधि से विधि से यदि है मिली
रसवती सरसीव सरस्वती।
मन तदा तुझ को अमरत्वदा नव
सुधा वसुधा पर ही मिली।
चतुर है चतुरानन सा वही सुभग
भाग्य विभूषित भाल है।

मन जिसे मन में पर काव्य की
रुचिरता चिर ताप करी न हो।
बातें थी करती सखी सँग
मुझे तो भी रही देखती।
गत्वा सा कति चित् पदानि
सुमुखी आगे खड़ी हो गयी।
जाने क्यों हँसती चली फिर गयी
क्या मोहिनी मूर्ति थी।
स्वप्ने साद्य न दृश्यते क्षण
महो हा राम मैं क्या करूँ।

ऐनक दिये तने रहते हैं।
अपने मन साहब बनते हैं।
उनका मन औरों के काबू।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि बाबू।
ठठरी उसकी बच जाती है।
जिसको हा वह धर पाती है।
छुड़ा न सकते उसे हकीम।
क्यों सखि डाइन नहीं अफ़ीम।

४ पं० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी गद्य के एक मननशील गम्भीर लेखक हैं। किन्तु उन्होंने खड़ी बोल चाल के पद्य लिखने में भी विशेषतायें दिखलायीं हैं, इसलिये उनका कुछ वर्णन यहां भी आवश्यक ज्ञात होता है। वे भी व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में भाव मयी रचना करने में समर्थ हैं। (लाइट आव् एशिया) Light of Asia' का जो अनुवाद उन्होंने व्रजभाषा में किया है उसमें उनकी विलक्षण प्रतिभा का विकास हुआ है। पढ़ने से

उस ग्रंथ में मौलिकता का सा आनन्द आता है। ऐसा सरस और सुन्दर अनुवाद दुर्लभ है। खड़ी बोलचाल की रचनायें उनकी थोड़ी ही है, परंतु उनमें भो विलक्षणता है। प्रकृति-निरीक्षण-सम्बन्धिनी कवितायें हिन्दी साहित्य में अल्प मिलती हैं। उन्होंने यह कार्य कर के इस न्यूनता की बहुत कुछ पूर्ति की है और खड़ी बोली को एक नवीन उपहार प्रदान किया है। उनकी इस प्रकार की कुछ रचनायें नीचे लिखी जाती हैं:—

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे
उन्हें जग ज्योति जगाती जहाँ;
जलबीच कलम्ब करम्बित कूल से
दूर छटा छहराती जहाँ;
घन अंजन वर्ण खड़े तृण ताल की
झांई पड़ी दरसाती जहाँ;
बिखरे बक के निखरे सित पंख
बिलोक बकी बिक जाती जहाँ;
निधि खोल किसानों के धूल सने
श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ;
चुनके कुछ चोंच चला करके
चिड़ियाँ निज भाग बँटातीं जहाँ;
कगरों पर कास की फैली हुई
धवली अवली लहराती जहाँ;
मिल गोपों की टोली कछार के
बीच है गाती औ गाय चराती जहाँ;
जननी धरणी निज अंक लिये
बहु कीट पतंग खिलाती जहाँ;

ममता से भरी हरी बाँह की छाँह
पसार के नीड़ बसाती जहाँ;
मृदु वाणी मनोहरवर्ण अनेक
लगा कर पंख उड़ाती जहाँ;
उजली कँकरीली तटी में धँसी
तनु धार लटी बल खाती जहाँ;
दल राशि उठी खरे आतप में
हिल चंचल औंध मचाती जहाँ;
उस एक हरे रँग में हलकी गहरी
लहरी पड़ जाती जहाँ;
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित
खंजन में मन भाती जहाँ;
कविता वह हाथ उठाये हुए
चलिये कविवृंद बुलाती वहाँ।

५—पंडित गोकुलचन्द्र शर्मा एम ए. उन चुपचाप कार्य्य करनेवालोंमें हैं जो ख्याति के पीछे न पड़ कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। किसी जाति के उत्कर्ष और सभ्यता को परिमार्जित रूप से निष्पन्न करने के लिये महापुरुषों के चरित्रों और जीवनियों को बड़ी आवश्यकता होती है। विशेष कर उस अवस्था में जब देश और समाज की प्रवृत्ति राष्ट्रीयता की ओर आकर्षित हो। खड़ी बोली की कविता के उत्थान के समय यदि किसी सुकवि की दृष्टि इधर आकर्षित हुई तो वे पं० गोकुलचन्द्र शर्मा हैं। उनके 'गांधी गौरव' 'तपस्वी तिलक' नामक दो ग्रंथ महापुरुषोंके इतिवृत्तके रूप में लिखे गये हैं जो सामयिकता के आदर्श उपहार हैं। इन दोनों ग्रंथों की जैसी उत्तम और परिमार्जित भाषा है वैसी ही विचारशैली और भाव-प्रवीणता। उन्होंने और भी छोटे मोटे गद्य-पद्य-ग्रंथ लिखे हैं, परंतु

उनके प्रधान ग्रंथ ये ही दो हैं। जो इस योग्य हैं कि उन्हें खड़ी बोली के कविता-क्षेत्र में एक उल्लेख-योग्य स्थान प्रदान किया जावे। उनके कुछ पद्य देखिये:—

इच्छा हमें नहीं है भगवन् हो सम्पत्ति हमारे पास।
नहीं चाहिये प्रासादों का वह विलास मय सुखद निवास।
सोवें सुखो तृण शय्या पर कर फल पत्तों पर निर्वाह।
पर समता का हृदय भूमि पर सञ्चालित हो प्रेम प्रवाह।
दृष्टि हमारो धुंधली होकर धोखा कभी न दे सर्वेश।
भ्रातृ भाव के शीशे में से देखें बन्धुवर्ग के क्लेश।
पतिता जन्म भूमि के हित हो बच्चा बच्चा बीर बराह।
रुधिर रूप में उमड़े अच्युत हृन्निर्झर से प्रेम प्रवाह॥२॥

६—पंडित रामनरेश त्रिपाठी एक प्रतिभावान पुरुष हैं। उनको समस्त रचनाओं में कुछ न कुछ विशेषता पायी जाती है। यह उनकी प्रतिभा का ही फल है। उनकी लेखनी आदि से ही खड़ी बोली की सेवा में रत है। उन्होंने दो खण्ड काव्य खड़ी बोली में लिखे हैं। दोनों सुन्दर हैं और सामयिकता पूर्णतया उनमें विराजमान है। उनकी भाषा परिमार्जित और सुन्दर है। खड़ी बोली का विशेष आदर्श सामने उपस्थित न होने पर भी उन्होंने उसकी रचना करने में जितनी सफलता लाभ की है वह कम नहीं है। उनकी रचनायें भावमयी हैं और उनमें आकर्षण और मार्मिकता भी है। उन्हों ने 'कविता-कौमुदी' नामक ग्रन्थ माला का संकलन कर और ग्रामगीत' नामक एक सुन्दर संग्रह प्रस्तुत कर हिन्दी भाषा की अच्छी सेवा की है। ऐसी रचनायें अथवा कवितायें जो देश में प्रचलित हैं पर्वोत्सवों पर गायी जाती हैं, विवाह और यज्ञोपवीत आदि के अवसरों पर स्त्रियों के कण्ठों से सुनी जाती हैं, या जिनको ग्रामीण जन श्रुति परम्परा से स्मरण रखते आये हैं, उनके उद्धार की उनकी प्रवृत्ति आदरणीय है। इस प्रकार की रचनाओं में सरसता, हृदय-ग्राहिता

मधुरता की कमी नहीं है। उनमें आकर्षण भी बड़ा है, उपयोगिता भी कम नहीं। फिर भी अब तक वे कंठाग्र ही रहती आयी हैं। कुछ लोगों की प्रवृत्ति उनको पुस्तक रूप में परिणत करने की पायी गयी, किन्तु जैसी चाहिये वैसी लगन के अभाव में उनको इस विषय में सफलता नहीं मिली। पंडित रामनरेश त्रिपाठी को इस विषय में यथेष्ट सफलता मिल रही है। यह उनकी सच्ची लगन और वांछनीय प्रवृत्ति ही का फल है, जिसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है। हिन्दी-संसार उनकी इस प्रकार की कृतियों का आदर कर रहा है और आशा है आगे भी वे आदृत होंगी। उनकी कुछ रचनायें नीचे दी जाती हैं:—

होते जो किसी के बिरहाकुल हृदय हम।
होते यदि आंसू किसी प्रेमी के नयन के।
गर पतझड़ में बसंत की बयार होते।
होते हम कहीं जो मनोरथ सुजन के।
दुख दलितों में हम आस की किरन होते।
होते यदि शोक अविवेकियों के मन के।
मानते तो विधि का अधिक उपकार हम
होते गाँठ के धन कहीं जो दीन जन के।

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और बनमें।
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता संगीत में भजन में।
मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी का आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में।

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर।
उत्थान भर रहा था तबतू किसी पतन में।
तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था।
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में।

७—बाबू मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी संसार के प्रसिद्धि प्राप्त सुकवि हैं। हिन्दी देवी की सेवा करने वाले और उसके चरणों पर अभिनव पुष्पांजलि अर्पण करने वाले जो कतिपय सर्व-सम्मत, सहृदय भावुक हैं, उनमें आप भी अन्यतम हैं। आप खड़ी बोली कविताके अनन्य भक्त हैं और अबतक उसमें अनेक ग्रंथों की रचना आपने की है। उन्होंने स्वयं ही रचना करके हिन्दी भाषा के भाण्डार को नहीं भरा है, कई ग्रंथों का सरस अनुवाद कर के भी उसकी पूर्ति की चेष्टा की है। अनुवादित ग्रंथों में बँगला मेघनाद का अनुवाद विशेष उल्लेख-योग्य है जो एक विशाल ग्रंथ है। उनका 'भारत-भारती' नामक ग्रंथ देश-प्रेम से ओत-प्रोत है। उसका आदर भी बहुत अधिक हुआ। खड़ी बोली के किसी ग्रंथ के इतने अधिक सँस्करण नहीं हुये जितने 'भारत-भारती' के, काव्य की दृष्टि से वह उच्च कोटि का न हो, परंतु उपयोगिता उसकी सर्व-स्वीकृत है। उनकी भाषा की शुद्धता की प्रशंसा है। वे निस्सन्देह शब्दों को शुद्ध रूप में लिखते हैं। यद्यपि इससे उनकी भाषा प्रायः क्लिष्ट हो जाती है। उन्होंने 'साकेत' नामक एक महा-काव्य भी लिखा है, जो प्रकाशित भी हो चुका है। उनकी रचना के समस्त गुण इस में विद्यमान हैं। इस ग्रंथ में भाषा की कोमलता, मधुरता और सरसता की ओर उनकी दृष्टि अधिक गयी है। इस लिये इसमें ये बातें अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। उन्होंने कई खण्ड काव्य लिखे हैं। 'झंकार' नामक एक पुस्तिका भी उन्हों ने हाल में प्रकाशित की है। यह पुस्तिका भी भाव, और भाषा दोनों की दृष्टि से सरस, सुन्दर और मधुर है। उनकी कुछ रचनायें नीचे लिखी जाती हैं—

१—इस शरीर की सकल शिरायें
हों तेरी तन्त्री के तार।

आघातों को क्या चिन्ता है

उठने दे उनकी झंकार।

नाचे नियति प्रकृति-सुर साधे

सब सुर हों शरीर साकार।

देश देश में काल काल में उठे

गमक गहरी गुंजार।

कर प्रहार हाँ, कर प्रहार तू मार

नहीं यह तो है प्यार।

प्यारे और कहूं क्या तुझसे

प्रस्तुत हूं मैं हूं तैयार।

मेरे तार तार से तेरी तान तान

का हो विस्तार।

अपनी अँगुली के धक्के से खोल

अखिल श्रुतियों के द्वार।

ताल ताल पर भाल झुका कर

मोहित हों सब बारंबार।

लय बँध जाय और क्रम क्रम से

सब में समा जाय संसार।

२—तुम्हारी वीणा है अनमोल।

हे विराट जिसके दो तूंबे हैं भूगोल खगोल।

दयादण्ड पर न्यारे न्यारे चमक रहे हैं प्यारे प्यारे

कोटि गुणों के तार तुम्हारे खुली प्रलय की खोल

तुम्हारी वीणा है अनमोल।

हंसता है कोई रोता है जिसका जैसा मनहोता है
सब कोई सुध बुधखोता है क्या विचित्र हैं बोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल
इसे बजाते हो तुम जबलौं नाचेंगे हम सबभी तबलौं
चलने दो न कहो कुछ कबलौं यह क्रीड़ा-कल्लोल।
तुम्हारी वीणा है अनमोल

८—बाबू सियाराम शरण गुप्त बाबू मैथिली शरण गुप्त के लघुभ्राता हैं। वे भी सुन्दर कविता करते हैं। और वास्तव में अपने ज्येष्ठ भ्राता की दूसरी मूर्त्ति हैं। वे उनके सहोदर तो हैं ही समान-हृदय भी हैं। उनकी रचना की विशेषता यह है कि उनकी पदावली कोमल एवं कान्त होती है। इस विषय में वे अपने बड़े भाई से भी बढ़े हैं। उनकी रचना में मार्मिकता के साथ मधुरता भी होती है। उन्होंने पाँच चारपद्य-ग्रंथों की रचना की है। उनकी भी समस्त रचनायें खड़ी बोली ही में हैं। उनकी रचनायें थोड़ी भलेही हों, परन्तु खड़ी बोली की शोभा हैं। उनके कुछ पद्य देखिये:—

जग में अब भी गूंज रहे हैं गीत हमारे।
शौर्य्य वीर्य्य गुण हुये न अब भी हमसेन्यारे।
रोम मिश्र चीनादि काँपते रहते सारे।
यूनानी तो अभी अभी हमसे हैं हारे।
सब हमें जानते हैं सदा भारतीय हम हैं अभय।
फिर एक बार हे विश्व तुम गाओ भारतकी विजय।

९—पंडित लोचन प्रसाद पाण्डेय मध्य प्रान्त के प्रसिद्ध कवि हैं। आपने छोटी बड़ी पचीस तीस गद्य-पद्य-पुस्तकें लिखी हैं। आप उड़िया भाषा में भी कविता करते हैं। मध्यप्रान्त जैसे दूर के निवासी हो कर भी उन्होंने खड़ी बोलचाल में सरस रचनायें की हैं। उनकी रचनाओं का आदर उनके प्रान्त

में विशेष है और प्रायः पाठशालाओं में उनकी पुस्तकें कोर्स के रूप में गृहीत हैं। डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन ने भी उनकी कविता-पुस्तकों की प्रशंसा की है। मध्य प्रदेश में खड़ी बोली की कविता-सम्बन्धी जागर्त्ति उत्पन्न करने में आप का विशेष हाथ है। इस विषय में आपने अपनी कविता द्वारा भी विशेष प्रभाव डाला है। जैसा भावमय उनका हृदय है वैसी ही भावमयी उनकी भाषा। उनका पद विन्यास भी तुला हुआ और सरस होता है। अरबी के शब्दों से वे बहुत बचते हैं। उनकी कविता में ओज के साथ माधुर्य्य भी है और सहृदयता के साथ सामयिकता भी। उनके कुछ पद्य भी देखिये:—

भोले भाले कृषक देश के अद्भुत बल हैं।
राज मुकुट के रत्न कृषक के श्रम के फल हैं।
कृषक देश के प्राण कृषक खेती की कल हैं।
राजदण्ड से अधिक मान के भाजन हल हैं।
हल की पूजा दिव्य देश गौरव-सम्बल है।
हल की पूजा सभ्य जाति का व्रत निर्मल है।
हल की पूजा देश शान्ति का नियम अचल है।
हल की पूजा भुक्ति मुक्ति का मार्ग विमल है।
कमल कुल छटा है लोचन प्राणहारी।
जिन पर करते हैं भृंग गुंजार प्यारी।
मधुमय बहती है माधव प्रीति धारा।
कब बन सकते हैं ये तुझे शान्तिद्वारा।
विधिवत् चलता है देख संसार सारा।
थकित कब हुई है लोक में कर्म-धारा।
दुख रज भय बाधा विश्व में है सदा से।
कब जग रुकता है एक की आपदा से।

१०—पं० रूपनारायण पाण्डेय हिन्दी-संसार के प्रसिद्ध अनुवादक हैं। आप ने जितने ग्रन्थों का अनुवाद किया है उनकी संख्या पचास से भी ऊपर है। इस कार्य्य में ये सिद्ध-हस्त हैं और ख्याति प्राप्त सहृदय हैं, इस लिये सरस कविता भी करते हैं। आप की कुछ कविता-पुस्तकें छपी भी हैं और उनकी यथेष्ट प्रशंसा भी हो चुकी है। पहले ये व्रजभाषा में कविता करते थे, बाद खड़ी बोली के क्षेत्र में आये और कीर्ति भी पायी। उनकी खड़ी बोली की कविता में विशेषता यह है कि उसमें भावुकता तरङ्गायित मिलती है। उनका शब्द-विन्यास भी सुन्दर होता है जिसमें एक मधुर लचक पायी जाती है। कुछ पद्य व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों के नीचे दिये जाते हैं:—

सारद बिसारद बिसारद को पारद
विरंचि हरि नारद अधीन कहियत है।
मण्डित भुजा मैं बर बीना है प्रवीना जू के
एक कर अभय बरादि गहियत है।
चहियत पद अवलम्ब अम्ब तेरे
पाय हरख कदम्ब ना बिलंब सहियत है।
हरन हजार दुख सुख के करन चारु
चरन सरन मैं सदा ही रहियत है।

बुद्धि विवेक की जोति बुझी
ममता मद मोह घटा घन घेरी।
है न सहारो अनेकन हैं
ठग पाप के पन्नग की रहै फेरी
त्यों अभिमान को कूप इतै
उतै कामना रूप सिलान की ढेरी।

तू मन मूढ़ सम्हारि चलै किन
राह न जानी है रैनि अँधेरी ।
अहह अधम आँधी आ गयी तू कहाँ से ।
प्रलय घन घटा सी छा गयी तू कहाँ से ।
पर दुख सुख तूने हा न देखा न भाला ।
कुसुम अधखिला ही हाय क्यों तोड़ डाला ।
तड़प तड़प माली अश्रु धारा बहाता ।
मलिन मलिनियाँ का दुःख देखा न जाता ।
निठुर फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से ।
इस नव लतिका की गोद सूनी किये से ।
सहृदय जन का जो कण्ठ का हार होता ।
मुदित मधुकरी का जीवनाधार होता ।
वह कुसुम रँगीला धूल में जा पड़ा है ।
नियति नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है ।

११ बाबू गोपालशरण सिंह ने खड़ी बोलचाल में कवित्त और सवैयों की रचना कर थोड़े ही समयमें अच्छी कीर्ति पायी है। खड़ी बोलचाल के कवियों में से कतिपय सुकवियों ने ही कवित्त और सवैयों की रचना कर सफलता लाभ की है । अधिकांश खड़ी बोली के अनुरक्त कवि कवित्त और सवैयों में रचना पसन्द नहीं करते और रचना करने पर सफल भी नहीं होते । बाबू गोपालशरण सिंह की लेखनी ने यह दिखला दिया कि उक्त वर्ण वृत्तों में भी खड़ी बोली की कविता उत्तमता के साथ हो सकती है । उन्हों ने अपनी रचनाओं में खड़ी बोली की ऐसी मँजी भाषा लिखी है, जो उनकी कृति को मधुर और सरस तो बनाती ही है, हृदयग्राही भी कर देती है । वे शुद्ध भाषा लिखने की चेष्टा करते हैं । पर व्रजभाषा और अवधी के सुन्दर शब्दों का भी उपयुक्त स्थानों

पर प्रयोग करने में संकोच नहीं करते। उन्हों ने अपनी कविताओं के संग्रह का नाम 'माधवी' रक्खा है। मैं कहूंगा, उनकी कविता-पुस्तक का यह सार्थक नाम है। वास्तव में वह मधुमयी है। उनके कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं:—

बार बार मुख धनियों का नहीं देखता तू
झूठी चाटुकारी नहीं उनको सुनाता है।
सुनता नहीं तू कटु वाक्य अभिमान सने।
पीछे भी कदापि उनके नहीं तू धाता है।
खाता है नवीन तृण तो भी तू समय में ही
सोता सुखस्नेही जब निद्राकाल आता है।
कौन ऐसा उग्र तप तूने था किया कुरङ्ग
जिस से स्वतंत्रता समान सुख पाता है।

इस नादान निगोड़े मन को
किस प्रकार समझाऊँ।
इसकी उलझन सुलझ न सकती
मैं कैसे सुलझाऊँ।
स्वयं मुझे कुछ नहीं सूझता
क्या मैं इसे सुझाऊँ।
बिना स्वाति जल के चातक की
किस विध प्यास बुझाऊँ।
होकर भी मैं विमन कहाँ
तक मनकी बात छिपाऊँ।
मन जिसके हित विकल हो
रहा उसे कहाँ मैं पाऊँ।

है यह मचल रहा बालक सा
किस विधि मैं बहलाऊँ
इसके लिये कहाँ से मैं
वह चन्द्र खिलौना लाऊँ।

१२—मैं सुभद्रा कुमारी चौहान की चर्चा यहां गौरव पूर्वक करता हूं। इसलिये कि उन्होंने ही स्त्री-कवियों में खड़ी बोली की रचना करने में सफलता पाई। अभी हाल ही में सुन्दर कृतिके लिये ५००) का सकसेरिया पुरस्कार साहित्य-सम्मेलन द्वारा उन्हें प्राप्त हुआ है। स्त्री सुलभ भाव उनकी कविताओं में बड़ी सुन्दरतासे अंकित पाये जाते हैं। सामयिकताका विकास भी उनमें यथेष्ट देखा जाता है। उनकी भाषा अधिकांश सरल होती है, परन्तु सरस और मधुर। वाच्यार्थ उनका स्पष्ट है और भाव प्रकाशन-प्रणाली सुन्दर। वे क्षत्राणी हैं. इसलिये आवेश आने पर उनके हृदय से जो उद्गार निकलता है उसमें सच्ची वीरता झंकृत मिलती है। कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं:

थीं मेरा आदर्श बालपन से
तुम मानिनि राधे।
तुम सी बन जाने को
मैंने व्रत नियमादिक साधे।
अपने को माना करती थी
मैं वृषभानु किशोरी।
भाव गगन के कृष्णचन्द्र की
मैं थी चारु चकोरी।
बचपन गया नया रँग आया
और मिला यह प्यारा।

मैं राधा बन गयी न था वह
कृष्ण चन्द्र से न्यारा।
किन्तु कृष्ण यदि कभी किसी
पर ज़रा प्रेम दिखलाता।
नख सिख से तो जल जाती
खाना पीना नहिं भाता।
मुझे बता दो मानिनि राधे
प्रीति रीति वह न्यारी।
क्यों कर थी उस मन मोहन
पर निश्चल भक्ति तुम्हारी।
ले आदर्श तुम्हारा मन को
रह रह समझाती हूं।
किन्तु बदलते भाव न मेरे
शान्ति नहीं पाती हूं।

१६—प्रति शताब्दी में कोई न कोई मुसलमान कवि हमको हिन्दी देवी की अर्चना करते दृष्टिगत होता है। हर्ष है इस शताब्दी के आरंभ में ही हमको एक सहृदय मुसलमान सज्जन चिर-प्रचलित परम्परा की रक्षा करते दिखलायी देते हैं। वे हैं सैयद अमीर अली 'मीर' जो मध्यप्रान्त के निवासी हैं। पं० लोचन प्रसाद पाण्डेयके समान ये भी वहाँ प्रतिष्ठित हिन्दी भाषाके कवि माने जाते हैं। इनको पदवियां और पुरस्कार भी प्राप्त हुये हैं। ये प्राचीन हिन्दी-प्रेमी हैं। पहले ब्रजभाषा में कविता करते थे। अब वे समय देखकर खड़ी बोली की सेवा में ही निरत हैं। इनकी खड़ी बोली की रचनाओं में कोई विशेषता नहीं, परन्तु इनका खड़ी बोली की ओर आकर्षित होना ही उसको गौरवित बनाता है। उर्दू और फारसी में सुशिक्षित होकर भी ये शुद्ध खड़ी बोली की हिन्दी में रचना करके उसका सम्मान बढ़ाते हैं, यह कम आनन्द की बात नहीं, इनके कुछ पद्य देखिये:—

कोयल तू मन मोहि के गयो कौन से देस।
तव अभाव में काग मुख लखनो परो भदेस।
लखनो परो भदेस बेस तोही सो कारो।
पै बोलत है बोल महा कर्कस कटु न्यारो।
कहैं मीर है दैव काग को दूर करो दल।
लाओ फेर बसन्त मनोहर बोलैं कोयल।
आ गया प्यारा दसहरा छा गया उत्साह बल।
मातृ पूजा पितृ पूजा शक्ति पूजा है बिमल।
हिन्दमें यह हिन्दुओं का विजय उत्सव है ललाम।
शरद की इस सुऋतु में है खड्ग पूजा धाम धाम।

इनके अतिरिक्त पं० जगदम्बा प्रसाद हितैषी, पं० अनूप शर्म्मा, बाबू द्वारिका प्रसाद रसिकेन्द्र इत्यादि अनेक कवि खड़ी बोली की सुन्दर रचनायें करने में इस समय प्रसिद्ध हैं और उन लोगों ने कीर्ति भी पायी है।

वर्तमान काल में ब्रजभाषा की क्या दशा है, इस पर प्रकाश डालना भी आवश्यक जान पड़ता है। ब्रजभाषा के जो कवि आज तक उसकी सेवा में निरत हैं उनका स्मरण न करना अकृतज्ञता होगी। ब्रजभाषा हो चाहे खड़ी बोली, दोनों ही हिन्दी भाषा हैं। अतएव ब्रजभाषा देवी की अर्चना में निरत सज्जन हिन्दी भाषा-सेवी ही हैं अन्य नहीं। उनकी अमूल्य रचनायें हिन्दी भाषा का ही शृंगार हैं और उनके अर्पण किये हुए रत्नों से हिन्दी भाषा का भाण्डार ही भर रहा है, इसको कौन अस्वीकार कर सकता है। ब्रजभाषा के कुछ ऐसे अनन्य भक्त अब भी विद्यमान हैं जो उसकी कोमल कान्त पदावली ही के अनुरक्त हैं और इतने अनुरक्त हैं कि दूसरी भाषा की ओर आंख उठा कर भी देखना नहीं चाहते। इनमें उल्लेख-योग्य बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर और पं० हरि प्रसाद द्विवेदी (उपनाम वियोगी हरि) हैं। इस शताब्दी में ही ऐसे ही ब्रजभाषा के एक

और अनन्य भक्त थे। परंतु दुःख है कि उनका स्वर्गवास हो गया। उनका नाम था पंडित सत्यनारायण, उपाधि थी कविरत्न। वे बड़े ही होनहार थे। परन्तु अकाल काल-कवलित हो जाने से वह सुधा-स्रोत बन्द हो गया जो प्रवाहित हो कर श्रोताओं में संजीवन रस का संचार करता था। मैं क्रमशः इन तीनों कवियों के विषय में कुछ लिख कर इनका परिचय आप लोगों को देना चाहता हूं॥

१—बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर की गणना इस समय के ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में है। वास्तव में ब्रजभाषा पर उनका बड़ा अधिकार है और वे उसमें बड़ी सुन्दर और सरस रचना करते हैं, उन्होंने ब्रजभाषा के कई ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें 'गंगा-वतरण' अधिक प्रसिद्ध है। आप ग्रेजुएट हैं, फ़ारसी भाषा का भी अच्छा ज्ञान रखते हैं। उर्दू शायरी अच्छी कर सकते हैं। खड़ी बोलचाल की कविता करने में भी समर्थ हैं, किन्तु ब्रजभाषा में उनकी कुछ ऐसी अनन्य भक्ति है कि वे अन्य भाषाओं में रचना करना पसंद नहीं करते। उन के हृदय की यह प्रतिध्वनि है:—

"रह्यो उर में नाहिंन ठौर।
नंद नंदन त्यागि कै उर आनिये केहि और।"
"ऊधो मन न भयो दस बीस।
इक मनहुतो स्याम सँग अटक्यो कौन भजै जगदीस।"

भगवान् कृष्णचन्द्र के प्रति गोपियों का जो भाव है वही भाव रत्नाकर जी का ब्रजभाषा के प्रति है। उनकी ब्रजभाषा की रचना मर्मभरी, ओजस्विनी और सरस होती है। उन्होंने आजन्म इसी भाषा की सेवा की है और अब तक इसी की समर्चना में संलग्न हैं। उनके कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं:

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत ही
धाक सुर धुनि की धँसी यों घट घट मैं।

कहै रतनाकर सुरासुर ससंक सबै
बिबस बिलोकत लिखे से चित्रपट मैं।
लोकपाल दौरन दसौ दिसि हहरि लागे
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मैं।
खसन गिरीस लागे त्रसन नदीस लागे
ईस लागे कसन फनीस कटि तट मैं।

ढोंग जात्यो ढरकि ढरकि उर सोग जात्यो
जोग जात्यो सरकि सकंप पँखियानि तें।
कहै रतनाकर न करते प्रपंच ऐंठि
बैठि धरा देखते कहूँ धौं नखियानि तें।
रहते अदेख नहीं भेख वह देखत हूं
देखत हमारे जान मोर पखियानि तें।
ऊधो ब्रह्मज्ञान को बखान करते न नैकु
देखि लेत कान्ह जो हमारी अँखियानि तें।

सीतल सुखद समीर धीर परिमल बगरावत।
कूजत विविध विहंग मधुप गुंजत मनभावत।
वह सुगंध वह रंग ढंग की लखि चटकाई।
लगति चित्र सी नंदनादि बन की रुचिराई।

२—वियोगी हरिजी अपना जीवन प्राचीन भक्तों की प्रणाली से व्यतीत कर रहे हैं। व्रजभाषा की तदीयता के साथ उपासना करना और भगवद्भजन में, देश-सेवा में, सामयिक सुधारों के प्रचार में निरत रहना ही इनका लक्ष्य है। वे गद्य-पद्य दोनों लिखने में दक्ष हैं और दोनों ही में उन्होंने कई एक सुन्दर ग्रंथों की रचना की है। 'वीर सतसई' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। साहित्य-सम्मेलन से उस पर उनको (१२००) पुरस्कार

भी मिल चुका है। इस पुरस्कार को उन्होंने साहित्य-सम्मेलन को ही अर्पण कर दिया, स्वयं नहीं लिया। उनका यह त्याग भी उनकी विरक्ति का सूचक है। उनकी ब्रजभाषा की रचनायें अष्ट छाप के वैष्णवों के ढंग की होती हैं, उनमें सरसता और सहृदयता भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। 'वीर सतसई' उनका आदर्श ग्रन्थ है। सामयिक गति पर दृष्टि रख कर उन्होंने इस ग्रन्थ में जिस प्रकार देश और जाति की आँखें खोली हैं, उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है। लगभग उनकी अधिकांश रचनायें उपयोगिनी और भावमयी हैं। वर्त्तमान ब्रजभाषा कवियों में उनका भी विशेष स्थान है। कुछ कवितायें नीचे लिखी जाती हैं:—

जाके पान किये सबै जग रस नीरस होत।
जयति सदा सो प्रेमरस उर आनन्द उदोत।
बैन थके तन मन थके थके सबै जग ठाट।
पै ये नैना नहिं थके जोवत तेरी बाट।
प्रेम तिहारे ध्यान में रहे न तन को भान।
अँसुअन मग बहि जाय कुल कान मान अभिमान।
पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग नौरस ही में बीर।
जोरि नाँव सँग 'सिंह' पद करत सिंह बदनाम।
ह्वै हौ कैसे सिंह तुम करि सृगाल के काम।
या तेरी तरवार में नहिं कायर अब आब।
दिल हूं तेरो बुझि गयो वामें नेक न ताब।

वियोगी हरि जी ब्रजभाषा के अनन्य भक्त हो कर भी कभी कभी कुछ पद्य खड़ी बोली के भी लिख जाते हैं। दो ऐसे पद्य भी देखिये:—

तू शशि मैं चकोर तू स्वाती मैं चातक तेरा प्यारे।
तू घन मैं मयूर तू दीपक मैं पतंग ऐ मतवारे।

तू धन मैं लोभी तू सर्वस मैं अति तुच्छ सखा तेरा।
सब प्रकार से परम सनेही मैं तेरा हूं तू मेरा।
देखी प्यारे गगन तल में लालिमा ज्यों प्रभा की।
धाया त्योंहीं समझ कर मैं हाथ तेरे गहूंगा।
ठंडा होगा हृदय पर हा! नाथ धोखा दिया क्यों।
मेरा ही है रुधिर उसमें दग्ध जो था बहाया।

३—जो फूल असमय कुम्हला कर सहृदय मात्र को व्यथित कर जाता है, पंडित सत्यनारायण कविरत्न वही प्रसून हैं। वे एक होनहार युवक थे और बड़ी तन्मयता के साथ व्रजभाषा देवी की सेवा में निरत थे। व्रज-भाषा से उनको इतना अधिक प्रेम था कि जब वे व्रजभाषा की करुण कथा किसी सभा या किसी उत्सव में अपने सुस्वर और सुमधुर कण्ठ से सुनाते तो सुनने वालों को मन्त्र-मुग्ध बना लेते थे। थोड़े ही समय में उन्होंने अच्छी ख्याति भी पायी। वे बी. ए. तक शिक्षा-प्राप्त थे और हिन्दी भाषा पर बड़ा अधिकार रखते थे। संस्कृत का ज्ञान भी उनका अच्छा था। जैसी उनकी रहन-सहन-प्रणाली सादी थी वैसा ही उनका जीवन भी सादा था। बड़े विनीत थे और नम्र भाव उनके हृदय का प्रधान सम्बल था। उनकी कविताओं में उनका यह भाव स्फुटित होता रहता था। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों का सरस व्रजभाषा में अनुवाद किया था, दो तीन उनके व्रजभाषा के पद्य ग्रन्थ भी हैं। बड़ी सरस और टकसाली व्रजभाषा लिखते थे। शुद्ध व्रजभाषा लिखने की धुन में कभी कभी ग्रामीण व्रजभाषा शब्दों का प्रयोग भी कर जाते थे, जिससे कहीं कहीं उनकी रचना में जैसी चाहिये वैसी सुबोधता नहीं रह जाती थी। व्रजभाषा की सेवा के विषय में उनके बहुत बड़े बड़े विचार थे किन्तु उसकी पूर्ति किये बिना ही वे धराधाम से उठ गये। सच है man proposes God disposes, मेरे मन कछु और है करता के मन और। उनकी कुछ कवितायें नीचे लिखी जाती हैं:—

मृदु मंजु रसाल मनोहर मंजरी
मोर पखा सिर पै लहरैं ।
अलबेली नवेलिन बेलिन में
नव जीवन ज्योति छटा छहरैं ।
पिक भृंग सुगुंज सोई मुरली
सरसों सुभ पीत पटा फहरैं ।
रसवंत विनोद अनंत भरे
ब्रजराज बसंत हिये बिहरैं ।
श्री राधावर निज जन बाधा सकल नसावनि ।
जाको ब्रजमन भावन जो ब्रजको मन भावनि ।
रसिक सिरोमनि मन हरन निरमल नेह निकुंज ।
मोद भरन उर सुख करन अविचल आनँद पुंज ।

रँगीलो साँवरो

कंस मार भूभार उतारन खल दल तारन ।
विस्तारन विज्ञान विमल स्रुति सेतु सँवारन ।
जन मन रंजन सोहना गुन आगर चित चोर ।
भवभय भंजन मोहना नागर नंद किसोर ।

गयो अब द्वारिका

पावन सावन मास नई उनई घन पाँती ।
मुनि मन भाई छई रसमयी मंजुल काँती ।
सोहत सुन्दर चहुँ सजल सरिता पोखर ताल
लोल लोल तहँ अति अमल दादुर बोल रसाल ।

छटा चूई परै ।

अलबेली कहुं बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये धोये पातन की अनुपम कमनाई ।
चातक सुक कोयल ललित बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल।

निरखि घन की छटा।

इंद्र धनुष अरु इंद्र बधूटिनि की सुचि सोभा।
को जग जनम्यो मनुज जासु मन निरखि न लोभा।
प्रिय पावन पावस लहरि लहलहान चहुँ ओर।
छाई छबि छिति पै छहरि ताको ओर न छोर।

लसै मन मोहना।

४—इस खड़ी बोली के समुन्नत काल में जिन युवकों ने व्रजभाषा की सेवा करना ही अपना ध्येय बना रक्खा है, जो उसकी कीर्ति-ध्वजा के उत्तोलन करने में आज भी आनंदानुभव करते हैं, उनमें पंडित रामशंकर शुक्ल एम० ए० प्रधान हैं। इन्होंने प्रयाग में व्रजभाषा की हित-चेष्टा से एक रसिक मण्डल नामक संस्था ही स्थापित कर रक्खी है। वे और उनके लघु भ्राता पं० रामचन्द्र शुक्ल सरस उसकी वृद्धि करने और उसको प्रभाव शाली बनाने में आज भी जी से यत्नवान हैं। सौभाग्य से उनको व्रजभाषा प्रेमियों का एक दल भी प्राप्त हो गया है जो इस सत्कर्म में उनकी यथेष्ट सहायता कर रहा है। इस दल में डाक्टर राम-प्रसाद त्रिपाठी एम० ए० और पं० युगल किशोर जुगुलेश बी० ए० ऐसे सहृदय और विद्वज्जन भी सम्मिलित हैं। त्रिपाठी जी इसके सभापति और सच्ची लगन के साथ उसको समुन्नत बनाने में सचेष्ट हैं। पं० राम शंकर का उपनाम 'रसाल' है। वास्तव में 'रसाल' रसाल और 'सरस' सरस हैं। इन दोनों बंधुओं की व्रजभाषा की रचनायें सुन्दर, सरस और भावमयी होती हैं। इन लोगों की विशेषता यह है कि ये लोग समय की गति पह-

चाहते हैं और ब्रजभाषा देवी का शृंगार सामयिक रुचि के अनुसार करना चाहते हैं। ये लोग दूर दूर तक कवि-सम्मेलनों में जा कर ब्रजभाषा का रस आस्वादन बहुत बड़ी जनता को कराते हैं और ब्रजभाषा के उस अनुराग को सुरक्षित रखना चाहते हैं जो अब भी हिन्दी-प्रेमी जनता के हृदय में वर्तमान है। 'सरस' जी का 'अभिमन्यु बध' नामक एक काव्य-ग्रन्थ भी हाल में निकला है। उसकी रचना ओजस्विनी और मनोहर है और उसमें सामयिक भावों का सफलता के साथ अनुकूल भाषा में सुन्दर चित्रण है। 'जुगलेश' जी का भी 'श्रद्धांजलि' नामक एक संग्रह ग्रन्थ निकल चुका है। उसकी कवितायें भी हृदय-ग्राहिणी और मनोमुग्धकर हैं। 'जुगलेश' और 'सरस' जी की कविता—पठन-शैली भी बहुत आकर्षक है। हम इस रसिक मण्डल की उन्नति के कामुक हैं। आशा है कि इन सहृदयों और ब्रजभाषा के सच्चे सेवकों द्वारा वह यथेष्ट उन्नति लाभ कर सकेगा। 'रसाल' और 'सरस' की कुछ रचनायें नीचे लिखी जाती हैं:—

१—जामैं न सुमन फैलि फूलत फबीले कहूं
जामैं गाँस फाँस को विसाल जाल छायो है।
काया कूबरी है पोर पोर में पोलाई परी
जीवन विफल जासु विधि ने बनायो है।
ताहू पै दवारी वारि बंस-बंस नासिबे को
विधि ने सकल विधि ठाट ठहरायो है।
देखि हरियारी अपनायो ताहि बंसी करि
हरि ने रसाल अधरामृत पियायो है।

२—सुबरन स्यंदन पै सैलजा सुनंदन लौं
सुभट सुभद्रा सुत ठमकत आवै है।
सरस' बखानै कर बीर बास पूरो किये
श्री हरि सिंगार रस गमकत आवै है।

कैधों दिव्यदाम अभिराम आफताब आब
दाबतम तोम ताब तमकत आवै है ।
दमकत आवै चारु चोखो मुख मंद हास
कर बर चंद्रहाँस चमकत आवै है ।

५ आज दिन भी ब्रजभाषा के अनेक प्राचीन कवि जीवित हैं। खड़ी बोली की कविता करनेवालों में भी अनेक कवि ऐसे हैं जो खड़ी बोली के साथ ब्रजभाषा की कविता करने में प्रसिद्धि-प्राप्त हैं। अनेक युवकों का प्रेम भी ब्रजभाषा के प्रति अब भी देखा जाता है और वे ब्रजभाषा की रचना करने में ही आत्म-प्रसाद लाभ करते हैं। पंडित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' के नेतृत्व में कानपुर में भी ब्रजभाषा कविता की बहुत कुछ चर्चा पायी जाती है। उनको मण्डली में भी अनेक प्राचीन और नवयुवक जन ब्रजभाषा की सेवा के लिये आज भी कटिबद्ध हैं और तन्मयता के साथ अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रजभाषा की ओर से सर्वथा हिन्दी-प्रेमियों को विरक्ति हो गयी है। 'सनेही' जी का एक सिद्धांत है वे कहा करते हैं, जिस भाषा में सुन्दर भाव मिले, जिस रचना में कवित्व पाया जावे, जो सुन्दर, सरस पदावली का आधार हो उसका त्याग नहीं हो सकता। उनके इस विचार का उनकी मण्डलीवालों पर बड़ा प्रभाव है। और इस सूत्र से भी ब्रजभाषा को बड़ा सहारा मिल रहा है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि खड़ी बोलचाल की रचना का आजकल विशेष आदर है। कारण इसका यह है कि उसकी वही भाषा है जो गद्य की। उसमें सामयिकता भी अधिक है और वह समय की गति देख कर चल भी रही है। इसलिये उसे सफलता मिल रही है। फिर भी ब्रजभाषा अपना बहुत कुछ प्रभाव रखती है और आशा है, कि उसका यह प्रभाव अभी चिरकाल तक सुरक्षित रहेगा। आज दिन भी खड़ी बोली की कविता करनेवालों से ब्रजभाषा की कविता करने वालों की संख्या अधिक है।

इसी स्थान पर मैं ठाकुर गुरु भक्त सिंह बी० ए०. एल० एल० बी० की चर्चा भी आवश्यक समझता हूं। आप एक होनहार सुकवि हैं। आप की रचनाएं प्रकृति-निरीक्षण सम्बन्धिनी बिलकुल नये ढंगकी होती हैं। आपने अंगरेज़ी कवि वर्ड्सवर्थ का मार्ग ग्रहण किया है। प्राकृतिक छोटे से छोटे दृश्यों और पदार्थों का वर्णन वे बड़ी सहृदयता के साथ करते हैं। आप का भविष्य उज्ज्वल है। आप ने 'सरस सुमन' और 'कुसुम कुंज' नामक जिन दो ग्रंथों की रचना की है वे सरस और सुंदर हैं।

आज कल हिन्दी-संसार में छाया-वाद की रचनाओं की ओर युवक दल की रुचि अधिकतर आकर्षित है। दस-बारह वर्ष पहले जो भावनायें कुछ थोड़े से हृदयोंमें उदित हुई थीं, इन दिनों वे इतनी प्रबल हो गयी हैं कि उन्हीं का उद्घोष चारों ओर श्रुति-गोचर हो रहा है। जिस नवयुवक कवि को देखिये आज वही उसकी ध्वनि के साथ अपना कण्ठस्वर मिलाने के लिये यत्नवान है। वास्तव बात यह है कि इस समय हिन्दी भाषा का कविता-क्षेत्र प्रति दिन छायावाद की रचना की ओर ही अग्रसर हो रहा है। इस विषय में वाद-विवाद भी हो रहा है, तर्क-वितर्क भी चल रहे हैं, कुछ लोग उसके अनुकूल हैं, कुछ प्रतिकूल। कुछ उसको स्वर्गीय वस्तु समझते हैं और कुछ उसको कविता भी नहीं मानते। ये झगड़े हों, किन्तु यह सत्य है कि दिन दिन छायावाद की कविता का ही समादर बढ़ रहा है। यह देख कर यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसमें कोई बात ऐसी अवश्य है जिससे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और अधिक लोगों के हृदय पर उसका अधिकार होता जाता है।

संस्कृत का एक सिद्धान्त है—'समयमेव करोति बलाबलम्'। समय ही बलप्रदान करता है और अबल बनाता है। मेरा विचार है कि यह समय क्रान्ति का है। सब क्षेत्रों में क्रान्ति उत्पन्न हो रही है तो कविता क्षेत्र में क्रान्ति क्यों न उत्पन्न होती? दूसरी बात यह है कि आज कल योरोपीय विचारों; भावों और भावनाओं का प्रवाह भारतवर्ष में बह रहा है। जो कुछ विलायत में होता है उसका अनुकरण करने की चेष्टा यहां

की सुशिक्षित मण्डली द्वारा प्रायः होती है। इस शताब्दी के आरम्भ में ही रहस्यवाद की कविताओं का प्रचार योरप में हुआ। उमर खय्याम की रुबाइयों का अनुवाद योरप की कई भाषाओं में किया गया जिससे वहां की रहस्यवाद की रचनाओं को और अधिक प्रगति मिली। इन्हीं दिनों भगवती वीणापाणि के वरपुत्र कवीन्द्र रवीन्द्र ने कबीर साहब की कुछ रहस्यवाद की रचनाओं का अँगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया और उसकी भूमिका में रहस्यवाद की रचनाओं पर बहुत कुछ प्रकाश डाला। इसके बाद उनकी गीतांजलि के अँगरेज़ी अनुवाद का योरप में बड़ा आदर हुआ और उनको नोवल प्राइज़ मिला। कवीन्द्र रवीन्द्र का योरप पर यदि इतना प्रभाव पड़ा तो उनकी जन्मभूमि पर क्यों न पड़ता। निदान उन्हीं की रचनाओं और कीर्ति-मालाओं का प्रभाव ऐसा हुआ कि हिन्दी भाषी प्रान्तवाले भी उनकी इस प्रकार की रचनाओं का अनुकरण करने के लिये लालायित हुए। उनकी रचनाओं का असर यहाँ की छायावाद की कविताओं पर स्पष्ट दृष्टिगत होता है। कुछ लोगों ने तो उनका पद्य का पद्य अपना बना लिया है।

हमारे प्रान्त के हिन्दी भाषा के कुछ प्राचीन ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें रहस्य-वाद की रचना पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है। ऐसी रचना उन लोगों की है जो अधिकतर सूफ़ी सम्प्रदाय के थे। इस प्रकार की सबसे अधिक रचना कबीर साहब के ग्रंथों में मिलती है। जायसी के 'पद्मावत' और 'अखरावट' में भी इस प्रकार की अधिक कवितायें हैं। यह स्पष्ट है कि इन दोनों की रचनायें सूफ़ी प्रभाव से ही प्रभावित हैं। जायसी के अनुकरण में बाद को जितने प्रबंध-ग्रंथ मुसल्मान कवियों द्वारा लिखे गये हैं उनमें भी रहस्यवाद का रंग पाया जाता है। जब देखा गया कि इस प्रकार की रचनायें समय के अनुकूल हैं और वे प्रतिष्ठा का साधन बन सकती हैं तो कोई कारण नहीं था कि कुछ लोग उनकी ओर आकर्षित न होते। इस शताब्दी के आरम्भ में सूफ़ियाना ख़याल की जितनी उर्दू रचनायें हुई हैं उनका प्रभाव भी ऐसे लोगों पर कम नहीं पड़ा इसके अतिरिक्त इस प्रकार की रचनायें शृंगाररस का नवीन संस्करण भी हैं।

जब देश में देश-प्रेम का राग छिड़ा और ऐसी रचनायें होने लगीं जो सामयिक परिवर्त्तनों के अनुकूल थीं और श्रृंगार रस की कुत्सा होने लगी तो उसका छायावाद की रचना के रूप में रूपान्तरित हो जाना स्वाभाविक था। एक और बात है। वह यह है कि जब वर्णनात्मक अथवा वस्तु प्रधान (Objective) रचनाओं का बाहुल्य हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया भावात्मक अथवा भाव प्रधान (Subjective) रचनाओं के द्वारा हुये बिना नहीं रहती। दूसरी बात यह है कि व्यंजना और ध्वनि-प्रधान काव्य ही का साहित्य-क्षेत्र में उच्च स्थान है। इसलिये चिन्ताशील मस्तिष्क और भाव प्रवण हृदय इस प्रकार की रचनाओं की ओर ही अधिक खिंचता है। यह स्वाभाविकता भी है। क्योंकि वर्णनात्मक रचना में तरलता होती है और भावात्मक रचनाओं में गंभीरता और मोहकता। ऐसी दशा में इस प्रकार की रचनाओं की ओर कुछ भावुक एवं सहृदय जनों का प्रवृत्त हो जाना आश्चर्य्य जनक नहीं। क्योंकि प्रवृत्ति ही किसी कार्य का कारण होती है। छायावाद की कविताओं के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। 'छायावाद' शब्द कहाँ से कैसे आया, इस बात की अब तक मीमांसा न हो सकी। छायावाद के नाम से जो कवितायें होती हैं उनको कोई 'हृदयवाद' कहता है और कोई प्रतिबिम्बवाद। अधिकतर लोगों ने छायावाद के स्थान पर रहस्यवाद कहने की सम्मति ही दी है। किन्तु अबतक तर्क-वितर्क चल रहा है और कोई यह निश्चित नहीं कर सका कि वास्तव में नूतन प्रणाली की कविताओं को क्या कहा जाय। इस पर बहुत लेख लिखे जा चुके हैं, पर सर्व-सम्मति से कोई बात निश्चित नहीं की जा सकी। छायावाद की अनेक कवितायें ऐसी हैं जिनको रहस्यवाद की कविता नहीं कह सकते, उनको हृदयवाद कहना भी उचित नहीं, क्योंकि उसमें अति व्याप्ति दोष है। कौन सी कविता ऐसी है जिससे हृदय का सम्बन्ध नहीं? ऐसी अवस्था में मेरा विचार है कि 'छायावाद' ही नाम नूतन प्रणाली की कविता का स्वीकार कर लिया जाय तो अनेक तर्कों का निराकरण हो जाता है। यह नाम बहुत प्रचलित है और व्यापक भी बन गया है।

'रहस्य वाद' शब्दमें एकप्रकारकी गंभीरता और गहनता है। उसमें एक ऐसे गंभीर भाव की ध्वनि है जो अनिर्वचनीय है और जिस पर एक ऐसा आवरण है जिसका हटाना सुगम नहीं। किन्तु 'छायावाद' शब्द में यह बात नहीं पायी जाती। उसमें कोई अज्ञेय दृष्टिगत न हो, परन्तु कम से कम उसका प्रतिबिम्ब मिलता है और कविकर्म के लिये इतना अवलम्बन अल्प नहीं। इसलिये रहस्यवाद शब्द से छायावाद शब्द में स्पष्टता और बोधगम्यता है। छायावादका अनेक अर्थ अपने विचारानुसार लोगों ने किया है। परन्तु मेरा विचार यह है कि जिस तत्व का स्पष्टीकरण असम्भव है, उसकी व्याप्त छाया का ग्रहण कर उसके विषय में कुछ सोचना, कहना, अथवा संकेत करना असंगत नहीं। परमात्मा अचिन्तनीय हो, अव्यक्त हो, मन-वचन-अगोचर हो, परन्तु उसकी सत्ता कुछ न कुछ अवश्य है। उसकी यही सत्ता संसार के वस्तुमात्र में प्रतिबिम्बित और विराजमान है। क्या उसके आधार से उसके विषय में कुछ सोचना विचारना युक्तिसंगत नहीं। यदि युक्ति-संगत है तो इस प्रकार की रचनाओं को यदि छायावाद नाम दिया जावे तो क्या वह विडम्बना है? यह सत्य है कि वह अनिर्वचनीय तत्व अकल्पनीय एवं मन, बुद्धि, चित्त से परे है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसके विषयमें कुछ सोचविचार ही नहीं सकते। उसके अपरिमित और अनन्त गुणोंको हम न कह सकें, यह दूसरी बात है, किन्तु उसके विषय में हम कुछ कह ही नहीं सकते ऐसा नहीं कहा जा सकता। संसार-समुद्र अब तक बिना छाना हुआ पड़ा है। उसके अनन्त रत्न अब तक अज्ञातावस्था में हैं। परन्तु फिर भी मनीषियों ने उसकी अनेक विभूतियों का ज्ञान प्राप्त किया है। जिससे एक ओर मनुष्यों को सांसारिक और आध्यात्मिक कई शक्तियां प्राप्त हुईं और दूसरी ओर संसार के तत्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा और जाग्रत हो गयी। उस परम तत्व के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि छायावाद शब्द कीव्याख्या यदि कथित रूप में ग्रहण की जाय तो उसके नाम की सार्थकता में व्याघात उपस्थित न होगा। मेरी इन बातों को सुन कर कहा जा सकता है कि यह तो छायावाद को

रूपान्तर से रहस्यवाद का पर्य्यायवाची शब्द बनाना है। फिर रहस्यवाद शब्द ही क्यों न ग्रहण कर लिया जावे, छायावाद शब्द की क्लिष्ट कल्पना क्यों की जावे ? ईश्वर-सम्बन्धी विषयों के लिये यह कथन ठीक है । परंतु सांसारिक अनेक विषय और तत्व ऐसे हैं कि छायावाद की कविता में जिनका वर्णन और निरूपण होताहै। उन वर्णनों और निरूपणों को रहस्य-वाद की रचना नहीं कहा जा सकता। मैं समझता हूं, इस प्रकार की कविताओं और वर्णनों के लिये ही छायावाद नाम की कल्पना की गयी है। दूसरी बात यह है कि 'छायावाद' कहने से आजकल जिस प्रकार की कविता का बोध होता है वह बोध ही छायावाद का अर्थ क्यों न मान लिया जावे ? मेरा विचार यह है कि ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। अनेक रूढ़ि शब्दों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। आइए, एक दूसरे मार्ग से इस पर और विचार करें।

प्रातः काल फूल हँसते हैं। क्यों हँसते हैं ? यह कौन जाने। वे रंग लाते हैं, महकते हैं, मोती जैसी बूँदों से अपनी प्यास बुझाते हैं, सुनहले तारों से सजते हैं, किस लिये ! यह कौन बतलावे। एक काला-कलूटा आता है, नाचता है, गीत गाता है, भाँवरें भरता है, झुकता है, उनके कानों में न जाने क्या क्या कहता है रस लेता है और झूमता हुआ आगे बढ़ता है क्यों ? रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहने ताकती झाँकती अठखे-लियाँ करती एक रँगीली आती है, उनसे हिलती मिलती है, रंग रलियाँ मनाती है, उन्हें प्यार करती है, फिर यह गई वह गई, कहां गई ? कौन कहे। कोई इन बातों का ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सकता। अपने मन की सभी सुनाता है, पर पते की बात किसने कही। आँख उठा कर देखिये, इधर उधर, हमारे आगे पीछे पल पल ऐसी अनन्त लीलायें होती रहती हैं, परन्तु भेद का परदा उठानेवाले कहाँ हैं ? यह तो बहिर्जगत की बातें हुईं। अन्तर्जगत और विलक्षण है वहाँ एक ऐसा खिलाड़ी है जो हवा को हवा बनाता है, पानीमें आग लगाता है, आसमानके तारे तोड़ता है, आग चबाता है धरती को धूल में मिलाता है, स्वर्ग में फिरता है, नन्दनवन के फूल चुनता है और बैकुण्ठ में बैठ कर ऐसी हँसी हँसता है कि जिधर देखो

उधर बिजली कौंधने लगती है। संसार उसकी कल्पना है. कार्यकलाप, केलि और उत्थान पतन रंग-रहस्य। उसके तन नहीं परन्तु भव का ताना, बाना उसी के हाथों का खेल है। वह अंधा है किन्तु वही तीनों लोक की आँखों का उँजाला है। वह देवतों के दाँत खट्टे करता है, लोक को उँगलियों पर नचाता है, और उन गुत्थियों को सुलझाता है, जिनका सुलझाना हँसी खेल नहीं। जहाँ वह रहता है वहाँ की वेदनाओं में मधुरिमा है, ज्वालाओं में सुधा है, नीरवता में राग है, कुलिशता में सुमनता है और है गहनता में सुलभता। वहाँ चन्द्र नहीं, सूर्य्य नहीं, तारे नहीं, किन्तु वहाँ का आलोक विश्वालोक है। वहाँ बिना तार की तन्त्री बजती है, बिना स्वर का आलाप होता है, बिना बादल रस बरसता है। और बिना रूप रंग के ऐसे मनोहर अनन्त प्रसून विकसित होते हैं कि जिनके सौरभ से संसार सौरभित रहता है। वहिर्जगत और अन्तर्जगत का यह रहस्य है। इनका सूत्र जिसके हाथ में है, उसकी बात ही क्या! उसके विषय में मुँह नहीं खोला जा सकता। जिसने जीभ हिलाई उसी को मुँह की खानी पड़ी। बहुतों ने सर मारा पर सब सर पकड़ के ही रह गये।

सब सही, पर रहस्यभेद का भी कुछ आनन्द है। यदि समुद्र की अगाधता देख कर लोग किनारा कर लेते तो चमकते मुक्ता दाम हाथ न आते। पहाड़ों की दुर्गमता विचार कर हाथ पाँव डाल देते तो रत्न-राजि से अलंकृत न हो सकते। लोक ललाम लोकातीत हो, उसकी लीलायें लोकोत्तर हों, उनको लोचन न अवलोक सकें, गिरा न गा सके। उनके प्रवाह में पड़ कर विचार धारा डूब जावे, मतितरी भग्न हो और प्रतिभा विलीन। किन्तु उनके अवलम्बन भी तो वे ही हैं। उनका मनन, चिन्तन, अवलोकन ही तो उनके जीवन का आनन्द है। आकाश असीम हो, अनन्त हो तो हो, खगकुल को इन प्रपंचों से क्या काम? वह तो पर खोलेगा और जी भर उसमें उड़ेगा। उसके लिये यह सुख अल्प नहीं। पारावार अपार हो, लाखों मीलों में फैला हो अनभ्र स्पर्शी हो, मीन को इससे प्रयोजन नहीं। वह जितनी दूर में केलि करता फिरता है, उछलता

रहता है उतना ही उसका सर्वस्व है और वही उसका जीवन और अवलम्बन है। मनुष्य भी अपने भावानुकूल लोक ललाम की कल्पना करता है संसार के विकास में, उसकी विभूतियों में उस लीलामय की लीलायें देखता, मुग्ध होता और अलौकिक आनन्दानुभव करता है। क्या इसमें उसके जीवन की सार्थकता नहीं है? मनुष्यों में जो विशेष भावुक होते हैं, वे अपनी भावुकता को जिह्वा पर भी लाते हैं, उसको सुमनोपम कान्त पदावली द्वारा सजाते हैं, तरह तरह के विचार-सूत्र में गूथते हैं और फिर उसे सहृदयता सुन्दरी के गले का हार बनाते हैं। इस कला में जो जितना पटु होता है, कार्य्य-क्षेत्र में उसको उतनी ही सफलता हाथ आती है। उसकी कृतियां भी उतनी ही हृदय-ग्राहिणी और सार्वजनीन होती हैं। इसलिये परिणाम भी भिन्न भिन्न होता है। जो जितना ही आवरण हटाता है, जितना ही विषय को स्पष्ट करता है, जितना ही दुर्बोधता और जटिलताओं का निवारण करता है, वह उतना ही सफलीभूत और कृत कार्य समझा जाता है। यह सच है कि ऐसे भाग्यशाली सब नहीं होते। समुद्र में उतर कर सभी लोग मौक्तिक ले कर ऊपर नहीं उठते। अधिकांश लोग घोंघे, सिवार पाकर ही रह जाते हैं। किन्तु इससे उद्योग शीलता और अनुशीलन परायणता को व्याघात नहीं पहुँचता। रहस्य की ओर संकेत किया जा सकता है। उसका आभास सामने लाया जा सकता है, हृदय-दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है अन्तर्दृष्टि उसकी ओर खींची जा सकती है, क्या यह कम सफलता है? मनुष्य की जितनी शक्ति है, उस शक्ति से यथार्थ रीति से काम लेने से मनुष्यताकी चरितार्थता हो जाती है, और चाहिये क्या? रहस्य-भेद किसने किया? परमात्मा को ला कर जनता के सामने कौन खड़ा कर सका? तथापि संसार के जितने महज्जन हैं, उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन किया जिससे अनेक गुत्थियां सुलझीं। अब भी उद्योग करने से और बुद्धि से यथार्थता पूर्वक कार्य लेने से कितनी गुत्थियां सुलझ सकती हैं। इन गुत्थियोंके सुलझानेमें आनन्द है, तृप्ति है और है वह अलौकिक फल-लाभ जिससे मनुष्य जीवन स्वर्गीय बन जाता है। रहस्यवादकी रचनाओंकी ओर प्रवृत्त होनेका उद्देश्य यही है। जो लोग इस तत्वको यथार्थ

रीतिसे समझ कर उसकी ओर अग्रसर होते हैं वे वन्दनीय हैं और उनकी कार्य्या-वली अभिनन्दनीय है। उनका विरोध नहीं किया जा सकता। आधिभौतिक और आध्यात्मिक जितने कार्य्य-कलाप हैं उनका यथातथ्य ज्ञान एक प्रकार से असम्भव है। परन्तु उसकी कुछ न कुछ छाया या प्रतिबिम्ब प्रत्येक हृदय दर्पण में यथा समय पड़ता रहता है। कहीं यह छाया धुँधली होती है, कहीं उससे स्पष्ट, कहीं अधिकतर स्पष्ट। इसी का वर्णन अनुभूति और मेधा-शक्ति-द्वारा होता आया है अब भी हो रहा है, और आगे भी होगा। इन अनुभूतियों का प्रकाश वचन-रचना द्वारा करना प्रशंसनीय है, निन्द-नीय नहीं। चाहे उसको रहस्यवाद कहा जावे अथवा छाया वाद। इसका प्राचीन नाम रहस्यवाद ही है, जिसे अँगरेजी में (mysticism) मिस्टि-सिज्म कहते हैं। उसी का साधारण संस्करण छायावाद है। अतएव उस पर अधिक तर्क वितर्क उचित नहीं, उसके मार्ग को प्रशस्त और सुन्दर बनाना ही अच्छा है।

अब तक मैंने जो निवेदन किया है उसका यह अभिप्राय नहीं है कि छायावाद के नाम पर जो अनर्गल और बेसिर पैर की रचनायें हो रही हैं, मैं उनको प्रश्रय दे रहा हूं। मेरे कथन का यह प्रयोजन है कि गुण का आदर अवश्य होना चाहिये। अनर्गल प्रलाप कभी अभिनन्दनीय नहीं रहा उसका जीवन क्षणिक होता है, और थोड़े ही समय में अपने आप वह नष्ट हो जाता है। दूसरी बात यह कि सच्चे समालोचक और सत्समालोचना का कार्य्य ही क्या है? यही न कि साहित्य से उसकी बुराइयां दूर की जावें और जो भ्रान्त हैं उनको पथ पर लगाया जावे, जो चूके हैं उनको सुधारा जावे और साहित्यमें जो कूड़ा-करकट हो उसको निकाल बाहर किया जावे। दोष-गुण सब में हैं, गुण का ग्रहण और दोष का संशोधन एवं परिमार्जन ही वांछनीय है। छायावाद की अनेक रचनायें मुझ को अत्यन्त प्रिय हैं और मैं उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूं। जिनमें सरस ध्वनि और व्यंजना है उनका आदर कौन सहृदय न करेगा? क्या काँटों के भय से फूल का त्याग किया जावेगा। यह भी मैं मुक्त कंठ से कहता हूं कि छाया-

वादी कवियों ने खड़ी बोलचाल की कर्कशता और क्लिष्टता को बहुत कम कर दिया है। जैसे प्राचीन खड़ी बोली की रचनाओं का यह गुण है कि उन्होंने भाषा को बहुत परिमार्जित और शुद्ध बना दिया, उसी प्रकार छा-यावादी कविता का यह गुण है कि उसने कोमल कान्त पदावली ग्रहण कर खड़ी बोलचाल की कविता के उस दोष को दूर कर दिया जो सहृदय जनों को काँटों की तरह खटक रहा था।

संसार में जितनी विद्यायें हैं सब नियम-बद्ध हैं जितनी कलायें हैं सब सीखनी पड़ती हैं। उनकी भी रीति और पद्धति है। उनको उपेक्षा करना विद्या और कला को आघात पहुंचाना है। साहित्य का सम्बन्ध विद्या और कला दोनों से है। इस लिये जो उसकी पद्धतियाँ हैं उनका त्याग नहीं किया जा सकता। उनको परिवर्त्तित रूप में ग्रहण करें अथवा मुख्य रूप में, परन्तु उनके ग्रहण में ही कार्य्य-सिद्धि-पथ प्रशस्त हो सकता है। साहित्य यदि साध्य है तो नियम उसके साधन हैं। इस लिये उनको अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक प्रति-भावान पुरुष नई उद्भावनायें कर सकता है, और ये उद्भावनायें भी साधनाओं में गिनी जा सकती हैं। परन्तु उनका उद्देश्य साध्य मूलक होगा, अन्यथा वे उद्भावनायें उपयोगिनी न होंगी। गद्य लिखने के लिये छन्द की आव-श्यकता नहीं। किन्तु पद्य लिखें और यह कहें कि छन्दः प्रणाली बिलकुल व्यर्थ है तो क्या यह कहना यथार्थ होगा? यदि छन्दः प्रणाली व्यर्थ है तो पद्य-रचना हुई कैसे? कुछ नियमित अक्षरों और मात्राओं में जो रचना होती है वही तो पद्य कहलाता है। यह दूसरी बात है कि पद्य की पंक्तियों और अक्षरों की गणना प्रथम उद्भावित छन्दः—प्रणाली से भिन्न हो। किन्तु वह भी है छन्द ही, कोई अन्य वस्तु नहीं। ऐसी अवस्था में छन्द की कुत्सा करना मूल पर ही कुठाराघात करना है और उसी डाल को काटना है जो उसकी अवलम्बन स्वरूपा है। ऐसी ही बातें साहित्य के और अंगों के विषय में भी कही जा सकती हैं। हिन्दी साहित्य का जो वर्त्तमान रूप है वह अनेक प्रतिभावान पुरुषों की चिन्ताशीलता का ही परिणाम है। वह क्रमशः उन्नत होता और सुधरता आया है और नयीनयी उद्भावनाओं से भी लाभ उठाता

आया है। अब भी इस विषय में वह बहुत कुछ गौरवित हो सकता है, यदि उसको सुदृष्टि से देखा जाय। चाहिये यही कि उसका मार्ग और सुंदर बनाया जावे न यह कि उसमें काँटे बिछाये जावें और उच्छृङ्खलता को स्वतंत्रता कह कर उसकी बची-खुची प्रतिष्ठा को भी पद-दलित किया जावे। परमात्माने जिसको प्रतिभा दी है, कविता शक्ति दी है, विद्वत्ता दी है, और प्रदान की है वह मनोमोहिनी उक्ति जो हृदयों में सुधाधारा बहाती है, वह अवश्य राका-मयंक के समान चमकेगा और उसकी कीर्ति कौमुदी से साहित्य-गगन जगमगा उठेगा और वे तारे जो चिरकाल से गगन को सुशोभित करते आये हैं अपने आप उसके सामने मलीन हो जावेंगे। वह क्यों ऐसा सोचे कि आकाश के तारक-चयको ज्योति-विहीन बना कर ही हम विकास प्राप्त कर सकेंगे। हिन्दी साहित्य की वर्तमान परिस्थिति को देख कर मुझको ये कतिपय पंक्तियाँ लिखनी पड़ीं। मेरा अभिप्राय यह है कि साहित्य-क्षेत्र में जो अवांछनीय असंयत भाव देखा जा रहा है उसकी ओर हमारे भगवती वीणापाणि के वर पुत्र देखें और वह पथ ग्रहण करें जिसमें सरसता से बहती हुई साहित्य-रस की धारा आविल होने से बचे और उनके 'छायावाद' की रचनाओं को वह महत्व प्राप्त हो जो वांछनीय है।

यह देखा जाता है कि युवकदल अधिकतर आजकल छायावाद की रचनाओं की ओर आकर्षित है। युवक-दल ही समाज का नेता है, वही भविष्य को बनाता है और सफलता की कुंजी उसी के हाथ में होती है। उसके छायावाद की ओर खिंच जानेसे उसका भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, किन्तु उसको यह विचारना होगा कि क्या हिन्दी भाषा के चिर-संचित भांडार को ध्वंस करके और उस भाण्डार के धन के सञ्चय करने वालों की कीर्ति को लोप कर के ही यह उज्ज्वलता प्राप्त होगी? इतिहास यह नहीं बतलाता। जो रत्न हमारी सफलता का सम्बल है, उसको फेंक कर हमारी इष्ट-सिद्धि नहीं हो सकती। भविष्य बनाने के लिये वर्तमान आवश्यक है, परन्तु भूत पर भी दृष्टि होनी चाहिये। हम योग्य न हों और योग्य बनने का दावा करें, हमारा ज्ञान अधूरा हो और हम बहुत बड़े ज्ञानी होने की डींग हाँकें, हम कवि पुंगव होने का गर्व करें और साधारण कवि होने की भी योग्यता न

रक्खें, छायावाद की कविता लिखें और यह जानें भी नहीं कि कविता किसे कहते हैं, धूल उड़ावें प्राचीन कविवरों की और करने बैठें कवि-कर्म्म की मिट्टी पलीद, तो बताइये हमारी क्या दशा होगी ? हम स्वयं तो मुँह की खायेंगे ही, छायावाद की आँखें भी नीची करेंगे। आजकल छायावाद के नाम पर कुछ उत्साही युवक ऐसी ही लीला कर रहे हैं। मेरी उनसे यह प्रार्थना है कि यदि उनमें छायावाद का सच्चा अनुराग है तो अपने हृदय में वे उस ज्योति की छाया पड़ने दें, जिससे उनका मुख उज्ज्वल हो और 'छायावाद' का सुन्दर कविताक्षेत्र उद्भासित हो उठे। मेरा विचार है कि छायावाद कविता-प्रणाली का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। जैसे पावस का तमोमय पंकिल काल व्यतीत होनेपर ज्योतिर्मय स्वच्छ शरद ऋतु का विकास होता है वैसे ही जो न्यूनतायें 'छायावाद' के क्षेत्र में इस समय विद्यमान हैं वे दूर होंगी और वह वांछनीय पूर्णता को प्राप्त होगी। किंतु यह तभी होगा जब युवक-दल अपनी इष्ट-सिद्धि के लिये भगवती वीणापाणि की सच्ची आराधना के लिये कटिबद्ध होगा।

किसी किसी छायावादी कवि का यह विचार है कि जो कुछ तत्व है वह छायावाद की कविता ही में है। कविता-सम्बन्धी और जितने विभाग हैं वे तुच्छ ही नहीं, तुच्छातितुच्छ हैं और उनमें कोई सार नहीं। अपना विचार प्रगट करने का अधिकार सब को है, किन्तु विचार प्रगट करने के समय तथ्य को हाथ से न जाने देना चाहिये। जो छायावाद के अथवा रहस्यवाद के आचार्य कहे जाते हैं, क्या उन्हों ने आजीवन रहस्यवाद की ही रचना की ? प्राचीन कवियों में ही हम प्रसिद्ध रहस्यवादी कबीर और जायसी को ले लें तो हमें ज्ञात हो जायेगा कि सौ पद्यों में यदि दस पाँच रचनायें उनकी रहस्यवाद की हैं तो शेष रचनायें अन्य विषयों की। क्या उनकी ये रचनायें निन्दनीय अनुपयुक्त तथा अनुपयोगी हैं ! नहीं, उपयोगी हैं और अपने स्थान पर उतनी ही अभिनन्दनीय हैं जितनी रहस्यवाद की रचनायें। एक देशीय ज्ञान अपूर्ण होता है और एकदेशीय विचार अव्यापक। जैसे शरीर के सब अंगों का उपयोग अपने अपने स्थानों पर

हैं, जैसे किसी हरे वृक्ष का प्रत्येक अंश उसके जीवन का साधन है. उसी प्रकार साहित्य तभी पुष्ट होता है जब उसमें सब प्रकार की रचनायें पायी जाती हैं, क्योंकि उन सब का उपयोग यथा स्थान होता है। जो कविता आन्तरिक प्रेरणा से लिखी जाती है जिसमें हृतंत्री की झंकार मिलती है, भावोच्छ्वासका विकास पाया जाता है. जिसमें सहृदयता है. सुन्दर कल्पना है. प्रतिभा तरंगायित है. जिसका वाच्यार्थ स्पष्ट है. सरल है. सुबोध है, वही सच्ची कविता है. चाहे जिस विषय पर लिखी गयी हो और चाहे जिस भाषामें हो। कौन उसका सम्मान न करेगा और कहाँ वह आदृत न होगी ? कवि हृदय को उदार होना चाहिये. वृथा पक्षपात और खींच तान में पड़ कर उसको अपनी उदात्त वृत्ति को संकुचित न करना चाहिये। मेरा कथन इतना ही है कि एक देशीय विचार अच्छा नहीं. उसको व्यापक होना चाहिये। किसी फूल में रंग होता है. किसी का गठन अच्छी होती है. किसी का विकास सुन्दर होता है. किसी में सुगन्धि पाई जाती है— सब बात सब फूलों में नहीं मिलती। कोई ही फूल ऐसा होता है जिसमें सब गुण पाये जाते हैं। जिस फूल में सब गुण हैं, यह कौन न कहेगा कि वह विशेष आदरणीय है। परन्तु अन्यों का भी कुछ स्थान है और उपयोग भी। इस लिये जिसमें जो विशेषता है वह स्वीकार-योग्य है, उपेक्षणीय नहीं। कला का आदर कला की दृष्टि से होना चाहिये। यदि उसमें उपयोगिता मिल जावे तो क्या कहना। तब उसमें सोना और सुगंध-वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

कवि-कर्म्म का विशेष गुण वाच्यार्थ की स्पष्टता है। प्रसाद गुणमयी कविता ही उत्तम समझी जाती है। वैदर्भी वृत्ति का ही गुण गान अबतक होता आया है। किन्तु यह देखा जाता है कि छायावादी कुछ कवि इसकी उपेक्षा करते हैं और जान बूझ कर अपनी रचनाओं को जटिल से जटिल बनाते हैं, केवल इस विचार से कि लोग उसको पढ़ कर यह समझें कि उनकी कविता में कोई गूढ़ तत्व निहित है. और इस प्रकार उनको उच्च कोटि का रहस्यवादी कवि होनेका गौरव प्राप्त हो। ऐसा इस कारण से भी होता है कि

किसी किसी का भावोच्छ्वास उनको उस प्रकार की रचना करने के लिये वाध्य करता है। वे अपने विचारानुसार उसको बोधगम्य ही समझते हैं, पर भाव-प्रकाशन में अस्पष्टता रह जाने के कारण उनकी रचना जटिल बन जाती है। कवि-कर्म्म की दृष्टि से यह दोष है। इससे बचना चाहिये। यह सच है कि गूढ़ता भी कविता का एक अंग है। गम्भीर विषयों का वर्णन करने में या अज्ञेयवाद की ओर आकर्षित हो कर अनुभूत अंशों के निरूपण करने में गूढ़ता अवश्य आ जाती है किन्तु उसको बोधगम्य अवश्य होना चाहिये। यह नहीं कि कवि स्वयं अपनी कविता का अर्थ करने में असमर्थ हो। वर्त्तमान काल की अनेक छायावादी कवितायें ऐसी हैं कि जिनका अर्थ करना यदि असंभव नहीं तो बहु कष्ट साध्य अवश्य है। मेरा विचार है, इससे छायावाद का पथ प्रशस्त होने के स्थान पर अप्रशस्त होता जाता है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कविता में कुछ ऐसी गिरह होनी चाहिये जिसके खोलने की नौबत आवे। जो कविता बिलकुल खुली होती है उसमें वह आनंद नहीं प्राप्त होता, जो गिरह वाली कविता की गुत्थी सुलझाने पर मिलता है। किन्तु यह गिरह या गाँठ दिल की गाँठ न हो जिसमें रस का अभाव होता है। सुनिये एक सुकवि क्या कहता है:—

सम्मन रस की खानि, सो हम देखा ऊख में।
ताहू में एक हानि, जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं।

कविता यदि द्राक्षा न बन सके तो रसाल ही बने, नारिकेल कदापि नहीं। साहित्य-मर्मज्ञों की यही सम्मति है। किसी किसी का यह कथन है कि भावावेश कितनों को दुरूहतर कविता करने के लिये वाध्य करता है। मेरा निवेदन यह है कि वह भावावेश किस काम का जो कविता के भाव को अभाव में परिणत करदे। भावुकता और सहृदयता की सार्थकता तभी है जब वह असहृदय को भी सहृदय बना ले। जिसने सहृदय को असहृदय बना दिया वह भावुकता और सहृदयता क्या है, इसे सहृदय जनही समझें।

छायावाद की कवितायें व्यंजना और ध्वनि-प्रधान होती हैं। वाच्यार्थ से जहां व्यंजना प्रधान हो जाती है वही ध्वनि कहलाती है। छायावाद की

कविता में इसकी अधिकता मिलती है। इसी लिये वह अधिक हृदय-ग्राहिणी हो जाती है। छायावादी कवि किसी बात को बिलकुल खोल कर नहीं कहना चाहते। वे उसको इस प्रकार से कहते हैं जिससे उसमें एक ऐसी युक्ति पायी जाती है जो हृदय को अपनी ओर खींच लेती है। वे जिस विषय का वर्णन करते हैं उसकी ऊपरी बातों का वर्णन कर के ही तुष्ट नहीं होते। वे उसके भीतर घुसते हैं और उससे सम्बन्ध रखनेवाली तात्विक बातों को इस सुंदरतासे अंकित करते हैं, जिससे उनकी रचना मुग्धकारिणी बन जाती है। वे अपनी आन्तरिक वृत्तियों को कभी साकार मान कर इनकी बातें एक नायक नायिका की भांति कहते हैं, कभी सांसारिक दृश्य पदार्थों को लेकर उसमें कल्पना का विस्तार करते हैं और उसको किसी देव-दुर्लभ वस्तु अथवा किसी व्यक्ति-विशेषके समान अंकित करते हैं। कभी वे अपनी ही सत्ता को प्रत्येक पदार्थ में देखते हैं और उसके आधार से अपने समस्त आन्तरिक उद्गारोंको प्रकट करते हैं। उनकी वेदनायें तड़पती हैं, रोती-कलपती हैं, कभी मूर्तिमयी आह बन जाती हैं, और कभी जलधरों समान अजस्र अश्रु विसर्जन करने लगती हैं। उनकी नीरवता में राग है, उनके अन्धकार में अलौकिक आलोक और उनकी निराशामें अद्भुत आशा का संचार। वे ससीम में असीम को देखते हैं, बिन्दु में समुद्र की कल्पना करते हैं, और आकाश में उड़ने के लिये अपने विचारों को पर लगा देते हैं। आलोकमयी रजनी को कलित कौमुदी की साड़ी पहिना कर, और तारकावली की मुक्त माला से सुसज्जित कर, जब उस चन्द्रमुख से सुधा बरसाते हुये वे किसी लोकरंजन की ओर गमन करते अंकित करते हैं, तो उसमें एक लोकरंजिनी नायिका-सम्बन्धिनी समस्त लीलाओं और कलाओं की कल्पना कर देते हैं, और इस प्रकार अपनी रचनाओं को लालित्य मय बना देते हैं। उनकी प्रतिभा विश्वजनीन भावों की ओर कभी मन्थर गति से, कभी बड़े वेग से गमन करती है और उनके समागम से ऐसा रस सृजन करती है, जो अनेक रसिकों के हृदय में मन्द मन्द प्रवाहित हो कर उसे स्वर्गीय सुख का आस्वादन कराती है। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि उनकी रचना अधिकतर भाव प्रधान (Subjective)

होती है, वस्तुप्रधान (objective) नहीं। इसीसे उसमें सरसता, मधुरता और मन मोहकता होती है। मैंने उनके लक्ष्य की ही बात कही है। मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि छायावाद के नाम पर जितने कविता करनेवाले हैं, उनको इस लक्ष्य की ओर गमन करने में पूरी सफलता मिलती है। छायावाद के कुछ प्रसिद्ध कवि ही इस लक्ष्य को सामने रख कर अपनी रचना को तदनुकूल बनाने में कुछ सफल हो सके हैं। अन्यों के लिये अब तक वह वैसा ही है जैसा किसी बामन का चन्द्रमा को छूना। किन्तु इस ओर प्रवृत्ति अधिक होने से इन्हीं में से ऐसे लोग उत्पन्न होंगे जो वास्तव में अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल होंगे। अभ्यास की आदिम अवस्था ऐसी ही होती है। किन्तु असफलता ही सफलता की कुंजी है। एक बात यह अवश्य देखी जाती है कि छायावाद के अधिकांश कवियों की दृष्टि न तो अपने देश की ओर है, न अपनी जाति और समाज की ओर. हिन्दू जाति आज दिन किस चहले में फँसी है, वे आँख से उसको देख रहे हैं पर उनकी सहानुभूति उसके साथ नहीं है। इसको दुर्भाग्य छोड़ और क्या कहें। जिसका प्रेम विश्वजनीन है वह अपने देश के, जाति के, परिवार के कुटुम्ब के दुख से दुखी नहीं, इस को विधि-विडम्बना छोड़ और क्या कहें? शृंगारिक कवियों की कुत्सा करने में जिनकी लेखनी सहस्रमुखी बन जाती है, उनमें इतनी आत्म-विस्मृति क्यों है? इसको वे ही सोचें। यदि शृंगार-रस में निमग्न होकर उन्होंने देश को रसातल पहुंचाया तो विश्वजनीन प्रेम का प्रेमिक उनको संजीवनी सुधा पिला कर स्वर्गीय सुख का अधिकारी क्यों नहीं बनाता? जिस देश, जाति और धर्म की ओर उनकी इतनी उपेक्षा है, उनको स्मरण रखना चाहिये कि वह देश जाति और धर्म ही इस विश्वजनीन महामंत्र का अधिष्ठाता, स्रष्टा और ऋषि है। जो कवीन्द्र रवीन्द्र उनके आचार्य्य और पथ-प्रदर्शक हैं उन्हीं का पदानुसरण क्यों नहीं किया जाता? कम से कम यदि उन्हीं का मार्ग ग्रहण किया जाय तो भी निराशा में आशा की झलक दृष्टिगत हो सकती है। यदि स्वदेश-प्रेम संकीर्णता है तो विश्वजनीन-प्रेम की दृष्टि से ही अपने देश को क्यों नहीं देखा जाता? विश्व के अंतर्गत वह भी तो है।

यदि संसार भर के मनुष्य प्रेम-पात्र हैं तो भरत-कुमार स्नेह भाजन क्यों नहीं ? क्या उनकी गणना विश्व के प्राणियों में नहीं है ? यदि सत्य का प्रचार किया जा रहा है. प्रेम की दीक्षा दी जा रही है, विश्व-बंधुत्व का राग अलापा जा रहा है, तो क्या भारतीय जन उनके अधिकारी नहीं । जो अपना है. जिस पर दावा होता है उसी को उपालम्भ दिया जाता है। जिससे आशा होती है, उसी का मुँह ताका जाता है। मैंने जो कुछ यहां लिखा है वह ममता-वश होकर, मत्सर से नहीं। मैंने इसकी चर्चा यहां इस लिये की कि यदि छायावाद की रचना ही सर्वे सर्वा है. तो इसमें इन भावों का सन्निवेश भी पर्य्याप्त मात्रा में होना चाहिये. अन्यथा हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में एक ऐसी न्यूनता हो जावेगी, जो युवकों के एक उल्लेख-योग्य दल को भ्रान्त ही नहीं बनावेगी. देश के समुन्नति-पथ में भी कुसुम के बहाने वे कंटक बिछावेगी जो भारतीय-हित-प्रेमिक पथिकों के लिये अनेक असमंजसों के हेतु होंगे। मैंने जो विचार एक सदुद्देश्य से यहाँ प्रकट किये हैं यदि कार्य्यतः उनको भ्रान्त सिद्ध कर दिया जावेगा तो मैं अपना अहोभाग्य समझूंगा।

छायावाद की कविता पर मैंने अपने विचारानुसार जो प्रकाश डाला, सम्भव है उस का कुछ अंश रंजित हो। परन्तु मैंने सत्य बात को प्रकट करने ही की चेष्टा की है। सम्भव है. अपेक्षित ज्ञान न होने के कारण मैं उसके सर्व्वांशका परिचय न दे सका होऊँ। परन्तु जो कुछ मैंने लिखा है, आशा है उससे उसकी प्रणालीका कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य पाठकोंको होगा। अब मैं उन लोगों की चर्चा करना चाहता हूं जो उसके प्रसिद्ध कवि और उद्भावक हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ कर आशा है, आप लोगों का ज्ञान छायावाद के विषय में और अधिक हो जायेगा। छायावाद के कवियों की बहुत बड़ी संख्या है। परन्तु उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिन्होंने थोड़े ही दिन से इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। मैं पहले उन्हीं लोगों के विषय में कुछ लिखूंगा जिन्हों ने प्रसिद्ध प्राप्त कर ली है और जो छायावाद के मान्य कवि हैं। इसके उपरान्त कुछ ऐसे लोगों की भी चर्चा करूंगा, जो छायावाद के क्षेत्र में बहुत कुछ अग्रसर हो चुके हैं:—

१—सब से पहले मेरी दृष्टि बाबू जयशंकर प्रसाद पर पड़ती है। आप ने छायावाद के कई ग्रन्थ लिखे हैं। पहले आप भी व्रजभाषा में ही कविता करते थे। खड़ी बोली के आन्दोलन के समय खड़ी बोली में कविता करने लगे। अब छायावाद कविता का पथ प्रशस्त करने में दत्तचित्त हैं। आप की रचना सुन्दर और भावमयी है, भाषा भी भावानुगामिनी है। आप के कुछ पद्य नीचे लिखे जाते हैं:—

१—भूलि भूलि जात पद कमल तिहारो कहो
ऐसी नीति मूढ़ मति कीन्ही है हमारी क्यों।
धाय के धंसत काम क्रोध सिंधु संगम में
मन की हमारे ऐसी गति निरधारी क्यों।
झूठे जग लोगन में दौरि के लगत नेह
सांचे सच्चिदानन्द में प्रेम ना सुधारी क्यों।
बिकल बिलोकत न हिय पीर मोचत हो
ए हो दीनबन्धु दीन बन्धुता बिसारी क्यों ?

ले चल वहाँ भुलावा दे कर
मेरे नाविक धीरे धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।
जहाँ साँझ सी जीवन छाया
ढीले अपनी कोमल काया।
नील नयन से ढुलकाती हो
ताराओं की पाँति घनीरे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में
विश्व चित्रपट चल माया में।
विभुता पड़े दिखायी विभुसी
दुख सुख वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज बेला से
जहाँ सृजन करते मेला से।
अमर जागरण उषा नयन से
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

२—पं० सुमित्रानंदन पन्त की गणना भी प्रसिद्ध छायावादी कवियों में है। उन्होंने दो तीन ग्रन्थ भी लिखे हैं, 'पल्लव' इन का सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनकी रचनायें एक अनूठापन लिये हुये हैं, जिनमें इनकी हृत्तंत्री बड़ी मधुरता से झंकृत होती है। इनकी अधिकतर कवितायें भाव-प्रधान हैं, उस में मार्मिकता भी पायी जाती है। जितने युवक छायावादी कवि हैं उनमें इनका प्रधान स्थान है, और वास्तव में ये हैं भी इस योग्य। इनकी कुछ रचनायें देखिये:—

॥ सुख-दुख ॥

मुझको न चाहिये चिर सुख
चाहिये न रे अविरत दुख।
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।
सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से।
दुख-सुख से औ सुख-दुख से
अविरत दुख है उत्पीड़न ।
अविरत सुख भी उत्पीड़न
सोता जगता जग-जीवन ।
यह साँझ उषा का आँगन
आलिंगन विरह मिलन का ।
चिरहास अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का ।

याचना।

बना मधुर मेरा जीवन
नव नव सुमनों से चुन चुन कर
धूल सुरभि मधु-रस हिम कण ।
मेरे उरकी मृदु कलिका में
भरदे करदे विकसित मन ।
बना मधुर मेरा भाषण
वंशी से ही करदे मेरे सरल प्राण औ सरस वचन ।
जैसा जैसा मुझको छेड़ें बोलूं और अधिक मोहन ।
जो अकर्ण अहि को भी सहसा करदे मंत्रमुग्ध नतफन ।
रोम रोम के छिद्रों से मां फूटे तेरा राग गहन ।
बना मधुर मेरा तन मन

३—पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' छायावादियोंमें सबसे निराले हैं। यदि प्राचीनों के प्रति किसी छायावादी में कुछ श्रद्धा और प्रेम है तो इन्हीं में। इनमें सहृदयता भी अधिक है। ये सरस और भावमय रचना का आदर करते हैं, वह चाहे जहाँ मिले। इनकी रचनाओं में इस भावकी सची झलक मिलती है। इनमें मनस्विता अधिक है, इस लिये उसका विकास भी इनकी कृतियों में यथेष्ट मिलता है। बंगाल में अधिकतर रहने के कारण उनकी रचनाओं में बंगभाषा के कवियों का भाव और ढंग भी पाया जाता है। भाव प्रकाशन-शैली इनकी गंभीर है किन्तु इतनी नहीं कि वह बोधगम्य न हो। छायावादी कवियों में इनका भी विशेष स्थान है। इनकी दो कविता पुस्तकें भी निकल चुकी हैं, जो सरस और सुन्दर हैं उनके कुछ पद्य देखिये:—

॥ गीत ॥

जग का एक देखा तार
कण्ठ अगणित देह सप्तक मधुर स्वर झंकार।
बहु सुमन बहु रंग निर्मित एक सुन्दर हार।
एक मृदु कर से गुँथा उर एक शोभा भार।
गंध अगणित मंद नंदन विश्ववंदन सार।
सकल उर चंदन अलौकिक एक अनिल उदार।
सतत सत्य अनादि निर्मल सकल सुख-विस्तार।
अयुत अधरों में सुसिंचित एक किंचित प्यार।
तत्व नभ-तम में सकल भ्रम शेष प्रेमाकार।
अलक-मंडल में यथा मुखचन्द्र निरलंकार।

४—पं० मोहन लाल महतो कवि हैं और चित्रकार भी। इस लिये वे चित्रण कला का मर्म पहचानते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं का रंग मनोहर होता है। उसमें भावों का ऐसा सुन्दर विकास होता है कि जटिलता नहीं आने पाती। छायावादी कवि होकर भी प्रांजल कविता

करने की ओर आप की रुचि अभिनन्दनीय है। आप के दो ग्रंथ निकल चुके हैं और दोनों सुन्दर हैं। उनकी कुछ रचनायें देखिये:—

॥ वरदान ॥

मिले अधरों को वह मुसकान
जिसे देख सहृदय का अन्तर भर जावे भगवान।
नयनों को ऐसी चितवन दे जो करुणा छलकादे।
री दें वीणापाणि कण्ठ को देना ऐसे गान।
मिले हृदय जिसकी धड़कन से मिलो विश्वतंत्री हो।
न्योछावर होना सिखला दें देना ऐसे प्राण।
इस कवि को ऐसे अवरोहण आरोहण सिखलाना।
हों जिसके अनुरूप जगत के पतन और उत्थान।
दे ऐसी तन्मयता जिसमें अपनापन खो बैठूं।
फिर तुझको अपने में पाऊं दे ऐसे वरदान।

तुम्हारे अश्रु कणों का दान
नयनों को इस सजल भीख पर है सकरुण अभिमान।
यौवन की मधुमय दोपहरी में अपनापन भूला।
शतदल की पंखड़ियों से मिल विकसित होते प्राण।
आलोकित था अन्तरतर किसकी मुसकान विभा से।
सुला रहे थे चेतनता को थपकी देकर गान।
था निसर्ग प्याला सारी सुखमा मादक मदिरा थी।
मैं पीता था और पिलाता था कोई अनजान।
तू करुणामय करुणा में था ये आँखें पगली थीं।
तू रोदन में मैं विनोद में था विलीन भगवान।

अच्छा किया छिपा छलना से ममता पूर्ण खिलौना।
मिथ्या सुख विस्मृति को अपनी ओर दिलाया ध्यान।
सर्वशून्य जीवन का तू है आशामय आधार।
तेरी निर्ममता में है करुणा का छिपा प्रमाण।

५—बाबू सत्यप्रकाश एम० एस० सी० की एक ही पुस्तक निकली है उसका नाम है प्रतिबिम्ब किन्तु उस एक ही पुस्तक से उनकी सरस हृदयता का पता चलता है। उसमें जितनी रचनायें हैं परिमार्जित रुचि की हैं और यह बतलाती हैं कि उनका लेखक चिन्ताशील और कवि-कर्म्म का मर्मज्ञ है। उनकी रचनामें प्रवाह है और मधुरता भी। उन्होंने अपनी रचनामें जटिलता नहीं आनेदी. यह प्रशंसा की बात है। उनके कुछ पद्य देखिये:—

सान्त बना कर मुझ को नट वर का हो जाना परम अनन्त।
निर्जन बन में मुझे छोड़ कर भट काना जीवन पर्यन्त।
संख्यातीत रूप धारण कर बहला कर भग जाना।
मेरी फिर इस विकट व्यथा पर कभी कभी मुसकाना।
लीला यह सवज्ञ शक्य की उसके यदि येही व्यापार।
तो फिर कैसे सान्त पथिक का हो सकता है अब उद्धार।

६—श्रीमती महादेवी वर्म्मा बी० ए० पहली महिला हैं जिन्होंने छायावाद की रचना प्रारम्भ की है। स्त्री हृदय में जो स्वाभाविक कोमलता होती है, इनकी रचनाओं में वह पायी जाती है। स्त्री-सुलभ भावों का चित्रण यथार्थ रीति से स्त्री ही कर सकती है। इनके पद्यों को पढ़कर यह बात असंदिग्ध हो जाती है। उनमें स्थान स्थान पर जटिलता है, किन्तु मधुर कोमलकान्त पदावली में वह छिप जाती है। इनके कोई कोई पद्य इतने भावमय हैं कि यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनमें भावुकता की मात्रा यथेष्ट है। उनके कुछ पद्य देखिये—

कहीं से आयी हूं कुछ भूल।
रह रह कर आतीसुधि किसकी, रुकतीसी गति क्योंजीवनकी
क्यों अभाव छाये लेता, विस्मृति सरिता के कूल।

किसी अश्रु मय घन का हूं कन टूटी स्वर-लहरी का कम्पन।
या ठुकराया गिरा धूलि में हूँ मैं नभ का फूल।
दुख का कण हूँ या सुखका पल करुणा का घन या मरुनिर्जल
जीवन क्या है मिला कहाँ सुधि बिसरी आज समूल।
प्याले में मधु है या आसव बेहोशी है या जागृति नव।
बिन जाने पीना पड़ता है ऐसा विधि प्रतिकूल।

अब छायावाद के कुछ अग्रसर कविता लेखकों की चर्चा करता हूं:—

१—पंडित माखनलाल चतुर्वेदी आरम्भ काल से ही छायावादी कविता के प्रेमी हैं। जहां तक मेरा ज्ञान है उन्होंने जब लिखी तब छायावादी कविता ही लिखी। उनकी रचनायें थोड़ी हैं, परन्तु हैं बड़ी भावमयी और सुन्दर। यदि मैं भूलता नहीं हूं तो यह कह सकता हूं कि पत्र-पत्रिकाओं में 'भारतीय आत्मा' के नाम से जितनी कवितायें निकली हैं वे सब उन्हीं की कृति हैं। चतुर्वेदी जी की वक्तृताओं में जैसा प्रवाह होता है वैसा ही प्रवाह उनकी रचनाओं में भी है। उनकी अधिकांश रचनायें मर्म-स्पर्शिनी हैं। मैं समझता हूं, आप ही ऐसे छायावादी कवि हैं जिनकी रचनाओं में देश प्रेम का रंग यथेष्ट पाया जाता है। उनकी कुछ रचनायें देखिये:—

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूं भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बन माली उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।

२—पं० बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' छायावादी कविता करने में कुशल हैं। वे अपनी रचनाओं के लिये बहुत कुछ प्रशंसा प्राप्त कर चुके हैं। उनका

मानसिक उद्गार ओजमय होता है। इसलिये उनकी रचनाओं में भी यह ओज पाया जाता है। वे कभी कभी ऐसी रचनायें करते हैं जिनसे चिनगांरियां कढ़ती दृष्टिगत होती हैं। परन्तु जब शान्त चित्त से कविता करते हैं तो उनमें सरसता और मधुरता भी पायी जाती है। उनकी कविता भावमयी के साथ प्रवाहमयी भी होती है। उनमें देश प्रेम भी है, एक पद्य देखिये:—

साक़ी

साक़ी मन घन गन घिर आये उमड़ी श्याम मेघमाला।
अब कैसा बिलम्ब तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला।
तनके रोमरोम पुलकित हों लोचन दोनों अरुण चकितहों।
नस नस नव झंकार कर उठे हृदय विकम्पित हो हुलसितहो।
कब से तड़प रहे हैं, ख़ाली पड़ा हमारा यह प्याला।
अब कैसा बिलम्ब साक़ी भर भर ला अंगूरी हाला।
और और मन पूछ दिये जा मुंह माँगे बरदान लिये जा।
तू बस इतना ही कह साक़ी और पिये जा और पियेजा।
हम अलमस्त देखने आये हैं तेरी यह मधुशाला।
अब कैसा बिलम्ब—
बड़े बिकट हम पीने वाले तेरे गृह आये मतवाले।
इसमें क्या संकोच लाज क्या भर भर ला प्याले पर प्याले।
हमसे बेढब प्यासों से पड़ गया आज तेरा पाला।
अब कैसा बिलम्ब—
तू फैला दे मादक परिमल जगमें उठे मदिर रस छल छल।
अतल बितल चल अचल जगतमें मदिरा,
झलक उठे झल झल।

कल् कल् छल् छल् करती बोतल से उमड़े मदिरा वाला ।
अब कैसा विलम्ब—

३—बाबू रामकुमार वर्म्मा एम० ए० ने थोड़े ही समय में छायावाद के क्षेत्र में अपना अच्छा नाम कर लिया। जैसा उनका कण्ठ मधुर है वैसी ही मधुर उनकी कविता भी है। कविता-पाठ के समय जैसा वे रस की वर्षा करते हैं वैसी ही रसमयी उनकी कविता भी है। इनका शब्द-चयन भी अच्छा है और भावानुकूल उसका प्रयोग करने में भी वे समर्थ हैं। जिस प्रकार की कविता उनकी होती है, वैसी कविताओं को वे छायावाद कहने को प्रस्तुत नहीं हैं। परन्तु प्रचलित परम्परानुसार उनकी कविता को भी मुझको छायावाद की कविता ही मानना पड़ा। उनकी कवितायें छायावाद न हों, जो हों, पर हैं हृदयग्राहिणी। इनके कुछ पद्य देखिये:—

रूपराशि

यह प्रशान्त छाया।
सोती है शिशु-पल्लव के हिलने से कम्पन आया।
प्रेयसि शयन धरा पर करने में है स्वर्गोल्लास।
देखो छाया पड़ी हुई है मृत पल्लव के पास।
और तुम्हारे उर में जो है भाग्यवान वह हार।
कभी गिरेगा भूपर लेकर अपना सुखा भार।
आओ हम दोनों समीप बैठें देखें आकाश।
वे दोनों तारे देखो कितने कितने हैं पास।

उपसंहार

हिन्दी साहित्य का विकास किस प्रकार हुआ और कब कब वह किन किन रूपों में कैसे परिणत हुआ, मुझको यही प्रकट करना इष्ट था। यह यथासम्भव प्रकट किया गया। इतना ही नहीं, इस विषय में जितने

आवश्यक साधन थे उन को भी ग्रहण किया गया। हिन्दी भाषा का वर्त्तमान रूप बहुत समुन्नत है और वह दिन दिन विस्तृत और सुपरिष्कृत हो रही है। किन्तु एक बात मुझको यहाँ और निवेदन कर देने की आवश्यकता ज्ञात होती है। वह यह कि जितना सुगठित, प्रांजल और नियमबद्ध हिन्दी-गद्य इस समय है, उतना उसका पद्य भाग नहीं। गद्य हिन्दी के अधिकांश नियम भारतवर्ष के उन सब प्रान्तों और भागों में सर्वसम्मति से स्वीकृत हैं जहाँ उसका प्रचार अथवा प्रवेश है। किन्तु पद्य के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। पद्य-विभाग में अभी तक बहुत कुछ मनमानी हो रही है, जिसके मन में जैसा आता है उस रूप में उसको वह लिखता है। मैं पहले खड़ी बोली के कुछ नियम बतला आया हूं; उन नियमों का अब तक अधिकतर पालन हो रहा है। परन्तु थोड़े दिनों से कुछ लोगों के द्वारा उनकी उपेक्षा हो रही है। यह उपेक्षा यदि भ्रान्ति अथवा बोध की कमी के कारण होती तो मुझको उसकी विशेष रूप से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु कुछ लोग तो जान बूझ कर इस प्रकार के कितने प्रयोग कर रहे हैं, जिनको वे प्रचलित करना चाहते हैं और कुछ लोग इस विचार से ऐसा कर रहे हैं कि वे अपने विचारानुसार भाषा की उन्मुक्त धारा को बंधन में डालना नहीं चाहते। सम्भव है कि कुछ भाषा-मर्मज्ञ इस को अनुचित न समझते हों। परन्तु मेरा निवेदन यह है कि यदि नियमों की आवश्यकता स्वीकृत न होगी तो न तो भाषा की कोई शैली निश्चित होगी और न काव्य शिक्षा-प्रणाली का कोई मार्ग निर्धारित हो सकेगा। किसी विद्या के पारंगत के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता किन्तु प्रत्येक विद्या और कला सीखनी पड़ती है। कोई किसी विद्या का पारंगत यों ही नहीं हो जाता, पहले उसको शिक्षा-लाभ करने की आवश्यकता होती है। यदि कोई नियम ही न होगा तो शिक्षा-सम्बन्धी इस आरम्भिक जीवन का मार्ग ही प्रशस्त न हो सकेगा। इसी लिये साहित्य और व्याकरण के नियम निश्चित किये गये हैं और उन नियमों का पालन कर के चलने से ही प्रत्येक शिक्षार्थी इष्ट की प्राप्ति कर सका। मैं जानता हूं कि भाषा परिवर्त्तन-शील है। वह बदलती है और उसके नियम

भी बदलते हैं। परन्तु नियम ही बदलते हैं, यह नहीं होता कि उसका कुछ नियम ही न हो। ऐसी अवस्था में नियम का त्याग नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि स्वतंत्र विचार वाले परतंत्रता कभी स्वीकार नहीं करते। एक सज्जन कहते हैं कि जो लोग उच्छृंखलता का राग अलापते हैं उनको सोचना चाहिये कि उच्छृङ्खलता शब्द ही में बंधन और परम्परागत पराधीनता का भाव भरा है। उनसे मेरा यह निवेदन है कि नियम के भीतर रह कर जो आवश्यक सुधार अथवा परिवर्त्तन किये जाते हैं उनको कोई उच्छृङ्खलता नहीं कहता। मनमानी करना ही उच्छृंखलता है। इसी मनमानी से सुरक्षित रहने के लिये ही नियम की आवश्यकता होती है। फिर उसमें क्या बंधन है और क्या परम्परागत पराधीनता? प्रतिभावान और साहित्य-मर्मज्ञ जिस मार्ग पर चलते हैं उसका विरोध कुछ काल तक भले ही हो, परन्तु काल पाकर उनकी प्रणाली आदर्श बन जाती है और उसी पर लोग चलने लग जाते हैं। अतएव विचारणीय यह है कि क्या साहित्य-पारंगत और मर्मज्ञ जन उन्मार्गगामी होते हैं? मेरा विचार है वे उन्मार्गगामी नहीं होते। वे सत्पथ-प्रदर्शक होते हैं। इसी लिये उनके पथ पर स्वीकृति की मुहर लग जाती है। इसका विरोध मैं नहीं करता और न यह बात है कि मैं इस स्वाभाविकता को स्वीकार नहीं करता हूं। मेरा कथन यह है कि जो विविधरूपता और अनियमबद्धता साहित्य में दिखलायी दे रही है उसका प्रतिकार किया जावे। और खड़ी बोलचाल की कविता की ऐसी प्रणाली निश्चित की जावे जिसमें एक रूपता हो, जो एक प्रकार से सर्वमान्य हो सके। इसी बात को सामने रख कर मैं कुछ ऐसे प्रयोग भाषा मर्मज्ञों के सामने रखता हूं जिन पर विचार होने की आवश्यकता है। यदि वे प्रयोग उचित हैं तो जाने दीजिये, मेरी बातों को न सुनिये। यदि अनुचित हैं तो उचित मीमांसा होकर उनके विषय में कोई सिद्धान्त निश्चित कीजिये।

आजकल उर्दू में जिसको रोज़मर्रा कहते हैं उसकी परवा हिन्दी रचनाओं में, विशेषकर आधुनिक खड़ी बोली की कविताओं में, कमकी

जाती है। रोज़मर्रा का अर्थ यह है कि जैसा आपस में बोलते-चालते हैं वैसा ही शब्दों का व्यवहार गद्य और पद्य में भी करें। यदि हम बोलते हैं 'आँखदेखी बात' तो आँखदेखी बात' ही लिखना चाहिये, 'आँख विलोकी' या 'आँख निहारी बात लिखना संगत नहीं। बोलचाल है कि हमारा पांव दुख रहा है' यदि इसके स्थान पर हम लिखें कि 'हमारा पांव दुख पा रहा है' तो ऐसा लिखना उचित न होगा। इसी प्रकार मुहावरे के जितने वाक्य हैं वे उन्हीं शब्दों में परिमित हैं. जिन शब्दोंमें बोले जाते हैं। उनके शब्दों को बदललेना और उसी मुहावरे में उस वाक्य को ग्रहण करना नियम-विरुद्ध है। मुहावरा है 'दाँत निकालना'। यदि हम 'दांत' के स्थान पर दसन या दंत प्रयोग कर देंगे तो यह प्रयोग नियमानुकूल न होगा। परंतु ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। मेरा कथन यह है कि ऐसा होना उचित नहीं।

एक पक्ष वालों का यह सिद्धांत है कि ब्रजभाषा के शब्द खड़ी बोल-चाल को कविता में आने ही न चाहिये. उसकी क्रियाओं का प्रयोग तो किसी अवस्था में न होना चाहिये। दूसरे पक्ष के लोग कहते हैं कि ब्रज-भाषाके कोमल और मधुर शब्द अवश्य ले लिये जाँय और विशेष अवस्थाओं में क्रिया भी ले ली जाय. परंतु तब जब उसको खड़ी बोली का रूप दे दिया जावे। आज कल की रचनाओं में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं और उन लोगों को इस प्रकार का प्रयोग करते देखा जाता है जिनकी रच-नायें प्रामाणिक मानी जाती हैं। इस भिन्नता के दूर होने की आवश्यकता है। मेरा पक्ष दूसरा है। परंतु मैं 'पत्ता' के स्थान पर 'पात'. 'पुष्प' के स्थान पर 'पुहुप', 'हृदय' के स्थान पर हिय हिया' अथवा 'रिदै', 'आंखें' के स्थान पर 'अँखियां'. समय' के स्थान पर 'समै', 'पवन' के स्थान पर 'पौन', 'भवन' के स्थान पर 'भौन'. 'गमन' के स्थान पर 'गौन' 'नयन' के स्थान पर 'नैन', 'वचन' के स्थान पर 'बैन' या 'बयन', 'मदन' के स्थान पर 'मैन' या 'मयन', 'यम' के स्थान पर 'जम'. 'यज्ञ' के स्थान पर 'जग्य', 'योग' के स्थान पर 'जोग' आदि लिखना अच्छा नहीं समझता। इस लिये कि इससे शब्द अधिक बिगड़ते हैं और उस रूप में सामने आते हैं जो खड़ी बोली के नियम के विरुद्ध है॥

खड़ी बोली का यह नियम है कि उसके कारक के चिन्ह लोप नहीं किये जाते। पहले इस नियम की रक्षा सतर्कता के साथ की जाती थी। किन्तु अब यह देखा जाता है कि इस बात की परवा कम की जाती है, विशेषकर पद्य के अन्त में। यह ब्रजभाषा का अनुकरण है। खड़ी बोल-चाल के नियमानुसार या मुहावरों में जहाँ कारक के चिन्ह लुप्त रहते हैं उनके विषय में मुझे कुछ नहीं कहना है। परन्तु अन्य अवस्थाओं में कारक के चिन्हों का त्याग न होना चाहिये॥

खड़ी बोली में अब तक यह होता आया था कि 'न' का अनुप्रास 'ण' को मान लेते थे। परंतु 'प्राण' के स्थान पर 'प्रान' लिखना पसंद नहीं करते थे। इसी प्रकार युक्त विकर्ष को भी अच्छा नहीं समझते थे। अब देखते हैं कि युक्त विकर्ष भी होने लगा है। और णकार का नकार किया जाने लगा है। शकार को भी सकार कर दिया जाता है, कभी अनुप्रास के लिये कभी कोमलता की दृष्टि से। जब सकार का अनुप्रास शकार मान लिया गया है तब अनुप्रास के लिये 'शकार' का सकार करना उचित नहीं। शब्द की कोमलता के ध्यान से शकार का सकार होना अच्छा नहीं। क्योंकि ऐसी अवस्था में शब्द की शुद्धता का लोप हो जाता है।

यह देखा जाता है कि अङ्गरेजी मुहावरों का अनुवाद करके ज्यों का त्यों पद्यों में रख दिया जाता है। जैसे, 'Golden end' का 'स्वर्ण अवसान' 'Golden dream' का 'स्वर्ण स्वप्न', 'Golden shadow' का 'कनक छाया', और 'Dreamy splendour' का 'स्वप्निल आभा'। इसका परिणाम यह होता है कि कोई अङ्गरेजी का विद्वान् उन अनुवादित मुहावरों का अर्थ भले ही समझ ले, परन्तु अधिकांश हिन्दी भाषा भाषी जनता उसको नहीं समझ सकती। इसका कारण पद्य की जटिलता और दुरूहता होती है। इसलिये इस प्रकार का प्रयोग वांछनीय नहीं। एक भाषा के मुहावरे का अनुवाद दूसरी भाषा में नहीं होता। इसका नियम यह है कि या तो उसका भाव अपनी भाषा में रख दिया जाय अथवा उसी भाव का द्योतक कोई मुहावरा अपनी भाषा का चुन कर पद्य में रखा

जावे। मैं यह नहीं कहता कि नये मुहावरे नहीं बनते या नहीं बनाये गये। मेरा कथन इतना ही है कि मुहावरों की रचना के भी नियम हैं। उर्दू में कितने ही मुहावरे बन गये हैं, जैसे हवा बाँधना', हवा हो जाना', 'हवा बिगड़ जाना' इत्यादि। किन्तु बिचारना यह है कि ये मुहावरे बने कैसे ? ये मुहावरे बोलचाल में आकर बने और फिर कवियों और लेखकों द्वारा गृहीत हुये। प्रमाण इसका यह है कि हिन्दी के जितने मुहावरे हैं, वे सब प्रायः तद्भव शब्दोंसे बने हैं। हिन्दीका कोई मुहावरा प्रायः संस्कृत शब्दोंसे नहीं बना है। कारण इसका यह है कि जनता की बोलचाल ही मुहावरों को जन्म देती है। संस्कृत के तत्सम शब्द कभी जनता की बोलचाल में नहीं थे। इसलिये मुहावरों में वे न आ सके। उर्दू के मुहावरों की भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है। यही प्रणाली ग्रहण कर यदि नये मुहावरे बनाये जाँय तो कोई आपत्ति नहीं। अन्यथा पद्यविभाग जटिल से जटिलतर हो जावेगा। दूसरी बात यह कि जब गद्य में इस प्रकार के मुहावरे नहीं लिखे जाते तो पद्य में उनका प्रयोग कहाँ तक संगत है। विशेषकर उस अवस्था में जब गद्य और पद्य की भाषा की एकता का राग अलापा जाता है। मैं यह जानता हूं कि गद्य की भाषा से पद्य की भाषा का कुछ अन्तर होता है। किन्तु इसके भी कुछ नियम हैं। उन नियमों की रक्षा के विषय में ही मेरा निवेदन है।

आजकल यह भी देखा जाता है कि कुछ ऐसे समस्त शब्द बना लिये जाते हैं जो संस्कृत के नियमानुसार अशुद्ध तो हैं ही हिन्दी भाषा के नियमानुसार भी वे न तो गृहीत होने योग्य हैं, न उनका इस प्रकार प्रयोग होना उचित है। ऐसे समस्त शब्द भी कुछ अंगरेज़ी प्रणाली के अनुसार बनाये जाते हैं, और कुछ कवि की अहमन्यता अथवा प्रमाद के परिणाम होते हैं। ऐसे शब्दों या वाक्यों का अर्थ इतना दुर्बोध हो जाता है कि उसके कारण प्रांजल से प्रांजल पद्य भी जटिल बन जाते हैं। यदि कहा जाय 'उन्मत्त क्रोध', 'सरसईर्षा', 'ललित आवेश', 'विहँसित क्रन्दन', 'रुदित हँसी', 'खिलखिलाती चिन्ता', 'नाचती निद्रा', 'जागती नींद', 'उड़ता हृदय', 'सोता कलेजा' तो बतलाइये, इन शब्दों का क्या अर्थ होगा

बोलचाल में तो इनका स्थान है ही नहीं, कवि-परम्परा में भी ऐसे प्रयोग गृहीत नहीं हैं फिर कहिये इस प्रकार का प्रयोग यदि किया जाता है तो उसको निरंकुशता छोड़ और क्या कह सकते हैं। जहाँ दोषों की गणना की गयी है वहां एक दोष 'अप्रयुक्त' भी माना गया है। जिसका प्रयोग न हुआ हो, उस शब्द या वाक्यका प्रयोग करना ही अप्रयुक्त दोष कहलाता है। जैसा वाक्य मैंने ऊपर लिखा है, इस प्रकार का वाक्य-विन्यास तो अप्रयुक्त दोष से भी दो क़दम आगे है। फिर भी आजदिन इस प्रकार के प्रयोग होते हैं। मेरा विचार है कि ऐसे प्रयोग चाहे नवीन आविष्कार कहलावें और प्रयोग कर्त्ता के सिर पर नवीन आविष्कारक होने का सेहरा बांध दें, परन्तु भाषा में ऐसा विप्लव उपस्थित करेंगे, जिससे वह पतनोन्मुख होगी और उसका स्थान कोई दूसरी उन्नतिशील और सुगठित भाषा ग्रहण कर लेगी। हम इस प्रकार के प्रयोगों को चमत्कृत बुद्धि का विलास नहीं कह सकते। और न वह विलक्षण प्रतिभा की ही विभूति है। हां, उसे किसी अवांछनीय मनोवृत्ति का फल अवश्य मान सकते हैं। यह मैं मानूंगा कि इस प्रकार की निरंकुशता और उच्छृंखलता होती आयी है। यदि ऐसा न होता तो 'निरंकुशाः कवयः' क्यों कहा जाता? सब भाषाओं में ऐसे लेखक और कवि मिलते हैं कि नियम बद्धता होने पर भी उनके विषय में यह कहावत चरितार्थ होती है—मुरारेः तृतीयः पन्थाः। यह मान भी लें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सब बातों की सीमा होती है। सीमोल्लंघन होना अच्छा नहीं होता। दूसरी बात यह कि निरंकुशता निरंकुशता ही है, उस पर निन्दनीयता की मुहर लगी हुई है। वह नियम के अन्तर्गत नहीं है, अपवाद है। यदि उच्छृंखलता, एवं निरंकुशता की उपेक्षा होती तो समालोचना-प्रणाली का जन्म ही न होता। समालोचना का कार्य्य यही है कि वह इस प्रकार की नियम-प्रतिकूलता को साहित्य में स्थान न ग्रहण करने दे। जिससे किसी व्यक्ति विशेष का इस प्रकार का अनियम अन्यों का आदर्श बन सके। यह भी देखा गया है कि समालोचना के आतंक ने उनको भी सावधान कर दिया है, जो निरंकुश कहलाने ही में अपना गौरव समझते थे। सारांश यह कि साहित्य के

हित की दृष्टि से जो बात उचित हो उसकी ओर साहित्य-मर्मज्ञों की दृष्टि का आकर्षित होना आवश्यक है, जिससे साहित्य लांछित होने से बचे और इसी सदुद्देश्य से इस बात की चर्चा यहाँ की गयी है।

मेरा विचार है और मुझको आशा है कि खड़ी बोली का पद्य विभाग सुविकसित होकर बहुत उन्नत होगा और वह साहित्य सम्बन्धी ऐसे आदर्श उपस्थित करेगा जो उसके सामयिक विकाश के अनुकूल होगा। यहाँ जो कुछ लिखा गया वह इसी विचार से लिखा गया कि हमारी यह आशा फलीभूत हो और इस मार्ग में जो बाधायें हैं उनका नियन्त्रण हो और जो बातें सुधार-योग्य हों उनका सुधार हो. मुझको यह भी विश्वास है कि यदि मेरी बातों में कुछ भी सार होगा तो अवश्य वे सुनी जाँयगी और उनका प्रभाव भी होगा।

॥ तथास्तु ॥

तीसरा खण्ड ।

गद्य—विभाग ।

पहला—प्रकरण ।

गद्य—मीमांसा ।

संस्कृत का एक वाक्य है—'गद्यं कवीनाम् निकषं वदन्ति'। इसका अर्थ यह है कि गद्य ही, विद्वानों की सम्मति में, कवियों की कसौटी है। प्रकट रूप में यह वाक्य कुछ विचित्र जान पड़ता है परन्तु वास्तव में उसके भीतर एक गहरा मर्म है। साधारणतया अपने भावों और विचारों को कवि पद्य-बद्ध भाषा में व्यक्त करता है, पद्य में उसकी निरंकुशता के लिये यथेष्ट अवकाश है तुक, छन्द आदि बंधनों में बँधे हुये होने के कारण उसे अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है और विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति में उसकी कठिनाइयों पर दृष्टिपात कर के पाठक उसकी अनेक त्रुटियों को क्षमा कर सकता है। परन्तु गद्य में अपनी योग्यता और प्रतिभा प्रदर्शित करने के लिये लेखक को इतना चौड़ा मैदान मिलता है कि उसको कोई अवसर अपनी असमर्थता के निराकरण का नहीं रह जाता। न यहाँ छंदकी व्यवस्था उसकी वाक्यावली के पाँवों को जकड़ती है न तुक का बखेड़ा उसकी प्रगति में बाधा डालता है। जी चाहे बड़े वाक्य लिखिये, जी चाहे छोटे न कल्पना की उड़ान में आपको कोई रुकावट रहेगी और न अलंकारों की संयोजना में किसी प्रकार की बाधा। अतएव यह स्पष्ट है कि संस्कृत का उक्त कथन सत्यता मूलक है।

मनुष्य उस आनंद को प्रायः छन्द, लय, संगीत, आदि से अलंकृत वाक्यावलीही में व्यक्त करता है जो संसारमें चारों ओर दिखायी पड़नेवाले सौन्दर्य्य के कारण उसके हृदयमें उत्पन्न होता रहता है। दैनिक जीवन में आठों पहर प्रत्येक विचार को पद्य-बद्ध भाषा में व्यक्त करना उसके लिये संभव नहीं। साधारण बात चीत के लिये, समाज में काम-काज के लिये

पद्य का उपयोग नहीं किया जा सकता। प्रत्येक जाति के जीवन के प्रारंभिक-काल में, निस्संदेह, पद्य की ही ओर विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय गद्य का व्यवहार ही नहीं होता था। वास्तव में अपने शैशव-काल में प्रत्येक जाति उन साधनों और सुविधाओं से रहित होती है जो एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ मिलन अधिक मात्रा में संभव बना सकती है, और न समाज में दैनिक जीवन की कार्य्यावली ही में इतनी जटिलता का समावेश हुआ रहता है कि अपनी सिद्धिके लिये वह अधिक-संख्यक मनुष्योंके सहयोगकी अपेक्षा करे। ऐसी अवस्था में न तो एक मनुष्य के विचारों का दूसरे मनुष्य के विचारों के साथ संघर्ष होता है और न वह आघात प्रतिघात होता है जो सामूहिक जीवन के अन्योन्याश्रित होने का एक स्वाभाविक परिणाम है। इसी कारण प्रत्येक जाति के साहित्य में सबसे पहले पद्य का और बाद को क्रमशः गद्य का विकाश हुआ है।

मनुष्य को अन्य पशुओं की भाँति, सबसे पहले अपने लिये आवश्यक भोजन की चिन्ता करनी पड़ती है। किन्तु उसकी इस चिंता में एक विशेषता है। एक असाधारण बुद्धि उसे अन्य पशुओं से पृथक् करती है। इसी बुद्धि के परिणाम-स्वरूप वह वर्त्तमान ही की चिन्ता से मुक्त होकर संतुष्ट नहीं हो सकता, भविष्य के लिये भी प्रयत्न करता रहता है। उसके स्वभाव की यह विशेषता उसे चिरकाल तक अव्यवस्थित जीवन नहीं व्यतीत करने देती। क्रमशः स्त्री-पुत्र आदि से संयुक्त हो कर एक समुचित स्थान में गृहस्थ जीवन व्यतीत करने में वह अपने जीवन की सफलता का अनुभव करता है। उसीके ऐसे अनेक परिवारों के एकत्र हो जाने से अथवा एक ही परिवार के कालान्तर में विकसित हो जाने से एक ग्राम उत्पन्न हो जाता है। शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिये इस प्रकार के प्रत्येक ग्राम अपना संगठन व्यक्तियों और परिवारों के पारस्परिक सहयोग पर अवलम्बित रखते हैं। इस सहयोग का क्षेत्र जितना ही व्यापक होता जाता है, मानव प्रकृति की विभिन्नताओं के कारण पारस्परिक सामञ्जस्य के मार्ग में उतनी ही पेचीदगी बढ़ती जाती है। फलतः इस सामञ्जस्य की सिद्धि

के लिये मानव मस्तिष्क तरह तरह के व्याख्यानों में प्रवृत्त होता है। ये व्याख्यान जीवन के व्यवसायिक अङ्ग से इतना अधिक सम्पर्क रखते हैं कि वे काव्य के विषय हो ही नहीं सकते। वे सफलतापूर्वक जब चलेंगे तब उसी ढंग से जिस ढंग से वे बातचीत में व्यक्त होते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि बातचीत में वे गद्य रूप ही में प्रकट होते हैं और इस कारण गद्य ही में उनको अभिव्यक्ति का एक विशेष संस्कार हो जाता है, जिससे पाठक को अपने विचार हृदयंगम कराने में लेखक को सुविधा होती है। उक्त व्याख्यान, राजनीति शास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। काल पाकर व्यक्तियों, परिवारों, जातियों का इतिहास लिखा जाता है, जिसमें उन बातों की चर्चा की जाती है जो याद रह कर भविष्य में आनेवाली पीढ़ियों को किसी भ्रम प्रमाद आदि से बचा सकती हैं। क्रमशः इतिहास, भूगोल, ज्योतिष गणित यात्रा, आदि विषयों की ओर भी ध्यान जाता है और गद्य ही में इनके लिखे जाने की विशेष उपयुक्तता होने के कारण क्रमशः गद्य का विकास हो जाता है।

मानव-समाज के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कहानियां पद्य ही में लिखी जाती हैं। ये कहानियां प्रायः वही होती हैं, जो बच्चों की कल्पना पर प्रभाव डालती हैं। किंतु ज्यों २ समाज विकसित होता है त्यों त्यों बच्चों की भी प्रवृत्ति सरल बोलचाल की भाषा में कहानी सुनने और पढ़ने की हो जाती है। विकसित समाज में व्यक्तियों का अधिकार और कर्त्तव्य का, दैनिक जीवन की छोटी छोटी घटनाओं के क्षेत्र में सामंजस्य करने की इतनी प्रबल आवश्यकता खड़ी हो जाती है कि कहानी का सहारा लिये बिना काम चलना कठिन हो जाता है। यह कहानी भी पद्य में किसी भांति लिखी ही नहीं जा सकती, उसका रूप और प्रकार ही कुछ ऐसा विभिन्न होता है कि पद्य के ढाँचे को वह स्वीकार ही नहीं कर सकती।

समाज का, एवं व्यक्ति का जीवन किस आदर्श के साँचे में ढाला जाय—इस प्रश्न की आकर्षकता भी कभी घट नहीं सकती। मृत्यु क्या है? मनुष्य उससे क्यों डरता है? उसका इस भय से किस प्रकार छुटकारा हो सकता है? किस प्रकार का जीवन स्वीकार करने से मनुष्य को अधिक से

अधिक आनन्द मिल सकता है—इन समस्याओं की व्याख्या जितनी उत्तमता से गद्य में हो सकती है उतनी पद्य में नहीं। आयुर्वेद, विज्ञान, व्याकरण आदि विषयों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

हिन्दी साहित्य में गद्य का विकास बहुत विलम्ब से हुआ। इस का प्रधान कारण यह है कि शासकों की ओर से हिन्दी गद्य के विकसित होने के लिये सुविधायें नहीं प्रस्तुत की गयीं। हिन्दू राजाओं ने अपने दरबार में हिन्दी कवियों को तो आश्रय दिया, किन्तु कोई ऐसा काम नहीं किया जिससे हिन्दी गद्य को उभड़ने का अवसर मिलता। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि हिन्दू समाज का जीवन इतनी संकुचित परिधि के भीतर व्यतीत हो रहा था कि अधिकांश में उनका ध्यान ही उन दिशाओं में आकर्षित नहीं हो सकता था जिनमें गद्य की प्रगति होती है। हिन्दी-गद्य का विकास, संभव है, मुगल राजत्वकाल में कुछ अग्रसर होता, किंतु टोडरमल ने अदालतों से हिन्दी का बहिष्कार कर के उसे जनता की दृष्टि में प्रायः सर्वथा अनुपयोगी सिद्ध कर दिया। ऐसे समाज में जिसमें संस्कृत की तुलना में हिन्दी योंही निरादृत थी, जिसमें केशव तुलसी आदि समर्थ कवियों ने भी विद्वानों के विरोध की अवहेलना सकुचते हुये ही किया और जिसमें अब तक अधिकांश में उतना ही गद्य-साहित्य प्रस्तुत हो सका था जितना भक्तों और धार्मिक नेताओं ने अपने श्रद्धालु किन्तु साधारण विद्या-बुद्धि के श्रोताओं और पाठकों के लिये टीका-टिप्पणी अथवा कथा वार्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया, कचहरियों से हिन्दी का बहिष्कार बहुत ही हानि कारक मनोवृत्ति का उत्पन्न करने वाला सिद्ध हुआ। यदि हिन्दी को राजाश्रय प्राप्त रहता तो संभवतः हिन्दू समाज में हिन्दी का सम्मान थोड़ा बहुत बढ़ता और उससे संस्कृत के धुरंधर विद्वानों को भी हिन्दी में शास्त्रीय विवेचना आदि में प्रवृत्त होने का प्रलोभन प्राप्त होता। प्रतिभाशाली हिन्दू लेखकों ने जिस प्रकार उर्दू के विकास में सहायता पहुँचाई उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में हिन्दी की तिरस्कृत अवस्था भी हिन्दी-गद्य की प्रगति में अत्यन्त बाधक सिद्ध हुई।

प्रस्तुत साहित्य के पठन-पाठन एवं, आलोचना-प्रत्यालोचना से भी गद्य-साहित्य का निर्माण होता है। हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश के शासकों ने अपनी प्रजा के कल्याणार्थ हिन्दी के विद्यालय स्थापित करने की ओर भी कभी ध्यान नहीं दिया। सभी साहित्यों में कहानी और उपन्यास सहज ही बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु जब तक इनके प्रचार के साधन उपलब्ध न हों तब तक इनका पूरा प्रभाव पड़ना कठिन हो जाता है। प्रचार की कठिनाइयों के कारण यह स्पष्ट था कि कहानियों और उपन्यासों के लेखकों को जनता से कोई सहायता नहीं मिल सकती थी। रहे राजे महाराजे और कोई कोई हिन्दी कवियों के संरक्षक मुसलमान राज-कुमार और नवाबगण, सो उन्हें शृंगारिक अथवा अन्य कविताओं से ही इतना अवकाश नहीं था कि वे कहानी और उपन्यास रचना को प्रोत्साहन दे कर उसकी ओर समाज की रुचि को बढ़ाते। कहानी और उपन्यास का विकास न होने का एक अन्य कारण भी है और वह यह कि अँगरेजी साहित्य के साथ सम्पर्क होने के पहले हिन्दी लेखकों के सम्मुख कहानी और उपन्यास-रचना का वह आदर्श उपस्थित नहीं था जो समाज की दैनिक समस्याओं को हल करने की ओर विशेष ध्यान देता है, जो कुप्रथाओं पर प्रहार कर के नवीन संस्थाओं और नवीन विचार-शैलियों को रचनात्मक दिशा में अग्रसर करता है। संस्कृत के 'कादम्बरी' और 'दशकुमार चरित्र' नामक उपन्यासों से यथेष्ट उपयोगी आधार नहीं मिल सकता था और न 'हितोपदेश' और 'पंचतंत्र' की कहानियां विशेष रूप से मार्ग-प्रदर्शक हो सकती थीं। ऐसी अवस्था में हिन्दी गद्य के विकास में विलम्ब होना कोई आश्चर्य जनक बात नहीं॥

दूसरा प्रकरण।

आदि—काल।

जैसे राजपूत नरेशों के दरबार में हिन्दी पद्य का आदिम विकास हुआ वैसे ही गद्य का उद्भव भी वहीं हुआ। बारहवीं ई० शताब्दी के बहुत पहले

ही हिन्दी में पुस्तकों की रचना होने लगी थी। किन्तु ये पुस्तकें पद्य ही में लिखी जाती थीं। हिन्दी बोलचाल की भाषा थी, किंतु उस बोलचाल का ऐसे गम्भीर अथवा उपयोगी विषयों से सम्बन्ध नहीं था कि वह लिपि-बद्ध कर ली जावे। धार्मिक आन्दोलनों का भी सम्बन्ध अधिकतर जनता से नहीं रहता था। हिन्दू आचार्य्यों ने भी उस समय इस बात का प्रयत्न नहीं किया कि जनसाधारण के लिये धार्मिक सिद्धांत सुलभ हो जाँय। राजनीतिक हलचल होने पर भी समाचारों के प्रचार का कोई साधन न होने के कारण इस दिशा में भी गद्य की प्रगति असम्भव थी। शासन-पद्धति एकाधिपत्य मूलक होने के कारण जहाँ कहीं हिन्दी-भाषी नरेशों के राज्य थे वहाँ भी अनेक व्यक्तियों, अथवा व्यक्ति-समूहों के वाद-विवाद का कोई अवसर नहीं था। ऐसी परिस्थिति में हमें हिन्दी गद्य का आदिम स्वरूप यदि उन थोड़े से परवानों के रूप में मिलता है जो हिन्दू नरेशों ने अपने कृपा-पात्रों के लिये जारी किये तो आश्चर्य्य ही क्या? रावल समर सिंह और महाराज पृथ्वीराज के ऐसे नौ दान पत्र अबतक उपलब्ध हो सके हैं। उनमें से दो मैं नीचे लिखता हूं। आप उनकी भाषा पर दृष्टिपात करें:—

१— स्वस्ति श्री श्री चीत्रकोट महाराजाधीराज तपे राज श्री श्री रावल जी श्री समरसी जी बचनातु दा अमा आचारज ठाकर रुसीकेष कस्य थाने दलीसु डायजे लाया अणी राज में ओषद थारी लेवेगा, ओषद ऊपरे माल की थाकी है ओजनाना में थारा वंसरा टाल ओ दुजो जावेगा नहीं और थारी बैठक दली में ही जी प्रमाणे परधान बरोबर कारण देवेगा ओर थारा वंस क सपूत कपूत वेगा जी ने गाय गोणों अणी राज में खाप्या पाप्या जायेगा ओर थारा चाकर घोड़ा को नामो कोठार सूं चला जायेगा ओर थूं जमाखातरी रीजो मोई में राज थान बाद जो अणी परवाना री कोई उलंगण करेगा जी ने श्री एक लींग जी की आण है दुवे पंचोली जानकी दास सं० ११३६ काती बदी ३"

२—"श्री श्री दलीन महाराजं धीराजंनं हिन्दुस्थानं राजंधानं संभरी नरेस पुरबदली तषत श्री श्री माहानं राजंधीराजंनं श्री प्रथीराजी सु साथंनं

आचारज रुषीकेस धनंत्रि अम्रन तमने का का जीनं के दुवा की आरामं चओजोन के रीजं में रोकड़ रुपीआ ५०००) तुमरे आहाती गोड़े का षरचा सीवाअ आवेंगे। खजानं से इनको कोई माफ करेंगे जीन को नेर की के अधंकारी होवेंगे सई दुवे हुकुम के हउमंत राअ संमत ११४५ वर्षे आसाढ़ सुदी १३"

इस प्रकार के परवाने हिन्दू राज दरबारों में राज्य की ओर से निकला करते थे। इनकी भाषा तो राजस्थानी है ही, किंतु उसमें एक बात उल्लेखनीय है। उसमें 'लेवेगा', 'जायगा', 'करेगा', लाया' आदि खड़ी बोली की क्रियाओं का व्यवहार किया गया है। ये लेख आनंद संबत् के अनुसार क्रमशः सं० ११३९ और सं० ११४५ में लिखे गये। इनमें ९० जोड़ देने से विक्रमी सं० क्रमशः १२२९ और १२३५ हुआ। अतएव स्पष्टहै कि ईस्वी सन् के अनुसार ये बारहवीं शताब्दी में पड़ते हैं। इस समय के पूर्व भारतवर्ष में मुसलमानों और हिन्दुओं का सम्पर्क हो चुका था, विशेष कर मुसलमानों और राजपूतों का सम्बन्ध युद्ध के कारण प्रायः होता ही रहता था। खड़ी बोली की जिन क्रियाओं की चर्चा ऊपर की गयी है वे इसी सम्पर्क का फल जान पड़ती

राजस्थानी बोलीके इस गद्य को अधिक विकसित होनेका कोई अवसर नहीं मिला। कारण वही क्षेत्र-विस्तार का अभाव। इस ओर से निराश हो कर हिन्दी गद्य को किसी अन्य दिशा में पनपने की प्रतीक्षा करनी पड़ी। चौदहवीं शताब्दी में ऐसा समय भी आ गया. सातवीं शताब्दी से ले कर बारहवीं शताब्दी तक बौद्धों के असंयत जीवनके कलुषित आदर्श से हिन्दू समाज म्लान हो रहा था। स्वामी शंकराचार्य्य ने बौद्धमत के पाँव तो उखाड़ दिये थे. किन्तु उसके मूल सिद्धान्तों, उपदेशों आदि को भूल कर उच्छृंखल जीवन व्यतीत करनेवाले सिद्धों तथा अन्य साधुओं पर से समाज की श्रद्धा का सर्वथा लोप करा देने का अवकाश और अवसर उन्हें प्राप्त नहीं हो सका था। यह काम सन् १३५० ई० के लगभग महात्मा गोरखनाथ ने किया। उन्हों ने सदाचार और धर्म्म के तत्व

की ओर समाज का ध्यान आकर्षित किया और इसी सूत्र से हिन्दी के गद्य-साहित्य की सृष्टि कर प्रथम हिन्दी-गद्य-लेखक के रूप में वे कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुये।

गुरु गोरखनाथकी पद्य की भाषासे गद्यकी भाषामें कुछ विशेषता है। पद्य की भाषा में उन्हों ने अनेक प्रान्तों के शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु गद्य की भाषा में यह बात नहीं है, वह कहीं कहीं राजस्थानी मिश्रित ब्रज-भाषा में है। उसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग अवश्य मिलता है। यह बात आप नीचे के अवतरण को देख कर सहज में ही समझ सकेंगे:—

"सो वह पुरुष संपूर्ण तीर्थ अस्नान करि चुको, अरु संपूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जग करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ, अरु पितरनि को संतुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छन मात्र ब्रह्म के विचार बैठो।,

'श्री गुरु परमानन्द तिन को दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द आनन्द स्वरूप है सरीर जिन्हि कौ। जिन्हों के नित्य गाये ते सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मैं जु हौं गोरष सो मछन्दरनाथ को दण्डवत करत हौं। हैं कैसे वै मछन्दरनाथ। आत्मा जोति निश्चल है, अन्तहकरन जिन्ह कौ अरु मूल द्वार तैं छह चक्र जिन्हि नीकी तरह जानैं। अरु जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिन्हि कौ मेरी दण्डवत। स्वामी तुम्हें तौ सत गुरु अम्हे तौ सिषसबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।"

उक्त अवतरण में 'सम्पूर्ण', 'प्राप्त', 'मनुष्य', 'कल्प', 'स्वरूप', 'नित्य' 'सन्तुष्ट', 'स्वर्ग', 'ब्रह्म', 'निश्चल', 'समुद्र', 'रचना', तत्व, आदि शब्द संस्कृत के हैं। 'पुछिबा' 'कहिबा' 'करिबा' 'अम्हे' आदि शब्द राज स्थानी बोली के हैं। अवतरण का शेष भाग प्रायः पूरा का पूरा शुद्ध ब्रजभाषा में लिखा गया है।

तीसरा प्रकरण।

विकास-काल।

गोरखनाथ के बाद लगभग दो शताब्दियां गद्य-रूपी नव जात पौधे के लिये मरुभूमिसी सिद्ध होकर बीत गयीं। सोलहवीं शताब्दी में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य ने राधा-कृष्ण विषयक भक्ति का एक प्रबल स्रोत उत्तरी भारत में प्रवाहित किया। इस अपूर्व प्रवाह ने हिन्दू समाज के हृदय को इतना अधिक आकर्षित किया कि थोड़े ही काल में कृष्णावत सम्प्रदाय की विशाल मण्डली उत्तरीय भारत में अतुल प्रभाव-विस्तार करती जन समुदाय को दृष्टिगत हुई। उसी समय महाप्रभु के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'राधाकृष्ण-विहार' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की भाषा ब्रजभाषा है, किंतु कहीं कहीं उसमें अन्य प्रान्तीय शब्दों का भी समावेश कर लिया गया है। निम्नलिखित अवतरण देखिये:—

"जम के सिषर पर शब्दायमान करत है, विविध वायु बहत है, हे निसर्ग स्नेहार्द्र सखी कूं संबोधन प्रिया जू नेत्र कमल कूं कछुक मुद्रित दृष्टि होय कै बारंबार कछु सखी कहत भई यह मेरो मन सहचरी एक क्षण ठाकुर को त्यजत भई।" इस छोटे से अवतरण में 'शब्दायमान', 'त्रिविध', 'निसर्ग, 'स्नेहार्द्र', 'नेत्र', 'मुद्रित', 'दृष्टि', 'क्षण', आदि संस्कृत शब्दों का प्रयोग स्वतंत्रता के साथ किया गया है। श्री मद्भागवत का प्रचार और राधा-कृष्ण-लीला का साहित्य क्षेत्र में विषय के रूप में प्रवेश करना ही इस संस्कृत-शब्दावली को लोक-प्रियता तथा उसके फल-स्वरूप हिंदी गद्य में उसके स्थान पाने का कारण जान पड़ता है। प्रान्तीय भाषाओं के प्रभाव भी उक्त अवतरण में दिखायी पड़ते हैं 'पै' के स्थान में 'पर' और 'को', को अथवा 'को' के स्थान पर 'कूं' का प्रयोग ऐसे ही प्रभावों का परिणाम है। गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ ने भी २५२ एवं ८४ वैष्णवों की वार्त्ता नामक दो ग्रंथ बनाये जिनमें उन्होंने बहुत मधुर भाषा में उक्त वैष्णवों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें लिखीं। गोस्वामीजी की भाषाके दो नमूने दिये जाते हैं:-

१—"ऐसौ पद श्री आचार्य जी महाप्रभून के आगे सूरदास जी ने गायौ से सुनि के श्री आचार्यजी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे को है कछू भगवल्लीला वर्णन करि। तब सूरदास ने कह्यौ जो महाराज हौं तो समझत नाहीं। तब श्री आचार्यजी महाप्रभून ने कह्यो जो जा स्नान करि आउ हम तोकों समझावेंगे तब सूरदासजी स्नान करि आये तब श्री महाप्रभू जी ने प्रथम सूरदास जी को नाम सुनायौ पाछें समर्पण करवायौ और फिर दशम स्कंध की अनुक्रमणिका कही सो तातें सब दोष दूर भयें। तातें सूरदास जी कौ नवधा भक्ति सिद्ध भयी। तब सूरदास जी ने भगवल्लीला वर्णन करी।"

२—"सो श्री नन्दग्राम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत है सब को खण्डन करतो ऐसो वाको नेम हतो। याही ते सब लोगन वाको नाम खण्डन पार्‍यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभू जी के सेवक वैष्णवन की मण्डली में आयो। सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कह्यो जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नाहीं। इहां खंडन मंडन नहीं है।"

३—"नन्ददास जो तुलसी दास के छोटे भाई हते। सो तिनकूं नाच तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शौक बहुत हतो।"

गोस्वामी गोकुलनाथ की भाषा में फारसी के शब्द भी आये हैं— यह बात ऊपर दिये गये तृतीय अवतरण के 'तमासा' और 'शौक' आदि शब्दों को देखने से प्रमाणित होती है। उसमें गोस्वामी विट्ठलनाथ की अपेक्षा अधिक विशुद्ध ब्रजभाषा लिखने का प्रयत्न भी किया गया है। यह बात गोस्वामी विट्ठलनाथ जी और गोकुलनाथ जी के कुछ क्रियापदों की तुलना करने से स्पष्ट हो जायगी। जहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथ ने 'त्यजत भयी' और 'कहत भयी' आदि लिखा है वहां गोकुलनाथ ने 'लगनो' धातु के भूत काल के रूप में 'लगत भयी' न लिख कर 'लाग्यौ' ही लिखा है। फिर भी दोनों

में एक समानता अवश्य है और वह है खड़ी बोली के शब्दों की ओर कम या अधिक मात्रा में प्रवृत्ति। उनका नीचे की पंक्तियों के क्रियापदों को भी देखिये। चिन्हित शब्द स्पष्ट रूप से खड़ी बोली के हैं।

"सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई। जो जैसे तुलसी दास जी ने रामायण भाषा करी है। सो हमहू' श्री मद्भागवत भाषा करें। ये बात ब्राह्मण लोगन ने सुनी तब सब ब्राह्मण मिलके श्री गुसाई जी के पास गये। सो ब्राह्मणों ने बिनती करी। जो श्री मद्भागवत भाषा होयगी तो हमारी आजीविका जाती रहेगी"

गोस्वामी गोकुलनाथ ने भी 'जितने,' 'होवे', 'नहीं' आदि शब्दों का समावेश करके उनके प्रति अपनी अनुकूलता प्रकट की है।

खड़ी बोली की ओर इस प्रवृत्ति के बढ़ने के कारण थे। मुसलमान शासकों ने हिन्दू जनता के भावों से परिचय प्राप्त करने के लिये न केवल हिन्दी बोलने की ओर ध्यान दिया था बल्कि उसमें रचनायें करना भी प्रारम्भ किया था। उन्हें किसी विशेष प्रान्तीय भाषा से द्वेष न था न असाधारण अनुराग किन्तु सबसे पहले उनका सम्पर्क ऐसे प्रान्तों से हुआ जिनमें खड़ी बोली का विशेष प्रचार था। इसमें सन्देह नहीं कि अमीर खुसरो ने खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में कविता की, किन्तु ब्रजभाषा के काव्य-विषयक संस्कार के कारण ही कभी कभी वे उसकी ओर झुक जाते थे। जहाँ कहीं पहेलियों, मुकरियों आदि पर उनकी लेखनी चली है वहाँ खड़ी बोली का अधिक मात्रा में शुद्ध और सरसरूप ही देख पड़ता है। मुसलमानों की खड़ी बोली के प्रति इस अनुकूल प्रवृत्ति ने हिन्दी भाषी प्रान्तों की जनता में इस बोली के अनेक शब्दों को क्रमशः लोक-प्रिय बना दिया, और जनता में आदृत होकर धीरे धीरे कथा वाचकों, महात्माओं और अन्त में लेखकों की रचनाओं में भी वे शब्द पहुँचे। नीचे सन् १५७२ के लगभग 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक पुस्तक लिखने वाले गंगाभाट की भाषा के दो नमूने देखिये। उनमें आप को

गोकुलनाथजी की भाषाकी अपेक्षा अधिक खड़ी बोलीके शब्दों का व्यवहार मिलेगाः—

१— "तब दामोदर दास हरसानी ने बिनती कीनी जो महाराज आप याकों अङ्गीकार कब करोगे तब श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने दामोदरदास सों कह्यो जो यासों अब वैष्णव को अपराध पड़ैगो तौ हम याकों लक्ष जन्म पाछें अङ्गीकार करेंगे।"

२—सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पात साहि जी श्री दलपति जी अकबर-साह जो आम खास में तषत ऊपर बिराजमान हो रहे। और आम खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार कर के अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनो अपनी मिसिल से।"

उक्त अवतरणों में 'करोगे'. कहेंगे', ऊपर'. हो रहे'. 'भरने लगा है', 'जिसमें', 'जुहार करके', 'अपनी' आदि शब्दों पर ध्यान देनेसे यह बात स्पष्ट हो जायगी। 'आम' 'खास'. 'तमाम'. 'उमराव', 'कुर्निश'. 'मिसिल', आदि शब्दों के समावेश से हिन्दी लेखन-शैली पर राज दरबार के फ़ारसी भाषा विषयक प्रभाव की सूचना मिलती है।

सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में भक्तवर नाभादास ने गोस्वामी बिट्ठल नाथ की भाषा से मिलती जुलती भाषा लिखी। उनकी निम्नलिखित पंक्तियों के रेखाङ्कित शब्दोंकी ओर आप ध्यान दें।

तब श्री महाराज कुमार प्रथम वशिष्ट महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भये। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करि कै श्री महेन्द्र नाथ दशरथ जू के निकट बैठत भये।

इसी शताब्दी के प्रथम चरण में महात्मा तुलसी दास द्वारा लिखित एक पंच नामा मिलता है जिसमें उन्होंने यत्र-तत्र फारसी भाषा के शब्दों का भी व्यवहार किया है। उसकी कतिपय पंक्तियों को देखियेः—

सं० १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी बार शुभ दिने लिखीत पत्र अनन्दराम तथा कन्हई के अंश विभाग पूर्व मु आगे जे आग्य दुनहु जमे मांगा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफ़सील अंश टोडरमलु के माह जे विभाग पदु होत ग। .... मोजे भदेनीमह अंश पाँच तेहिमँह अंशदुइ आनन्दराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा तमपुरा अंश टोडरमल को होल हुज्जती नाश्ती।

'तफ़सीलु', 'माह', 'हुज्जती' आदि शब्द फ़ारसी के हैं और तुलसीदास जी द्वारा उनका ग्रहण उनकी उस प्रवृत्ति का सूचक है जिसका अनुसरण उन्होंने यत्र-तत्र अपनी पद्यात्मक रचनाओं में भी किया है।

महाकवि देव का काव्य-रचना काल सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक बर्षों तक रहा है। इन्होंने गद्य में भी कुछ लिखा है। इनकी गद्य की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता दर्शनीय है। निम्न लिखित पंक्तियों को देखिये:—

"महाराज राजाधिराज व्रजजन समाज विराजमान चतुर्दश भुवन विराज वेदविधि विद्या सामग्री सम्राज श्री कृष्णदेव देवाधि देव देवकी नंदन जदुदेव यशोदानन्द हृदयानंद कंसादि निकंदन वंसावतंस अंसावतार सिरोमणि विष्ठपत्राय निविष्ट गरिष्ट पद त्रिविक्रमण जगत्कारण भ्रम निवारण मायामय विभ्रमण सुररिषि संगमन राधिका रमण सेवक वरदायक गोपी गोप कुल सुखदायक गोपाल बाल मंडली-नायक अघघायक गोवर्धन धारण महेन्द्र मोहापहरण दीन जन सज्जन सरण ब्रह्मविस्मय विस्तरण परब्रह्म जगज्जन्म मरण दुःष संहरण अधमोद्धरण विश्वभरण विमल जसः कलिमल बिनासन गरुड़ासन कमल नयन चरण कमल जल त्रिलोको पावन श्री वृन्दावन विहरण जय जय।

देव महाकवि थे और साधारण सी बात को भी अत्यन्त अलंकृत शैली में लिखने की उनकी प्रवृत्ति सर्वथा स्वाभाविक थी।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य लेखक, जिनके गद्य का कुछ परिचय हमें

मिलता है, बनारसीदास और जटमल हैं। बनारसीदासकी भाषामें तो खड़ी बोलीकी कुछ क्रियाओंका असंदिग्ध प्रयोग भी मिलता है। वे लिखते हैं:—

"सम्यग् दृष्टि कहा सो सुनो। संशय विमोह विभ्रम तीन भाव जामैं नाहीं सो सम्यग् दृष्टी। संशय, विमोह, विभ्रम कहा ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुनो।"

इन तीन वाक्यों के भीतर 'सम्यग्', 'दृष्टि', 'संशय', 'विमोह', 'विभ्रम', 'स्वरूप', 'दृष्टान्त' आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग के साथ साथ 'कहा', 'सुनो' आदि क्रियाओंका प्रयोग ध्यान देने योग्य है। गोराबादल की कथा लिखने वाले जटमल की रचना में भी यही बात पायी जाती है। उनकी भाषा के दो नमूने देखिये:—

१—"है बात की चीतौड़गड़को गोरा बादल हुआ है, जिनकी वार्ता को किताब हिंदवी में बना कर तय्यार करी है। गोरे का भाव रत आवे का बचन सुन कर आपने पावन्द की पगड़ी हाथ में लेकर बाहा सती हुई सो सिवपुर में जाके वाहा दोनों मेले हुवे।"

"उस जग आलीपान वावा राज करता है। मसीहका लड़का है सो सब पठानों में सरदार है, जयसे तारों में चन्द्रमा सरदार है ओयसा वो है।

२—"ये कथा सोलः से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज़ बनाई। ये कथा में दो रस है—वीर रस व सिंगार रस है, सो कथा मोरछड़ो नाँव गाँव का रहनेवाला कवेसर। उस गाँव के लोग भोहोत सुखी हे। घर घर में आनन्द होता है, कोई घर में फकीर दीखता नहीं।

उक्त अवतरण में 'हुआ है', 'सुन कर', 'लेकर', 'हुई', 'जाके', 'हुवे', 'करता है', 'बनायो', 'रहनेवाला', 'होता है', 'दीखता नहीं' आदि खड़ी बोली के क्रिया पदों और संज्ञा-शब्दों का व्यवहार हुआ है। साथ ही 'किताब', 'पावन्द', 'सरदार' आदि फ़ारसी शब्दों का समावेश इसमें भी किया गया है। 'जयसा' और 'ओयसा' 'जैसा' और 'वैसा' के बहुत निकट है, यह स्पष्ट है। यदि थोड़े से राजस्थानी प्रयोगों की ओर ध्यान न दिया जाय तो यह अवतरण खड़ी बोलीका गद्य कहा जा सकता है।

सोलहवीं शताब्दी में धार्मिक आन्दोलनों के कारण जनता और महात्माओं का जो सम्पर्क बढ़ा था, वह सत्रहवीं शताब्दी में आकर शिथिल पड़ गया। इस शिथिलता के कारण तथा अन्य किसी विचार-प्रवाह के अभाव में गद्य के सामने फिर एक रुकावट खड़ी हो गयी। किन्तु वह ठहर न सकी. कारण यह हुआ कि हिन्दी के कुछ महाकवियों की रचनाओंका बहुत प्रचार हो जानेके कारण जनताकी उनके प्रति कुछ जिज्ञासा बढ़ी; कुछ इस कारणसे कुछ धार्मिक संस्कारोंसे प्रेरित होकर कुछ काव्य-कौशल के सम्बन्ध में अधिक परिचय प्राप्त करने की इच्छा से 'रामचरित मानस' 'कवि प्रिया' आदि माननीय ग्रंथों पर टीकाओं की माँग हुई। इन टीकाओं के रचयिताओं ने यद्यपि गद्य की भाषा का परिष्कार करने में कोई सफलता लाभ नहीं की, तथापि अन्धकारमयी रात्रिमें नक्षत्रोंकी भांति उजाला फैलाने का उद्योग जारी रक्खा।

सत्रहवीं शताब्दी में केशवदास कृत कवि प्रिया की टीका सुरतिमिश्र ने सन १७१० के लगभग लिखी। उनकी भाषा के नमूने देखिये:—

१—"सीसफूल सुहाग अरु बेंदा भाग ए दोऊ आये पाँवड़े सोहे सोने के कुसुम तिन पर पैर धरि आये हैं।"

२—"कमल नयन कमल से हैं नयन जिनके कमलद बरन कमलद कहिये मेघ को वरण है स्याम स्वरूप है कमल नाभि श्रीकृष्णको नाम हो है कमल जिनकी नाभि ते उपज्यो है कमलाप कमला लक्ष्मी ताके पति हैं तिनके चरण कमल समेत गुन को जाप क्यों मेरे मन में रहो"।

अठारहवीं शताब्दी में भिखारीदास ने काव्य-रचना के अतिरिक्त जो थोड़ा बहुत गद्य लिखा उसका नमूना नीचे दिया जाता है:—

"धन पाये ते मूर्ख हूं बुद्धिवन्त ह्वै जातु है और युवावस्था पायेते नारी चतुर ह्वै जाति है यह व्यंग्य है। उपदेश शब्द लक्षण सो मालूम होता है औ वाच्य हूं में प्रगट है।"

इसी शताब्दी में किशोरदास ने 'शृंगार शतक' की टीका लिखी।

इनका कुछ विशेष परिचय नहीं प्राप्त है। इन्हें कुछ लोग सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न बतलाते हैं। इनकी भाषा का नमूना देखिये:—

"तब इतने बीच कस्यप की स्त्री दिति कस्यप के आगे ठाढ़ो भई ठाढ़े ह्वै करि कहनि लगो कि अहो प्राणेश्वर कस्यप देषतु अदितिहिँ आदि दै जितीक मेरी सब सपत्नी हैं सु तिन सपत्नीन के पुत्रन कौ मुषु देषतु मेरे परमु संताप होतु है तब यह सुनि कस्यप यह विचारो कि स्त्री की संगति अर्थु, धर्मु, काम मोछ होतु है। अरु स्त्री की संगति ग्रहस्थु और तिनिहूँ आश्रमनि की पालना करतु है। अरु अपुन संसार समुद्र के पार होतु है।"

चौथा प्रकरण

विस्तार—काल

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य को सबल बनाने के लिये खूब उद्योग किया गया। इसके पूर्वार्द्ध में उसे विभिन्न मार्गों से विस्तार प्राप्त हुआ और उत्तरार्द्ध में वह समुन्नति की ओर अग्रसर हुआ। इसीसे हमने पूर्वार्द्ध को विस्तारकाल माना है। और उत्तरार्द्ध को उन्नति काल॥

मैं यह कह चुका हूं कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीमें टीकाकारों ने हिन्दी गद्य के मैदान को उत्सन्न हो जाने से बहुत कुछ बचाया। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भी उनकी एक श्रेणी कार्य्य करती दृष्टिगोचर होती है। इन टीकाकारों में जानकी प्रसाद और सरदार कवि मुख्य थे। जानकी प्रसाद की भाषा का एक नमूना देखिये:—

१—बालक जैसे पग से दाबि पङ्क कहे कीच को पेलि के पताल को पठावत है तैसे ये (गनेश जी) कलुष जे पाप हैं तिनका पठावत हैं। इहाँ गजराज को त्याग करि बालक सम यासों कह्यो, पद्मिनी पत्रादि

तोरन में बालक का उत्साह रहत है तैसे गणेश जू को विपत्यादि विदारण में बड़ो उत्साह रहत है कौतुक ही विदारत हैं।

स्वभावतः हिन्दी के इन टीकाकारों ने संस्कृत के टीकाकारों का पदानुसरण किया, क्यों कि उनके सामने संस्कृत ही की टीकाओं का आदर्श उपस्थित था। हिन्दी की इन टीकाओं की भाषा जो विशेष जटिल हो गयी है उसका कारण बहुत कुछ इस संस्कृत शैली का अनुसरण है। मैं यह कह आया हूं कि ब्रजभाषा गद्य सबल आन्दोलनों और महापुरुषों के विचार प्रगट करने का साधन होने के अभाव में परिष्कार से वंचित रहा। यहां यह भी कह देना चाहता हूं कि क्रमशः समय का प्रवाह भी उसे ऐसे अवसर देने के प्रतिकूल हो गया था। इसका कारण है क्रमशः खड़ी बोली की क्रियाओं और संज्ञा-शब्दों का उर्दू के सहयोग से बहुत अधिक लोक-प्रियता प्राप्त कर लेना। सरकार की कृपा से उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उर्दू का प्रवेश कचहरियों में हो गया था, सर्व-साधारण का सम्बन्ध कचहरी से होता ही है, ऐसी अवस्था में उर्दू से उनका प्रभावित होना स्वाभाविक था। मुसल्मान लेखक अपना रंग अलग जमा रहे थे। प्रोफ़ेसर मुहम्मद हुसेन आज़ाद के निम्नलिखित अवतरण को देखिये। उसमें पूर्वकालिक हिन्दी गद्यका काया पलट मूर्तिमन्त होकर विराजमान है।

फूलों के गुच्छे पड़े झूम रहे हैं, मेवेदाने ज़मीन को चूम रहे हैं। नीम के पत्तों की सब्ज़ी और फूलों की सफ़ेदी बहार पर है। आम के मौर में फूलों की महँक आती है। भीनी भीनी बू जी को भाती है। जब दरख्तों की टहनियां हिलती हैं, मौलसिरी के फूलों का मेंह बरसता है, फल फलारी की बौछाड़ हो जाती है। धीमी धीमी हवा उनकी बू बास में लसी हुई रविशों पर चलती है। टहनियाँ ऐसी हिलती हैं जैसे कोई जोबन की मतवाली अठखेलियाँ करती चली जाती है। किसी टहनी में भौंरे की आवाज़ किसी में मक्खियों की भनभनाहट, अलग ही समाँ बांध रही है। परिन्द दरख्तों पर बोल रहे हैं और कलोल

कर रहे हैं।" मुसलमान लेखकों ने फ़ारसी और अरबी के शब्दों का सम्मिश्रण कर के खड़ी बोली को ख़ूब माँजा, राजाश्रय भी उसको प्राप्त हो हो गया था, ऐसी दशा में व्रजभाषा गद्य को उससे सफलता पूर्वक भिड़ सकने का अवसर ही नहीं रह गया। खड़ी बोली के विशेष बलशाली हो जाने का एक कारण यह भी था कि उसका प्रचार किसी प्रान्त विशेष तक परिमित नहीं था। मुसल्मानों का शासन, शासन नहीं तो प्रभाव अनेक शताब्दियों तक भारतवर्ष के प्रायः समस्त भागों पर पड़ा। इस लिये मुसलमानों द्वारा प्रभावित खड़ी बोली को, जिसका नाम कालान्तर में उर्दू पड़ गया, प्रायः समस्त प्रान्तों में वह अनुकूलता प्राप्त हुई जो व्रजभाषा-गद्य को अपने सर्व्वोच्च गौरव के दिनों में भी नहीं मिल सकी। धीरे धीरे अनेक हिन्दू लेखकों ने भी मुसलमान लेखकों द्वारा प्रस्तुत भाषा में रचना आरंभ की। मुंशी सदा सुख लाल 'नियाज़', जो अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में ईस्ट इन्डिया कम्पनी की नौकरी में थे और चुनार में काम करते थे, उन हिन्दू लेखकों में से एक थे, जिन्होंने उर्दू और फ़ारसी में रचनायें कीं। मुन्शी जी भगवद्भक्त थे, जहाँ उन्होंने अधिकांश परिश्रम उर्दू और फ़ारसी ही में किया, वहाँ भगवद्भजन के उद्देश्य से श्री मद्भागवत का अनुवाद हिन्दी में भी किया। उनका यह अनुवाद 'सुख सागर' के नाम से प्रसिद्ध है। सुखसागर की भाषा का एक नमूना देखिये:—

'यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिये कोई बुरा माने कि भला माने विद्या इसी हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिये। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइये और फुसलाइये और सत्य छिपाइये व्यभिचार कीजिये और सुरापान कीजिये और धन द्रव्य इकठौर कीजिये और मनको जो तमोवृत्ति से भर रहा है निर्मल न कीजिये। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।'

उर्दू लिखने में मँजी हुई लेखनी से लिखा हुआ होनेपर भी फ़ारसी का

एक शब्द इस अवतरण में नहीं दिखायी पड़ता। इसका कारण धार्म्मिक संस्कार था जो फ़ारसी शब्दों का समावेश करने के अनुकूल नहीं था। मुन्शी सदासुख लाल ने एक ओर तो कथा-वार्त्ता की पूर्व शैली के अनुसार कुछ प्रचलित शब्दों और वाक्यों को ग्रहण किया, दूसरी ओर खड़ी बोली की क्रियाओं, सर्वनामों और संज्ञा शब्दों को। इस संयोग ने सोने में सुहागे का काम किया।

सैयद इन्शा अल्ला खां के पूर्वज समरकंद से भारत में आये थे। वे पहले तो मुग़ल दरबार के आश्रित हो कर रहे। किंतु जब मुग़ल साम्राज्य का अन्त हो गया तब इन्शा के पिता दिल्ली से मुर्शिदाबाद चले गये। इन्शा की शिक्षा बहुत अच्छी हुई। अल्प वय में वे फ़ारसी और उर्दू में अच्छी कविता करने लगे थे। इनकी विलक्षण प्रतिभा ने हिन्दी गद्य में भी अपनी विलक्षणता दिखलायी। व्रजभाषा के गद्य में कथा-वार्ता का एक देशीय विकाश हुआ था। अब यदि खड़ी बोली में मुन्शी सदासुख लाल ने धार्मिक कथा का वर्णन किया तो इन्शा अल्ला खां ने बहुत ही रोचक और सरल तथा मुहावरेदार ठेठ भाषा में प्रेम कहानी लिखी, जिसकी लोक प्रियता का क्षेत्र स्वभावतः बहुत चौड़ा होता है, और जो अधिकाधिक प्रचलित होकर गद्य के स्वरूप को निखारने में बहुत बड़ा काम करती है। इन्शा की भाषा के दो नमूने देखिये:—

१— "एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो.................एक कोई बड़े पढ़े-लिखे पुराने धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाये ....और लगे कहने यह बात होती दिखायी नहीं देती। हिन्दोपन भी न निकले और भाषापन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न पड़े, यह नहीं होने का।

२—'जब दोना महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी।'

३—''इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूं उस अपने दाता के भेजे हुये प्यारे को।''

४—'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूं, उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया।'

इन्शा अल्ला की भाषा में जहाँ सरलता है, जनता की दैनिक बोलचाल की भाषा से शब्दावली चुनने की प्रवृत्ति है, वहां उनकी शैली पर फ़ारसी का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टि गोचर होता है। तीसरे अवतरण में आप देखेंगे कि वाक्य की वर्तमान कालिक सकर्मक क्रिया 'जपता हूं' पहले लिखी गयी है और उस क्रिया का कर्म 'उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को' बाद को। भारतीय शैली में कर्म पहले लिखा जाता है और उसकी क्रिया बाद को। चौथे अवतरण में 'नाक रगड़ता हूं' पहले लिख कर 'उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सब को बनाया' लिखना भी प्राय. उक्त शैली का ही अनुसरण है।

इंशा की भाषा में जीवन है, चंचलता है—वह जीवन और चंचलता जो प्रेम-कथा को अत्यन्त सरस और आकर्षक बना देती है। कतिपय आलोचकों ने इंशा की भाषा में गूढ़ विषयों के प्रतिपादन की क्षमता का अभाव बतलाया है। यह बात सच है। उनकी भाषा अपने ही आनन्द के उन्माद से नृत्य करती सी चलती है। शब्द विन्यास अनुप्रास से अलंकृत हैं, जिससे वाक्यों के शरीर में एक अपूर्व सौष्ठव दृष्टि गोचर होता है। पुराने-धुराने, डाँग, बाग, खटराग, 'पुट न मिले', 'कली के रूप में खिले', 'हिन्दवी छुट और किसी बोली का पुट' आदि प्रथम अवतरण के रेखाङ्कित शब्दों को देख कर आप को मेरे इस कथन की सत्यता ज्ञात हो जायगी। इन सब बातों के अतिरिक्त इंशा ने जिस बहुत बड़ी विशेषता

का हिन्दी गद्य में समावेश किया वह है मुहावरों और कहावतों का प्रयोग, निम्न लिखित वाक्यों के चिन्हित शब्दों और पदों को देखिये:—

१—'जिसका जी हाथ में न हो, उसे ऐसी लाखों सूझती हैं।'

२—'चूल्हे और भाड़ में जाय यह चाहत..........।'

३—'अब मैं निगोड़ी लाज से कुट करती हूं।'

४—'मैं कुछ ऐसा बड़बोला नहीं जो राई को पर्बत कर दिखाऊँ और झूठ-सच बोल कर उँगलियां नचाऊँ और बेसिर बे ठिकाने की उलझी-सुलझी बातें पचाऊँ।'

५—'दहना हाथ मुंहपर फेर कर आप को जताता हूं, जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव भाव और कूद-फांद और लपक-झपक दिखाऊँ जो देखते ही आप के ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल चपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।'

६—'अब कान लगा के, आंखें मिला के, सन्मुख हो के टुक इधर देखिये, किस ढब से बढ़ चलता हूं और अपने फूल की पंखड़ी जैसे होठों से किस रूप के फूल उगलता हूं।'

संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग सर्वथा त्याग कर, अरबी फ़ारसी के शब्दों से मुंह मोड़ कर, केवल तद्भव शब्दविशिष्ट ठेठ भाषा में कहावतों आदि का आश्रय ले कर इंशा ने जिस चमत्कार की सृष्टि की, वह उस समय के हिन्दी गद्य के लिये एक अपूर्व बात थी। उनकी भाषा ने आगे के लेखकों के लिये सरल और मुहावरेदार भाषा का एक सुंदर आदर्श उपस्थित किया। किन्तु उसका अनुकरण नहीं हो सका, कारण इसका यह है कि वह गढ़ी भाषा है और उसमें चलतापन अथवा प्रवाह भी नहीं पाया जाता। वह बोलचाल की भाषा भी नहीं है, और न उसमें जैसी चाहिये वैसी लचक है। परन्तु पहले पहल खड़ी बोली का एक उल्लेख-

योग्य आदर्श उपस्थित कर के इंशा अल्लाह खांने अपनी उद्भाविनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है ॥

हिन्दी गद्य के विस्तार का तीसरा द्वार एक अन्य दिशा से खुला। जिस प्रेरणा से अमीर ख़ुसरो जैसे लेखक हिन्दी-साहित्य-विकास के प्रारम्भिक काल में हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुये थे ठीक उसी प्रकार की प्रेरणा से हिन्दी-गद्य के विकास का यह नया अवसर प्राप्त हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी को अपने कर्मचारियों को देशी भाषाओं का ज्ञान कराना भी आवश्यक समझ पड़ा। इस उद्देश्य से उसने कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की, जिसमें लल्लूलाल और सदल मिश्र हिन्दी के अध्यापक नियत हुये। इस कालेज के प्रधानाध्यापक जान गिलक्रिस्ट ने सन् १८०३ में इन दोनों सज्जनों को हिन्दी पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का काम सौंपा। इस समय भी शासकों का ध्यान खड़ी बोली ही की ओर गया। शिक्षित कर्मचारियों तथा समाज के सरकारी प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्तियों के सम्पर्क के कारण वे कमसे कम खड़ी बोलीके ढाँचे से परिचित थे। परन्तु अरबी और फ़ारसी के तत्सम शब्दों से लदी हुई भाषा की आवश्यकता उन्हें नहीं थी। उनको उर्दू का ज्ञान भी था परंतु वे देश की प्रधान जनता के भावों का परिचय कराने वाली भाषा की टोह में थे। वे ऐसी भाषा के लिये उत्सुक थे जो खड़ी बोली का ढाँचा स्वीकार करती हुई, उस शब्दावली को ग्रहण करे जिसके प्रति अधिकांश हिन्दू समाज के हृदय में एक विशेष संस्कार चिरकाल से चला आता था। संयोग से खड़ी बोली के गद्य ने बीज से अंकुर रूप धारण कर लिया था. और मुंशी सदासुखलाल तथा सैयद इंशा अल्ला अपना अपना हिन्दी गद्य का आदर्श उपस्थित कर चुके थे. कि लल्लू लाल जी और सदल मिश्र इस क्षेत्र में उतरे। लल्लू लाल जी ने प्रेमसागर की रचना की। इस ग्रंथ की भाषा देखिये:

१—"राजा परीक्षित बोले कि महाराज राजसूय यज्ञ होने से सब कोई प्रसन्न हुये। एक दुर्योधन अप्रसन्न हुआ। इसका कारण क्या है तुम मुझे समुझाय के कहो जो मेरे मन का भ्रम जाय। श्री शुकदेव जी बोले,

राजा तुम्हारे पितामह ज्ञानी थे। उन्होंने यज्ञ में जिसे जैसा देखा तैसा काम दिया।"

२—'इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय, न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र-आभूषण पहिराने।"

३—'तिस समय घन जो गरजता था सोई तो धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आती थी, सोई शूरबीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर मोर कड़खैतों की भांति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूंदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।'

४—'बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गयी। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा। आंखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

लल्लू लाल को कहानी कहनी थी। ऐसी अवस्था में भाषा की रोचकता और सरसता विषय के सर्वथा उपयुक्त है। फिर भी सैयद इंशा अल्ला खां की भाषा से उनकी भाषा की तुलना करने पर दोनों का वास्तविक अंतर प्रकट हुये बिना नहीं रहेगा। लल्लू लाल जी की भाषा में विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने प्रेम सागर में फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बिल्कुल ही नहीं किया है, यद्यपि उनके 'सिंहासन बतीसी' नामक ग्रंथ में यह प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। लल्लूलाल जी आगरे के रहने वाले थे, इसलिये उनकी रचना में ब्रजभाषा के शब्दों की भरमार होना स्वाभाविक था। उस समय भाषा का कोई सर्वमान्य आदर्श उनके सामने नहीं था, जिस प्रकार सदासुख लाल और इंशा अल्लाह खां ने अपने अपने अनुमित विचार के अनुसार अपने अपने ग्रंथों की हिन्दी भाषा रखी, उसी प्रकार लल्लू लाल जी ने भी प्रेम सागर को अपनी

अनुमानी हिन्दी में बनाई। उन दोनों के सामने उर्दू का आदर्श था, इसलिये उनकी भाषा विशेष परिमार्जित और खड़ी बोली के रंग में ढली हुई है, परन्तु ये उर्दू के आदर्श को त्याग कर चले, इसलिये वास्तविक खड़ी बोली न लिख सके। उर्दू शब्दों को भी बचाया, इसलिये आवश्यकता से अधिक ब्रजभाषा के शब्द उनकी रचना में घुस गये। अवतरणों के उन शब्दों को देखिये जो चिन्हित हैं। आज का समय होता तो संभव था कि इन तीनों को एक दूसरी की पुस्तक देखने के लिये मिल गयी होती और इस प्रकार एक दूसरे की प्रणाली से वे कुछ सहायता प्राप्त कर सकते। परन्तु उस समय तो यह भी संभव नहीं था, अपने जीवन में वे एक दूसरे का नाम भी न सुन सके होंगे। जिस समय प्रेम सागर लिखा गया, उस समय वहीं बागबहार नामक उर्दू ग्रंथ भी लिखा गया, उसमें भी अनुप्रासों की अधिकता है। उर्दू में यह प्रणाली फ़ारसी से आई है, फ़ारसी में अरबी से। मैं समझता हूं प्रेम सागर पर अनुप्रास के विषय में 'बागो बहार' का प्रभाव पड़ा है, वह भी गद्य ग्रंथ ही है। या यह कहें कि उक्त ग्रंथ की स्पर्द्धा से ही प्रेम सागर की भाषा सानुप्रास है। विशुद्ध संस्कृत और ब्रजभाषा शब्दों के आधार पर प्रेम सागर का निर्माण खड़ी बोली में करके लल्लू लाल ने उस प्रवाह में परिवर्त्तन उपस्थित करने का प्रयत्न किया जो अब तक फ़ारसी शब्दों के व्यवहार के प्रतिकूल नहीं था। मुंशी सदा सुख लाल की भाषा कुछ पंडिताऊ है, और कुछ अस्त व्यस्त। इंशा अल्लाह खां की भाषा का ढाँचा उर्दू है। लल्लू लाल का ढंग इन दोनों से भिन्न है, उनकी भाषा चलती और हिन्दी के ढंग में ढली हुई है, और यही उनकी प्रणाली की विशेषतायें हैं।

सदल मिश्र कलकत्ते के फ़ोर्ट विलियम कालेज में लल्लू लाल के साथ अध्यापक थे। जान गिलक्रिस्ट महाशय के आज्ञानुसार उन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तक तैयार की। उनकी भाषा देखिये:—

१—तब नृप ने पंडितों को बोला दिन बिचार बड़ी प्रसन्नता से सब

राजा वो ऋषियों को नेवत बुलाया। लगन के समय सबों को साथ ले मंडप में जहाँ सोनन्ह के थम्भ पर मानिक दीप बलते थे जा पहुँचे।

२— इतने में जहाँ से सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आईं, समाचार सुनि जुड़ाई. मगन हो हो नाचने गाने बजाने लगीं वो अपने अपने देह से गहना उतार उतार सेवकों को देने लगीं और अगणित रुपया अन्न वस्त्र राजा रानी ने ब्राह्मणों को बोला बोला दान दिया। आनंद बधावा बाजने लगा।

३— राजा रघु ऐसे कहते हुये वहां से तुरन्त हर्षित हो उठे। वो भीतर जा मुनि ने जो आश्चर्य बात कही थी सो पहिले रानी को सब सुनाई। वह भी मोह से व्याकुल हो पुकार रोने लगी वो गिड़गिड़ा कहने कि महाराज, जो यह सत्य है तो अब ही लोग भेज लड़के समेत झट उसको बुला ही लीजिये क्योंकि अब मारे शोक के मेरी छाती फटती है। कब मैं सुन्दर बालक सहित चंद्रावती के मुंह को जो बन के रहने से भोर के चन्द्रमा सा मलीन हुआ होगा देखोंगी।"

उक्त अवतरणों के चिन्हित शब्दों को देखने पर आप को यह स्पष्ट हो जायगा कि सदल मिश्र की भाषा न तो लल्लू लाल की भाषा की तरह ब्रजभाषा के शब्दों से भरी है न शुद्ध खड़ी बोली है. वह दोनों के बीच की है। ऐसा होना परिवर्त्तन काल की भाषा के लिये स्वाभाविक था। सदल मिश्र कहीं 'ब्राह्मण' का बहुवचन 'ब्राह्मणों' लिखते हैं और कहीं 'सोन' का बहुवचन 'सोनन्ह'। 'आश्चर्य बात' 'वो' आदि शब्दों का प्रयोग भी वे करते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्द भी उनकी रचना में आये हैं. 'नृप' 'स्त्री', 'अगणित', 'शोक', 'चन्द्रमा, आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। 'सखी सहेली' 'जात भाइयों' आदि दोहरे पदों का प्रयोग भी उन्होंने किया है।

इसी समय हिन्दी गद्य के विस्तार का एक मार्ग और खुला। सन

१८०६ ई० में विलियम केटे नाम के एक पादरी ने इंजील का अनुवाद हिन्दी में 'नये धर्म-नियम' नाम से प्रकाशित किया। इस अनुवाद तथा ऐसी ही अन्य पुस्तकों के प्रकाशन का उद्देश्य यह था कि हिन्दी भाषा-भाषी जनता ईसाई धर्म के सिद्धान्तों से परिचय प्राप्त करे। सदा सुखलाल और लल्लू लाल ने क्रमशः 'सुख सागर' और 'प्रेमसागर' की रचना करके धामिक जनता के सामने लोक प्रिय कथाओं को सरल भाषा में उपस्थित किया था इसलिये कि जिसमें वे इधर आकर्षित हों। उनका उद्देश सफल भी हुआ। लल्लू लाल का प्रेम सागर जितना ही पाठ्य पुस्तक के रूप में आदृत था उतनी ही धार्मिक जनता में भी उसकी प्रतिष्ठा थी। इन दोनों ग्रंथों की भाषा में फ़ारसी भाषा के शब्दों का समावेश प्रायः नहीं के बराबर है। अतएव ईसाई धर्म-प्रचार के इच्छुकों ने भी उन्हीं की शैली का अनुसरण किया। फिर भी ईसाई पुस्तकों की भाषा में एक विशेषता देखने में आती है जो उसे पूर्व आदर्शों से कुछ पृथक करती है। वह है कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग। जो उसे एक ओर तो सैयद इंशा अल्लाह खां की भाषा से अलग करती है और दूसरी ओर मुंशी सदा सुख लाल और लल्लू लाल की भाषा से। ये शब्द ठेठ भाषा से लिये गये ज्ञात होते हैं। नीचे के अवतरणों को देख कर आप लोगों को मेरे कथन की सत्यता विदित होगी

१— यीशु ने उसको उत्तर दिया कि जो कोई यह जल पीएगा वह फिर पियासा होगा। स्त्री ने उससे कहा मैं जानती हूं कि मसीह जो ख्रीष्ट कहलाता है आने वाला है।

यीशु ने उनसे कहा मेरा भोजन यह है कि अपने भेजने वाले की इच्छा पर चलूं और उसका काम पूरा करूं। क्या तुम नहीं कहते कि वे कटनी के लिये पक चुके हैं। और काटने वाला मज़दूरी पाता और अनन्त जीवन के लिये फल बटोरता है कि बोने वाला और काटने वाला दोनों मिल कर आनन्द करें।

२— बियारी से उठ कर अपने कपड़े उतार दिये और अँगोछा लेकर अपनी कमर बाँधो।

३— तब उन्होंने उसके पिता से सैन किया कि तू उसका नाम क्या रखना चाहती है।

४ अर्थात् वह किरिया जो उसने हमारे पिता इब्राहीम से खायी थी।

५— यह हमारे परमेश्वर की उसी बड़ी करुणा से होगा जिसके कारण ऊपर से हम पर भोर का प्रकाश उदय होगा।

६— तब महायाजक और प्रजा के पुरनिए काइफ़ा नाम महायाजकके आंगन में इकट्ठे हुये।

७— यह देख कर उसके चेले रिसियाये और कहने लगे इसका क्यों सत्यानाश किया गया।

उक्त अवतरणों के रेखांकित शब्द ठेठ हिन्दी भाषा के हैं। 'उत्तर' 'स्त्री', 'इच्छा', 'अनन्त', 'जीवन', 'आनंद', 'पिता', 'परमेश्वर', 'करुणा', 'कारण', 'प्रकाश', 'उदय', 'महायाजक', 'प्रजा' आदि संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी इनमें किया गया है। एक जगह फ़ारसी से गढ़ा हुआ 'मज़दूरी' शब्द भी आया है परन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पादरी साहब की भाषा अपने पूर्ववर्ती लोगों से अधिक प्राञ्जल है, और उसमें खड़ी बोली का अधिकतर विशुद्ध रूप पाया जाता है। वह हरिश्चन्द्र कालिक हिन्दी के सन्निकट है। उसको देख कर यह विश्वास नहीं होता, कि उस समय किसी पादरी की लेखनी से ऐसी भाषा लिखी जा सकती है। मुझको इसमें किसी योग्यतम हिन्दू के हाथ की कला दृष्टिगत होती है॥

उन्नति-काल।

विस्तार-काल के लेखकों ने हिन्दी-गद्य का क्षेत्र विस्तृत तो किया, किन्तु भाषा के सम्बंध में वे कोई निश्चित आदर्श उपस्थित न कर सके मुंशी सदासुख लाल, लल्लू जी लाल पं० सदल मिश्र, सय्यद इंशा अल्ला खां आदि लेखकों ने भिन्न भिन्न प्रकार की भाषा लिखी। प्रथम तीनों की भाषा में ब्रजभाषा का यथेष्ट पुट था। अतएव वह खड़ी बोली के प्रारम्भिक काल की सूचक ही हो कर रह गयी। रही इंशा अल्ला खां की भाषा, वह उनकी व्यक्तिगत रुचि से बहुत अधिक प्रभावित है। उनकी प्रकृति के अनुरूप उसमें विलासविभ्रममयी कामिनी के समान चटक मटक अधिक है. वह अधिकतर ऐसी है कि कहानी किस्सों ही में काम देसकती है, अन्य विषयों में नहीं। पादरी साहब की भाषा का प्रचार परिमित क्षेत्र में ही था। अतएव यह स्पष्ट है कि गद्यपरिधि के विस्तार ने भाषा का स्वरूप निश्चित कर के उसे सर्व्वोपयोगी, तथा सब प्रकार के विचारों को प्रगट करने के योग्य बनाने की समस्या उन्नति काल के लेखकों के सामने उपस्थित की॥

अनेक श्रेणियों के लेखकों की प्रतिभा के संघर्ष से यह समस्या इसी काल में हल हुई। निबन्ध. नाटक उपन्यास और समालोचना आदि के क्षेत्रों में प्रचुर व्यवहृत होने से इसी समय गद्य की एक सुन्दर शैली का विकास में आकर समुन्नत होना स्वाभाविक था। उन्नति क्रम क्या था, मैं अब यह दिखलाऊँगा।

राजा शिवप्रसाद उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुये। उन्हीं के समय से हमने हिन्दी-गद्य का उन्नति-काल माना है। सन् १८५४ में सर चार्ल्स उड ने देशी भाषाओंमें ग्रामवासियों के शिक्षा देनेकी जो योजना बना कर भेजी थी उसमें हिन्दी को स्थान ही न मिलता, यदि राजा साहब ने अपार परिश्रम करके हिन्दी में कुछ पाठ्य पुस्तकें तैयार न की होतीं। यदि शिक्षा योजना में हिन्दी को स्थान न मिलता. तो उस समय न तो उसका उन्नति पथ प्रशस्त होता, और न वह जैसा चाहिये वैसा

अपना पाँव आगे बढ़ा सकती, इस लिये उसकी उस काल की उन्नति में राजासाहब का हाथ होना स्पष्ट है। सन् १८४५ में उन्होंने 'बनारस अख़बार' नामक जो समाचार पत्र निकाला था, उसकी भाषा यद्यपि फ़ारसी के तत्सम शब्दों से लदी हुई होती थी, परन्तु उसको वे देवनागर अक्षरों में ही प्रकाशित करते थे और उसे हिन्दी का समाचार-पत्र ही कहते थे। इन बातों से उनका हिन्दी प्रेम प्रकट होता है, परन्तु हिन्दी की भाषा के विषय में उनका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था, कभी वे उसे फ़ारसी शब्दों से मिश्रित लिखते थे और कभी संस्कृत शब्दों से गर्भित। कभी कभी उन्होंने बड़ी सरल हिन्दी लिखी है परन्तु बोलचाल पर दृष्टि रख कर उसमें भी फ़ारसी और अरबी के ऐसे शब्दों का त्याग नहीं किया, जिनको सर्व साधारण बोलते और समझ लेते हैं॥

सन् १८३५ में अँगरेज़ी और फ़ारसी लिपि में लिखी जानेवाली तथा फ़ारसी और अरबी के शब्दों तथा खड़ी बोली की क्रियाओं के सहयोग से उत्पन्न उर्दू भाषा सर्कारी कचहरी की भाषा बन गई। यह उर्दू का सौभाग्य सूर्योदय था। इस घटना से हिन्दी-गद्य के विस्तार कार्य्य को बहुत बड़ा धक्का लगा। उर्दू का यों भी बोलचाल में प्रचार था। किन्तु इस घटना से उसे इतना अधिक प्रश्रय मिला कि वह सहज ही हिन्दी को पछाड़ देने में सफल हुई। कारण यह कि स्वयं हिन्दू प्रतिभा और साहित्य-सृजनकारिणी शक्ति ऐसी भाषा के विकास में योग देने के विरुद्ध हो गयी, जिसका आदर शिक्षित वर्ग में नहीं रह गया था। ऐसी दशा में मुन्शी सदासुख लाल और लल्लू लाल द्वारा प्रचारित गद्य-शैली का कुछ समय के लिये दब जाना स्वाभाविक था॥

राजा शिवप्रसाद का हिन्दी-रचना काल इसी समय प्रारम्भ होता है। लल्लू लाल की तरह शुद्ध गद्य लिखने के पक्ष में वे इस कारण नहीं हुए कि उनकी समझ में वैसा गद्य उस समय प्रचलित करना उचित नहीं था। उस समय की परिस्थिति पर दृष्टि रख कर एक जगह वे यह लिखते हैं:—

'शुद्ध हिन्दी चाहने वाले को हम यह यक़ीन दिला सकते हैं कि जब

तक कचहरी में फ़ारसी हरफ़ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बे फ़ायदा होगी।" राजा शिवप्रसाद क्यों फ़ारसी अरबी शब्दों से मिश्रित हिन्दी लिखने के पक्षपाती थे, यह बात, आशा है, अब आपलोगों की समझ में आ गयी होगी. उनके गद्य का निम्नलिखित नमूना देखने से यह विषय और स्पष्ट हो जावेगा।

"हम लोगों की ज़बान का व्याकरण (चाहे आप उसको उर्दू कहें चाहे हिन्दी) किसी क़दर क़ायम हो गया है। जो बाक़ी है जिस क़दर जल्द क़ायम हो जावे बेहतर। इस ज़बान का दरवाज़ा हमेशा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा। उसमें शब्द बेशक आये और बराबर चले आते हैं, क्या भूमियों की बोली, क्या संस्कृत क्या यूनानी (यहाँ तक कि यूनानी लफ़्ज़ 'दीनार' पुरानी संस्कृत पोथियों में भी पाया जाता है और नानक भी यूनानीसे निकला है), क्या रूमी, क्या फ़ारसी, क्या अरबी, क्या तुर्की, क्या अँगरेज़ी क्या किसी मुल्क के शब्द जो कभी इस दुनिया के पर्दे पर बसे हैं या बसते हैं, सब के वास्ते इसका दरवाज़ा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा। अब इसे बन्द करने की कोशिश करना सिवाय इसके कि किस क़दर मूजिब हमारे हानि और नुक़सान का है और कैसा असम्भव है, यह सोचना चाहिये। रोक टोक बेशक मुनासिब है और यही हो सकती है। वह कौन मनुष्य है कि अपने ताल में जिससे तमाम गांव सिंचता है पानी आने की नालियाँ बंद करे। गंगा की धारा का बहना तो आप बन्द नहीं कर सकते। लेकिन यह अवश्य कर सकते हैं कि बाँध और पुश्ते बना कर उन्हीं के दर्मियान उसको रखें।"

उक्त अवतरण में 'क़दर', 'क़ायम', 'बाक़ी', 'बेहतर', 'ज़बान', 'दरवाज़ा', 'बेशक', 'लफ़्ज़', 'मुल्क', 'दुनिया', 'कोशिश', 'क़दर', 'मूजिब', 'नुक़सान', 'मुनासिब', 'दर्मियान' आदि शब्द फ़ारसी से लिये गये हैं। 'व्याकरण', 'शब्द', 'हानि', 'अवश्य' आदि बहुत थोड़े से ही शब्द इसमें संस्कृत के हैं। राजा शिव प्रसाद की भाषा सम्बन्धी यह नीति सफल होने-

वाली नहीं थी। हिन्दी-गद्य के पुराने संस्कार वास्तव में सदा के लिये मिट नहीं गये थे. केवल प्रतिकूल परिस्थिति के कारण वे दबे पड़े थे। राजा लक्ष्मण सिंह की सरस लेखनी का अवलम्बन पा कर वे फिर सामने आ गये उन्होंने अपनी भाषा-विषयक नीति निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी:—

"हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू और उर्दू यहां के मुसलमानों और फ़ारसी पढ़े हुये हिन्दुओं की बोल-चाल है। हिन्दी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं और उर्दू में अरबी और फ़ारसी के। किन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी फ़ारसी शब्दों के बिना उर्दू न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी फ़ारसी के शब्द भरे हों।"

अपनी इस मनोवृत्ति के साथ कार्यक्षेत्र में अग्रसर होकर राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी का असीम उपकार किया। वास्तव में यदि राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी गद्य के अस्थिपञ्जरावशिष्ट शरीर में श्वास का आना जाना सुरक्षित रक्खा तो राजा लक्ष्मण सिंह ने उसके शरीर में अल्पाधिकमात्रा में स्वास्थ्य का संचार किया और उसे नव जीवन दिया। इनकी भाषा के दो नमूने आप देखें —

१—"रास छोड़ते ही घोड़े सिमट कर कैसे झपटे कि खुरों की धूल भी साथ न लगी। केश खड़े कर के और कनौती उठा कर घोड़े दौड़े क्या हैं. उड़ आये हैं। जो वस्तु पहले दूर होने के कारण छोटी दिखायी देती थी सो अब बड़ी जान पड़ती है।"

२—तुम्हारे मधुर बचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को बिरह में ब्याकुल छोड़ कर पधारे हो। क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोबन में आकर पीड़ित किया है।

इन अवतरणों की भाषा से राजा शिव प्रसाद जी की भाषा से तुलना कीजिये। यदि एक में आप को उर्दू का स्पष्ट स्वरूप दिखायी पड़ेगा

तो दूसरी में हिन्दी के प्रकृत स्वरूप को ग्रहण करने की चेष्टा प्रकट रूप से दिखायी पड़ती है। राजा लक्ष्मण सिंह के उक्त अवतरणों में एक भी फ़ारसी शब्द का व्यवहार नहीं मिलता। संस्कृत के शब्दों की भी ठूंस ठांस नहीं दिखाई पड़ती, उतने ही संस्कृत शब्द उसमें आये हैं जितने भाषा को मनोहर बना कर भाव को सुन्दरता के साथ व्यक्त करने के लिये आवश्यक हैं।

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि जहाँ राजा शिव प्रसाद एक ऐसी भाषा को प्रचलित करना चाहते थे जो हिन्दू समाज के संस्कारों के बिल्कुल ही प्रतिकूल थी, वहाँ राजा लक्ष्मण सिंह ने इस तथ्य बात की ओर ध्यान नहीं दिया कि जीवित भाषा का लक्षण ही यह है कि अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आकर वह आदान-प्रदान से विरत न हो। फिर भी यह कहा जा सकता है कि राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी-गद्य-साहित्य में उस प्रतिक्रिया के प्रतिनिधि हैं जो राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द की फ़ारसी रंग में रँगी हुई हिन्दी के विरुद्ध हिन्दू समाज में इस समय उत्पन्न हो रही थी॥

यहाँ हिन्दी और उर्दू के पारस्परिक विभेद सम्बन्ध में दो शब्द कह-देना आवश्यक जान पड़ता है। राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द की यह बहुत बड़ी शिकायत थी कि उन दिनों शिक्षित समाज में प्रचलित फ़ारसी शब्दावली से प्रभावित हिन्दी को न स्वीकार कर के संस्कृत-गर्भित हिन्दी लिखने और इस प्रकार एक नई भाषाके निर्माण करनेका प्रयत्न किया जा रहा था। निस्सन्देह हिन्दी और उर्दू की क्रियाओं में अभिन्नता है और दोनों का व्याकरण प्रायः एक ही है। परन्तु इतनी एकता होने पर भी धार्मिक और जातीय संस्कार ने दोनों बोलियों के बीच में एक गहरी खाई उपस्थित कर दी है। जिस इस्लाम की उपासना भारतवर्ष के मुसलमान करते हैं वह किसी देश की सीमाओं से प्रभावित नहीं होता, उसके आदेश के अनुसार भारतवर्ष और पलेस्टाइन के मुसलमान जितने निकट समझे जा सकते हैं उतने भारतवर्ष के मुसलमान और हिन्दू नहीं। इस्लाम के इसी स्वरूप से प्रभावित होकर मुसलमान कवि भारतवर्ष में रह कर भी फ़ारसी

काव्य-परम्परा ही को अधिक पसन्द करता है। जैसे मुसलमान अपने संस्कारों को नहीं छोड़ते उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि हिन्दू-जाति को धार्मिक संस्कृति संस्कृत शब्दों का मोह त्याग दे। ऐसी दशा में हिन्दी और उर्दू की एकता के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि हिन्दू और मुसलमान जातियों के दैनिक सम्पर्क और सहयोग के लिये किसी जीवित सम्बन्ध की स्थापना की जाय और दोनों के व्यक्तिगत संस्कारों को एक दूसरे के साथ मिल कर सामंजस्य कर लेने का अवसर दिया जाय। जब यह सम्भव होगा तो इसे व्यक्त करनेवाली भाषा केवल मुस्लिम समाज अथवा हिन्दू समाज की नहीं होगी, बल्कि भारतीय समाज की होगी, तभी हिन्दी और उर्दू का झगड़ा मिट जायगा। यह परिस्थिति जिस प्रकार संभव हो सके उसके लिये उद्योगशील न होकर जो लोग प्रति सौ फ़ारसी अरबी शब्दों के साथ पाँच संस्कृत के अथवा प्रति सौ संस्कृत शब्दों के साथ पाँच फ़ारसी अरबी के सार्वजनिक प्रयोग ज्ञात किन्तु संस्कार शून्य शब्दों का केवल इस लिये व्यवहार करते हैं, कि इससे उनकी एकता-हितैषणा की घोषणा हो वे समस्या के मूल पर कुठाराघात न करके केवल डालियों और पत्तों पर प्रहार करके पेड़ को भूमिशायी बनाना चाहते हैं। अतएव, जब तक मुसलमान लेखक अपने साहित्य-परम्परा-विषयक संस्कारों पर भारतीय रंग न चढ़ने देंगे अथवा हिन्दू लेखक अपनी साहित्य-परम्परा-गत विशेषताओं के साथ मुसलमानों की शैली के साथ समझौता होना संभव न बनायेंगे तब तक हिन्दी और उर्दू का विभेद बना ही रहेगा और वे राजा लक्ष्मण सिंह के शब्दों में दो न्यारी न्यारी बोली बनी ही रहेंगी॥

राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह जिस समय हिन्दी गद्य की शैली को एक स्थिर स्वरूप देने का प्रयत्न कर रहे थे उस समय गुजरात से सूर्य्य की तरह उदित होने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू जाति की रक्षा के लिये एक बड़े प्रबल आन्दोलन को जन्म दिया। ईसाइयों के स्वधर्म-प्रचार के प्रयत्न की चर्चा की जा चुकी है। इस प्रयत्न का स्वरूप केवल अनुवादित पुस्तकें जनता में बाँटना ही नहीं था, उसने इससे

अधिक गम्भीर रूप पकड़ कर हमारे दैनिक जीवन के प्रभावशाली अंगों शिक्षा और चिकित्सा आदि से भी अपना सम्पर्क बढ़ाने की कोशिश की। इसका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न प्रान्तों के बहुसंख्यक हिन्दू ईसाई धर्म को स्वीकार करने लगे। इसके अतिरिक्त हिन्दू-समाज के अनेक दुर्बल अंगों पर आक्रमण करके मुसलमान लोग भी हिन्दुओं को हिन्दू धर्म की गोद में से निकालने की चिन्ता में लगे थे। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आविर्भाव के पहले हिन्दू समाज, विशेष कर संयुक्तप्रान्त और पंजाब का हिन्दू समाज इस अन्धकार में अपना समुचित पथ ढूँढ़ निकालने में असमर्थ था। स्वामी दयानन्द ने देश और जाति को आवश्यकताओं को समझा और जो कुछ उचित समझा उसे अपने देशबन्धुओं को समझाने का प्रबल प्रयत्न किया। इससे स्वभावतः हिन्दी गद्य को सहारा मिला, क्योंकि उनके और उनके अनुयायियों ने अपना आन्दोलन और प्रचार कार्य हिन्दी ही में प्रारंभ किया। राजा शिव प्रसाद की भाषा-सम्बन्धी नीति को स्वामी दयानन्द के आन्दोलन से भी पनपने का अवसर नहीं मिला। क्योंकि तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों की मीमांसा हिन्दी ही में होने के कारण अधिकांश विचारशील हिन्दुओं को भी संस्कृत के अनेक तत्सम शब्दों की ओर झुकना पड़ा जिसका परिणाम कालान्तर में पंजाब जैसे उर्दू-प्रधान प्रान्त में इस रूप में दिखाई पड़ा कि भाषा तो हुई संस्कृत शब्दों से भरी किन्तु लिपि हुई फ़ारसी—राजा शिव प्रसाद की शैली का ठीक उलटा। स्वामी दयानन्द सरस्वती की भाषा का एक नमूना देखिये:—

१—'तत्पश्चात् मैं कुछ दिन तक स्थान टेहरी में ही रहा और इन्हीं पंडित साहब से मैंने कुछ पुस्तकों और ग्रंथों का हाल जो मैं देखना चाहता था दरयाफ़्त किया और यह भी पूछा कि ये ग्रंथ इस शहर में कहाँ कहाँ मिल सकते हैं। उनके खोलते ही मेरी निगाह एक ऐसे विषय पर पड़ी कि जिसमें बिलकुल झूठी बातें, झूठे तरजुमे, और झूठे अर्थ थे।"

२—राजा भोज के राज्य में और समीप ऐसे शिल्पी लोग थे कि

जिन्हों ने घोड़े के आकार का एक मान यन्त्र कलायुक्त बनाया था कि जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोस और एक घण्टे में सत्ताइस कोस जाता था वह भूमि और अन्तरिक्ष में भी चलता था और दूसरा पंखा ऐसा बनाया था कि बिना मनुष्य के चलाये कला-यन्त्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था जो ये दोनों पदार्थ आजतक बने रहते तो योरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते.,।

इन अवतरणों की भाषा पर ध्यान दीजिये, द्वितीय अवतरण में फ़ारसी या अरबी का एक भी शब्द नहीं है, संस्कृत के तत्सम शब्दों ही की उसमें प्रधानता देख पड़ती है। पहले अवतरण में 'साहब' 'दरयाफ़्त' 'निगाह', 'तरजुमे' आदि शब्द फ़ारसी के हैं। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में जो सरलता और मधुरता है उसका स्वामी जी की भाषा में सर्वथा अभाव है। कारण इसका यह है कि स्वामी जी को एक नवीन दिशा में हिन्दी का उपयोग करना पड़ा। जिस प्रकार का शास्त्रार्थ उन्होंने प्रचलित किया वैसा तब तक अज्ञात था। मौलवियों, पादरियों और पंडितों के साथ विवाद में पड़ कर हिन्दी भाषा से उन्हें ऐसा काम लेना पड़ा जो कभी लिया न गया था। दूसरी बात यह कि उनके विषय शास्त्रीय थे, वह भी वादग्रस्त, साहित्यिक नहीं थे, अतएव उनकी भाषा में कर्कशता और रूखापन मिलना आश्चर्य्यजनक नहीं॥

राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह और स्वामी दयानन्द सरस्वती सम सामयिक थे। इन तीनों लेखकों ने हिन्दी गद्य में तीन प्रकार की शैलियां उपस्थित कीं, यह आप लोगों ने देख लिया। अब मैं आप को हिन्दी गद्य-साहित्य के एक ऐसे उज्ज्वल नक्षत्रको निर्मल प्रभा से परिचित करना चाहता हूं जिसने शैली-विकास-विषयक प्रयत्न को प्राय: पूर्णता का रूप प्रदान कर के स्थिरता सञ्चार करने में सफलता प्राप्त की, यह उज्ज्वल नक्षत्र भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र हैं। भारतेन्दु बाबू ने जैसे सामयिक हिन्दी पद्य के विकास में पथ-प्रदर्शक का काम किया वैसे ही गद्य के विकास में भी उनका सहयोग बहुत महत्वपूर्ण है। बात यह है कि साहित्यिक शैलियों

के विकास में लेखक की अपेक्षा जनता का सहयोग कम प्रभावशाली नहीं होता। हम जो कुछ लिखते हैं उसका यही उद्देश्य है कि उसे लोग पढ़ें और उचित मात्रा में उससे प्रभावित हों। जब हम शैली-विशेष की उपयोगिता और ग्राम्यता पर विशेष बल देते हैं, तब हमारा तात्पर्य इससे भिन्न अन्य कुछ नहीं हो सकता कि उससे लेखक और पाठक का मानसिक-सम्बन्ध-स्थापन होने में बहुत अधिक सरलता और सुगमता की सम्भावना है। राजा शिवप्रसाद ने फ़ारसी शब्दों से लदी हुई 'आम फ़हम' और 'खास पसंद' भाषा के लिये जब 'ज़ोरदार, 'वकालत' की थी तब इसी व्यापक सिद्धान्त का आश्रय उन्हें लेना पड़ा था। उनका ध्यान विशेष रूप से उन शिक्षित हिन्दू पाठकों की ओर था जिनके हिन्दी-प्रेम की अधिक से अधिक सीमा यह थी कि वे देवनागर अक्षरों में उर्दू भाषा को पढ़ और समझ लें। किन्तु जब इसी पाठक-मण्डली के धार्मिक संस्कारों की सहानुभूति की आवश्यकता लेखक को प्रतीत हुई तब संस्कृत के तत्सम शब्दों ही की ओर उसे झुकना पड़ा। मैं इस स्थान पर यह कथन करता हुआ इस बात को भी नहीं भूल रहा हूं कि धार्मिक विषयों के स्पष्टी करण, तथा तत्सम्बन्धी तर्क-वितर्क में संस्कृत शब्दों की यथेस्ट मात्रामें आवश्यकता होती है। किन्तु साथ ही यह भी मेरा मत है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का जो बहुत अधिकता से प्रयोग हुआ है, उसका एक मात्र कारण यह अनिवार्य आवश्यकता ही नहीं थी, बल्कि जनता की वह रुचि भी थी जो संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग में एक विशेष धार्मिक सँस्कार का अनुभव करती थी। अतएव लेखक और पाठकमण्डली दोनों के सहयोग से हिन्दी भाषा का बहुत कुछ परिष्कार और परिमार्जन हो चला जिसका स्पष्ट परिचय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की भाषा में दिखायी पड़ा। जनता की रुचि किस भाषा की ओर थी, यह भारतेन्दु द्वारा सञ्चालित 'कविवचनसुधा' नामक मासिक पत्र के प्रति उसके विशेष अनुराग से लक्षित हो गया। भारतेन्दु ने भाषा के सम्बन्ध में एक ऐसी नीति ग्रहण की जो किसी विशेष पक्ष की ओर झुकी नहीं थी बल्कि समस्त पक्षों का समुचित समन्वय उपस्थित

करती थी। यदि वे राजा शिवप्रसादकी सी फ़ारसी के भारसे दबी हुई हिन्दी नहीं लिखते तो राजा लक्ष्मण सिंह अथवा 'प्रेमसागर' रचयिता लल्लूलाल की तरह उन फ़ारसी शब्दों से भी नहीं बचते थे जो हिन्दी की बोलचाल में आगये हैं। नीचे भारतेन्दु जी की भाषा के दो नमूने मैं उपस्थित करता हूं। इन्हें देख कर आप यह समझ सकेंगे कि भारतेन्दु जी की भाषा-सम्बन्धी नीति किस प्रकार उस समय के एक महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करती थी:—

१—"नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे मारे फिरें, पर वाहरे शुद्ध 'बेहयाई'—पूरी निर्लज्जा! लाज को जूतों मार के, पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं लाज को हवा भी वहाँ नहीं जाती। हाय, एकबार भी मुंह दिखा दिया होता तो मत-वाले मतवाले बने क्यों लड़ लड़ कर सिर फोड़ते? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे?"

२—"जब मुझे अँगरेज़ी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतल जूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटि देश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं, तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है।"

अवतरण नम्बर एक को देखिये। उसमें 'बेहयाई', 'बेशरम' जैसे शब्दों का प्रयोग निस्संकोच भाव से किया गया है और यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इन शब्दों ने उक्त अवतरण की सरसता बढ़ाने में बहुत कुछ योग दिया है। संस्कृत के 'निर्लज्ज' और 'निर्लज्जता' शब्दों का प्रयोग यहां किया जा सकता था, किन्तु 'बेहयाई' और 'बेशरमी' का बोलचाल में इतना अधिक अधिकार हो गया है कि उनकी उपेक्षा, लेखक अपनी भाषा की स्वाभाविकता और सहज ही सम्पादित हो सकने वाली सरसता को संकट में डाल कर ही कर सकता था। दूसरे अवतरण में भारतेन्दु संस्कृत के तत्सम शब्दों ही के प्रयोग की ओर अधिक प्रवृत्त पाये जाते हैं। इसका

कारण यह है कि यहां वे अपने उद्गार को व्यक्त करने के लिये कुछ ऐसे वाक्य लिखना चाहते थे जो साधारण बोलचाल में नहीं आते। ऐसी परिस्थिति में अपनी शब्दावली चुनने के लिये उनके सामने दो मार्ग थे, या तो वे संस्कृत के अपरिचित, किन्तु पाठकों के अनुकूल सँस्कारों के कारण सहज ही परिचित होने की क्षमता रखने वाले शब्दों को चुनें अथवा फ़ारसी या अरबी के अप्रचलित और विदेशी शब्दों को। भारतेन्दु जी ने जैसी शब्दावली चुनी, उस परिस्थिति में प्रत्येक विचारशील लेखक वैसी ही शब्दावली ग्रहण करने की ओर प्रवृत्त होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य के विकास का एक स्वाभाविक पथ तैयार कर के उसे कार्य-क्षेत्र की ओर अग्रसर किया ॥

हिन्दी गद्य का कार्य्य-क्षेत्र भी बदलता जा रहा था और उसकी समस्त शक्तियों को प्रस्फुटित करनेवाले अवसर प्रस्तुत हो रहे थे। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क से जो हिन्दू समाज नितान्त विचलित और सम्मोहित हो गया था, वह बंगाल में राजा राममोहन राय और उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से नव जीवन लाभ कर रहा था। राजा राममोहन राय ने उपनिषदों के महत्व की ओर शिक्षित समाज का ध्यान खींचा, स्वामी दयानन्दने वेदों की ओर। इस उद्योग का परिणाम यह हुआ कि शिक्षित जनता में वह आत्म-विश्वास फिर उत्पन्न होने लगा जो उसके पहले लुप्त प्राय था। प्रायः इसी समय समाचार-पत्रों का भी उदय हुआ। आत्माभिमान के जागरित होते ही देशानुराग के भाव का विकास भी हुआ। राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह ने तो इस ओर ध्यान नहीं दिया किन्तु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने देश और समाज के कष्टों को गहराई के साथ अनुभव करके भिन्न भिन्न रूपों में उन्हें व्यक्त किया। यदि कहीं उन्हों ने मर्मभेदी बातें कहीं, कहीं पाठक के हृदय को करुणा और अनुताप के भावों से पूरित किया तो सामाजिक त्रुटियों को लक्ष्य कर के कहीं ऐसा व्यंगपूर्ण प्रहार और आक्षेप भी किया कि कुछ असहनशील पाठक की आन्तरिक सहानुभूति का उनसे चिरविच्छेद हो गया। उनका

पहला नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' ऐसा ही 'था। उसमें उन्हों ने समाज में प्रचलित बहुत सी दूषित बातों की ओर पाठकों और दर्शकों का ध्यान आकर्षित किया है। वास्तव में भारतेन्दु की देशानुराग परायण बुद्धि ने उन सूक्ष्म जीवन-संचारक तत्वों को अच्छी तरह समझ लिया था जो हिन्दू समाज के पुनरुज्जीवन केलिये आवश्यक थे। उन्हों ने 'कर्पूरमञ्जरी', 'सत्य हरिश्चन्द', 'चन्द्रावली नाटिका', 'भारत-दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी', 'नीलदेवी' आदि नाटकों की रचना इसी उद्देश्य से की कि हिन्दू समाज के आरोग्य लाभ केलिये वे उन्हीं तत्वों को उपस्थित करें। इसमें तो वे सफल हुये ही, साथ ही नाटक-रचना के कार्य्य में अग्रणी होने के कारण हिन्दी का प्रथम नाटककार होने का गौरव भी उन्हें प्राप्त हुआ।

भारतेन्दु की भाषा के जो दो नमूने ऊपर दिये गये हैं उनमें से नम्बर १ को देखने से आप को यह भी ज्ञात हो जायगा कि भारतेन्दु जी ने मुहावरेदार भाषा लिखने का उद्योग भी किया था। 'नाम बिकना', 'मारे मारे फिरना' आदि मुहावरे हैं जिनके व्यवहार ने भाषा की सरसता को बढ़ा दिया है। अवतरण नम्बर २ में इस प्रकार के मुहावरों का अभाव है इसका कारण भी स्पष्ट है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के बहु-संख्यक प्रयोगों ने मुहावरों के प्रवेश में रुकावट डाल दी है, प्रायः मुहावरों की छटा बोलचाल की भाषा में ही दृष्टिगत होती है।

समय के प्रभाव से उस समय बाबू हरिश्चन्द्र को अनेक सहयोगी भी प्राप्त हुये, उनमें से कुछ प्रमुख का वर्णन नीचे किया जाता है।

कानपूर के पं० प्रताप नारायण मिश्र विलक्षण प्रतिभा के मनुष्य थे. देश प्रेम उनमें कूट कूट कर भरा था, वे खरे थे, इसलिये खरी बातें भी कहते थे। स्वतन्त्र प्रकृति के थे, इसलिये उनकी सभी बातों में स्वतंत्रता दिखाई पड़ती है। उनकी भाषा में भी स्वतंत्रता का रङ्ग अधिक है। वे लिखते हैं, सामयिक हिन्दी, परन्तु उसमें मनमानापन भी मौजूद है। वे फ़ारसी, संस्कृत और उर्दू के अच्छे जानकार थे। फिर भी

ग्रामीण बातों और कहावतों से उन्हें प्रेम है। उनको रचना की प्रधान विशेषता यह है कि वे मुहावरों आदि का व्यवहार अपनी भाषा में सफलता के साथ करते हैं। देश ममता उनमें इतनी थी, कि अपने यहाँ की छोटी छोटी बातों को भी महत्व देते थे, और उनका प्रतिपादन इस ढंग से करते थे, कि उनकी इस प्रकार की लेख माला पढ़ कर चित्त प्रफुल्ल हो उठता है। किन्तु उनका भाग्य कभी नहीं चमका। अपने ब्राह्मण, नामक मासिक पत्र को भी वे थोड़े ही समय तक चला सके। दैनिक 'हिन्दोस्तान' के सम्पादक हो कर काला काँकर गये, परन्तु कुछ दिन वहाँ भी ठहर नहीं सके। उनके गद्य के कुछ नमूने देखिये—

१—"घर की मेहरिया कहा नहीं मानती, चले हैं दुनिया भर को उपदेश देने। घर में एक गाय बाँधी नहीं जाती, गोरक्षणी सभा स्थापित करेंगे। तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है, बने हैं देशहितैषी। साढ़े तीन हाथ का अपना शरीर है, उसकी उन्नति तो कर नहीं सकते, देशोन्नति पर मरे जाते हैं। कहाँ तक कहिये हमारे नौसिखिया भाइयों को माली खुलिया का आज़ार हो गया है, करते धरते कुछ नहीं हैं, बक बक बाँधे हैं।"

सच है 'सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति, मज़े से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना' जो कोई तिथ त्योहार आ पड़ा, तो गङ्गा में बदन धो आना, गङ्गापुत्र को चार पैसे दे कर सेंत मेत में, धरम मूरत धरमा औतार का खिताब पाना, संसार परमार्थ तो दोनों बन गये, अब काहे को है, हैं काहे को खै खै। मुँह पर तो कोई कहने ही नहीं आता, कि राजा साहब कैसे हैं, पीठ पीछे तो लोग नवाब को भी गालियां देते हैं, इससे क्या होता है। आप रूप तो आप हैं, ही 'दुहूं हाथ मुद मोदक मोरे' उनको कभी दुख काहे को होना होगा। कोई घर में मरा मराया तो रो डाला। बस आहार, निद्रा, भय, मैथुन के सिवा पाँचवीं बात ही क्या है, जिसको झीखैं। आफ़त तो बेचारे ज़िन्दा दिलों की है, जिन्हें न यों कल न वों कल। जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था, तब

के विद्वान् कहते थे, 'गीर्वाणवाणीषु विशाल बुद्धिस्तथान्यभाषा रस लोलुपोहं, अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रहो है, तब यह चिन्ता खाये लेती है, कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे। एक बार उद्योग किया गया तो एक साहब के पेट में समा गया, फिर भी चिन्ता पिशाची गला दबाये है। प्रयाग हिन्दू समाज फ़िकर के मारे 'कशीदम नालओ बेहोश गश्तम. का अनुभव कर रही है।"

३—"अरे भाई पहले अपना घर तो बाँधो लाला मसजिद पिरशाद सिड़ी वासितम को समझाओ कि तुम्हारे बुजुर्गों की बोली उर्दू नहीं है, लाला लखमीदास मारवाड़ो से कहो कि तुम हिन्दू हो, लाला नोचीमल खन्ना से पूछो तुमलोग संकल्प पढ़ते समय अपने को वर्मा कहते हो कि शेख़ ? पण्डित यूसुफ़ नरायण कश्मीरी से दरयाफ्त करो कि तुम्हारे दसो संस्कार (मुंडनादिक) वेद की रिचाओं से हुये थे कि हाफ़िज के दीवान से इसके पीछे जो सर्कार हिन्दी न कर दे तो ब्राह्मण के एडीटर को होली का गुंडा बनाना।"

अहा ! भाषा हो तो ऐसी हो. क्या प्रवाह है ! क्या लोच है ! कैसी फड़कती और चलती भाषा है ! दुःख है, यह भाषा पं० जी के साथ ही चली गयी. फिर ऐसी भाषा लिखने वाला कोई उत्पन्न नहीं हुआ। मुहावरेदार भाषा लिखने में जैसा भाव-विकाश होता है. वैसा अन्य भाषा लिखने में नहीं। यदि होता भी है, तो उतना प्रभावजनक नहीं होता। पं० जी की भाषा में अनेक शब्द शुद्ध रूप में नहीं लिखे गये हैं, कारण इसका यह है. कि उनको उस रूप में उन्होंने लिखा है, जैसा वे बोलचाल में हैं। उनकी यह प्रणाली गृहीत नहीं हुई। कारण इसका यह है कि एक तो बोलचाल पर इतनी दृष्टि कौन डाले दूसरी बात यह कि जब कुछ विशेष कारणों से शब्द को तत्सम रूप में लिखा जाना ही अच्छा समझा जाने लगा. तो व्यर्थ सर कौन मारे। चाहे जो हो, परन्तु ऐसी भाषा लिखना टेढ़ी खीर है, सब ऐसी भाषा नहीं लिख सकते। यह गौरव पं० प्रताप नारायण मिश्र

को हिन्दी लिखनेवालों में और पं० रत्ननाथ को उर्दू लिखने वालों में प्राप्त हुआ, अन्य को नहीं। आश्चर्य नहीं कि कोई दिन ऐसा आवे जिस दिन यह भाषा ही आदर्श मानी जावे।

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र के उपरान्त हमारी दृष्टि दो नारायणों पर पड़ती है, एक हैं पण्डित गोबिन्द नारायण मिश्र और दूसरे हैं, पंडित बदरी नारायण चौधरी। परन्तु इनका पथ भिन्न है, यदि वे बोलचाल की हिन्दी लिखने में सिद्धहस्त थे, तो ये दोनों सज्जन साहित्यिक हिन्दी लिखने में प्रसिद्ध थे।'

पं० गोविन्द नारायण मिश्र ने ऐसे वंश में जन्म लियाथा जहाँ संस्कृत का विशेष प्रचार था। वे स्वयं भी संस्कृत के विद्वान् थे। अतएव यह स्वाभाविक था कि वे हिन्दी गद्य-रचना करते समय संस्कृत-गर्भित वाक्य-विन्यास की ओर झुकें। उनकी भाषा का एक नमूना दिया जाता है:—

१—जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता है, जहं पठित, कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक सब श्रेणी के मनुष्यमात्र का समावेश है, वहाँ जिस समय सुकवि सुपंडितों के मस्तिष्क सुमेरु के सोते के अदृश्य प्रवाहसमान प्रगल्भ प्रतिभा स्रोत से, समुत्पन्न शब्द कल्पना कलित, अभिनव भावमाधुरी भरी, छलकती, अति मधुर रसीली स्रोतःस्वती उस हंस वाहिनी हिन्दी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसना रूपी सुचमत्कारी उत्स (झरने से) कलरव कल कलित अति सुललित प्रबल प्रवाह सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ रसिकों के श्रवण पुट रन्ध्र की राह, मन तक पहुंच सुधा से सरस अनुपम काव्य रस चखाता है; उस समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छन्द बन्द से स्वच्छन्द समुच्चारित्त शब्द लहरी प्रवाह पुञ्ज को समभाव से श्रवण करते हैं; परन्तु उसका चमत्कार, आनन्द, रसास्वादन, सब को समतुल्य नहीं होता।

एक अवतरण और देखिये:—

२—"सरद पूनों के समुदित पूरन चन्द की छिटकी जुन्हाई, सकल

मनभाई के भी मुंह मसिमल, पूजनीय अलौकिक पद नख चन्द्रिका की चमक के आगे तेजहीन, मलीन, और कलंकित कर दरसाती, लजाती, सरस सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोह जड़ता प्रगाढ़ तमतोम सटकाती मुकाती निज भक्त जनमन वांछित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथों से मुक्ति लुटाती, सकल कला आलाप कलकलित सुललित सुरीली मीड़ गमक झनकार सुतार-तार सुग्राम अभिराम लसित बीन प्रवीन पुस्तकाकलित मखमल से समधिक सुकोमल अति सुन्दर सुविमल लाल प्रवाल से लाल लाल कर पल्लव सुहाती, बिबिध विद्याविज्ञान सुभ-सौरभ सरसाते विकसे फूले सुमन प्रकाश हास बास बसे, अनायास सुगन्धि-तसित बसन लसन सोही सुप्रभा विकसाती, सुविमल मानस विहारी, मुक्ता-हारी नीर-क्षीर बिचार सुचतुर कवि कोविद राज राज हियसिंहासन निवासिनी मन्दहासिनी त्रिलोक प्रकासिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलशाली परम प्रभावशाली सुजन मन मोहिनी नव रस भरी सरस सुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।

पंडित गोविन्द नारायण मिश्र ने इस प्रकार का गद्य लिख कर हिन्दी भाषा में कविवर वाण विरचित कादम्बरी की शब्दच्छटा दिखलाने की चेष्टा की है, वैसा ही माधुर्य्य भी उत्पन्न करना चाहा है। परन्तु वह बात नो प्राप्त हुई नहीं, भाषा अवश्य दुर्बोध हो गई। अधिकतर उन्होंने ऐसी ही हिन्दी लिखी है, जब लेखनी उठाते थे, धारा प्रवाह रूप में ऐसी हिन्दी लिखते चले जाते थे। उनको इस प्रकार की हिन्दी लिखने में आनन्द भी बड़ा आता था, क्योंकि दण्डी के ढंग की समस्त पदावली उनको बहुत प्यारी थी। इन अवतरणों को देख कर उनके भाषाधिकार की प्रशंसा करनी पड़ती है। इनमें जो कवि कर्म्म है, वह भी साधारण नहीं, परन्तु उनकी दुरूहता और जटिलता, उसका आनन्द उपभोग करने नहीं देती। जिस गद्य में छोटे छोटे वाक्य न हों, जो उद्वेलित समुद्र समान अपने प्रचुर समस्त पद प्रयोग उत्ताल तरंगों से आप ही विक्षुब्ध हो, वह औरों

को क्या विमुग्ध कर सकेगा। किन्तु इन अवतरणों को देख कर यह न समझना चाहिये कि उनकी समस्त गद्य रचनायें ऐसी ही हैं। ये रचनायें तो पं० जी की विशेषता दिखलाने के लिये ही यहाँ उद्धृत की गई हैं। उनका साधारण गद्य सुन्दर है, और उसमें उसकी विशेषतायें पाई जाती हैं। एक अवतरण ऐसे गद्य का भी देखिये:—

"परंतु स्वच्छ दर्पण पर ही अनुरूप यथार्थ सुस्पष्ट प्रतिविम्ब प्रतिफलित होता है। उससे सामना होते ही, अपनी ही प्रतिबिम्बित प्रतिकृति, मानों समता की स्पर्द्धा में आ, उसी समय सामना करने आमने सामने आ खड़ी होती है। भला कहीं अँधेरी कोठरी की मिट्टी की, अति मलिन पुरानी भीत में भी किसी का मुंह दिखाई दिया है? अथवा उस पर कभी क्या किसी बिम्ब का प्रतिविम्ब पड़ सकता है?" 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक लेख-माला में उनका गद्य और अधिक सरल एवं स्पष्ट है। उन्हों ने विभक्तियों को संज्ञापदों से मिलाकर लिखने की परिपाटी चलाई और 'विभक्ति-विचार, शीर्षक एक लेख लिखकर उसका समर्थन किया। हिन्दी के कुछ लेखकों ने इस परिपाटी का अनुसरण भी किया किन्तु वह सर्व सम्मत नहीं हो सकी। पं० जी अपने समय के प्रभावशाली वक्ता और लेखक थे, उनका हिन्दी भाषा प्रेमियों पर अधिकार भी बड़ा था, इन्हीं गुणों के कारण अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व पद भी उन्हें प्राप्त हुआ था।

पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भी अधिकतर साहित्यिक गद्य ही लिखने की चेष्टा की। बरन यह कहना चाहिये कि उन्हें साहित्यिक गद्य लिखना ही प्रिय था। यहाँ तक कि साधारण समाचार तक साहित्यिक अलंकारों द्वारा अलंकृत होकर ही उनकी 'आनन्द कादम्बिनी' नामक मासिक पत्रिका में स्थान पाते थे। उनके गद्य में एक अद्भुत सजीवता और सुन्दरता आरंभ से अंत तक दिखलायी पड़ती, जिसे पढ़ते ही पाठकों का हृदय प्रसून समान उत्फुल्ल हो उठता। उनकी भाषा के दो नमूने देखिये:—

१—"जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग ढंग बदल

जाता है, तद्रूप पावस के आगमन से, इस सारे संसार ने भी नया रंग रूप पकड़ा, भूमि हरी भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानों मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई। सुन्दर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लतायें, लिपट लिपट मानों मुग्धा मयंक मुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की बिधि बतलातीं।"

२—"दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल, और चिरकाल पर्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से, दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गई।"

ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल है और कभी उस पर सुख की कुलेल।

साहित्यिक गद्य मिश्र जी और चौधरी जी दोनों का है, परन्तु अन्तर यह है कि मिश्र जी का गद्य उद्विग्नकर है, और चौधरी जी का मनोहर। मिश्र जी का वाक्य दूर तक चलता है, परंतु चौधरी जी का वाक्य छोटा छोटा होता है, इस लिये उसमें हृदयग्राहिता अधिक है। मिश्र जी का जीवन सादा था, और वे पण्डित प्रकृति के थे, इस लिये उनकी रचना में न तो चटक मटक है, न लचकीलापन। चौधरी जी अमीराना ठाट के आदमी थे, रसिक तो थे ही, मनचले और बांके तिरछे भी, इस लिये उनकी भाषा भी कहीं चटकीली है, कहीं फड़कती। कहीं अलंकृत है, कहीं रसीली। कहीं ऐंठती चलती है, कहीं मचलती। कहीं अलंकारों के भार से दब जाती है कहीं बड़े ठाट से तनी फिरती है। इस लिये अन्तर होना स्वाभाविक है। चौधरी जी समालोचक भी थे, वरन् सच पूछिये तो हिन्दी साहित्य में समालोचना प्रणाली का आरंभ उन्हीं से हुआ॥

एक ओर तो पं० गोबिंद नारायण मिश्र और पं० बदरीनारायण चौधरी संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की ओर विशेष दत्तचित्त होकर हिन्दी गद्य में एक विचित्र सरसता भर रहे थे, दूसरी ओर पं० बालकृष्ण भट्ट शैली में उक्त दोनों महोदयों से बहुत कुछ भिन्नता रखते हुये वही

काव्य करने में संलग्न थे। पं० गोबिन्द नारायण मिश्र और पं० बदरी नारायण चौधरी को फ़ारसी अरबी के शब्दों के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं था। परन्तु भट्ट जी फ़ारसी अरबी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग अपनी रचना में स्वतंत्रता से करते थे। उक्त दोनों महाशय राजा लक्ष्मण सिंह की भांति फ़ारसी, अरबी शब्दों को अपनी रचना में स्थान नहीं देना चाहते थे। यह दूसरी बात है कि किसी अवसर पर वे उन भाषाओं के किसी प्रचलित शब्द को अपनी रचनाओं में स्थान दे देवें, परन्तु प्रायः वे उनसे बचते थे। भट्टजी पं० प्रताप नारायण की तरह इस बात की परवा नहीं करते थे। यदि उनको उक्त भाषा का कोई प्रचलित शब्द भाषा प्रवाह के अनुकूल ज्ञात होता था, तो वे उसका प्रयोग निस्संकोच भाव से करते थे। वे पं० प्रताप नारायण को भांति ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी कर जाते थे। भाषा शैली के विषय में भट्टजी का और पं० प्रताप नारायण का प्रायः एक मार्ग है और चौधरी जी का एवं मिश्र जी का एक। ये लोग बाबू हरिश्चन्द्र के ही सहयोगी हैं, और उन्हीं की शैली का प्रायः अनुसरण करते हैं। परन्तु स्वतंत्र विचार होने के कारण सभी कुछ न कुछ स्वतंत्रता रखते हैं। माला सबों की एक प्रकार की है, किन्तु फूलों में और सजावट में अवश्य कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है। भट्ट जी के कुछ गद्य देखिये:

१—"इस आँसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात कहते रो देते हैं। अक्षर उनके मुँह से पीछे निकलेगा, आँसुओं की झड़ी पहले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानो रोना उनके यहां गिरों रहता है, इसका कारण यही है कि वे नामही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आंसू को रोकने वाला केवल धीरज है। उसका टोटा यहाँ हरदम रहता है, तब इनके आंसू का क्या ठिकाना है। सत्वशाली धीरज वालों को आंसू कभी आता ही नहीं। कड़ी से कड़ी मुसीबत में दो चार क़तरे आंसू के मानो बड़ी बरकत हैं। बहुत मौक़ों पर आंसू ने ग़ज़ब कर दिया है। सिकंदर का क़ौल था कि

अपनी मां की आंख के एक क़तरा आंसू की क़ीमत में बादशाहत से भी बढ़ कर मानता हूं। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से इक्कीसबार क्षत्रियों का संहार कराया। कितने ऐसे लोग भी हैं जिन्हें आंसू नहीं आता। इसलिये जहाँ पर बड़ी ज़रूरत आंसू गिराने की हो तो उनके लिये प्याज़ का गट्ठा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गयी। प्याज़ ज़रा सा आंख में छू जाने से आंसू गिरने लगता है।

"किसी को बैंगन बावले किसी को बैंगन पत्थ" बहुधा आंसू का गिरना भलाई और तारीफ़ में दाख़िल है। हमारे लिये आंसू बड़ी बला है। नज़ले का ज़ोर है, दिनरात आंसू टपकता है, ज्यों ज्यों आंसू गिरता है त्यों त्यों बीमारी कम होती जाती है। सैकड़ों तदबीरें हम कर चुके आंसू का टपकना बंद न हुआ। क्या जाने बंगाल की खाड़ीवाला समुद्र हमारे कपार में आकर भर रहा है। आंख से तो आंसू चला ही करता है, आज हमने लेख में भी आंसू ही पर क़लम चला दी, पढ़नेवाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

२—' दर्शन (फ़िलासफ़ी) का अनुशीलन करते करते जिनका मस्तिष्क यहाँ तक परिष्कृत और बुद्धि इतनी पैनी हो जाती है कि उनकी बहस और तक़रीर के मुक़ाबले कोई बात कभी उनके अविश्वासी चित्त में स्थान पा ही नहीं सकती··············।"

३—' यद्यपि 'ब्रेन वर्क' मस्तिष्क का काम और शारीरिक कामों की अपेक्षा अधिक योग्यता प्रकट करता है किन्तु कसौटी के समय परख केवल दिल की की जाती है।"

उक्त अवतरणों के रेखांकित शब्दों पर बिचार कीजिये। वे सब के सब फ़ारसी, अरबी के शब्द हैं। वे बोलचाल में गृहीत हो गये हैं। अतएव हिन्दी गद्य लिखने में उनका प्रयोग होना अनुचित नहीं। भट्ट जी 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र के सञ्चालक और सम्पादक भी थे।

जहां इस पत्र द्वारा वे यह उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे कि शिक्षित लोगों का ध्यान हिन्दी साहित्य की ओर आकर्षित हो, वहाँ उन्हें इसबात का भी ध्यान बना रहता था कि 'हिन्दी-प्रदीप' में हीन श्रेणी की साहित्य-सामग्री न निकले। अतएव उन्होंने व्यंग्यात्मक रोचक निबंध और शिक्षा-प्रद उपन्यास आदि से ही उसका कलेवर भरा। पं० बालकृष्ण भट्ट के हृदय में देश की दुर्दशा के कारण बहुत अधिक पीड़ा थी। इससे उनके व्यंग्यों में हृदय के मर्म-स्थल पर आघात करने की ऐसी शक्ति देखी जाती है जिसका प्रभाव उनके समसामयिक समस्त लेखकों पर पाया जाता है। पं० प्रताप नारायण मिश्र जैसे कुछ उदात्त विचार के लोगों की बात दूसरी है। अतएव भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने जो नीति ग्रहण की उससे उनकी व्यंग्यात्मक शैलीके विकासमें बहुत अधिक सहायता मिली; क्योंकि तत्कालीन पठित समाज की बोलचाल पर उर्दू का गहरा रंग चढ़ा होने के कारण व्यंग्य को प्रभावशाली बनाने के लिये फ़ारसी अरबी के प्रचलित शब्दों का अङ्गीकार अनिवार्य्यतः आवश्यक था। वे 'कपार', 'धीरज', 'निरी', 'पैनी' आदि शब्दों का प्रयोग भी करते हैं, मेहरिया, तिथ' आदि शब्दों का प्रयोग करते पं० प्रताप नारायण जी को भी देखा जाता है। पं० गोविन्द नारायण मिश्र की रचना का दूसरा अवतरण देखिये, उसमें जिन शब्दों पर चिन्ह बना दिया गया है, वे सब व्रजभाषा के शब्द हैं, और उनका प्रयोग भी व्रजभाषा की भांति किया गया है, वे लौं का व्यवहार भी करते थे। प्रेमघन जी के गद्य में भी भई, तरुगन, इत्यादि शब्दों का प्रयोग मिलता है। इससे पाया जाता है कि इन लोगों के समय में भी जैसा चाहिये वैसा भाषा का परिष्कार नहीं हुआ था। वाक्य भी उन लोगों के अशुद्ध हैं, जिनपर मैंने लम्बी लकीरें खींच दी हैं, उनको देखिये। बाबू हरिश्चन्द्र की रचना में भी ये बातें पाई जाती हैं। पंडित अम्बिकादत्त व्यास और गोस्वामी राधाचरण की लेख माला में भी ए दोष देखे जाते हैं। इससे इस सिद्धान्त पर उपनीत होना पड़ता है, कि उस समय पूर्ण उन्नत होनेपर भी जैसा चाहिये वैसा गद्य परिष्कृत नहीं हुआ।

पांचवां-प्रकरण ।

प्रचार-काल ।

यह प्रचार-काल बाबू हरिश्चन्द्र के समय से ही प्रारंभ होता है. परन्तु वह विस्तृत एवं व्यापक उनके स्वर्गारोहण के बाद हुआ । किसी भाषा के प्रचार कार्य्य के साथ समाचार-पत्रों एवं मासिक-पत्रों आदि का घना सम्बन्ध है । इसी प्रकार प्रचारकों और पुस्तक प्रणेताओं से भी उसका गहरा सम्पर्क है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि प्रतिभाशाली लेखकों ने हिन्दी भाषा की सर्वतोमुखी उन्नति के लिये उद्योग शील होकर, साहित्य की जो धारा उन्नतिकाल में बहा दी थी. प्रचारकाल में द्विगुणित वेग से वह गतिवती हुई ।

इसकाल में यदि एक ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती के कुछ अनुयायी हिन्दी गद्य को अपने धार्मिक ग्रंथों की रचनाओं द्वारा अग्रसर बनाने में तत्पर थे तो. दूसरी ओर बाबू हरिश्चन्द्र के अनेक सम सामयिक विविध प्रकार के साहित्य पुस्तकों का प्रणयन कर उसकी सेवाके लिये कटिबद्ध थे । कचहरियों में हिन्दी भाषा को स्थान दिलाने का उद्योग भी इसी समय में प्रारंभ हुआ, अतएव इस सूत्र से भी अनेकों सभा सोसाइटियों का जन्म हुआ । इनका उद्देश भी हिन्दी का प्रचार और विस्तार था । सनातन-धर्मियों का एक विशाल दल भी इस समय इस कार्य्य में लग्न हुआ । आर्य्यसमाज की प्रतिद्वंदिता के कारण उन पंडितों ने भी हिन्दी भाषा में ग्रंथ रचना के लिये लेखनी पकड़ी, जिन्हों ने आजीवन संस्कृत देवी की आराधना का ही व्रत ग्रहण कर लिया था । फिर क्या था अनेक पत्र-पत्रिकायें निकलीं. नाना प्रकार के ग्रंथ बने और तरह तरह के आन्दोलन उठ खड़े हुये । मैं क्रमशः सबका वर्णन करूंगा ।

१—पं० भीमसेन शर्म्मा स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिष्य थे । अपने जीवनकाल में वे स्वामी दयानन्द के आन्दोलन से बहुत दिनों तक सम्बद्ध रहे, जिसका परिणाम यह हुआ कि संस्कृत के साथ हिन्दी भाषाका

अनुराग भी उनके हृदय में उत्पन्न हो गया। पण्डितजी संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित और अपने समय के अद्वितीय वेदवेत्ता थे। वेद विद्या पारंगत सामाश्रमी के स्वर्गारोहण के उपरान्त कलकत्ता के संस्कृत कालेजके वेदाचार्य्य का प्रधान पद आपको ही प्राप्त हुआ था। आप में सत्य प्रियता इतनी थी कि वेद मंत्रों के अर्थ में मत भिन्नता उत्पन्न होने के कारण ही आपका सम्बन्ध स्वामी दयानन्द से छूटा। उन्होंने जैसे मार्मिक और विचारपूर्ण लेख वैदिक विषयों पर लिखे, शास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन जिस विद्वत्ता के साथ किया। वह प्रशंसनीय ही नहीं अभूतपूर्व है। ऐसे अपूर्व विद्वान् का हिन्दी क्षेत्र में अवतीर्ण होना हिन्दी के लिये अत्यन्त गौरव की बात थी। उन्हों ने जैसे गम्भीर धार्मिक निबन्ध हिन्दी भाषामें लिखे हैं, जैसे शास्त्रीय ग्रंथ रचे हैं, 'ब्राह्मण सर्वस्व'. निकाल कर हिन्दी भाषा को जो गौरव प्रदान किया है. उसके लिये हिन्दी संसार विशेष कर धार्मिक जगत उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा। वे वाग्मी भी बड़े थे. जिन्होंने उनके पांडित्यपूर्ण व्याख्यान सुने हैं, वे जानते हैं कि उनका भाषण कितना उपपत्तिमूलक और प्रौढ़ होता था। ऐसा ही उनका हिन्दी गद्य भी है। जहां तर्क पूर्ण और विवेचनात्मक शास्त्रीय विषय लिखा गया है. वहां उनकी भाषा गहन से गहन है। परन्तु साधारण विषयों को उन्होंने बड़ी सुलझी और परिष्कृत भाषा में लिखा है। उनके गद्य में प्रवाह और प्राञ्जलता दोनों है. भाषा भी उनकी मँजी हुई है। देखिये:--

"आत्म गौरव का संस्कार जागे बिना जातीय अभ्युत्थान का होना असम्भव है और जहाँ की भाषा अपने देश के उपकरणों से संगठित नहीं वहाँ आत्म गौरव के संस्कार का आविर्भाव होना असम्भव है। क्योंकि ऐसी दशामें संसार यही कहेगा कि "कहीं की ईंट कहींका रोड़ा. भानमती ने कुनबा जोड़ा"। जहां आत्मगौरव का अभाव है, उस देश वा जाति का जातीय अभ्युत्थान होना भी असंभव ही जानो।"

"जो मनुष्य ऐसे वंश में उत्पन्न हुआ है. जिसमें गौरव का चिन्ह भी नहीं, न कोई वैसा कर्त्तव्य पालन है, उसका उत्थान होना संभव नहीं है। क्योंकि जन्मान्तरीय संस्कार स्वच्छ होने पर भी उन संस्कारों के उद्-

बोधक निमित्त कारण उस जाति को प्राप्त नहीं है। इसी कारण ऐसे साधन हीन वंशों में उच्चकोटि के विचारवान मनुष्यों का सदाही अभाव दीखता है। विचार का स्थान है कि मेवाड़ के महाराणा वीरों ने म्लेच्छों के समक्ष शिर नहीं झुकाया. तथा अन्य सभी राजाओं ने शाशक यवनों की अधीनता स्वीकार की। इसका कारण वंश परम्परागत आत्म गौरव ही था।"

इन दोनों अवतरणों को देख कर आप को पता चल गया होगा कि पण्डितजी की प्रवृत्ति किस प्रकार की भाषा लिखने की ओर थी. उनकी भाषा परिष्कृत है, परन्तु है संस्कृतगर्भित। आज कल ऐसी ही भाषा का अधिक प्रचार है, इसलिये हम यह कह सकते हैं कि इस शैली को प्रचलित और पुष्ट करनेवाले पुरुषों में प्रथम स्थान पण्डितजी ही का है। उनमें इस प्रवृत्ति का उदय होना स्वाभाविक था क्योंकि प्रथम तो वे संस्कृत के विद्वान् थे, दूसरे वे उन लोगों में थे जो विजातीय भाषा के शब्दों को ग्रहण करना युक्ति संगत नहीं मानते थे। उनका विचार था ऐसा करना रूपान्तर से अपनी भाषा की न्यूनता स्वीकार करना है। अन्यों से इस विषय में वे अधिक कट्टर थे। वे विदेशी और बिजातीय भाषा के शब्द न लेने की चर्चा करते हुये, एक स्थान पर यह लिखते हैं:—

"शिकायत शब्द अन्य भाषा का है। परन्तु हिन्दी भाषा में विशेष रूप से प्रचलित हो गया है। यदि इस शब्द के स्थान में उपालम्भ का प्रयोग करने की रुचि नहीं है और यह इच्छा है कि इसी अर्थ का बोधक इसी से मिलता हुआ संस्कृत शब्द हो तो वैसे शब्द भी संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति होने से हमको प्राप्त हो सकते हैं, जिनका स्वरूप, और अर्थ दोनों मिल सकते हैं, जैसे 'शिक्षा यत्न' वा 'शिक्षा यंत्रि'। जिस मनुष्य की शिकायत की जाती है उसको कुछ शिक्षा वा दण्ड देने वा दिलाने का अभिप्राय होता है। जिससे वह आगे वैसा न करे, इससे 'शिकायत' शब्द के स्थान में शिक्षायत्न शब्द का प्रयोग उचित है।

इस अवतरण में यह शिक्षा है कि यदि आवश्यकता वश विदेशी अथवा

विजातीय शब्दों को ग्रहण करना ही पड़े तो किस प्रकार उनको संस्कृत रूप दे दिया जावे। दूसरे स्थान पर वह यह कहते हैं, कि यदि विदेशी अथवा विजातीय शब्दों को मुख्य रूप में ही लिखना पसन्द हो तो, यह भी कर सकते हो, परन्तु उसको संस्कृत का शब्द ही मान लो, क्योंकि उसमें यह शक्ति है कि अन्य भाषा के शब्दों की व्युत्पत्ति वह उसी अर्थ में कर लेती है। निम्न लिखित अवतरण को पढ़िये और उसमें उनका पाण्डित्य देखिये:—

"यदि हम आस्मान शब्द को अपने व्यवहार में लावें तो उसे असमान शब्द का अपभ्रंश मानें 'आसमन्तात्समानानमेव रूपं यदस्ति सर्वत्र विद्यते नचघटादिपु विकृतं भवति तदा समानम्। जो सब घटादि पदार्थों में एक ही रूप रहता, जिसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता, वह आसमान नामक आकाश है, उसी का अपभ्रंश आस्मान हो गया। बन्ध धातु से उर प्रत्यय करने पर वन्धुर शब्द बनेगा, जिस समुद्र तट पर जहाज़ बाँधे जावें, वह स्थान बन्धुर हुआ, उसी का अपभ्रंश बन्दर शब्द को मान लेना चाहिये। अथवा स्तुति अर्थ वाले बदि धातु से औणादिक अर प्रत्यय करने पर प्रशस्त कार्य्यसाधक स्थान का नाम बन्दर हो सकता है"।

पंडित जी का विचार आत्म निर्भरता मूलक है, उसका आधार वह आर्य्य संस्कृति है, जिसको परावलम्बन प्रिय नहीं और जो सर्वथा शुद्धता वादी है। किन्तु परिस्थिति उनके विचारों के अनुकूल नहीं थी, और आवश्यकताओं की दृष्टि किसी अन्य लक्ष्य की ओर थी, इसलिये उनका कथन नहीं सुना गया, किन्तु हिन्दी भाषा विकास की चर्चा के समय उनका स्मरण सदा होता रहेगा। जनता की बोलचाल की भाषा बड़ी शक्ति शालिनी होती है, भाषा कितनी ही साहित्यिक बने परन्तु वह उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकती विदेशीय और विजातीय जो शब्द अधिक प्रचलित हो जाने के कारण बोलचाल में गृहीत हो जाते हैं, उनका सर्वथा त्याग असम्भव है। फ़ारसी अरबी, अँगरेजी आदि भाषाओं के जो सहस्रों शब्द आज बोलचाल में प्रचलित हैं, उनके स्थान पर गढ़े शब्द रखने से भाषा की जटि-

लता बढ़ती है और वह बोधगम्य नहीं रह जाती। इस लिये ऐसे शब्दों का ग्रहण अनिवार्य हो जाता है। अनिच्छा अथवा संस्कृति उसके प्रसार में बाधा नहीं पहुंचा सकती, क्योंकि संसार और समाज सुविधा प्रेमी है। फिर भी पण्डित जी की सम्मति उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखी जा सकती। इस प्रकार की सम्मतियां कार्य्य में परिणत न हो कर भी भाषा को मर्य्यादित करने में बड़ी सहायक होती हैं। इनको पढ़ कर वे लोग भी सावधानता पूर्वक पांव उठाने लगते हैं, जिनको आंख मूंद कर चलना ही पसंद आता है। पण्डित जी ने हिन्दी क्षेत्र में साहित्य सम्बन्धी जितने कार्य्य किये हैं, वे सब बहुमूल्य हैं, और उनके द्वारा हिन्दी संसार अधिक उपकृत हुआ है।

२—पण्डित भीमसेन जी के उपरान्त हिन्दी के धार्मिक क्षेत्र में अपनी कृतियों द्वारा विशेष स्थान के अधिकारी विद्यावारिधि पं० ज्वाला प्रसाद हैं। आपने भी अनेक ग्रंथों की रचना की है और इस विषय में बड़ा नाम पाया है। आप का हिन्दी का यजुर्वेद भाष्य बड़ा ही परिश्रम साध्य और महान् कार्य्य है। आप की रामायण की टीका बहुत प्रसिद्ध है, उसका प्रचार भी अधिक हुआ है। आप का दयानन्द तिमिर भास्कर नामक ग्रंथ भी उपादेय है। आपने कई पुराणों का अनुवाद भी हिन्दी भाषा में किया है। आपके समस्त ग्रंथ वेंकटेश्वर प्रेस में छपे हैं। आप बहुत बड़े वाग्मी थे। आप जैसा सभा पर अधिकार करते मैंने अन्य को नहीं देखा। आप के रचे ग्रंथों की संख्या भी अधिक है, परन्तु समस्त ग्रंथ धार्मिक विषयों पर ही लिखे गये हैं। केवल बिहारी सतसई की टीका ही ऐसी है जिसे हम धार्मिक ग्रंथ नहीं कह सकते। परन्तु यह टीका उनके पद मर्य्यादा से बहुत नीचे है। आजीवन धार्मिक क्षेत्र ही उनका था और इसी में उनको अतुलनीय कीर्ति प्राप्त हुई। पण्डित बलदेव प्रसाद आप के लघु भ्राता थे। आपने भी अनेक हिन्दी ग्रंथों की रचना की है, आप के ग्रंथ भी उपयोगी और सुन्दर हैं। आप अपने ज्येष्ठ भ्राता की ही प्रतिमूर्ति थे॥

मिश्र जी के गद्य का उदाहरण भी देखिये—

"श्री गोस्वामी जी का जीवन चरित्र लिखने के लिये जिस जिस

सामग्री की आवश्यकता है. वह इस समय सर्वथा प्राप्त नहीं होती। इसलिये इनके चरित्र लिखने के लिये दूसरे ग्रंथों और कहावतों का संग्रह करना पड़ा है। सुनते हैं वेणीमाधव दास कृत एक गोसाईं चरित्र नामक ग्रंथ है, जो गोस्वामी जी के समय में ही रचा गया है, परंतु वह भी इस समय नहीं मिलता है। इस कारण भक्तमाल तथा दूसरे ग्रंथों के आधार पर कुछ लिखते हैं।'' "एक समय एक संतने कहा राम का अवतार तो द्वादश कला का है, कृष्ण का सोलह कला का है. सो तुम सोलह कलावतार को क्यों नहीं भजते। तुलसीदासजी यह सुनते ही दो घड़ीतक प्रेममें मग्न हो गये। और फिर बोले हम तो आजतक रामचन्द्र को कौशल राजकुमार जानते थे. पर तुमने तो बारह कला का ईश्वर का अवतार बता कर हमारी भक्ति और भी दृढ़ कर दी, अब उनको कैसे त्याग दूं। यह सुन अनन्य उपासी जान साधु ने उनके चरण पकड़ लिये। यद्यपि गोस्वामी जी कह सकते थे कि सूर्य बारह कला. और चन्द्र सोलह में पूर्ण होता है. यह उसी का उपलक्ष्य है. पर उन्होंने वही उत्तर देना उचित जाना ॥

३—साहित्याचार्य्य पं० अम्बिकादत्त व्यास का वर्णन मैं पहले कर आया हूं। वे जैसे धर्माचार्य्य हैं. वैसे ही साहित्याचार्य। उनकी अनेक उपाधियां हैं। वे भारतेन्दु जी के समकालीन थे। पं० प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन, पं० गोविन्द नारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट के समान उनका स्थान भी उस समय के साहित्य सेवियों में प्रधान है, अतएव उन्हीं के साथ उनका वर्णन भी होना चाहिये था। परन्तु धर्म क्षेत्र के उनके कार्य्य साहित्य क्षेत्र से भी अधिक हैं. विहार प्रान्त में धर्म के साथ उन्होंने हिन्दी का प्रचार भी बड़ी तत्परता के साथ किया, इसलिये मुझको प्रचार काल में ही उन्हें लाना पड़ा। वे विचित्र बुद्धि के मनुष्य थे। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में रह कर उस समय अवतार कारिका. अवतार मीमांसा आदि जितने ग्रंथों की रचना संस्कृत में की उनकी उस समय बड़ी प्रशंसा हुई थी। उनका मूर्ति पूजा नामक हिन्दी ग्रंथ भी इस विषय में अपूर्व है। विहार प्रान्त में उन्हों ने जिस प्रकार धर्म दुन्दुभी का निनाद किया. वह बड़ा ही व्यापक और प्रभावशाली था। उन्होंने गद्य के कई बड़े बड़े ग्रंथ लिखे. वे

पीयूष प्रवाह, नामक अपने मासिक पत्र को चिरकाल तक निकालते रहे। धर्म्म क्षेत्र में उनका कार्य्य जितना ठोस है, उतना ही साहित्य क्षेत्र में। उनका 'गद्य मीमांसा' नामक हिन्दी में लिखा गया ग्रंथ भी अपूर्व है, उनके पहले किसी ने ग्रंथ लिख कर गद्य शैली निर्धारण की चेष्टा नहीं की थी। उनका गद्य भी विलक्षण और कई प्रकार का होता था, कुछ उदाहरण लीजियेः—

"सम्वत् १६३४ में एंग्लो की उत्तम वर्ग की पढ़ाई मैंने समाप्त की। इसी वर्ष अभिनव स्थापित काश्मीराधीश के संस्कृत कालेजमें मैंने नाम लिखाया। वहाँ परीक्षा दी। कालेज की प्रधान अध्यक्षता जगत्-प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानंद जी के हाथ में थी, उनने यावत् पंडितों के समक्ष मुझे व्यास पद दिया। यों तो मैं पहले से ही व्यास जी कहा जाता था, परन्तु अब वह पद और पक्का हो गया।"

"थोड़े ही दिनों के ही अनन्तर पोरबन्दर के गोस्वामी वल्लभ कुलावतंस श्री जीवनलाल जी महाराज से मेरा परिचय हुआ। वे मुझसे कुछ पढ़ने लगे, उनके साथ कलकत्ते गया। वहाँ सनातन धर्म के विभिन्न विषयों पर मेरी २८ वक्तृतायें हुईं। कई सभाओं में बंगदेशीय पण्डितों से गहन शास्त्रार्थ हुये।"

"अबदेखिये वही वेदान्तियों के सिद्धान्त मूर्त्तिपूजा द्वारा कैसे सुखपूर्वक सिद्ध होते हैं। जगत का सम्पर्क छोड़ परमात्मा में एकदम लीन हो जाना, बात तो इतनी सी है और इसी के साधने में अहन्ता ममतादि का त्याग है तो जगन्मिथ्या, जगन्मिथ्या कहते कहते, तो आप लोगों को बतलाया ही जाचुका है कि "पादांगुष्ठ शिरोप्राप्तिः कदामौलिमवाप्स्यति" और बाबा किसी अधिकारी को उसी ढंग से शीघ्र जगत् से असम्पर्क हो, और आत्मानुभव हो तो हम उसके लिये कुछ मना भी नहीं करते, वह ब्रह्मानंद में डूबे, पर देखिये तो भक्तों का एक कैसा अद्भुत रास्ता है।"

"आहा! इस समय भी स्मरण करनेसे ऐसा जान पड़ता है, कि मानों रात्रि का अंधकार क्रमसे पीछे हट चला है, चिड़ियोंने धीमे धीमे कोमल सुर

से कुछ कुछ चकचकाहट आरंभ की है और ठंढी ठंढी हवा चल रही है । इसी समय नींद खुली और आंख खोलते ही चट नारायण का नाम ले, कुछ आवश्यक कृत्यों से निपट जै जै करते मन्दिर की ओर दौड़ पड़े ।"

४—फुल्लौर जिला जालंधर निवासी पं० श्रद्धारामजी पंजाब प्रान्त के प्रसिद्ध हिन्दू धर्म प्रचारक और हिन्दी भाषा के कई ग्रंथों के रचयिता हैं। जिन में 'सत्यामृत प्रवाह' अधिक ख्याति प्राप्त है। मरने के समय उनके मुख से हठात् यह निकला था कि 'हिन्दी भाषा के दो बड़े लेखक थे, एक पंजाब में और एक बनारस में अब केवल एक ही रह जायेगा।" इससे स्पष्ट है कि उनका स्वर्गवास बाबू हरिश्चन्द्र के पहले ही हुआ, क्योंकि जिस शेष लेखक की ओर उनका संकेत है, वे उक्त बाबूसाहब ही हैं। ऐसी अवस्था में प्रचार काल में उनकी चर्चा उचित नहीं। परन्तु मैं पहले ही लिख चुका हूं कि यह प्रचार काल उनके जीवन से ही प्रारम्भ होता है, इसलिये और इस कारण कि पं० जी हिन्दी के प्रसिद्ध प्रचारक थे, उनकी चर्चा प्रचार-काल में ही की गई। पण्डितजी ने जितने ग्रंथ लिखे हैं, वे बड़े उपादेय हैं उनका 'आत्मचिकित्सा' नामक ग्रंथ भी बड़ा उत्तम है। वे अनीश्वरवादी थे, परन्तु हिन्दू शास्त्रोंपर उनकी बड़ी श्रद्धा थी और सामाजिक समस्त नियमों का पालन वे बड़ी तत्परता से करते थे। हिन्दूधर्म में उनकी बड़ी ममता थी, और उसकी रक्षा के लिये वे सदा कटिबद्ध रहते थे। जिस समय काश्मीर के मुसलमानों को हिन्दू बनाने की इच्छा काश्मीर नरेश की हुई, उस समय पं० जी ने इस विषय में उन्हें बहुत उत्साहित किया। किन्तु दुःख है कि हिन्दुओं के दुर्भाग्य और विशेष कारणों से मनकी बात मन ही में रह गई। पण्डित जी ने भाग्यवती नामक एक उपन्यास भी लिखा है जो बड़ाही सुन्दर है। उन्होंने अपना जीवनचरित स्वयं १४०० पृष्ठों में लिखा था, परन्तु अब वह प्राप्त नहीं होता। कहा जाता है, छपने के पहले ही गुम हो गया। उनके गद्य का कुछ अंश देखिये:—

"वह भी ईश्वर कृत नहीं, किन्तु समुद्र और अन्य नदीनालों का जल सूर्य की किरणद्वारा उदान वायु के वेग से ऊपर खैंचा जाता है और सूर्य्य

की ताप से पिघलता पिघलता अति सूक्ष्म हो के आकाश में मेघाकार दिखाई देता है। जब उसको ऊपर शीतल वायु मिले तो घृतकी नाई जम के भारी हो जाता और अपान वायु के वेग से नीचे गिरने लगता है। "यदि ऊपर शीतल वायु बहुत लगे तो अत्यंत गरिष्ट हो के ओले बरसने लगते हैं।।"

सत्यामृतप्रवाह

५—श्रीमान् पं० मधुसूदन गोस्वामी हिन्दू-शास्त्र के पारंगत विद्वान् और हिन्दी भाषा के प्रौढ़ लेखक थे। उन्हों ने ग्रंथ भी बनाये हैं, किन्तु अधिकांश निबन्ध ही उनके लिखे हैं जो प्रायः पत्र और पत्रिकाओं में मुद्रित होते रहते थे। वे प्रचार के लिये बाहर आते जाते नहीं देखे गये. लेखों के द्वारा ही उन्होंने धर्म की अच्छी सेवा की है। जितने धर्म विषयक लेख उन्हों ने लिखे हैं वे पठनीय और आदरणीय हैं। आलाराम सागर सन्यासी भी उस काल के एक अच्छे प्रचारकों में थे। उन्होंने विशेषतः इस विषय पर लेख लिखे हैं कि सिक्खों के १० गुरु हिन्दू धर्म के रक्षक थे और सदा उन्होंने हिन्दूधर्म भावों का ही प्रचार किया है। वे हिन्दू और सिक्खों में सद्भाव स्थापन के बड़े उद्योगी थे। इस विषय के टैक्ट और छोटे छोटे ग्रंथ लिख कर उन्होंने उनका प्रचार अधिकता से किया था। इन सब ग्रंथों और टैक्टों को उन्होंने अधिकांश हिन्दी भाषा ही में लिखा था। हिन्दी भाषा प्रचार के लिये भी वे बहुत उत्सुक रहते थे।

६- हिन्दी भाषा के प्रचार के लिये आर्य समाजियों ने भी इस समय बड़ा उद्योग किया था। पंजाब प्रांत में हिन्दी भाषा के प्रचार का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। इस समय आर्य समाज में भी संस्कृत के धुरंधर विद्वान् थे जो धर्म के साथ २ हिन्दी-भाषा का प्रचार भी करते थे। इन में से स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी श्रद्धानंद, पं० तुलसीराम, पं० गणपति शास्त्री, पं० राजाराम और श्री युत आर्य मुनि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। स्वामी दर्शनानन्द ने पत्र और पत्रिकायें भी निकालीं और धार्मिक विचारों पर उत्तमोत्तम ग्रंथ भी लिखे। उनके ग्रंथ प्रौढ़ विचारों से पूर्ण हैं उनमें दार्शनिकता भी पाई जाती है। ये समस्त ग्रंथ अधिकांश हिन्दी

भाषा में लिखे गये हैं। स्वामी श्रद्धानंद ने चिरकाल तक 'सत्यधर्म प्रचारक' का सम्पादन किया था और कतिपय धार्मिक पुस्तकें भी लिखी थीं। उनके ग्रंथ भी उपादेय हैं और सामयिकता की दृष्टि से उनमें ऐसो बातें लिखी गयी हैं जो हिन्दू जाति को जाग्रत् करती हैं। आप लोग देश विदेशों में जाते थे और वहां पर आर्य समाज के साथ हिन्दी भाषा का प्रचार भो करते थे। पं० तुलसीराम और पं० गणपति शास्त्रो का शास्त्र ज्ञान और वैदिक विषयों की अभिज्ञता प्रशंसनीय थो। दोनों सज्जनों की विचार शैली गहन और युक्ति मूलक होती थो। पं० तुलसीराम एक मासिक पत्र भी निकालते थे. वे उसमें शास्त्रोय विषयों को मीमांसा करते रहते थे। उनके भी अधिकांश ग्रंथ हिन्दी भाषा में ही लिखे गये हैं और इस कारण हिन्दी भाषा के प्रचार में उनका उद्योग भी प्रशंसनीय था। पं० गणपति शास्त्री की भाषण शक्ति जेसो अपूर्व थी वैसी ही विषय-विवेचन को योग्यता भी उनमें थी। उनके लेख गंभीर होते थे, उनके ग्रंथ भी उनके पांडित्य के प्रमाण हैं। पं० राजाराम ने उपनिषदादि अनेक प्राचीन ग्रंथों की टीका हिन्दी भाषा में लिखी है, और कुछ स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की है। श्री युत आर्य मुनि की कृतियां भो मूल्यवान हैं जो अधिकांश हिन्दी भाषा में हैं, उनसे हिन्दी प्रचार की तत्कालिक प्रवृत्ति में अच्छी सहायता प्राप्त हुई है।

७ इस काल में अयोध्यानिवासी कुछ महात्माओं और विद्वानों ने भो हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति और हिन्दी भाषा की बहुत बड़ी सेवा की थी इनमें से स्वामो युगलानन्द शरण का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। स्वामी युगलानन्द शरण संस्कृत, अरबी एवं फ़ारसी के बड़े विद्वान् थे, हिन्दी-भाषा के तो एक प्रकार से आचार्य्य ही थे। वे हिन्दी के सत्कवि थे। उन्होंने राम लीला सम्बन्धी पद्यके सुन्दर ग्रन्थ बनाये हैं, उनमें धार्मिकभाव भी पर्य्याप्त मात्रा में मौजूद है। उनकी जितनी रचनायें हैं, सब बड़ी सरस और मधुर हैं, उनमें हृदय ग्राहिता की मात्रा भी अधिक है। उन्होंने कुछ गद्य ग्रन्थों की भी रचना की है और कतिपय ग्रन्थ की टीकायें भी लिखी हैं। उनकी शिष्य परम्परा में भी उनके भाव गृहीत होते आये हैं, इसी लिये वे लोग

भी हिन्दी सेवा में वैसे ही निरत देखे जाते हैं। बाबा रामचरण दास ने इसी काल में एक ऐसी विस्तृत रामायण की टीका लिखी है जो अद्वितीय कही जा सकती है। इसमें उन्होंने वेद, शास्त्र, उपनिषद, पुराण आदि के आधार से गो० तुलसी दास की रामायण की चौपाइयों का ऐसा विशद अर्थ किया है, जिसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने पर भी तृप्ति नहीं होती। इस ग्रंथ से भी तत्कालिक हिन्दू धर्म को अच्छा उत्तेजन मिला है, हिन्दी भाषा के भाण्डार को तो जगमगाता रत्न ही मिल गया है। बाबा रघुनाथ दास की रचनायें भी बहुमूल्य हैं, उनका अवधी भाषा में लिखा गया 'विश्राम सागर' अधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार के कुछ और हिन्दी हितैषी महात्माओं और विद्वानों के नाम बताये जा सकते हैं, किन्तु व्यर्थ बाहुल्य होगा।

८—इसी काल में तुलसी साहब ने घटरामायण नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना पद्य में की, जो अपने ढङ्ग का अनूठा है। राधा स्वामी मत की स्थापना भी इसी काल में हुई। उस संप्रदाय वालों की भी कुछ ऐसी रचनायें इस काल की हैं, जिनसे हिन्दी भाषा के प्रचार में कुछ न कुछ सहायता अवश्य प्राप्त हुई। पं० ब्रह्मशङ्कर मिश्र का रचा हुआ ग्रन्थ प्रमाण में उपस्थित किया जा सकता है, यह ग्रंथ अपने ढङ्ग का उत्तम है। उसमें जो बातें वर्णन की गयी हैं वे कई एक सिद्धान्त की बातों पर अच्छा प्रकाश डालती हैं।

९—श्री युक्त राधाचरण गोस्वामी प्रसिद्ध साहित्य सेवियोंमें हैं, आप भी बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन सज्जनों में हैं। आप की गणना भी उस समय के उन्हीं लोगों में है जो उन के सच्चे सहयोगियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पण्डित बाल कृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण, पं० अम्बिका दत्त व्यास आदि के समान ही साहित्य सेवियों में आप की भी गणना है। आप ने भारतेन्दु नामक एक मासिक पत्रिका उनकी कीर्ति की स्मृतिमें निकाली थी जो बहुत दिनों तक चलता रहा। आप बड़े मार्मिक लेखक थे। आप की लेख मालायें बड़े आदर से पढ़ी जाती थीं। आप स्वतंत्र विचार के

पुरुष थे, इस लिये सामयिकता के विशेष अनुरागी थे। उन्हों ने विदेश यात्रा और विधवा विवाह मण्डन पर भावमयी पुस्तकें लिखी हैं। आप जैसे गद्य रचना में निपुण थे वैसे ही पद्य रचना पटु भी। आप ने 'उत्तरार्द्ध' भक्त माल' नामक एक सुन्दर ग्रंथ पद्य में बनाया है, उसमें नाभा जी के वाद के भक्तों की चर्चा की है रचना वैसी ही सुन्दर, सरस और ललित है जैसी नाभा जी रचित भक्त माल की। आप ने व्रजप्रान्त में और युक्तप्रान्त के पश्चिमी जिलों में हिन्दी भाषा के प्रचार का बड़ा उद्योग किया था। जिस समय कचहरियों में हिन्दी भाषा के ग्रहण किये जाने का आन्दोलन पूज्यपाद मालवीय जी के नेतृत्व में चल रहा था, उस समय आप भी उसके एक विशेष सहायक थे। आप ने हिन्दी में कई ग्रन्थ की रचनायें की हैं जो मनोहर एवं मधुर हैं। उनमें सामयिकता भी पाई जाती है। उनके गद्य और पद्य का एक उदाहरण देखिये:

"इसका नाम भारतेन्दु, रखने का कारण जानने के लिये शायद आप लोग उत्सुक होंगे, क्योंकि इस रूप तथा इस आकारके पत्र के लिये तनिक यह नाम अयोग्य सा मालूम होता है। परन्तु यह धृष्टता केवल इसे पूज्य पाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का स्मारक स्वरूप बनाने के लिये की गई है। यों तो उनकी अटल कीर्ति जब तक हिन्दी भाषा की एक भी पुस्तक रहेगी तब तक इस भूमण्डल में वर्त्तमान रहेगी, तथापि इसी बहाने उनके प्रातः स्मरणीय नाम के उच्चारण का सौभाग्य प्राप्त होगा।"

१०—अलीगढ़ निवासी बाबू तोताराम बी० ए० बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन हिन्दी सेवकों में हैं। उन्हों ने भी हिन्दी के प्रचार में बड़ा उद्योग किया था। 'भारत-बन्धु' नामक एक साहित्यिक पत्र उन्हों ने निकाला था, कुछ ग्रन्थों की भी रचनायें की थीं। जिनमें 'केटो कृतान्त' नाटक और 'स्त्री 'सुबोधिनी' प्रसिद्ध हैं। इनकी गद्य रचना साधारण है, परन्तु उसमें नियमबद्धता पाई जाती है। इनकी गद्य रचना का एक अंश देखिये:—

"कौन नहीं जानता? परन्तु इस नीच संसार के आगे कीर्ति केतु

विचारे को क्या चलती है। जो पराधीन होने ही से प्रसन्न रहता है और सिसुमार की शरण जा गिरने का ही जिसे चाव है। हमारा पिता अत्रिपुर में बैठा हुआ वृथा रमावती नगरी की नाम मात्र प्रतिष्ठा बनाये है। नौपुर की निबल सेना और एक रीति संचारिणी सभा जो निष्फल युद्धों से शेष रह गई है वह उसके सङ्ग है।"

११—पं० केशो राम भट्ट इस प्रचार काल के ही एक प्रसिद्ध हिन्दी सेवक हैं। उन्हों ने बिहार बन्धु नामक एक सप्ताहिक पत्र बिहार से ही निकाला था, जो कुछ दिनों तक वहाँ सफलता पूर्वक चलता रहा। उन्हों ने सज्जाद संबुल और शमशाद सौसन नामक दो नाटक भी बनाये थे और एक व्याकरण ग्रन्थ भी। यह व्याकरण ग्रंथ उस समय हिन्दी संसार में आदर की दृष्टि से देखा गया था। उनके दोनों नाटक भी अच्छे हैं परन्तु उनकी भाषा खिचड़ी है। हिन्दी के साथ उसमें उर्दू शब्दों का प्रयोग अधिक है॥

१२—बाबू बालमुकुन्द गुप्त पहले उर्दू के प्रेमी थे। बाद को पं० प्रतापनारायण मिश्र के सहवास के कारण हिन्दी प्रेमी बन गये। उन्होंने उन्हीं से हिन्दी लिखने की प्रणाली सीखी। अतएव उन्हीं की सी फड़कती और चलती भाषा प्रायः लिखी है। उन्होंने बहुत दिनों तक भारत-मित्र पत्र का सम्पादन किया था। दो तीन छोटी मोटी हिन्दी पुस्तकें भी लिखी हैं। उर्दू में पूरा अभ्यास होने के कारण उनकी भाषा मंजी हुई होती थी। वे सरस हृदय थे, इसलिये सुन्दर और सरस कविता भी कर लेते थे। उनकी हिन्दी भाषा की कविता थोड़ी हैं, पर अच्छी हैं। उनके कुछ गद्य पद्य देखियेः—

"तीसरे पहर का समय था, दिन जल्दी जल्दी ढल रहा था। और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलबट्टा से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियां छील छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा

कि बादल उमड़ रहे हैं, चीलें नीचे उतर रही हैं, तबीअत भुरभुरा उठी। इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं अंधेरा छाया, बूंदें गिरने लगीं, साथ ही तड़ तड़ धड़ धड़ होने लगी। देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बूटी तयार हुई, बमभोला कहकर शर्म्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई।"
उनके कुछ पद्य देखिये:—

आ जा नवल बसंत सकल ऋतुओं में प्यारी।
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आंख उठाये।
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की।
फूल फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की।
पेड़ बुलाते हैं तुझको टहनियां हिला के।
बड़े प्रेम से टेर रहे हैं हाथ उठा के।

१३—लाला श्रीनिवास दास इस काल के अच्छे लेखकों में थे। उन्होंने परीक्षा गुरु नामक एक मौलिक उपन्यास लिखा था। 'तप्ता संबरण', 'संयोगिता स्वयंबर' और 'रणधीर प्रेम मोहिनी' नामक तीन नाटकों की भी रचना की थी। ये तीनों नाटक अच्छे हैं, परन्तु रणधीर प्रेम मोहिनी सबसे सुन्दर है, इसका संस्कृत अनुवाद पं० विजयानन्द त्रिपाठी ने किया था। उन्होंने 'सदादर्श' नामक मासिक पत्र भी निकाला था। 'परीक्षा गुरु' की भाषा अच्छी है, उसमें चलतापन भी पाया जाता है, उस का एक अंश देखिये:—

"जैसे अन्न प्राणाधार है, परन्तु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है, लाला ब्रजकिशोर कहने लगे "देखिये परोपकार की इच्छा अत्यन्त उपकारी है, परन्तु हद से आगे बढ़ाने पर वह भी फ़ज़ूल ख़र्ची समझी जायेगी।

और अपने कुटुम्ब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायेगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों को सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी।"

१४—राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह मध्य प्रदेश विजय राघव गढ़ के रहने वाले थे, मध्य प्रदेश में उन्होंने उस समय हिन्दी प्रचार का अच्छा उद्योग किया था। उन्होंने एक ही ग्रंथ लिखा है। 'श्यामा स्वप्न' परन्तु वह अपने ढंग का अनूठा है। उसमें प्राकृतिक दृश्यों का स्थान स्थान पर सुन्दर चित्रण है। उन्होंने अपनी भाषा में पं० बदरी नारायण की साहित्यिक भाषा का अनुकरण किया है' परन्तु उनके वाक्य अधिक लम्बे हो गये हैं और वाक्य के भीतर वाक्य खण्ड आकर उसको जटिल बना देते हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने जिस प्रकार प्राकृत दृश्यों का वर्णन किया है, वह संस्कृत कवियों के गंभीर निरीक्षण का स्मरण दिलाता है—

उनके गद्य का एक अंश देखिये:—

मैं कहां तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूँ? जहां की निर्झरिणी—, जिन के तीर वानीरसे भरे, मदकल कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिन के मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जम्बू के निकुंज फल भार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती है। जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर बन के सीतल समीर को सुरभित करता है। मंजुवंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन, जो सूर्य्य की किरणों को भी नहीं निकलने देते—इस नदी के तट पर शोभित हैं।"

१५—पंडित विनायकराव ने भी इस समय मध्यप्रदेश में हिन्दी प्रचार का बहुत बड़ा कार्य्य किया, आप गद्य पद्य दोनों सुन्दर लिखते थे और अपने विद्यावल से राजा और प्रजा दोनों से आदृत थे। आप की अधिकांश पुस्तकों का प्रचार उस प्रदेश के हाई स्कूलों और पाठशालाओं में

था, और इस सूत्र से उनके सुलिखित ग्रंथों ने आदर ही नहीं पाया, मध्य प्रदेश में हिन्दी की धाक भी बिठला दी। आपकी लिखी रामायण को विनायकी टोका बहुत प्रसिद्ध है, जो कई जिल्दों में है, इस ग्रंथ के देखने से उनके अगाध ज्ञान का पता चलता है और यह प्रकट होता है कि आप हिन्दी भाषा पर कितना अधिकार रखते थे। आपने पंद्रह बीस ग्रंथ लिखे हैं। अपनी हिन्दी की बहुमूल्य सेवा के कारण आप सर्कार और जनता दोनों से पुरस्कृत हुये हैं। सरकार ने एकबार आपको सहस्र रुपये पुरस्कार में दिये थे, 'कविनायक' एवं साहित्य भूषण की उपाधि भो आप को मिली थी।

१६—पंडित विजयानन्द त्रिपाठी हिन्दी भाषा के धुरन्धर विद्वान् थे। जिस प्रकार संस्कृत के वे प्रकाण्ड पण्डित थे, वैसे ही हिन्दी भाषा के भी। वाग्मी इतने बड़े थे कि जनता पर जादू करते थे। जब कभी उनका भाषण प्रारंभ होता, उस समय सब लोग आई खांसी को भी मुँह के बाहर न निकलने देते। जनता उनके व्याख्यानों को सुन कर प्रस्तर की मूर्ति बन जाती थी। उपकार उनके रोम रोम में भरा था, सर्व साधारण का काम निष्काम भाव से करते वे हो देखे गये। विद्यारत्न आप को उपाधि थी। बांकोपुर के बी० एन० कालेज में प्रोफेसरी करने के उपरान्त वे बी० एन० कालेजियट स्कूल के हेडपण्डित बहुत दिनों तक रहे। कविता में अपना नाम श्री कवि लिखते थे। उन्होंने बाबू हरिश्चन्द्र की रत्नावली नाटिका को जो अधूरी रह गई थी, पूरा किया। रणधीर प्रेममोहिनी, नाटक का संस्कृत में अनुवाद किया, वह भी इस विशेषता के साथ, कि मुख्य ग्रंथ में जिस प्रकार शिष्ट और साधारण जन को भाषा में अन्तर है वैसा ही उन्होंने अपने ग्रंथ में भी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के आधार से किया। बाबू हरिश्चन्द्र के स्वर्गवास होने पर जो लम्बा लेख उन्होंने लिखा था, वह इतना अपूर्व है, और ऐसी प्रौढ़ भाषा में लिखा गया है, कि जिसने उसको एक बार पढ़ा होगा, मेरा विश्वास है, वह उसको आजन्म न भूला होगा। भारत-जीवन पत्र का जन्म भी उन्हीं के उद्योग का फल था। उनका लिखा हुआ महाअंधेर नगरी नाटक अपने ढंग का

बड़ा विचित्र ग्रंथ है। वास्तव बात यह है कि पं० जी साहित्य कला के पारंगत थे और हिन्दी भाषा पर पूर्ण अधिकार रखते थे। उनके रचे संस्कृत और हिन्दी भाषा के अनेक ग्रंथ हैं। उनकी एक गद्य रचना देखिये:—

ईमान बेचने वाला———(सभी जात) ईमान ले ईमान; टके सेर ईमान, टके पर हम ईमान बेचते हैं। ईमान ही क्या, जातपाँत कुलकानि धर्म्म कर्म्म वेद पुरान कुरान बाइबिल सत्य ऐकमत्य गुन गौरव इज्जत प्रतिष्ठा मान ज्ञान इत्यादि सर्वस टके सेर !! एक टका दो हम तुमी को डिग्री देते हैं टकेप० हम अदालतमें तुमारो ऐसो कहैं, टका खोलकर हमारी झोली में रक्खो, अभी तुम्हें के० सी० एस० आई० बल्कि ए० बी० सी० डी० इत्यादि छब्बीसों अक्षर और वर्णमाला भरका लम्बा पोंछ बढ़ा देवें।

महाअंधेर नगरी।

१७—इस प्रचार काल में दो बड़े उत्साही युवक हिन्दी संसार के सामने आते हैं, एक हैं बाबू राधाकृष्ण दास जो स्वर्गीय भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई थे और दूसरे हैं बाबू रामकृष्ण वर्म्मा। बाबू राधाकृष्ण दास ने गद्य पद्य दोनों लिखा है और उसमें अच्छी सफलता पाई है। उन्हों ने भारतेन्दु जी के चरणों में बैठ कर हिन्दी अनुराग की शिक्षा पाई थी, उनकी गद्य पद्य शैली का अनुशीलन किया था, इस लिये उनकी रचनाओं एवं उनके हिन्दी प्रेम की झलक उनमें अधिक मात्रा में पाई जाती है। उनमें देश प्रेम भी था, और मातृभूमि का प्यार भी, अतएव उनकी कृतियों में उनके इन भावों का रङ्ग भी देखा जाता है। उन्हों ने भारतेन्दु जी की एक छोटी सी जीवनी लिखी है, जिसमें उनके जीवन से सम्बन्ध रखने वाली अनेक बातों पर प्रकाश डाला है। एक छोटी पुस्तिका में उन्हों ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि कविवर बिहारी लाल आचार्य केशवदास के पुत्र थे इस ग्रन्थ में उनकी विषय प्रति-पादन शैली देखने योग्य है। उनका लिखा हुआ प्रताप नाटक भी अच्छा है, उसकी रचना ओजस्विनी और भावमयी है। वे बनारस की नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में अन्यतम हैं। उनका कुछ गद्यांश देखिये:—

"परिहास-प्रियता भी इनकी अपूर्व थी। अङ्गरेजी में पहली अप्रैल का दिन मानों होली का दिन है। उस दिन लोगों को धोखा देकर मूर्ख बनाना बुद्धिमानी का काम समझा जाता है। इन्हों ने भी कई बेर काशी वासियों को यों ही छकाया था। एक बार छाप दिया कि योरोपीय विद्वान् आये हैं, जो महाराज विजयानगरम् को कोठी में सूर्य्य चन्द्रमा आदि को प्रत्यक्ष पृथ्वी पर बुला कर दिखलावेंगे। लोग धोखे में गये और लज्जित हो कर हँसते हुये लौट आये। एक बेर प्रकाशित किया कि बड़े गवैये आये हैं, वह लोगों को हरिश्चन्द्र स्कूल में गाना सुनावेंगे।"

१८—बाबू रामकृष्ण वर्म्मा भारत-जीवन प्रेस के संस्थापक और भारत-जीवन नामक साप्ताहिक पत्र के सम्पादक थे। उन्होंने उस समय इन दोनों के द्वारा हिन्दी भाषा का बहुत अधिक प्रचार किया। अपने प्रेस से बहुत अधिक ग्रंथ हिन्दी भाषा के उन्होंने निकाले जो अधिकतर साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले थे। श्री युत पंडित विजयानन्द के सहयोग से उनका भारत जीवन भी खूब चमका, और उसने हिन्दी देवी की सेवा भी अच्छी की। बाबू साहब सुलेखक और कवि भी थे, साथ ही सरस हृदय और भावुक भी। उनके रचे हुये ग्रंथ अब भी हैं, परन्तु खेद है कि प्रेस की उपस्थिति में भी उनमें से कुछ ग्रंथों का भी द्वितीय संस्करण भी नहीं हुआ।

१९—मैं पहले राजा शिवप्रसाद की हिन्दीशैली का ऊपर वर्णन कर आया हूं। उनकी यह इच्छा थी कि हिन्दी लिखने की शैली बिल्कुल बोलचाल की भाषा हो, इसलिये उन्हों ने अपनी रचना में अरबी, फ़ारसी के प्रचलित शब्दों का अधिक प्रयोग किया। आवश्यकता होने पर वे अपनी रचना में फ़ारसी-अरबी के अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग करते, और संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी। कभी वे बड़ी सीधी सरल हिन्दी लिखते, जिसमें संस्कृत के बोलचाल में गृहीत सुन्दर शब्द लाते। कभी ऐसी हिन्दी लिखने लगते जिसमें फ़ारसी अरबी के शब्दों की भरमार तो होती ही, संस्कृत के अप्रचलित तत्सम शब्द भी भर जाते। यही

कारण है कि अपनी इच्छा के अनुकूल अपनी हिन्दी भाषा की शैली को वे बोलचाल के रङ्ग में नहीं ढाल सके और न हिन्दी की कोई निश्चित शैली स्थापन कर सके। उनके रचे 'राजा भोज के सपना' की हिन्दी बड़ी सुन्दर है, उसमें हिन्दी के मुहावरे भी बड़ी उत्तमता से आये हैं, परन्तु इतिहास तिमिर नाशक इत्यादि की भाषा ऐसी नहीं है, उसको खिचड़ी भाषा कह सकते हैं। राजा लक्ष्मण सिंह और बाबू हरिश्चन्द्र आदि ने इसका प्रतिकार किया, उनको अपने कार्य्य में सफलता भी प्राप्त हुई। इस समय कचहरियों में हिन्दी के प्रवेश का आन्दोलन भी उठ खड़ा हुआ था, पूज्य मालवीय जी के नेतृत्व में युक्त प्रान्त के अनेक सम्भ्रान्त हिन्दू इस आन्दोलन के पृष्ठ पोषक बन कर कार्य्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुये थे। फल यह हुआ कि सर्कार की दृष्टि भी इस ओर विशेष रूप से आकर्षित हुई और वह इस विचार में पड़ी कि इस द्वन्द की निष्पत्ति क्या करें। अतएव भाषा के रूप की ओर उसका विशेष ध्यान गया, क्योंकि पाठशाला और स्कूल की पुस्तकों की भाषा का प्रश्न भी सामने था। इस समय पण्डित लक्ष्मीशङ्कर एम० ए० कुछ हिन्दू अधिकारियों के साथ सम्मुख आये और एक नई भाषा गढ़ी गई, जिसका नाम बाद को हिन्दुस्तानी पड़ा। पण्डित जी के स्कूलों का इन्सपेक्टर नियत हो जाने के कारण इस भाषा में बल आया और साधारणतया इसी भाषामें स्कूलों के कोर्स की अधिकतर पुस्तकोंकी रचना हुई। यह नई भाषा कोई दूसरी भाषा नहीं थी, राजा शिवप्रसाद की बोलचाल की भाषा ही थी, जिसका कुछ परिमार्जन हुआ था। पण्डित लक्ष्मीशङ्कर के दल के लोग इसको हिन्दी ही कहते। परन्तु कुछ लोग उसको मुसलमानों को संतुष्ट करने केलिये हिन्दुस्तानी बतलाते। जो अर्थ हिन्दुस्तानी का है वही अर्थ हिन्दी का है। केवल वाद निराकरण केलिये ही नवीन नाम की कल्पना हुई। पण्डित लक्ष्मी शङ्कर की 'काशी पत्रिका' इसी भाषा में निकलती थी और देवनागरी एवं फ़ारसी दोनों अक्षरों में छपती थी। इस पत्रिका का ग्रामीण पाठशालाओं तक में प्रवेश था। इस लिये इसके द्वारा हिन्दी के प्रचार में कुछ न कुछ सुविधा अवश्य हुई। काशी पत्रिका की भाषा बोलचाल की भाषा

होती थी। और उसमें फ़ारसी अरबी के वही शब्द आते थे जिनको जनता प्रायः बोलती है. परंतु कसर यह थी कि संस्कृत के तत्सम शब्द उसमें नहीं आने पाते थे। जहां काम पड़ने पर फ़ारसी अरबी के कठिन से कठिन शब्द ले लिये जाते थे. वहां संस्कृत शब्दों को ऐसे अवसरों पर भी स्थान नहीं मिलता था, इस लिये अधिकांश हिन्दू लेखकों की दृष्टि में यह भाषा नहीं जँची। परिणाम यह हुआ कि संस्कृत गर्भित हिन्दी ही का अधिक प्रचार हुआ और इस भाषा का क्षेत्र संकुचित हो कर रह गया। . अन्त में पं० जी की दृष्टि भी इधर गई और उनके पदार्थ विज्ञान विटप' आदि ग्रंथ ऐसी भाषा में लिखे गये, जिसमें फ़ारसी-अरबी के स्थान पर संस्कृत तत्सम शब्दों का ही प्रयोग अधिकतर हुआ था। उनके उन्नति प्राप्त प्रेस का नाम 'चन्द्रप्रभा' था. और उनकी पत्रिका का नाम था 'काशी पत्रिका' ये दोनों नाम भी उनके मनोभावके सूचक हैं। मैंने अपनी आंखों देखा है कि दौरेके दिनोंमें जब लड़के उनके पास हिन्दी कवितायें लेकर पहुंचते. तो वे उनको प्रेमसे सुनते, लड़कोंको शाबाशी देते कभी कभी उनको पुरष्कृत भी करते। पहले पहल पद्मावतका सुन्दर सँस्करण उन्होंने ही हिन्दीमें निकाला। उन्होंने 'त्रिकोणमितिकी उपक्रमणिका' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ हिन्दी में बनाया था, जिसका उस समय बड़ा आदर हुआ था। पण्डित रमाशङ्कर मिश्र उनके छोटे भाई थे. वे आजमगढ़में ज्वाइण्ट मजिष्ट्रेट थे. बाद को कई ज़िलों में कलक्टर रहे। उनकी स्कूली पुस्तकें अधिकत्तर हिन्दुस्तानी भाषाहीमें लिखी गयी थीं, विभिन्न अक्षरोंमें छपकर वे हिन्दू मुसलमान दोनों के लड़कों के काम आती थीं। परन्तु उनमें भी हिन्दी प्रेम था। वे संस्कृत के विद्वान थे. अतएव हिन्दी भाषा की रचनाओं को विशेष स्नेह दृष्टि से देखते थे। हिन्दी का लेखक होने के ही कारण मुझ पर भी उन्हों ने कई विशेष अवसरों पर बड़ी कृपा की थी। मेरा विचार है कि प्रचार काल में इन दोनों भ्राताओं से भी हिन्दी भाषा की वृद्धि में सहायता पहुँची है और उन्हों ने अपनी पत्रिका और ग्रंथों द्वारा हिन्दुओं के इस संस्कार को बहुत अधिक दूर किया है कि अरबी फ़ारसी के शब्द हिन्दी में आये नहीं कि वह उर्दू हुई नहीं। हिन्दी अक्षरों

में छपे हुये हिन्दुस्तानी भाषा के ग्रन्थों को पढ़ कर हिन्दू के लड़के उन्हें हिन्दी ही का ग्रन्थ समझते थे, उर्दू का नहीं। इससे भी बोल चाल की ओर प्रवृत्ति होने में, हिन्दी को बड़ा अवसर मिला, वह संकुचित होने के स्थान पर अधिक विस्तृत हो गयी। बाबू देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास इसी परिणाम के फल हैं। आजकल के अनेक उपन्यास भी इसी मार्ग पर चल कर हिन्दी भाषा के विस्तार में सहायक हो रहे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि उस समय के हिन्दी भाषा के प्रचार में पं० लक्ष्मीशङ्कर एम०ए० का भी विशेष हाथ है-उनके गद्यका एक नमूना देखिये:—

''इस ज़मीन पर और इस जहान में जिसमें कि हम लोग रहते हैं लाखों अजीब चीज़ें हमेशा दिखलाई देती हैं और हर रोज़ नई बातें हुआ करती हैं। जो कुछ कि इस जहान में होता है, उसे ग़ौर से देखने और उसके सबब को सोचने से जुरूर बड़ा फ़ायदा होता है। बिजली के सब नियमों के जानने से कैसा फ़ायदा हुआ है कि हज़ारों कोस की दूरी पर मुल्क मुल्क में पल भर में तार के सबब से ख़बर पहुंचा सकते हैं। भाफ़ के ज़ोर से कैसी अच्छी तरह से रेलगाड़ी और धूआंकश चलते हैं।,,

२०—काशी निवासी बाबू देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' नामक उपन्यासों से भी हिन्दी भाषा के प्रचार में कम सहायता नहीं मिली। इस समय इनके उपन्यासों ने इतना प्रचार पाया, कि उससे उपन्यास क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित हो गया। बहुत से लोगों ने उस समय हिन्दी इसलिये पढ़ी कि वे चन्द्रकान्ता को पढ़ सकें। इन उपन्यासों की भाषा हिन्दुस्तानी है, केवल विशेषता इतनी ही है कि उसमें यथावसर संस्कृत के तत्सम शब्द भी आते हैं। भाषा चलती और मुहाविरेदार है, इसलिये भी उसकी अधिक पूछ हुई। इन उपन्यासों में चमत्कृत घटनाओं का ही ऊहापोह और विस्तार है। उपदेश, शिक्षा और धार्मिक अथवा सामाजिक आघात प्रतिघात से उनको कोई सम्बन्ध नहीं रहा, फिर भी उनमें इतना आकर्षण है, कि हाथ में लेकर उन्हें समाप्त किये बिना चैन नहीं आता। उनके गद्य का एक अंश देखिये:—

"रोहतास गढ़ क़िले के अन्दर राजमहल की अटारियों पर चढ़ी हुई बहुत सी औरतें उस तरफ़ देख रही हैं, जिधर वीरेन्द्र सिंह का लश्कर पड़ा हुआ है। कुंअर कल्यान सिंह के गिरफ़्तार हो जाने से किशोरी को एक तरह की निश्चिन्ती होगयी थी, क्यों कि ज़्यादे डर उसे अपनी शादी उसके साथ हो जाने का था, अपने मरने की उसे ज़रा भी परवाह न थी। हाँ, कुँअर इन्द्रजीत सिंह की याद वह एक सायत के लिये भी नहीं भुला सकती थी, जिनकी तस्वीर उसके कलेजे में खिँची हुई थी। वीरेन्द्रसिंह की लड़ाई का हाल सुन उसे बड़ी खुशी हुई और वह भी अपनी अटारी पर चढ़ कर हसरत भरी निगाहों से उस तरफ़ देखने लगी जिधर वीरेन्द्र सिंह की फ़ौज पड़ी हुई थी।

२१—अन्य भाषा से अपनी भाषा में ग्रंथों का अनुवाद करना भी भाषा के विस्तार का हेतु होता है, इस प्रचार काल में यह कार्य्य भी अधिकता से हुआ। बंगभाषा के अनेक उपन्यास अनुवादित हो कर हिन्दी भाषा में गृहीत हुये। बाबू गदाधर सिंह ने 'कादम्बरी', 'बंग विजेता' एवं 'दुर्गेश नन्दिनी', का अनुवाद इसी समय किया। बाबू राधाकृष्णदास द्वारा 'स्वर्णलता' एवं 'मरता क्या न करता' आदि कई उपन्यास अनुवादित हुये। बाबू रामदीनसिंह की इच्छा से पं० प्रतापनारायण मिश्र ने 'राजसिंह' आदि आठ दस उपन्यासों का अनुवाद किया। पं० राधाचरण गोस्वामी द्वारा 'मृणमयी', 'विरजा' और 'जावित्री' का अनुवाद हुआ। ये अनुवाद बाबू हरिश्चन्द्र की देखा देखी हुये थे। पहले पहल आपने ही बंगभाषा के एक उपन्यास का अनुवाद कर के मार्ग प्रदर्शन किया था। इसके उपरान्त उस से अनेक उपन्यासों और ग्रंथों का अनुवाद हुआ। अनुवाद कर्त्ताओं में बाबू रामकृष्ण वर्म्मा, बाबू कार्तिक प्रसाद, बाबू गोपाल राम गहमर, बाबू उदित नारायण लाल ग़ाज़ीपुरी आदि का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। बाद को इंडियन प्रेस ने तो अनुवाद का ताँता लगा दिया। उसने कवीन्द्र रवीन्द्र के उत्तमोत्तम उपन्यासों के अनुवाद कराये और कुछ बँगला जीवन चरित्रों के भी॥

२२—इस काल में हिन्दी भाषा में अनेक पत्र और पत्रिकायें भी निकलीं जिससे इसके प्रचार में अधिकतर वृद्धि हुई। इस समय के पहले भी कुछ पत्र पत्रिकायें निकली थीं, जिनमें बनारस अखबार, कविवचन सुधा, और हरिश्चन्द्र चन्द्रिका का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। बाबू हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में से लगभग सभी ने एक एक पत्र अथवा पत्रिका अवश्य निकाली। इसकी चर्चा मैं कर चुका हूं। इस काल में इस कार्य्य की मात्रा बहुत बढ़ गई थी, सब प्रकार के पत्र अधिकता से इस समय ही निकले। कालाकांकर का दैनिक 'हिन्दोस्तान' पं० गोपीनाथ संपादित लाहौर का 'मित्र विलास' पं० सदानन्द मिश्र सम्पादित 'सार सुधानिधि' पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र सम्पादित 'उचित वक्ता', सम्पादकाचार्य्य पं० रुद्रदत्त सम्पादित 'आर्यावर्त्त', उदयपूर का 'सज्जन कीर्ति सुधाकर', पं० देवकी नंदन सम्पादित प्रयाग का 'प्रयाग समाचार' आदि उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं। उस समय जो धार्मिक पत्र पत्रिकायें निकली थीं, उन्होंने भी हिन्दी प्रचार सम्बन्ध में विशेष कार्य्य किया था, क्योंकि जनता की रुचि इधर भी विशेष आकर्षित थी। इनमें कलकत्ता से निकलने वाला 'धर्म दिवाकर, बड़ा सुन्दर पत्र था, इसका सम्पादन पं० देवी सहाय करते थे। इसमें ऐसे सारगर्भ, संयत एवं मार्मिक लेख निकलते थे, जिनकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है। इसी समय 'सरस्वती' भी निकली, जो पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के द्वारा सम्पादित होकर हिन्दी गद्य के विशेष संशोधन का कारण बनी। उस समय के निकले पत्र पत्रिकाओं में अधिकांश अब लुप्त हो चुके हैं, परन्तु उनका प्रचार-कार्य्य और उनका सामयिक प्रभाव किसी प्रकार भूला नहीं जा सकता॥

अब तक जो लिखा गया और जितने अवतरण दिये गये उनके देखने से यह ज्ञात होता है कि उन्नतिकाल से प्रचार काल की भाषा अधिक परिमार्जित है। स्थान के संकोच के कारण मैं प्रधान पत्र सम्पादकों की लेखमाला में से थोड़े अवतरण भी न उठा सका, विशेष कर पं० सदानन्द और पं० दुर्गा प्रसाद मिश्र आदि के, यदि उठा पाता तो प्रस्तुत विषय और स्पष्ट हो जाता। उन्नति काल के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक 'आचार्य' हैं, उन्होंने

ही आदर्श हिन्दी भाषा शैली उपस्थित की है। परन्तु वे लोग स्वच्छंदचारी और मनस्वी थे. जो लिखते थे, अपने विचारानुसार लिखते थे, वे परीक्षा की कसौटी पर कसे नहीं थे, इसलिये उनमें उतना परिमार्जन नहीं मिलता। कहीं कहीं उनकी स्वतंत्र गति भी देखी जाती है. उनके अवतरणों के वे अंश देखिये, जिन पर लम्बी लम्बी लकीरें खिंची हैं। उनमें ब्रजभाषा के शब्द ही नहीं. क्रियायें भी मिलती हैं, ग्रामीण शब्द भी पाये जाते हैं, और सदोष प्रयोग भी। परन्तु प्रचार काल वाले विद्वज्जनों में वह बात नहीं पाई जाती या यह कहें कि यदि पाई जाती है तो नाम मात्र को। इस काल में यह बात स्पष्ट देखी जाती है, कि संस्कृत गर्भित भाषा ही अधिकतर लिखी जाती है, यद्यपि सरलता की ओर भी दृष्टि पर्याप्त थी। चाहे पं० भीमसेन जी की भाषा को देखिये, चाहे पं० अम्बिका दत्त व्यास की भाषा को, सबमें यह बात पाई जाती है। साहित्य लेखकों श्री निवास दास और बाबू राधा-कृष्ण दास इत्यादि में यह बात और अधिक मिलती है। यद्यपि इस काल में भी कुछ लोग अपनी भाषा में विदेशी शब्दों को नहीं ग्रहण करना चाहते थे। परंतु साधारणतया यह विचार ढीला पड़ गया था और लोग आवश्यक विदेशी शब्दों का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते थे। इस काल में ऐसे लोग भी पाये जाते हैं, जो उपन्यासों के लिये बोलचाल की भाषा लिखना ही पसंद करते हैं और यथावसर मुहाविरे की रक्षा के लिये अथवा वाच्यार्थ को स्पष्ट करने एवं कथन को अधिक भावमय बनाने के लिये निस्संकोच भाव से फ़ारसी अरबी अथवा अन्य विदेशी भाषा के शब्दों का व्यवहार करते हैं। बाबू बालमुकुन्द आदि ऐसे ही लेखक हैं। परिहासमय व्यंग-पूर्ण लेखों में विदेशीय शब्दों की भरमार सभी करते हैं. कारण यह है कि बोलचाल में ही अधिक व्यंगात्मक लेख लिखे जाते हैं और ऐसी अवस्था में उन फ़ारसी अरबी अथवा अन्य भाषा के शब्दों का त्याग नहीं हो सकता जो उसके अंग बन गये हैं। वरन् उनके आने ही से बोलचाल की भाषा अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो कर अधिक प्रभावशालिनी और चटपटी बन जाती है, अन्यथा वह कृत्रिम और बनावटी ज्ञात होती है। यदि हम व्यंग करते हुये कहें कि इनकी हवा बिगड़ गई, फिर भी ये हवा बाँध रहे

हैं, तो हमको हवा शब्द को लेना ही पड़ेगा, चाहे वह फ़ारसी शब्द भले ही हो। क्यों कि हवा के स्थान पर दूसरा शब्द वायु या पवन आदि ग्रहण करने से न तो भाव स्पष्ट होगा, न व्यंग सफल होगा, और न मुहावरा मुहावरा रह जायगा। इन बातों पर दृष्टि रख कर हिन्दी भाषा में स्वभाव तथा वही प्रणाली गृहीत हुई और चल पड़ी, जो उचित थी। आज दिन भी इसी प्रणाली का बोलबाला है। सब भाषाओं में गंभीर विषयों की भाषा उच्च होती है और साधारण विषयों की चलती। दार्शनिक, वैज्ञानिक और इसी प्रकार के अन्य विषय, गहन और विवेचनात्मक होते हैं, इस लिये उनके लिये प्रौढ़ भाषा ही वांछनीय होती है। जो विषय सहज हैं, जिन में आपस के व्यवहारों, बर्तावों, अथवा घरेलू बातों की चर्चा होगी, उसको सरल और बोलचाल की भाषा में लिखना ही पड़ेगा, अन्यथा उनकी भाव व्यंजना यथार्थ रीति से न हो सकेगी। हिन्दी भाषा के उन्नति काल के विद्वानों ने इन बातों पर दृष्टि रख कर ही उसकी शैलियों की स्थापना की, जिसका विशेष परिमार्जन इस काल में हुआ।

प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों और क्रियाओं का त्याग जिनमें ब्रजभाषा भी सम्मिलित है, अधिकतर संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रयोगों द्वारा ही संभव था, इस लिये हिन्दी की वर्तमान शैली में संस्कृत तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। यह प्रणाली ग्रहण करने से ही भाषा ग्रामीण शब्दों से सुरक्षित हुई। अरबी फ़ारसी शब्दों की भरमार भी इसी से दूर हुई। अतएव इस प्रणाली का ग्रहण युक्ति संगत था। उसका हिन्दी भाषा और संस्कृत के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक विद्वानों द्वारा स्वीकृत हो जाना भी उसकी उपयोगिता का सूचक है। यह मैं अवश्य कहूँगा, कि न तो संस्कृत शब्दों का भरमार होना उचित है न फ़ारसी और अरबी के प्रचलित शब्दों का आग्रहपूर्वक त्याग, क्योंकि ऐसा करने से भाषा दुर्बोध हो जाती है, जो उसकी उन्नति के लिये वांछनीय नहीं। यह उद्योग सरकारी अधिकारियों और जनता के कतिपय अग्रगन्ताओं द्वारा पहले से होता आया है, कि जहाँ तक संभव हो, हिन्दी भाषा की शैली ऐसी हो, जो बोलचाल के

अधिक निकटवर्त्ती हो और उसमें संस्कृत के शब्द यदि आवें भी तो थोड़े, परन्तु यह शैली चलाई जाने पर भी व्यापक न हो सकी। कारण हिन्दी का राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचार और वह निर्धारित सिद्धान्त था जिसका वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूं। संस्कृत के शब्द ही भारतवर्ष के सब प्रान्तों में अधिकता से समझे जा सकते हैं। इस लिये उसका अभाव हिन्दी की राष्ट्रीयता का बाधक होगा, यह समस्त हिन्दी संसार जानता है। निर्धारित शैली का त्याग युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि इससे उसकी प्रगति में बाधा पड़ेगी। इससे यह निश्चित है कि संस्कृत गर्भित शैली गृहीत रहेगी, वही इस समय व्यापक भी है। इसको विशेष परिमार्जित करने का श्रेय प्रचार काल को है॥

इसी काल में स्वर्गीय बाबू रामदीन सिंह ने मुझको लिखा कि डा० जी० ए० ग्रियर्सन साहब की इच्छा है कि हिन्दी भाषा में एक ऐसा ग्रंथ लिखा जावे जो ठेठ हिन्दी का हो, जिसमें न तो संस्कृत के शब्द हों न किसी अन्य भाषा के। मेरा 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक ग्रन्थ उन्हीं के अनुरोध का परिणाम है, उसकी भाषा का कुछ अंश यह है:—

"सूरज वैसा ही चमकता है, बयार वैसी ही चलती है। धूप वैसी ही उजली है, रूख वैसे ही अपने ठौरों खड़े हैं, उनको हरियाली भी वैसी ही है, बयार लगने पर उनके पत्ते वैसे ही धीरे धीरे हिलते हैं, चिड़ियां वैसी ही बोल रही हैं। रात में चाँद वैसा ही निकला, धरती पर चाँदनी वैसी ही छिटकी, तारे वैसे ही निकले, सबकुछ वैसा ही है। जान पड़ता है देवबाला मरी नहीं। धरती सब वैसी ही है, पर देवबाला मर गई। धरती के लिये देवबाला का मरना जीना दोनों एक सा है। धरती क्या गाँव में चहल पहल वैसी ही है। हँसना, बोलना, गाना, बजाना, उठना, बैठना, खाना, पीना, आना, जाना सब वैसाही है।"

डाक्टर साहब ने इस ग्रंथ को बहुत पसंद किया, इसे सिविल सर्विस की परीक्षा का कोर्स बनाया और उक्त बाबू साहब को यह पत्र लिखा।

प्रिय महाशय !

"ठेठ हिन्दी का ठाट" के सफलता और उत्तमता से प्रकाश होने के लिये मैं आप को बधाई देता हूं। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है।....मुझे आशा है कि इसकी बिक्री बहुत होगी, जिसके कि यह योग्य है। आप कृपा करके पंडित अयोध्या सिंह से कहिये कि मुझे इस बात का हर्ष है कि उन्होंने सफलता के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि बिना अन्य भाषा के शब्दोंका प्रयोग किये ललित और ओजस्विनी हिन्दी लिखना सुगम है।"

आपका सच्चा
जार्ज ए० ग्रियर्सन

कुछ दिनों के बाद डाक्टर साहब की यह इच्छा हुई कि इसी भाषा में एक ग्रंथ और लिखा जावे, जो कुछ बड़ा हो और जिसमें हिन्दी भाषा के अधिक शब्द आवें। यह ज्ञात होने पर मैंने 'अधखिला फूल' की रचना की। उसकी भाषा का अंश देखियेः—

"भोर के सूरज की सुनहली किरनें धीरे धीरे आकास में फैल रही हैं, पेड़ों की पत्तियों को सुनहला बना रही हैं, और पास के पोखरे के जल में धीरे धीरे आकर उतर रही हैं। चारों ओर किरनों का ही जमघटा है, छतों पर मुंरेड़ों पर किरन ही किरन हैं। कामिनी मोहन अपनी फुलवारी में टहल रहा है और छिटिकती हुई किरनों की यह लीला देख रहा है, पर अनमना है। चिड़ियाँ चहकती हैं, फूल मँहक रहे हैं, ठंढी ठंढी पवन चल रही है, पर उसका मन इनमें नहीं है, कहीं गया हुआ है। घड़ी भर दिन आया, फुलवारी में बासमती ने पाँव रक्खा। धीरे धीरे कामिनी मोहन के पास आकर खड़ी हुई।"

सुप्रसिद्ध बाबू काशी प्रसाद जायसवाल को वे एक पत्र में यह लिखते हैं:

रथफानहम-किंबरली-सरे
१०-१-१९०४

"मेरी इच्छा है कि और लोग भी 'हरिऔध' के बताये हुये 'ठेठ हिन्दी का ठाट' के स्टाइल में लिखने का उद्योग करें और लिखें जब मैं

देखूँगा कि पुस्तकें वैसी ही भाषा में लिखी जाती हैं, तो मुझको फिर यह आशा होगी कि आगामी समय उस भाषा का अच्छा होगा, जिसको कि मैं तीस वर्ष से आनन्द के साथ पढ़ रहा हूँ।"

आप का सच्चा

जार्ज ए० ग्रियर्सन

परन्तु हिन्दी संसार इन ग्रंथों की ओर आकर्षित हो कर भी उसकी भाषा की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ, और न किसी ने ऐसी भाषा लिखने की चेष्टा की। कारण इसका यही है, कि समय की आवश्यकताओं को देख कर संस्कृत गर्भित भाषा लिखने की ओर ही उसकी प्रवृत्ति है, सफलता भी उसको इसी में मिल रही है। अतएव यही शैली अनुमोदनीय है। वर्त्तमान काल कटि बद्ध हो कर उसका अनुमोदन भी कर रहा है॥

छठा प्रकरण

वर्त्तमान काल

यह देख कर सन्तोष होता है कि वर्त्तमान काल में हिन्दी गद्य ने प्रशंसनीय उन्नति की है। विद्या के उन समस्त विभागों से अब उसका सम्बन्ध हो गया है, जो राष्ट्रीय जीवन को विकास की ओर ले चलते हैं। देश के सार्वजनिक जीवन ने ज्यों ज्यों उन्नत स्वरूप ग्रहण किया त्यों त्यों हिन्दी गद्य को फलने फूलने के लिये क्षेत्र प्राप्त होता गया। सरकार और जनता के पारस्परिक सहयोग ने भी हिन्दी गद्य को सुगठित और पुष्ट होने का अवसर दिया। उत्तरी भारत तथा मध्य प्रदेश के विश्वविद्यालयों में देशी भाषा की शिक्षा का प्रबंध हो जाने से हिन्दी काव्यों और अन्य ग्रंथों के सुव्यवस्थित पठन-पाठन का श्रीगणेश अभी थोड़े ही दिनों से हुआ है, किन्तु उसने प्रचार-काल में जन्म अथवा पोषण प्राप्त पत्रों और पत्रिकाओं का साहित्यिक पद अधिक उन्नत करके गद्य-लेखन-शैली को बहुत शीघ्र सबल और परिपक्व बनाने में उल्लेखनीय

सफलता प्राप्त कर ली है। समालोचना की प्राचीन शैली के साथ पाश्चात्य शैली ने कंधे से कंधा लगा कर हमें साहित्य के सबल और दुर्बल अंगों को परखने की कसौटियाँ बतलाई हैं, वे कसौटियाँ जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। समालोचना का परिणाम भी देखने में आ रहा है, प्रायः लेखक गण अपनी रचनाओं के सम्बन्धमें अधिक सावधान हो गये हैं और बहुत परिश्रम तथा छानबीन के साथ ही ग्रन्थप्रणयन में प्रवृत्त होते हैं। अब हम यह दिखलावेंगे कि इस वर्तमान काल में हिन्दी भाषा के प्रत्येक विभागों में कितनी उन्नति हुई है और उनमें किस प्रकार समयानुकूल परिवर्द्धन एवं परिवर्त्तन हो रहा है। सुविधा के लिये प्रत्येक विभागों का वर्णन अलग अलग किया जावेगा, जिसमें प्रत्येक विषय का स्पष्टतया निरूपण किया जा सके। हिन्दी का कार्य्य-क्षेत्र इस समय बहुत विस्तृत है और वह लगभग सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रसार पा रहा है। इसलिये हिन्दी उन्नायकों, सेवकों और ग्रन्थ-प्रणेताओं की संख्या भी बहुत अधिक है। सबका वर्णन किया जाना एक प्रकार से असम्भव है। इस लिये उल्लेख-योग्य कृतियों की ही चर्चा की जायगी, और उन्हीं हिन्दी-सेवा-निरत सज्जनों के विषय में कुछ लिखा जायगा, जिनमें कोई विशेषता है या जिन्होंने उसको उन्नत करने में कोई अंगुलि-निर्देश योग्य कार्य्य किया है, अथवा जिनके द्वारा हिन्दी भाषा विकास-क्षेत्र में अग्रसर हुई है। अब तक में कुछ अवतरण भी लेखकों अथवा ग्रन्थकारों की रचनाओं का देता आया हूँ, किन्तु इस प्रकरण में ऐसा करना ग्रंथ के व्यर्थ विस्तार का कारण होगा, क्योंकि इस प्रकार के गण्य मान्य विबुधों एवं प्रसिद्ध पुरुषों की संख्या भी थोड़ी न होगी॥

(१)

साहित्य—विभाग (Literature)

आज कल हिन्दी साहित्य बहुत उन्नत दशा में है। दिन दिन उसकी वृद्धि हो रही है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि जिसमें सामयिकता अधिक हो और जो देश और जाति के लिये अधिक उपकारक हों ऐसे ग्रंथ अभी थोड़े ही बने हैं। हाँ, भविष्य अवश्य आशापूर्ण है। विश्वास

है कि न्यूनताओं की पूर्ति यथा सम्भव शीघ्र होगी और उपादेय ग्रंथों की कमी न रह जायगी। मैं यहाँ पर प्रस्तुत साहित्यिक ग्रंथों का थोड़े में दिग्दर्शन करूंगा, इसके द्वारा यह अनुमान हो सकेगा कि हिन्दी साहित्य के विकास की प्रगति क्या है। सम्भव है कि किसी उपयोगी ग्रंथ की चर्चा छूट जाये, किन्तु ऐसा अनभिज्ञता के कारण ही होगा। कुछ सहृदयों का जीवन ही साहित्यिक होता है, वे साहित्य सेवा करने में ही आनन्दानुभव करते हैं, उनकी इस प्रकृति के कारण आज कल हिन्दी साहित्य उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम ग्रंथों से अलंकृत हो रहा है। प्रचार काल से आज तक उन लोगों ने इस क्षेत्र में जो कार्य्य किया है, वह बहुत उत्साह वर्द्धक और बहुमूल्य है। अब से पचास वर्ष पहले साहित्य के दशांग पर लिखे गये गद्य ग्रन्थों का अभाव था, परन्तु इस समय उसकी बहुत कुछ पूर्ति हो गई है। ऐसे निबन्ध जो आत्मिक प्रेरणा से लिखे जाते हैं, और जिनमें भावात्मकता होती है, पहले दुर्लभ थे, किन्तु इन दिनों उनका अभाव नहीं है। कवि और कविता सम्बन्धी आलोचनात्मक निबंध कुछ दिन पहले खोजने से भी नहीं मिलते थे, परन्तु आज उधर भी दृष्टि है। कुछ ग्रंथ लिखे गये हैं, और कुछ विद्वज्जनों की उधर दृष्टि है। जिन्होंने इस क्षेत्र में कार्य्य किया है और जो आज भी स्वकर्त्तव्य पालन में रत हैं— अब मैं उनकी चर्चा करूंगा। जिससे आप वर्त्तमानकालिक साहित्य भाण्डार की वृद्धि के विषय में कुछ अनुमान कर सकें॥

पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अनेक साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की है। वे जैसे बहुत बड़े लेखक हैं वैसे ही बहुत बड़े समालोचक भी। उन्हों ने हिन्दी साहित्य भाण्डार को बहुमूल्य ग्रन्थ रत्न दिये हैं और अपनी निर्भीक समालोचना से हिन्दी भाषा को परिष्कृत भी बनाया है। उनके रचे कई सुन्दर ग्रन्थ हैं। जिनमें 'बेकन विचार रत्नावली', 'स्वाधीनता', 'साहित्य-सीकर', 'रसज्ञ-रंजन', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति', कालिदास की निरंकुशता' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं॥

बाबू श्याम सुन्दर दास बी० ए० नागरी प्रचारिणी सभा के जन्मदाताओं में अन्यतम हैं। हिन्दी गद्य के विकास में तथा उसकी वर्त्तमान

कालीन उन्नति में भी उनका हाथ है। हिन्दी के जितने ग्रन्थ आप ने सम्पादन किये और लिखे हैं उनकी बहुत बड़ी संख्या है। साहित्य के अनेक विषयों पर आपने लेखनी चलाई है। आप की लिखी गद्य-शैली का चमत्कार यह है कि उसमें प्रौढ़लेखनी की कला दृष्टिगत होती है। हां उसमें मस्तिष्क मिलता है, हृदय नहीं। रूक्षता मिलती है, सरसता नहीं। हाल में आप का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक एक अच्छा ग्रन्थ निकला है।

बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' एक बहुत बड़े साहित्य सेवी हैं। 'काव्य प्रभाकर' और 'छन्द प्रभाकर' उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। आजन्म उन्होंने हिन्दी-देवी की सेवा की और इस वृद्धावस्था में भी उसके चरणों में पुष्पांजलि अर्पण कर रहे हैं।

बाबू कन्हैया लाल पोद्दार की साहित्यिक रचनायें प्रशंसनीय हैं। उनका 'काव्य कल्पद्रुम' एक उल्लेख-योग्य साहित्य-ग्रन्थ है। 'हिन्दी-मेघदूत विमर्श' भी उनकी साहित्यज्ञता का प्रमाण है। वे भी हिन्दी-सेवा व्रत के व्रती हैं और उसको चुने ग्रन्थ अर्पण करते रहते हैं।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल बड़े गंभीर और मननशील गद्य लेखक हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओं से जो गौरव बंग भाषा को प्राप्त है वही प्रतिष्ठा पंडित जी की लेखनी द्वारा हिन्दी भाषा को प्राप्त हुई है। हिन्दी-संसार में आप अद्वितीय समालोचक हैं। आप के गद्य में जो विवेचन-गम्भीरता दार्शनिकता और विचार की गहनता मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनके हाल के निकले हुए 'काव्य में रहस्यवाद' और 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ इनके पांडित्य के जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

मिश्र बन्धुओं ने हिन्दी-भाण्डार को एक ऐसा अमूल्य रत्न प्रदान किया है जिससे उनकी कीर्ति चिरकाल तक हिन्दी संसार में व्याप्त रहेगी। उनका मिश्र बन्धु विनोद नामक ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्ण और अद्भुत गवेषणा और परिश्रम का परिणाम है। आज कल हिन्दीसाहित्य के

इतिहास लगातार लिखे जा रहे हैं। किन्तु इन सब तारक-मण्डल को ज्योति प्रदान करने वाला सूर्य्य उनका ग्रन्थ ही है। मिश्र बन्धुओं ने कुछ इतिहास ग्रन्थ भी लिखे हैं। वे भी कम उपयोगी नहीं। पं० रमाशंकर शुक्ल एम० ए० 'रसाल' ने एक वर्ष के भीतर ही दो प्रशंसनीय ग्रंथ प्रदान किये हैं। एक का नाम है 'अलंकारपीयूष' और दूसरेका नाम है 'हिन्दी साहित्य का इतिहास।' ये दोनों ग्रंथ अपने ढंग के अपूर्व हैं। 'अलंकार पीयूष' में प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की शास्त्रार्थ—परम्परा का सुन्दर विवेचन उन्होंने जिस प्रकार किया है, वह हिन्दी-संसार के लिये एक दुर्लभ वस्तु है। उसमें उनकी प्रतिभा और विचार-शैली दोनों का विकास है। उनका हिन्दी साहित्य का इतिहास भी एक उल्लेखनीय और अभूतपूर्व ग्रंथ है। पं० रमाकान्त त्रिपाठी एम० ए० का 'हिन्दी-गद्य-मीमांसा' नामक ग्रंथ भी अपूर्व है। यह पहला ग्रंथ है जिसमें हिन्दीभाषा पर पाश्चात्य प्रणाली से विवेचन किया गया है। थोड़े समय में इस ग्रन्थ का आदर भी अधिक हुआ है, यह इसकी उपयोगिता और बहुमूल्यता का प्रमाण है। श्रीमान् सूर्य्यकान्त शास्त्री एम० ए० का हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास भी गहन विवेचना के लिये अपना प्रमाण आप है। पंजाब जैसे सुदूरवर्त्ती प्रान्त में रह कर भी आप ने हिन्दी के विषय में जिस मर्मज्ञता का परिचय दिया है वह अभिनन्दनीय है। उनका यह ग्रंथ हिन्दी भाण्डार की आदरणीय सम्पत्ति है। बाबू रमाशंकर श्रीवास्तव एम० ए० एल० एल० बी० का हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास भी उपयोगी ग्रन्थ है और परिश्रम से लिखा गया है। अंगरेजी स्कूलों में कोर्स में उसका गृहीत हो जाना इसका प्रमाण है। पं० जगन्नाथ मिश्र एम० ए० का 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' नामकग्रन्थ भी सुन्दर है। लेखक का पहला ग्रंथ होने पर भी प्रशंसा-योग्य है। 'हिन्दी काव्य में नवरस' नामक एक ग्रंथ पं० बाबू रामबिल्थरियाने और 'नवरस' नामक ग्रंथ बाबू गुलाब राय एम० ए० ने लिखा है। पहला ग्रंथ बहुत गवेषणा और विचार शीलता के साथ लिखा गया है। इस लिये वह बहुत उपयोगी बन गया है। दूसरा ग्रंथ छोटा है परंतु गुण में बड़ा है। बाबू साहब बड़े चिन्ताशील लेखक हैं, इस लिये

उनकी लेखनी से जो निकला है, बहुमूल्य है। राय कृष्ण दास की 'साधना' उनकी किसी बड़ी साधना का फल है। यह ग्रंथ भावुकता की दृष्टि से आदरणीय है। उन्होंने कुछ कहानियां भी लिखी हैं, जो भावमयी और उपयोगिनी हैं। उनसे भी उनकी सहृदयता का परिचय मिलता है।"

(२)

नाटक

नाटक लिखने में सफलता उन लोगों को आजकल प्राप्त हो रही है जो नाटक कम्पनियों में रहकर कार्य कर रहे हैं। फिर भी हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में ऐसे नाटक भी लिखे जा रहे हैं जो साहित्यिक-दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। ऐसे नाटककारों में अधिक प्रसिद्ध बाबू जयशंकर प्रसाद हैं। उनके नाटकों में सुरुचि है, और कवित्व भी। किंतु उनका गद्य और पद्य दोनों इतना जटिल और दुरूह है कि वे अबतक नाट्य मंच पर नहीं आ सके। हां, साहित्यिक दृष्टि से उनके नाटक अवश्य उत्तम हैं। उन्होंने कई नाटकों की रचना की है। उनमें अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त उल्लेख-योग्य हैं। पंडित बदरीनाथ भट्ट बी० ए० ने दो तीन नाटकों की रचना की है। वे सब सुन्दर हैं और उनमें ऐसा आकर्षण है कि वे रंगमंच पर खेले भी गये। उपयोगिता की दृष्टि से इनके नाटक प्रशंसनीय हैं। पं० बेचन शर्म्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' नाटक भी अच्छा है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र बी० ए० ने दो नाटक लिखे हैं, जो थोड़े दिन हुये प्रकाशित हुये हैं। एक का नाम है 'सन्यासी' और दूसरे का 'राक्षस का मन्दिर'। दोनों ही सामाजिक नाटक हैं और जिस उद्देश्य से लिखे गये हैं उसकी पूर्ति की ओर लेखक की दृष्टि पायी जाती है। परन्तु मैं इन दोनों नाटकों से अधिक उत्तम उनके अन्तर्जगत नामक पद्य-ग्रंथ को समझता हूं। बाबू आनन्दी प्रसाद श्रीवास्तव ने 'अछूत' नामक एक नाटक लिखा है। यह नाटक अच्छा है और इसका लेखक इसलिये धन्यवाद का पात्र है कि उसकी ममता अछूतों के प्रति

देखी जाती है। ऐसे उपयोगी अनेक सामाजिक नाटकों की आवश्यकता हिन्दू समाज को है। इसके बाद वे नाटककार आते हैं, जिन्होंने नाटक कम्पनियों के आश्रय में रहकर नाटकों की रचना की। वे हैं पंडित राधेश्याम, बाबू हरिकृष्ण जौहर और आगाहश्र आदि। इन लोगों ने भी अनेक नाटकों की रचना करके हिन्दी साहित्य की सेवा की है। इनमें से पंडित राधेश्याम और बाबू हरिकृष्ण जौहर के नाटक अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें भावुकता भी पाई जाती है और हिन्दू संस्कृति की मर्य्यादा भी। अन्य नाटकों में रूपान्तर से हिन्दू संस्कृति पर प्रहार किया गया है और स्थान स्थान पर ऐसे अवांछनीय चरित्र अंकित किये गये हैं जो प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते। रंगमंच पर कारण-विशेष से वे भले ही सफलता लाभ कर लें, पर उनमें सुरुचि पर छिपी छुरी चलती दृष्टिगत होती है। इस दोष से यदि कोई प्रसिद्ध नाटककार मुक्त है तो वे हैं पंडित माधव शुक्ल। उनको आर्य संस्कृति की ममता है। उनका 'महाभारत' नामक नाटक इसका प्रमाण है। इनके विचार में स्वातंत्र्य होने का कारण यह है कि वे किसी पारसी नाटक-मण्डली के अधीन नहीं हैं। वे उत्तम गायक और वाद्यकार ही नहीं हैं, नट-कला में भी कुशल हैं और सरस कविता भी करते हैं। दुःख है, कि हिन्दी संसार में अबतक बंगाली नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीश चन्द्र का समकक्ष कोई उत्पन्न नहीं हुआ। साहित्य के इस अंग की पूर्ति के लिये समय किसी ऐसे नाटककार ही की प्रतीक्षा कर रहा है। बाबू हरिश्चन्द्र के नाटक छोटे ही हों, पर उनमें जो देश-प्रेम जाति-प्रेम तथा हिन्दू संस्कृति का अनुराग झलकता है, आजकल के नाटकों में वह विशेषता नहीं दृष्टिगत होती। श्री निवास दास के नाटकों में विशेष कर 'रणधीर प्रेम मोहिनी' में जो स्वाभाविक आकर्षण है वैसा आकर्षण आज कल के नाटकों में कहां? ये बातें उन्हीं नाटकों में पैदा हो सकती हैं जो चलती भाषा में लिखे गये हों और जिनके पद्यों में वह शक्ति हो कि उन्हें सुनते ही लोग मंत्र मुग्ध बन जावें। परमात्मा करे ऐसे नाटककार हिन्दी क्षेत्र में आयें, जिससे देश, जाति और समाज का यथोचित हित हो सके।

(३)

उपन्यास

इस काल के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक पं० किशोरीलाल गोस्वामी और श्रीयुत प्रेमचन्द हैं। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने ६० से अधिक उपन्यास लिखे हैं। इसी सेवा और संस्कृत के विद्वान् तथा कवि-कर्म-निरत होनेके कारण हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनके बाइसवें अधिवेशन के सभापतित्व पद पर वे आरूढ़ हो चुके हैं। बाबू देवकी नंदन खत्री के बाद यदि किसी ने हिन्दी-जनता को अपनी ओर अधिक आकर्षित किया तो वे गोस्वामी जी के उपन्यास ही हैं। इनके बहुत पीछे बाबू धनपतराय बी० ए० (प्रेमचंद) हिन्दी-क्षेत्र में आये। परन्तु जो सफलता थोड़े दिनों में उन्होंने प्राप्त की वह गोस्वामी जी को कभी प्राप्त नहीं हुई। कारण इसका यह है कि प्रेमचंद जी के उपन्यासों में सामयिकता है और रुचि-परिमार्जन भी. गोस्वामी जी के उपन्यासों में यह बात नहीं पाई जाती। इसलिये उनकी उपस्थिति में ही उपन्यास-क्षेत्र पर प्रेमचन्द जी का अधिकार हो गया। उनकी भाषा भी चलती और फड़कती होती है। उनमें मानसिक भावों का प्रकाशन भी सुन्दरता से होता है। इसलिये आजकल हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में उन्हीं की धूम है। सुदर्शन जी को छोटी कहानियां लिखने में यथेष्ट सफलता मिली है। आपकी भाषा सरस, सरल और मुहाविरेदार होती है तथा कहानियों का चरित्र-चित्रण विशेष उल्लेखनीय। कौशिकजी ने कहानियां और उपन्यास दोनों लिखने की ओर परिश्रम किया है। उनका पारिवारिक और सामाजिक भावों का चित्रण हृदय-ग्राही और मनोहर होता है। झांसी के बाबू वृन्दावनलाल बर्मा बी० ए० ने 'गढ़ कुण्डार' नामक सुन्दर उपन्यास लिख कर हिन्दी में वह काम किया है जो सर वाल्टर स्काट ने अँगरेज़ी भाषा के लिये किया है।

पं० वेचन शर्मा उग्र ने कई उपन्यासों और बहुत सी कहानियों की रचना की है। भाषा उनकी फड़कती हुई और मज़ेदार होती है. उसमें ज़ोर भी होता है। यदि उसमें चरित्र-चित्रण भी सुरुचिपूर्ण

होता तो मणिकाञ्चन योग हो जाता। पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी, बा० जगदम्बा प्रसादवर्म्मा और बाबू शम्भु दयाल सक्सेना ने 'मीठी चुटकी' नामक एक उपन्यास संयुक्त उद्योग से लिखा है। हिन्दी में यह एक नया ढंग है, जिसे इन सहृदय लेखकों ने चलाया। पं० भगवती प्रसाद बाजपेयी ने मुसकान, बाबू जगदम्बा प्रसाद वर्म्मा ने बड़े बाबू तथा बाबू शम्भुदयाल सक्सेना ने 'बहूरानी' नामक उपन्यास लिखा है। ये लोग कहानियाँ भी अच्छी लिखते हैं। पं० प्रफुल्ल चन्द्र ओझा ने 'पतझड़', 'जेल की यात्रा', 'तलाक़' आदि उपन्यास लिखे हैं, जो अच्छे हैं। श्री मती तेजरानी दीक्षित प्रथम महिला हैं जो उपन्यासरचना की ओर प्रवृत्त हुई हैं। आप का 'हृदय का काँटा' नामक उपन्यास हिन्दी-संसार में अच्छी प्रतिष्ठा लाभ कर चुका है। पं० गिरिजादत्त शुक्ल बी० ए० 'गिरीश' ने 'प्रेम की पीड़ा', 'पाप की पहेली', 'जगद्गुरु का विचित्र चरित्र', 'बाबू साहब', 'बहता पानी', 'चाणक्य,' 'सन्देह' आदि उपन्यासों की रचना की है, जिनमें से 'बहता पानी और 'चाणक्य' अभी अप्रकाशित हैं। बाबूसाहब का दूसरा सँस्करण हो रहा है। इनके उपन्यासों में चिन्ता शीलता, भावुकता और सामयिकता पाई जाती है। उपन्यास का प्रधान गुण रोचकता और रुचि-परिमार्जन है पर्य्याप्त मात्रा में ये बातें इनके उपन्यासों में हैं। भाषा भी इनकी चलती और ऐसी होती है जैसी उपन्यास के लिये होनी चाहिये। कहीं कहीं उसमें गम्भीरता भी यथेष्ट मिलती है। ये सहृदय कवि भी हैं। इनका 'रसाल बन' नामक पद्य-ग्रंथ कीर्ति पा चुका है और हाथों हाथ बिक चुका है। कवि-हृदय होने के कारण इनके उपन्यासों में कवित्व भी देखा जाता है और उसमें सरसता भी यथेष्ट मिलती है। लहरी बुक डिपो बनारस से कुसुम माला नाम से जो उपन्यासों की मालिका निकल रही है, उसमें भी कुछ अच्छे उपन्यास निकले हैं, ये उपन्यास बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री के लिखे हुये हैं। इन उपन्यासों की भाषा बाबू देवकी नन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता की सी है, जिनमें उर्दू के शब्दों का प्रयोग निस्संकोच भाव से किया जाता है। बाबू ब्रजनन्दन सहाय बी० ए० अच्छे उपन्यास लेखक हैं।

इन्होंने भी कई उपन्यास लिखे हैं। सौन्दर्य्योपासक इनका सबसे अच्छा उपन्यास है और प्रशंसा भी पा चुका है। मैं समझता हूं, बिहार प्रान्त में ये पहले ऐसे लेखक हैं जिन्होंने उपन्यास लिखने में सफलता लाभ की है। बाबू जैनेन्द्र कुमार भी एक अच्छे उपन्यास और कहानी-लेखक हैं। इनकी भाषा ओजमयी और सुंदर होती है, और शब्द विन्यास प्रशंसनीय। इनकी भाव-चित्रण-क्षमता भी अच्छी है। हिन्दी-संसार के ये गण्य लेखकों में हैं। थोड़े दिनों से उपन्यास क्षेत्र में पं० बिनोद शंकर व्यास ने भी अपनी सहृदयता का परिचय देना प्रारम्भ किया है। उन्होंने कहानियाँ भी लिखी हैं और कुछ उपन्यास भी। उनमें भावुकता है और सूझ भी। इसलिये उनको उपन्यास लिखने में सफलता मिल रही है और वे अपने को इस कार्य्य में योग्य सिद्ध कर रहे हैं। इनकी भाषा और भावों में एक प्रकार का आकर्षण पाया जाता है। बाबू गोपाल राम गहमर जासूसी उपन्यास लिखने के लिये प्रसिद्ध हैं। इन्होंने भी बहुत अधिक उपन्यास लिखे हैं और कीर्ति भी पाई है। जासूसी उपन्यास लिखने में हिन्दी संसार में इनका समकक्ष कोई नहीं पाया जाता। यह इनकी विशेषता है। इनकी भाषा चलती और सर्व-साधारण के समझने योग्य होती है। इनमें उपज और भावुकता भी है।

मैं समझता हूं। हिन्दी में जितने अधिक उपन्यास आज कल निकल रहे हैं उतने अन्य विषयों के ग्रन्थ नहीं। आज कल उपन्यास का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है और उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उपन्यासों ने हिन्दू संस्कृति को आज कल उलझनों में फँसा दिया है। आज कल की रुचि-भिन्नता अविदित नहीं। कोई हिन्दू संस्कृति का आमूल परिवर्तन चाहता है, कोई उसको बिल्कुल ध्वंस कर देना चाहता है, कोई उसका पुष्ट पोषक है, कोई विरोधी। किसी के बिचार पर पाश्चात्य भावों का रंग गहरा चढ़ा है। कोई भारतीय भावों का भक्त है। किसी के सिर पर जातीय पक्षपात का भूत सवार है और कोई सुधार के उन्माद से उन्मत्त। निदान इस तरह के भिन्न भिन्न भाव आज हिन्दू समाज के क्षेत्र में कार्य्य कर रहे हैं। अधिकतर समाचार पत्रों के लेख और उपन्यास ही अपने अपने विचार प्रगट करने के प्रधान

साधन हैं। इसी लिये उपन्यासों का उत्तर दायित्व कितना बढ़ गया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। परंतु दुःख है कि इस उत्तर दायित्व के समझने वाले इने गिने सज्जन हैं। आज कल अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग वाली कहावत ही चरितार्थ हो रही है। जो लोग शृंगार रस की कुत्सा करते तृप्त नहीं होते, उन्हीं लोगों को उपन्यासों में अश्लीलता का अभिनय करते अल्प संकोच भी नहीं होता। देश प्रेम का सच्चा राग, जाति-हित की सच्ची प्रतिध्वनि, आज भी बहुत थोड़े उपन्यासों में सुन पड़ती है। जिन दुर्बलताओं से हिन्दू समाज जर्जर हो रहा है, जिन कारणों से दिन दिन उसका अधः पतन हो रहा है, जो फूट उसको दिन दिन ध्वंस कर रही है, जो अवांछनीय जातिभेद की कट्टरता उसका गला घोंट रही है, जिन अन्ध विश्वासों के कारण वह रसातल जा रहा है, जो रूढ़ियाँ मुँह फैला कर उसको निगल रही हैं, क्या सचाई के साथ किसी उपन्यास लेखक की उस ओर दृष्टि है? क्या हिन्दुओं की नाड़ी टटोल कर किसी उपन्यासकार ने हिन्दुओं को वह संजीवन-रस पिलाने की चेष्टा की है, जिससे उनके रग रग में बिजली दौड़ जाय? स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू जातीयता की रक्षा ही भारतीयता की रक्षा है क्योंकि हिन्दुओं में ही ऐसे धार्मिक भाव हैं, जो विजातीयों और अन्य धर्मावलम्बियों से भी आत्मीयता का निर्वाह कर सकते हैं। सारांश यह कि आज कल के अधिकांश उपन्यास मनोवृत्ति-मूलक हैं। थोड़े ही उपन्यास ऐसे लिखे जाते हैं जिनमें आत्म भावों को देश जाति अथवा धर्म की बलिवेदी पर उत्सर्ग करने की इच्छा देखी जाती है। इधर यथार्थ रीति से दृष्टि आकर्षित होना ही वांछनीय है॥

(४)

जीवन-चरित

जीवन चरित्र की रचना भी साहित्य का प्रधान अंग है। जीवन-चरित्र और उपन्यास में बड़ा अंतर होता है। उपन्यास काल्पनिक भी होता है। किन्तु जीवन चरित किसी महापुरुष की वास्तविक जीवन-

चर्य्या के आधार से लिखा जाता है। इसी लिये उसकी उपादेयता अधिक होती है। हिन्दी में जीवन-चरित बहुत थोड़े लिखे गये और जो लिखे गये हैं वे भी कला की दृष्टि से उच्च कोटि के नहीं कहे जा सकते। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस विषय में आरानिवासी बाबू शिवनंदन सहाय ने प्रशंसनीय कार्य किया है। उनका लिखा हुआ गोस्वामी तुलसी-दास और बाबू हरिश्चचन्द्र का जीवन चरित बहुत ही सुन्दर और अधिक-तर उपयोगी तथा गवेषणापूर्ण है। जीवन-चरित के लिये भाषा को भी ओजस्विनी और मधुर होना चाहिये। उनकी रचना में यह बात भी पायी जाती है। उन्हों ने चैतन्यदेव एवं सिक्खों के दश गुरुओं की भी जीवनियां लिखी हैं। ये जीवनियाँ भी उत्तमता से लिखी गयी हैं इनमें भी उनकी सार ग्राहिणी प्रतिभा का विकास देखा जाता है। ये कवि भी हैं और सरस हृदय भी। इस लिये इनकी लिखी जीवनियों में उपन्यासों कासा माधुर्य्य आगया है। पं० माधव प्रसाद मिश्र की लिखी हुई विशुद्ध चरितावली भी आदर्श जीवनी है। पंडित जी की गणना हिन्दी भाषा के प्रौढ़ लेखकों में है। विशुद्ध चरितावली की भाषामें वह प्रौढ़ता मौजूद है। उसमें उनकी लेखनी का विलक्षण चमत्कार दृष्टिगत होता है। पण्डित रामनारायण मिश्र बी० ए० बनारस नागरी प्रचारिणी सभा के स्थापकों में से अन्यतम हैं। आप का बनाया हुआ 'जस्टिस रानाडे का जीवन चरित' नामक ग्रंथ भी अच्छा है। उसकी अनेक शिक्षायें उपदेश-पूर्ण हैं। पं० जी अच्छे गद्य लेखक हैं और यथावकाश हिन्दी की सेवा करते रहते हैं। पंडित रामजी लाल शर्म्मा ने छोटी बड़ी कई जीवनियाँ लिखी हैं। जिस जीवनीमें उन्हों ने भगवान रामचन्द्र का चरित्र अंकित किया है, उसमें उनकी सहृदयता विकसित दृष्टिगत होती है। और भी बहुत सी छोटी छोटी जीवनियाँ स्वसंस्थापित हिन्दी प्रेस से उन्हों ने निकाली हैं, उनमें भी उनकी प्रतिभा की झलक मिलती है। पं० ओंकार नाथ वाजपेई ने अपने ओंकार प्रेस से छोटी छोटी अनेक जीवनियाँ निकाली हैं। वे भी सुन्दर और उपयोगिनी हैं। राजस्थान निवासी स्व० मुंशी देवीप्रसाद ने कुछ मुसलमान बादशाहों मीराबाई और राजा बीरबल की जीवनी लिखी है और

कुछ स्त्रियों की भी। परंतु वे प्राचीन ढंग से लिखी गयी हैं। फिर भी उनमें रोचकता और सरसता मिलती है और उनके पाठसे आनंद आता है। पं० ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल ने 'स्त्री-कवि कौमुदी' नाम से हिन्दी स्त्रीक-वयित्रियों को एक जीवनी निकाली है। वह भी अच्छी है। पं० बनारसी दास चतुर्वेदी ने स्व० कविरत्न पं० सत्यनारायण की अच्छी जीवनी लिखी है। उसमें उन्हों ने जीवन-चरित लिखने की जिस शैली से काम लिया है वह प्रशंसनीय है। उनके सरल और भोले हृदय का विकास इस जीवनी में अच्छा देखा जाता है। वे एक उत्साही पुरुष हैं और उनके उत्साह का ही परिणाम यह जीवनी है, नहीं तो उसका लिखा जाना असंभव था।

५

इतिहास।

जीवन चरित और उपन्यास इन दोनों से भी इतिहास का स्थान बहुत ऊँचा है। जीवन-चरित का सम्बन्ध किसी एक महापुरुष अथवा उसके कुटुम्ब के कुछ प्राणियों या उससे सम्बन्ध रखने वाले कुछ विशेष मनुष्यों से होता है। उपन्यास की सीमा भी परिमित है वह भी कतिपय व्यक्ति विशेषों पर अवलम्बित होता है, चाहे वे काल्पनिक हों अथवा ऐतिहासिक। परंतु इतिहास का सम्बन्ध एक, देश एक राज्य, किंवा एक समाज अथवा किसी जाति-विशेष से होता है। उसमें नाना सांसारिक घटनाओं के संघटन और मानव-समाज के पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न विभिन्न प्रकार के कार्य्य-कलाप सामने आते हैं, जो मानव जीवन के अनेक ऐसे आदर्श उपस्थित करते हैं, जिनसे सांसारिकता के विभिन्न प्रत्यक्ष प्रमाण सम्मुख आजाते हैं। इस लिये उसकी उपादेयता बहुत अधिक बढ़ जाती है और यही कारण है कि इतिहास साहित्य का एक प्रधान अंग है। हिन्दी संसार में इसके आचार्य्य राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीरा-चंद ओझा हैं। आप ऐसे उच्च कोटि के इतिहास लेखक हैं कि उनको समस्त हिन्दी संसार मुक्त कण्ठ हो कर सर्वोत्तम इतिहासकार मानता है। उन्होंने अपनी गवेषणाओं से बड़े बड़े ऐतिहासिकों को चकित कर दिया

है। शिलालेखों, मुद्राओं एवं अनेक प्राचीन पुस्तकों के आधार से ऐसी ऐसी ऐतिहासिक बातों को वे प्रकाश में लाये हैं जो बिलकुल अंधकार में पड़ी थीं, उनको इन कार्य्यों के लिये बड़े बड़े पुरस्कार मिले हैं। सरकार ने भी राय बहादुर की उपाधि देकर उनकी प्रतिष्ठा की है। हिन्दी संसार ने भी साहित्य-सम्मेलन के द्वारा उनको १२००) का मंगला प्रसाद पारितोषिक दिया है। इन सब बातों पर दृष्टि रखकर विचार करने से यह ज्ञात हो जाता है कि आपका इतिहासकारों में कितना उच्च स्थान है। आपने जितने ग्रंथ बनाये हैं वे सब बहुमूल्य हैं और तरह तरह की गवेषणाओं से पूर्ण हैं। आपके उपरान्त इतिहासकारों में पंडित विश्वेश्वरनाथ रेऊ का स्थान है। आप उनके शिष्य हैं और योग्य शिष्य हैं। आप का भी ऐतिहासिक ज्ञान बहुत बढ़ा हुआ है। श्रीयुत सत्यकेतु विद्यालंकार ने 'मौर्य साम्राज्य का इतिहास' नामक एक अच्छा इतिहास ग्रंथ लिखा है, उसके लिये १२००) पुरस्कार भी उन्हों ने साहित्य सम्मेलन द्वारा पाया है। आपका यह इतिहास गवेषणापूर्ण, प्रशंसनीय और उल्लेख योग्य है। श्रीयुत जयचंद विद्यालंकार ने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक एक बड़ा ग्रंथ लिखा है। यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु मैं जानता हूं कि यह उच्च कोटि का इतिहास है और इसमें ऐसी अनेक बातों पर प्रकाश डाला गया है, जो पाश्चात्य लेखकों की लेखनी द्वारा अन्धकार में पड़ी थीं। अध्यापक रामदेव का लिखा हुआ 'भारत का इतिहास' और गोपाल दामोदर तामसकर रचित 'मराठों का उत्कर्ष' नामक इतिहास भी प्रशंसनीय और उत्तम हैं। ये दोनों ग्रंथ परिश्रम से लिखे गये हैं और उनके द्वारा अनेक तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। पं० सोमेश्वरदत्त शुक्ल बी० ए० ने कुछ इतिहास ग्रंथ लिखे हैं और श्रीयुत रघुकुल तिलक एम० ए० ने 'इँगलेण्ड का 'इतिहास' बनाया है। इन दोनों ग्रंथों की भी प्रशंसा है। पंडित मन्नन द्विवेदी गजपुरी का बनाया हुआ मुसलमानी राज्य का इतिहास' नामक ग्रंथ भी सुन्दर है और बड़ी योग्यता से लिखा गया है। भाषा इस ग्रंथ की उर्दू मिश्रित है, परंतु उसमें ओज और प्रवाह है। लेखक की मनस्विता इस ग्रंथ में स्थल स्थल पर झलकती दृष्टिगत होती है।

आप सुकवि थे, परन्तु जीवन के दिन थोड़े पाये, बहुत जल्द संसार से चल बसे। भाई परमानंद एम० ए० ने योरप का एक सुन्दर इतिहास लिखा है और प्रसिद्ध वीर बन्दे गुरु का एक इतिवृत्त भी रचा है। आप एक प्रसद्धि विद्वान् हैं और हिन्दू जाति पर उत्सर्गी कृत जोवन हैं। इस लिये आप के ये दोनों ग्रंथ हिन्दू दृष्टि-कोण से ही लिखे गये हैं, जो बड़े उपयोगी हैं।

(६)

धर्म-ग्रंथ

आर्य सभ्यता धर्म पर अवलम्बित है। धर्म हो उसका जीवन है और धर्म ही उसका चरम उद्देश्य। धर्म का अर्थ है धारण करना। जो समाज को, देश को, जाति को उचित रीति से धारण कर सके उसका नाम धर्म है। व्यक्ति की सत्ता धर्म पर अवलम्बित है। इसीलिये वैशेषिक दर्शनकार ने धर्म का लक्षण यह बतलाया है:—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः सधर्मः

जिससे अभ्युदय अर्थात् बढ़ती और निःश्रेयस् अर्थात् लोक परलोक दोनों का कल्याण हो उसी का नाम है धर्म। आर्य जाति और आर्य सभ्यता इसी मन्त्र का उपासक प्रचारक, एवं प्रतिपालक है। किन्तु दुःख है कि आजकल धर्म के नाम पर अनेक अत्याचार किये जा रहे हैं। अतएव कुछ लोग धर्म की जड़ खोदने के लिये भी कटिबद्ध हैं। वे अधम्म को धर्म समझ रहे हैं, यह उनकी भ्रान्ति है सामयिक स्वार्थ परायणता, अन्ध-विश्वास और दानवी वृत्तियों के कारण संसार में जो कुछ Religion और मज़हब के नाम पर हो रहा है वह धर्म नहीं है, धर्माभास भी नहीं है। वह मानवीय स्वार्थ परायणता और अहम्मन्यता का एकनिन्दनोयतम कार्य्य है जिसपर धर्म का आवरण चढ़ाया गया है। वैदिक धर्म्म अथवा आर्य्य सभ्यता न तो उसका पोषक है और न उसका पक्षपाती। जो कुछ आजकल हो रहा है वह अज्ञान का अकाण्ड ताण्डव है। उसको कुछ भारतीय धर्मपरायण सज्जनों ने समझा है और वे उसके

निराकरणके लिये यत्नवान हैं। इस दिशामें बहुत बड़ा कार्य्य कवीन्द्र रवीन्द्र कर रहे हैं, वे संसार भर में भ्रमण कर यह बतला रहे हैं, धर्म क्या है। वे कह रहे हैं कि जबतक आर्य धर्म का अवलम्बन यथा रीति न किया जायगा उस समय तक न तो संसार में शान्ति होगी और न उसकी दस्यु वृत्ति का निवारण होगा। दस्युवृत्ति का अर्थ परस्वापहरण है। भारतवर्ष में भी अनेक विद्वान् धर्म रक्षा के लिये यत्नवान् हैं और सत्य का प्रचार कर रहे हैं। प्रचार का एक अंग ग्रंथ-रचना है, जिसका सम्बन्ध साहित्य से है। मेरा विषय यही है, इस लिये मैं यह बतलाऊँगा कि वर्त्तमान काल में कितने सदाशय पुरुषों ने इस कार्य्य को अपने हाथ में लेकर उत्तमता पूर्वक किया है। मैं समझता हूं, इस दिशा में कार्य करने वालों में भारतधर्ममहामण्डल के स्वामी दयानन्द का नाम विशेष उल्लेख योग्य है। उनका सत्यार्थ-विवेक नामक ग्रंथ जो कई खंडों में लिखा गया है, वास्तव में आदर्श धर्म-ग्रंथ है। आपने और भी धर्म-सम्बन्धी ग्रंथ लिखे हैं और आजतक इस विषय में यत्नवान् हैं। आप जैसे संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान हैं वैसे ही अंगरेजी के भी। आप के ग्रंथों की विशेषता यह है कि आप तात्विक विषय को लेकर उनकी मीमांसा पाश्चात्य प्रणाली और वैदिक सिद्धान्तों के आधार से उपपत्ति पूर्वक करते हैं और फिर बतलाते हैं कि सत्य और धर्म क्या है। आप के ग्रंथ अवलोकनीय हैं और इस योग्य हैं कि उनका यथेष्ट प्रचार हो। स्वर्गीय पं० भीमसेन जी के पुत्र पं० ब्रह्मदेव शर्मा भी इस विषय में बड़े उद्योगशील हैं, उनका 'ब्राह्मण सर्वस्व' नामक पत्र इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है। उन्होंने धर्म सम्बन्धी कई उत्तमोत्तम ग्रंथ भी निकाले हैं, जो पठनीय और मनन योग्य हैं। वास्तव में आप बड़े बाप के बेटे हैं। प्रसिद्ध महोपदेशक कविरत्न पण्डित अखिलानन्द की अविश्राम शील महत्तामयी लेखनी भी अपने कार्य्य में रत है, वह भी एक से एक अच्छे धार्मिक ग्रंथ लिखते जा रहे हैं और आज भी धर्म्म रक्षा के लिये पूर्ववत् बद्ध परिकर हैं। आपके जितने ग्रंथ हैं, सब बहुज्ञता और बहुदर्शिता से पूर्ण हैं, उनमें आपके पाण्डित्य का अद्भुत विकास देखा जाता है। लखनऊ के नारायण स्वामी द्वारा महर्षि

कल्प स्वामी रामतीर्थ के सद्ग्रंथों का जो पुनः प्रकाशन और प्रचार हो रहा है वह भी महत्व पूर्ण कार्य्य है। स्वामी जी के उपदेश और वचन भवभेषज और संसार तापतप्तों के लिये सुधा सरोवर हैं, उनका जितना अधिक प्रचार हो उतना ही अच्छा। पं० कालूराम शास्त्री का उद्योग भी इस विषय में प्रशंसनीय है। उन्होंने भी धर्म सम्बन्धी कई उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हैं। पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री का प्रयत्न भी उल्लेखनीय है। उन्होंने वाल्मीकि रामायण और महाभारत का सरल और सुन्दर अनुवाद करके उनका प्रचार प्रारम्भ किया है। उनमें धर्म्म-लिप्सा है। अतएव परमार्थ दृष्टि से उन्होंने अपने ग्रंथों का मूल्य भी कम रक्खा है। आज कल गोरखपुर के गीता प्रेस से जो धर्म्म-सम्बन्धी पुस्तकें निकल रही हैं वे भी इस क्षेत्र में उल्लेखयोग्य कार्य कर रही हैं। बाबू हनुमान प्रसाद पोद्दार का उत्साह प्रशंसनीय ही नहीं, प्रशंसनीयतम है। वे स्वयं धार्मिक ग्रंथ लिखते हैं और अन्य योग्य पुरुषों से धर्म्म ग्रंथ लिखा कर उनका प्रचार करने में दत्त-चित्त हैं। पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी का अनुराग भी इधर पाया जाता है। उन्होंने 'धर्म-शिक्षा' नामक एक पुस्तक और कुछ नीति-ग्रंथ भी लिखे हैं। उनके ग्रंथ अच्छे हैं और सामयिक दृष्टि से उपयोगी हैं। उनका प्रचार भी हो रहा है। आर्य्य समाज द्वारा भी कतिपय धर्म्म सम्बन्धी उत्तमोत्तम ग्रंथ निकले हैं।

(७)

विज्ञान।

साहित्य का एक विशेष अंग विज्ञान भी है। वाह्य जगत् के तत्व की अनेक बातों का सम्बन्ध विज्ञान से है। इस विषय के ग्रंथ अंग्रेज़ी भाषा में उत्तम से उत्तम मौजूद हैं परन्तु हिन्दी भाषा में अबतक उनकी न्यूनता है। डाक्टर त्रिलोकी नाथ वर्मा ने विज्ञान पर एक सुन्दर ग्रंथ दो भागों में लिखा है, उसका नाम है 'हमारे शरीर की रचना'। इस ग्रंथ पर उनको साहित्य-सम्मेलन से १२००) का पुरस्कार मिला है। इससे इस ग्रंथ का महत्व समझ में आता है। वास्तव में हिन्दी-संसार में विज्ञान का यह पहला ग्रंथ है, जो बड़ी योग्यता से लिखा गया है। प्रयाग में विज्ञान परि-

षत् नामक एक सँस्था है। उसके उद्योग से भी विज्ञान के कुछ ग्रन्थ निकले हैं। उस संस्था से 'विज्ञान' नामक एक मासिक पत्र भी निकलता है। पहले इसका सम्पादन प्रसिद्ध विद्वान् बाबू रामदास गौड़ एम० ए० करते थे अब प्रोफेसर ब्रजराज एम० ए०, बाबू सत्यप्रकाश एम० एस० सी० के सहयोग से कर रहे हैं। पत्र का सम्पादन पहिले ही से अच्छा होता आया है, यही एक ऐसा पत्र है, जिसके आधार से हिन्दी-संसार में विज्ञान की चर्चा कुछ हो रही है। डाक्टर मंगल देव शास्त्री एम० ए० और नलिनी मोहन सान्याल एम० ए० ने भाषा विज्ञान पर जो ग्रंथ लिखे हैं वे बड़े सुन्दर हैं और ज्ञातव्य विषयों से पूर्ण हैं। उनके द्वारा हिन्दी भाण्डार गौरवित हुआ है। हाल में एक ग्रंथ बाबू गोरख प्रसाद एम० ए० ने सौर परिवार नामक लिखा है, यह ग्रंथ बड़ा ही उत्तम और उपयोगी है, उसको लिख कर ग्रंथ-कार ने एक बड़ी न्यूनता की पूर्ति की है॥

(८)

दर्शन

भारत का दर्शन शास्त्र प्रसिद्ध है। वैदिक धर्म के षड् दर्शन को कौन नहीं जानता ? उसकी महत्ता विश्व-विदित है। बौद्ध दर्शन भी प्रशंसनीय है। स्वामी शंकराचार्य्य के दार्शनिक ग्रंथ इतने अपूर्व हैं, कि उन्हें विश्वविभूति कह सकते हैं, संसार में अब तक इतना बड़ा दार्शनिक उत्पन्न नहीं हुआ। श्री हर्ष का 'खण्डन खण्ड खाद्य' भी संस्कृत भाषा का अलौकिक रत्न है। परन्तु हिन्दी भाषा में अब तक कोई ऐसा उत्तम दर्शन ग्रंथ नहीं लिखा गया था जो विशेष प्रशंसा प्राप्त हो। केवल एक ग्रंथ साहित्याचार्य्य पंडित रामावतार शर्म्मा ने दर्शन का लिखा है, जिसे नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस ने छापा है। इस ग्रंथ का नाम 'योरोपीय दर्शन' है। पंडित जी बड़े प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन्हों ने संस्कृत में भी कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं, परमार्थ दर्शन आदि। जैसे वे संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे वैसा ही उनका अंगरेजी का ज्ञान भी बड़ा विस्तृत था। वे एम० ए० थे, किन्तु उनकी योग्यता उससे कहीं अधिक थी। इस लिये

उनका बनाया हुआ। 'योरोपीय दर्शन' नामक ग्रंथ पांडित्यपूर्ण है। लाला कन्नोमल एम० ए० ने भी 'गीता दर्शन' नाम का एक अच्छा ग्रंथ लिखा है। यह ग्रंथ हिन्दी संसार में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने संस्कृत के दर्शनों पर एक अच्छा दर्शन ग्रंथ लिखा है। यह ग्रंथ भी सुन्दर और उपयोगी है। हाल में श्रीयुत गंगाप्रसाद उपाध्याय ने एक सुन्दर दर्शन-ग्रंथ लिखा है। उसका नाम है 'आस्तिकवाद'। ग्रन्थ बड़ी योग्यता से लिखा गया है और उसमें लेखक ने अपने पांडित्य का अच्छा प्रदर्शन किया है। किन्तु उस ग्रंथ के मीमांसित विषय अत्यन्त वाद-ग्रस्त हैं। इस लिये उसके विषय में अनेक विद्वानों के विचार तर्क पूर्ण हैं। उस ग्रंथ पर थोड़े दिन हुये कि ग्रन्थकार को हिन्दी साहित्य सम्मेलन से १२००) पुरस्कार प्राप्त हुआ है जो ग्रंथ की महत्ता को प्रकट करता है। बाबू वासुदेव शरण अग्रवाल एम० ए० दार्शनिक लेखों के लिखने में आज कल प्रसिद्धि प्राप्त कर रहे हैं। उनके लेख होते भी हैं बड़े प्रभावशाली और गम्भीर। वे बड़े चिन्ताशील पुरुष हैं। परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूं उन्हों ने अब तक कोई ग्रंथ नहीं लिखा॥

(६)

हास्य-रस

हास्यरस साहित्य के लिये ऐसा ही उपयोगी और प्रफुल्लकर है जैसा गगन-तल के लिये आलोक माला और धरातल के लिये कुसुमावली। विद्वानों का कथन है कि हास मूर्तिमन्त हृदय विकास है। वह मनो मोहक तो है स्वास्थ्य वर्द्धक भी है। हृदय के कई विकार हास्यरस से दूर हो जाते हैं, मनका मेल तक उससे धुल जाता है। जी की कसर की दवा और हृदय को हर लेने की कला हँसी है। यह भी कहा जाता है कि रोग की जड़ खाँसी और झगड़े की जड़ हाँसी। और यह भी सुना जाता है कि अनेक सुधारों का आधार परिहास है। किंतु देखा जाता है कि हास्यरस के लेखक प्रत्येक भाषा के साहित्यों में थोड़े होते हैं। कारण यह है कि हास्यरस पर लेखनी चलाने की योग्यता थोड़े ही लोगों में होती

है। हास्य—सम्बन्धी लेख प्रायः अश्लील हो जाते हैं। इसका परिणाम सुफल न होकर कुफल होता है। हास्यरस में तरलता है, गंभीरता नहीं। अतएव गंभीर लेखक उसको ओर प्रवृत्त नहीं होते। हँसी के लेखों में प्रायः व्यंग से काम लिया जाता है। यह व्यंग मर्य्यादाशीलता का बांधक है, झगड़े का घर भी। इससे भी लोग उससे बचते हैं। परन्तु जीवन में हास्यरस की भी बड़ी आवश्यकता है। इस लिये उसका त्याग नहीं हो सकता। सभाओं में देखा जाता है कि जिस व्याख्यान दाता में हँसाने की शक्ति नहीं होती वह जनता पर जैसा चाहिये वैसा अधिकार नहीं कर सकता। जो लोग अपने व्याख्यानों में समय समय पर लोगों को हँसाते रहते हैं, अधिकतर सफलता उन्हीं को मिलती है। हास्यरस के ग्रंथ आनन्द के साधन होते हैं। इस लिये ऐसे ग्रंथों की आवश्यकता भी साहित्य के लिये होती है। समाज के कदाचारों और अंधविश्वासों पर मीठी चुटकी लेने और उन पर व्यंगपूर्ण कटाक्ष करने के लिये हास्यरस के ग्रंथ ही विशेष उपयोगी होते हैं यदि अश्लीलता न आने पावे और उनमें ईर्ष्या द्वेष का रंग न हो। पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी इस कला में कुशल हैं, हिन्दी संसार उनको हास्यरसावतार कहता है। उनका कोई ग्रंथ हास्यरस का नहीं है—परन्तु जितने लेख उन्होंने लिखे हैं, और जो ग्रंथ बनाये हैं उन सबों में हास्यरस का पुट मौजूद है। आप सहृदय कवि भी हैं, आपकी कविताओं में भी हास्यरस का रंग रहता है। आप जिस सभा में उपस्थित होते हैं, उसमें ठहाका लगता ही रहता है, बात बात में हँसाना आपके बायें हाथ का खेल है॥

हिन्दी संसार में हास्य रस-सम्बन्धी रचना करने के लिये जी० पी० श्रीवास्तव अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके रचित नाटकों में हास्यरस की पर्य्याप्त मात्रा होती है। बाबू अन्नपूर्णानन्द ने हास्यरस के दो ग्रंथ लिखे हैं, जिनमें से एक का नाम है 'मगन रहु चोला'। ये दोनों भी हास्यरस के उत्तम ग्रंथ हैं। उनके पढ़ने में जी लगता है और उनसे आनन्द भी मिलता है। ग्रंथ अच्छे ढंग से लिखे गये हैं और उपयोगी हैं। यदि ये ग्रंथ अधिक संयत होते तो बहुत अच्छे होते। पं० शिवरत्न शुक्ल ने भी 'परिहास-प्रमोद'

नामक हास्यरस की एक अच्छी पुस्तक लिखी है। उसमें भी हँसी की मात्रा यथेष्ट है। उन्हों ने कटाक्ष और व्यंग से अधिकतर काम लिया है, जिससे उनको अपने उद्देश्य में अच्छी सफलता मिली है। पंडित ईश्वरी प्रसाद शर्म्मा बड़े प्रसिद्ध हास्य रस के लेखक थे। उन्हों ने इस विषय में कई ग्रंथों की रचना की है। उन्हों ने अनेक बँगला और अंगरेज़ीके उपन्यासों का अनुवाद किया है और कुछ नीति-ग्रंथ भी लिखे हैं। वे बहुत अच्छे पत्र-सम्पादक भी थे। उन्हों ने बहुत काल तक स्वयं अपना 'हिन्दी मनोरंजन' नामक मासिक पत्र निकाला। वे चिरकाल तक हिन्दू-पंच के भी सम्पादक रहे। उनके समय में यह पत्र इतना समुन्नत हुआ कि फिर उसको वैसा सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। वे बहुत अच्छे समालोचक भी थे।

(१०)

भ्रमण-वृत्तान्त।

'चातुर्य्य मूलानि भवन्ति पञ्च' में देशाटन भी है। वास्तव में सांसारिक अनेक अनुभव ऐसे हैं जो बिना देशाटन किये प्राप्त नहीं होते। इसीलिये भ्रमण-वृत्तान्तों के लिखने की प्रणाली है। अनेक देशों की सैर घर बैठे करना भ्रमण-वृत्तान्तों के आधार से होता है, उनके पढ़ने से भ्रमणकर्त्ता के अनेक अर्जित ज्ञानों का अनुभव भी होता है। इसलिये साहित्य का एक अंग वह भी है। मासिकपत्रों में प्रायः इस प्रकार के भ्रमण-वृत्तान्त निकला करते हैं। उनसे कितना मनोरंजन होता है, यह अविदित नहीं। ज्ञानवृद्धि में भी उनसे बहुत कुछ सहायता प्राप्त होती है। हिन्दी में, जहाँ तक मुझको ज्ञात है, इस विषय के दो बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं। एक बाबू सत्य-नारायण सिंह का लिखा हुआ तीर्थयात्रा नामक ग्रंथ जो कई खंडों में लिखा गया है। इस ग्रंथ में भारतवर्ष के समस्त तीर्थों का सुन्दर और विशद वर्णन है, यात्रा-सम्बन्धी अनेक बातें भी उसमें अभिज्ञता के लिये लिखी गयी हैं। ग्रंथ की भाषा अच्छी और बोधगम्य है। कहीं कहीं प्राकृत विषयों का चित्रण भी सुन्दर है। दूसरी पुस्तक बाबू शिवप्रसाद गुप्त की लिखी हुई है। उसका नाम पृथ्वी परिक्रमा है। यह पुस्तक भाषा,

भाव, और विचार तीनों दृष्टियों से बड़ी उपयोगी है। उसमें योरोप के स्थानों एवं जापान इत्यादिक के कहीं कहीं बड़े मार्मिक वर्णन हैं, जिनके पढ़ने से देशानुराग हृदय में जाग्रत् होता है और जातीयताका महत्व समझ में आता है। इसमें अनेक स्थानों के बड़े मनोहर चित्र हैं जो बहुत आकर्षक हैं। ग्रंथ संग्रहणीय और पठनीय है। इसी सिलसिले में मैं पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए० रचित कतिपय भूगोल-सम्बन्धी ग्रंथोंकी चर्चा भी कर देना चाहता हूं। यद्यपि यह पृथक विषय है, परन्तु भ्रमण का सम्बन्ध भी भूगोल से ही है। इसलिये यहीं उनको पुस्तकों के विषय में कुछ लिखना आवश्यक जान पड़ता है। पंडितजी ने भूगोल-सम्बन्धी दो तीन पुस्तकें लिखी हैं जो अपनी विषय-नवीनता के कारण आदरणीय हैं। उन्हों ने इन ग्रंथों को खोज और परिश्रम से लिखा है। इसलिये वे अवलोकनीय हैं। उनमें मनोरंजन को सामग्री तो है ही, कतिपय देश-सम्बन्धी आनुषंगिक ज्ञान-वर्द्धन के साधन भी हैं।

(११)

अर्थ-शास्त्र।

'अर्थस्य पुरुषो दासो' प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य है। वास्तव में पुरुष अर्थ का दास है। 'सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' और 'धनात् धर्म्मं ततः सुखम्' आदि वाक्य भी अर्थ की महत्ता प्रगट करते हैं। सांसारिक चार महान् पदार्थों में अर्थ का प्रधान स्थान है। ऐसी अवस्था में यह प्रगट है कि साहित्य में अर्थ-शास्त्र का महत्व क्या है। हमारा प्राचीन संस्कृत का कौटिलीय अर्थ-शास्त्र प्रसिद्ध है। अंगरेज़ी भाषा में इस विषय के अनेक बड़े सुन्दर ग्रंथ हैं। हिन्दी भाषा में पूर्ण योग्यता से लिखे गये वैसे सुन्दर ग्रंथों का अभाव है। फिर भी वर्त्तमानकाल में कुछ ग्रंथों को रचना हुई है। सबसे पहले पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अर्थशास्त्र पर 'सम्पत्ति-शास्त्र' नामक एक ग्रंथ लिखा। इसके बाद श्रीयुत प्राणनाथ विद्यालंकार, पं० दयाशंकर दूबे एम० ए० और श्रीयुत् भगवानदास केला ने भी अर्थशास्त्र पर लेखनी चलायी। इनमें सबसे उत्तम ग्रन्थ प्राणनाथ विद्यालंकार का है।

अन्य ग्रन्थ भी उपयोगी हैं और उस न्यूनता की पूर्त्ति करते हैं जो चिर-काल से हिन्दी साहित्य में चली आती थी। यहीं पर मुझको पंडित राधाकृष्ण झा एम० ए० की स्मृति होती है। आप अर्थशास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। दुःख है कि अकाल काल-कवलित हुए। हिन्दी संसार को उनसे बड़ी बड़ी आशाएं थीं। उनके बनाये हुए 'प्राचीन-शासन-पद्धति', 'भारत की साम्पत्तिक अवस्था' आदि ग्रंथ अपने विषय के अनूठे ग्रंथ हैं, वरन हिन्दी-भाण्डार के रत्न हैं। इनके अतिरिक्त श्रीयुत सुख-संपतिराय भांडारी का नाम भी उल्लेख-योग्य है। इन्हों ने भी अर्थशास्त्र के कुछ ग्रंथों की रचना की है।

(१२)

समालोचना सम्बन्धी ग्रंथ।

साहित्य के लिये समालोचना की बहुत बड़ी आवश्यकता है। समालोचक योग्य मालाकार समान है, जो वाटिका के कुसुमित पल्लवित पौधों, लता-बेलियों, यहां तक कि रविश पर की हरी-भरी घासों को भी काट छाँट कर ठीक करता रहता है, और उनको यथारीति पनपने का अवसर देता है। समालोचक का काम बड़े उत्तरदायित्व का है। उसको सत्य-प्रिय होना चाहिये, उसका सिद्धान्त 'शत्रोरपि गुणावाच्या दोषावाच्या गुरोरपि' होता है। प्रतिहिंसा-परायण की समालोचना समालोचना नहीं है। जो समालोचना शुद्ध हृदय से साहित्य को निर्दोष रखने और बनाने के लिये की जाती है वही आदरणीय और साहित्य के लिये उपयोगिनी होती है। समालोचक की तुला ऐसी होनी चाहिये जो ठीक ठीक तौले। तुला के पलड़े को अपनी इच्छानुसार नीचा ऊँचा न बनावे यदि वास्तविक समालोचना पूत-सलिला सुरसरी है तो प्रतिहिंसा-वृत्ति मयी आलोचना कर्मनाशा। वह यदि सब प्रकार की मालिनताओं को दूर भगाती है तो यह किये हुये कर्म्म का भी नाश कर देती है। हिन्दी संसार में आज कल समालोचनाओं की धूम है। परन्तु उक्त कसौटी के अनुसार आलोचना का कार्य्य करने वाले दो चार सज्जन ही हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जितनी समालोचनायें

की जाती हैं वे पक्षपातपूर्ण होती हैं या उनमें ईर्ष्या-द्वेषमय उद्गार ही होता है। पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं की चर्चा मैं पहले कर चुका हूं। उनसे जो लाभ हिन्दीसंसार के गद्य पद्य साहित्य को प्राप्त हुआ उसकी चर्चा भी हो चुकी है। बाबू बाल मुकुंद गुप्त भी एक अच्छे समालोचक थे। वर्त्तमान लोगों में पंडित पद्मसिंह शर्मा अच्छे समालोचक माने जाते हैं। उनकी समालोचनाएं खरी होती हैं, इस लिये सर्व प्रिय नहीं बनतीं। कुछ लोग नाक भौं चढ़ाते ही रहते हैं। फिर भी यह कहा जासकता है कि उनकी समालोचना अधिकतर उचित और वास्तवता-मूलक होती है। पं० कृष्ण विहारी मिश्र बी०ए०, एल० एल० बी० पं० अवध उपाध्याय, डाक्टर हेम चन्द्र जोशी, बाबू पदुम लाल बखशी बी० ए० तथा पं० रामकृष्ण शुक्ल एम०ए० गम्भीर समालोचक हैं और समालोचना का जो उद्देश्य है उस पर दृष्टि रख कर अपनी लेखनी का सञ्चालन करते हैं। मैं यह जानता हूं कि इनका विरोध करने वाले लोग भी हैं, क्योंकि समालोचना कर्म्म ऐसा है कि वह किसी को निष्कलंक नहीं रखता। फिर भी इस कथन में वास्तवता है कि इन लोगों की समालोचनायें अधिकतर संयत और तुली हुई होती हैं। ये लोग भी मनुष्य हैं, हृदय इन लोगों के पास भी है, भावों का आघात-प्रतिघात इन लोगों के अन्तः करण में भी होता है। इस लिये सम्भव है कि उनके उद्गार कभी कुछ कटु हो जावें। परन्तु मेरा बिचार यह है कि ये लोग सचेष्ट हो कर ऐसा करने की प्रवृत्ति नहीं रखते। साहित्याचार्य्य पं० शालग्राम शास्त्री भी अच्छे समालोचक हैं। उनकी समालोचना पांडित्यपूर्ण होती है। परन्तु उनकी दृष्टि व्यापक है। वेसंस्कृत के विद्वान् हैं और उनकी कसौटी संस्कृत की प्रणाली का रूपान्तर है। इस लिये उनका कसना भी साधारण नहीं, और उनकी तुला पर तुल कर ठीक उतर जाना भी सुगम नहीं। परन्तु वे आलोचना करते हैं बड़ी योग्यता से। पंडित किशोरीदास वाजपेयी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, और बाबू कृष्णानंद गुप्त भी कभी २ आलोचना क्षेत्र में आते हैं और अपनी सम्मति निर्भीकता से प्रगट करते हैं। यह भी समालोचना का एक गुण है, चाहे वह कुछ लोगों को अप्रिय भले ही हो। समालोचना-ग्रंथों में पं० पद्मसिंह

शर्म्मा का बनाया (सतसई समालोचना) अधिक प्रसिद्ध है, इस ग्रंथ के लिये उनको साहित्य सम्मेलन द्वारा १२००) रुपये का पुरस्कार भी मिला था। पं० कृष्ण विहारी मिश्र का बनाया (देव और बिहारी, नामक ग्रंथ भी उल्लेखनीय है। पं० राम कृष्ण शुक्ल और बाबू कृष्णानन्द गुप्त के समालोचना ग्रंथ भी अच्छे और उपयोगी हैं। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के (काली दास की निरंकुशता) आदि ग्रंथ भी अवलोकनीय हैं॥

(१३)

उन्नति सम्बन्धी उद्योग।

हिन्दी भाषा विकसित हो कर वर्त्तमान काल में जितना अग्रसर हुई है वह हिन्दी संसार के लिये गर्व की वस्तु है। परन्तु साहित्य के अनेक विभाग ऐसे हैं. जिनमें अब तक एक ग्रंथ भी हिन्दी में नहीं लिखागया। विद्या-सम्बन्धी अनेक क्षेत्र ऐसे हैं, जिनकी ओर हिन्दी साहित्य-सेवियों की दृष्टि अभीतक नहीं गयी। उर्दू भाषा की न्यूनताओं की पूर्ति के लिये भारतीय मुस्लिम सम्प्रदाय बहुत बड़ा उद्योग कर रहा है। जब से हैदराबाद में उर्दू यूनिवर्सिटी स्थापित हुई है उस समय से निज़ाम सरकार ने उसको अधिकतर समुन्नत बनाया है। उन्होंने विद्या-सम्बन्धी समस्त विभागों पर दृष्टिरख कर उर्दू भाषा में उनसे सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथों की पर्याप्त रचना कराई है। परन्तु ऐसा सुयोग अब तक हिन्दी भाषा को नहीं प्राप्त हुआ इस लिये उसकी न्यूनताओं की पूर्ति भी यथार्थ रीतिसे नहीं हो रही है। उसको राष्ट्रीयता का पद प्राप्त हो गया है। इसलिये आशा है. उसकी न्यूनता की पूर्ति के लिये हिन्दीसंसार कटिबद्ध होगा और वह उन्नति करने में किसी भाषा से पीछे न रहेगी। मैं कुछ उन उद्योगों की चर्चा भी इस स्थान पर कर देना चाहता हूं जो उसकी समुन्नति के लिये आज कल भारतवर्ष में हो रहे हैं॥

(१४)

अनुवादित प्रकरण

अनुवाद भी साहित्य का विशेष अंग है। आज कल यह कार्य्य भी हिन्दी संसार में बड़ी तत्परता से हो रहा है। प्रत्येक भाषा के उत्तमोत्तम

ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत कर देने के लिये, अनेक कृतविद्यों की दृष्टि आकर्षित है। इस विषय में उल्लेख योग्य कार्य्य पं० रूप नारायण पाण्डेय और बाबू रामचन्द्र वर्म्मा का है। इन दोनों हिन्दी प्रेमियों का विशिष्ट कार्य्य है. इन लोगों ने अनेक ग्रंथ रत्नों का अनुवाद हिन्दी भाषा भाण्डार को अर्पण किया है। आजतक इन सज्जनों का उद्योग शिथिल नहीं हैं। वे पूर्ण उत्साह के साथ अब भी अपने कर्त्तव्य पालन में रत हैं। पण्डित रूप नारायण ने अधिकतर अनुवाद उपन्यासों ही का किया है। परन्तु वर्म्मा जी का अनुवाद सब प्रकार की पुस्तकों का है, उन्होंने इस विषयमें विशेष ख्याति प्राप्त की है। पंडितजी की अन्य विशेषताओं का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूं।

बाल-साहित्य।

बाल-साहित्य भी साहित्य का प्रधान अंग है। हर्ष है कि इधर भी कुछ सहृदयों की दृष्टि गयी है। 'बाल सखा' वानर, 'बालक, 'खिलौना' आदि मासिक पत्र इसके प्रमाण हैं। बाल-साहित्य सम्बन्धी रचनाएं भी अब अधिक होने लगी हैं। कुछ पुस्तकें भी निकली हैं। पं० सुदर्शनाचार्य्य बी० ए०, बाबू श्रीनाथ सिंह, बाबू रामलोचन शरण, श्री रामवृक्ष शर्म्मा बेनी पुरी आदि ने बाल-साहित्य पर सुन्दर रचनायें की हैं जो इस योग्य हैं कि आदर की दृष्टि से देखी जायें। इन लोगों की कुछ रचनाएं पुस्तकाकार भी मुद्रित हुई हैं। पं० रामलोचन झा एम० ए० की रचनाएं भी इस विषय में प्रशंसनीय हैं। इन्होंने पाँच किताबें लिखी हैं जो बिहार प्रान्त में आदर के साथ गृहीत हुई हैं।

[१]

संघटित संस्थायें

यों तो पंजाब, युक्त प्रान्त, बिहार एवं मध्य प्रदेश में हिन्दी की समुन्नति के लिये बहुत सी संस्थायें काम कर रही हैं, परन्तु विशेष उल्लेख-योग्य तीन संस्थायें ही हैं—[१] नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस; [२] हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, [३] हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद।

१—नागरी प्रचारिणी सभाने हिन्दी भाषा की समुन्नति के लिये अपने जीवन काल में बहुत बड़ा उद्योग किया, अपने उद्योग में उसको अच्छी सफलता भी मिलती आयी है। विशाल हिन्दी कोश का प्रस्तुत करना, हिन्दी के प्राचीन अनेक ग्रंथों की खोज कराना, मनोरंजन ग्रंथ माला की पुस्तकें निकालना, हिन्दी भाषा के प्रचार के लिये बड़े प्रयत्न करना, राजभवन सा प्रकाण्ड नागरी-प्रचारिणी सभा-भवन बनाना, सर्व्वांग पूर्ण हिन्दी व्याकरण की रचना कराना और एक अच्छा वैज्ञानिक कोश तैयार करा लेना उसके उल्लेखनीय कार्य्य हैं। आज भी वह शिथिल प्रयत्न नहीं है और हिन्दी भाषा के उत्कर्षसाधन में पूर्ववत् दत्तचित्त है। भारतवर्ष के और हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों के अनेक विद्वान् और प्रभावशाली पुरुष आज भी उसके सहायक और संरक्षक हैं। युक्तप्रान्त की गवर्नमेण्ट की भी उस पर सुदृष्टि है। पाश्चात्य अनेक विद्वान् उसके हितैषी हैं। ये बातें उसके महत्व की सूचक हैं। उसके सञ्चालक गण यदि इसी प्रकार बद्ध-परिकर रहे तो आशा है उसका भविष्य और अधिक उज्ज्वल होगा और वह हिन्दी देवी की समुन्नति के और भी बड़े बड़े कार्य्य कर सकेगी॥

२ दूसरी प्रसिद्ध संस्था हिन्दी साहित्य सम्मेलन है, जिसका केन्द्र स्थान प्रयाग है। इसने भी हिन्दी भाषा के उन्नयन के बहुत बड़े बड़े कार्य्य किये हैं। इसके द्वारा मद्रास प्रान्त और आसाम जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में हिन्दी-प्रचार का पूर्ण उद्योग हो रहा है। उसने प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा परीक्षाओं का आविर्भाव कर के लगभग भारत के सभी प्रान्तों में हिन्दी के प्रेमी और विद्वान् उत्पन्न कर दिये हैं, जिनकी संख्या सहस्रों से अधिक है। उसने विदुषी स्त्रियां भी उत्पन्न की हैं, जो अंगुलि-निर्देश-योग्य कार्य्य हैं। अनेक हिन्दू राज्यों में हिन्दी भाषा को राज्य-कार्य्य की भाषा बनाना और अनेक राजाओं और महाराजाओं को हिन्दी भाषा के प्रति उनके कर्त्तव्य का ध्यान दिलाना भी उसका बहुत बड़ा कार्य्य है। उसका पुस्तक प्रकाशन-विभाग भी चल निकला है। वर्ष के भीतर निकले हिन्दी के सर्वोत्तम ग्रंथ के लेखक को मंगला प्रसाद पारितोषिक दे कर

एक प्रभावशाली आदर्श उपस्थित करना उसका बड़ा उत्साह-बर्द्धक कार्य है। उसने एक विद्यापीठ की स्थापना भी की है। आशा है, उसका भविष्य भी उज्ज्वल होगा। इधर उसमें कुछ शिथिलता आ गयी है किन्तु विश्वास है कि श्रीयुत पं० रमाकान्त मालवीय बी० ए० एल० एल० बी० के प्रधान मंत्रित्व में और श्रीयुत बाबू पुरुषोत्तम दासटंडन एम० ए० एल० एल० बी० के अधिक सतर्क और सावधान हो जाने से यह शिथिलता दूर होगी और फिर पूर्ववत् वह अपने कार्य्यों में तत्पर हो जावेगा॥

३—तीसरी संस्था हिन्दुस्तानी एकेडेमी है। इसकी स्थापना युक्त प्रान्त की सरकार ने की है। इसमें युक्त प्रान्त के हिन्दी भाषा और उर्दू के अधिकांश विद्वान् सम्मिलित हैं। सर तेजबहादुर सप्रू और सर मुहम्मद सुलेमान साहब जैसे गौरवशाली पुरुष इसके सभापति और प्रधान पदाधिकारी हैं। इसका कार्य्य-संचालन भी अब तक संतोष जनक रीति से हो रहा है। इस सँस्था से थोड़े दिनों में जैसे उत्तमोत्तम ग्रंथ प्रत्येक विषयों के निकले हैं, उनसे उसकी महत्ता और कार्यकारिणी शक्ति को बहुत बड़ा श्रेय मिलता है। उसने हिन्दी और उर्दू की जो त्रैमासिक पत्रिकायें निकाली हैं, वे भी उसको गौरवित बनाती हैं, और यह विश्वास दिलाती हैं कि इसके द्वारा हिन्दी और उर्दू का भविष्य आशामय होगा और सम्मिलित रूप से उनकी यथेष्ट समुन्नति होगी। इसी स्थान पर मैं एक बहुत ही उपयोगिनी संस्था की चर्चा भी करना चाहता हूं। वह है कलकत्ते की 'एकलिपि-विस्तार-परिषद'। दुःख है कि यह संस्था अब जीवित नहीं है। परन्तु अपने उदय-काल में इसने हिन्दी के भाग्योदय की पूर्व सूचना दी थी। हिन्दी-संसार को इसने ही पहले पहल यह बतलाया कि यदि कोई लिपि भारत-व्यापिनी हो सकती है तो वह नागरी लिपि है। इस परिषद् के संस्थापक जस्टिस शारदाचरण मित्र थे, जो अपने समय के बड़े प्रसिद्ध पुरुष थे। इनके सहकारी थे पंडित उमापतिदत्त शर्म्मा और बाबू यशोदा नन्दन अखौरी। इस परिषद से 'देवनागर' नामक एक बहुभाषी पत्र निकलता था जो नागरी लिपि में मुद्रित होता था। यह बड़ा ही प्रभावशाली और सुन्दर पत्र था। इसका सम्पादन उक्त बाबू यशोदानं-

दन अखौरी करते थे। जब तक यह पत्र चला, इसने हिन्दी की बड़ी सेवा की।

आरा नागरी प्रचारिणी सभा जैसी छोटी मोटी और अनेक संस्थायें हिन्दी भाषा की उन्नति के लिये उद्योग कर रही हैं और उसका प्रचार दिन दिन बढ़ा रही हैं, जिसके लिये वे अभिनन्दनीय और धन्यवाद योग्य हैं। उन सबका वर्णन करने के लिये यहाँ स्थान नहीं है, अतएव मैं उन सबका उल्लेख न कर सका, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि मैं उन्हें उपयोगी नहीं समझता अथवा उपेक्षा की दृष्टि से देखता हूं।

२—कतिपय प्रसिद्ध प्रेस

संस्थाओं के अतिरिक्त कुछ प्रसिद्ध प्रेस अथवा मुद्रण यन्त्रालय ऐसे हैं जिनसे हिन्दी भाषा की समुन्नति और विस्तार में बहुत बड़ी सहायता मिली है। मैं उनकी चर्चा भी कर देना यहां आवश्यक समझता हूं। युक्त प्रान्त में दो बहुत बड़े प्रेस ऐसे हैं जिन्होंने हिन्दी पुस्तकों का प्रकाशन प्रकाण्ड रूप में कर के अच्छी कीर्ति अर्जन की है और स्वयं लाभवान हो कर उसे भी विशेष लाभ पहुँचाया है। पहला है लखनऊ का नवल किशोर प्रेस। इसने प्राचीन नवीन अनेक हिन्दी-ग्रंथों को प्रकाशित और प्रचारित कर उसको विशेष ख्याति प्रदान की है। मैं यह स्वीकार करूँगा कि उसका मुद्रण-कार्य अधिक संतोष जनक नहीं है, फिर भी यह कहने के लिये बाध्य हूँ कि उसने सब प्रकार के ग्रन्थों के प्रकाशन में अच्छी सफलता लाभ की है। अब उसकी दृष्टि मुद्रण की ओर भी गयी है। आशा है, उसका मुद्रण-कार्य भी भविष्य में यथेष्ट उन्नति लाभ करेगा। इस प्रेस से आज कल 'माधुरी' नामक एक सुन्दर मासिक पत्रिका निकल रही है। पहले इसका सम्पादन पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए० एल० एल० बी० और मुंशी धनपति राम बी० ए० करते थे। इस कार्य्य को इस समय सफलता पूर्वक पं० राम सेवक त्रिपाठी कर रहे हैं। वास्तव बात यह है कि इस पत्रिका से इस प्रेस का गौरव है॥

दूसरा सुप्रसिद्ध प्रेस प्रयाग का इण्डियन प्रेस है। हिन्दी भाषा के मुद्रण कार्य्य में इसने युगान्तर उपस्थित कर दिया है। इस प्रेस से अनेक बहुमूल्य हिन्दी पुस्तकें निकलीं और इस समय भी निकल रही हैं। स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष ने बंगाली होकर भी हिन्दी भाषा को जो सेवा की है वह प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है। इस प्रेस से 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका अब तक निकल रही है, जिसका सम्पादन पहले पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी करते थे और अब पं० देवी दत्त शुक्ल सफलता के साथ कर रहे हैं। इस प्रेस का कार्य्य इस समय यद्यपि पहले का सा नहीं है, परन्तु विश्वास है कि वह सावधान होकर फिर पूर्ववत् हिन्दी के समुन्नति-कार्य्य में संलग्न होगा।

तीसरा हिन्दी-उन्नायक बिहार का खड्ग विलास प्रेस है। इस प्रेस की स्थापना स्वर्गीय बाबू रामदीन सिंहने की थी। उन्हीं के समय में इस प्रेसको यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी थी और वह अब तक उनके सुयोग्य पुत्रों राय बहादुर बाबू रामरण विजय सिंह, बाबू सारंगधर सिंह बी० ए० और बाबू रामजी सिंह के सम्मिलित उद्योग से सुरक्षित है। इस प्रेस ने बिहार प्रान्त में हिन्दी भाषा की समुन्नति के लिये जो किया उसकी बहुत कुछ प्रशंसा की जा सकती है। इसने बहुत सी हिन्दीकी उपयोगी पुस्तकें अपने प्रेससे निकालीं और उनके द्वारा बिहार प्रान्त की जनता को बहुत अधिक लाभ पहुंचाया। अन्य प्रान्तोंमें भी उनकी पुस्तकों का आदर हुआ है और यह उनलोगों के सफल उद्योग का परिणाम है। बाबू हरिश्चन्द्र और पं० प्रताप नारायण मिश्र जैसे प्रसिद्ध और उद्भट हिन्दी साहित्य सेवियों की कुल पुस्तकों का स्वत्व इस प्रेसही को प्राप्त है और इसने इनके प्रचारका भी उद्योग किया है। बाबू रामदीन सिंहजी के जीवन में जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के धुरन्धर विद्वान् इस प्रेस की ओर आकर्षित थे। उसी प्रकार अब भी वर्त्तमान कालके अनेक विद्वानों की सुदृष्टि इस पर है, जिससे यह पूर्ववत् उन्नत दशा में रह कर अपने व्रतपालन में संलग्न है। हिन्दी और हिन्दू जाति के सच्चे उपासक कतिपय सुन्दर हिन्दी ग्रन्थों के लेखक और प्रचारक बाबू रामदीन सिंह का यह कीर्ति-स्तम्भ है। इसको

अपने इस महत्व का ध्यान है, और इसलिये यह अपने कर्त्तव्य-पालन में आज भी पूर्णरूप से दत्त-चित्त है।

चौथा बम्बई का श्री वेंकटेश्वर प्रेस है। बहुत दूरवर्ती होने पर भी इस प्रेसने भी हिन्दी भाषा की बहुत बड़ी सेवा की है। धर्म-सम्बन्धी हिन्दी ग्रन्थों के प्रकाशन में इसने जो अनुराग दिखलाया वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसाद और उनके लघुभ्राता पं० बल्देवप्रसाद मिश्र के समस्त बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाशन का श्रेय इसी को प्राप्त है। इन विद्वानों के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के और संस्कृत के अनेक विद्वानों के बहुत से ग्रंथों का प्रकाशन इसने किया है, और आज भी इस कार्य में पूर्ववत् दत्तचित्त है। इसके ग्रन्थों का आदर बम्बई प्रान्त में तो हुआ ही, और प्रान्तों में भी अधिकता से हुआ, जिससे हिन्दी भाषा के विस्तार, प्रचार, उन्नति में बहुत बड़ी सहायता प्राप्त हुई है, इस प्रेससे वेंङ्कटेश्वर समाचार' नामकचिरकालसे एक हिन्दी साप्ताहिक समाचार-पत्र निकलता है, जिसको धर्म-क्षेत्र में आज भी बहुत गौरव प्राप्त है।

इन प्रेसों के अतिरिक्त बंगवासी प्रेस, स्वर्गीय पं० रामजी लाल शर्म्मा द्वारा स्थापित हिन्दी प्रेस, महार्षि-कल्प पं० मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित अभ्युदय प्रेस, कानपुर का प्रताप प्रेस, लखनऊ का गंगा फ़ाइन आर्ट प्रेस, वणिक् प्रेस, वम्मन प्रेस, गीता प्रेस और काशी का ज्ञानमण्डल आदि प्रेस भी उल्लेखनीय हैं, जिनसे आज भी हिन्दी भाषा की बहुत कुछ सेवा हो रही है॥

३—पत्र और पत्रिकायें

किसी भाषा की उन्नति के लिये पत्र—पत्रिकायें अधिकतर उपयोगी हैं। आज कल हिन्दी संसार में जितनी पत्र-पत्रिकायें विभिन्न प्रांतों से निकल रही हैं वे ही इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी भाषा इस समय कितनी समुन्नत, बहुव्याप्त और वृद्धि-प्राप्त है। आज कल हिन्दी भाषा में सातदैनिक पत्र निकल रहे हैं, इनमें से तीन कलकत्ते से, दो युक्त प्रान्त से, एक पंजाब से और एक मध्य प्रदेश से निकलता है। कलकत्ते के पत्रों में 'भारतमित्र' सबसे पुराना दैनिक है। इसका सम्पादन योग्य हाथों

से होता आया है। किन्तु इस समय वह उन्नत दशा में नहीं है। श्रीयुत पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी द्वारा सम्पादित 'स्वतंत्र' और बाबू मूलचन्द अग्रवाल बी० ए० सम्पादित 'विश्वमित्र' यथेष्ट समुन्नत हैं। ये अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं और अधिक संख्या में उनका प्रचार भी है। युक्त प्रान्त का पं० बाबूरावविष्णु पराड़कर सम्पादित 'आज' और पं० रमा-शंकर अवस्थी का 'वर्त्तमान' भी अच्छे दैनिक हैं, और समयानुकूल हिन्दी भाषा और देश की सेवा करने में प्रसिद्ध हैं। पं० द्वारका प्रसाद मिश्र बी० ए० सम्पादित जबलपुर का 'लोकमत' अच्छा दैनिक है। लाहौर का 'मिलाप' भी एक प्रकार से उत्तम है। इन दोनों दैनिकों की यह विशेषता है कि ये ऐसे स्थान से निकल रहे हैं जो हिन्दी भाषा के लिये अब तक उर्वर नहीं सिद्ध हुये। फिर भी वे अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख कर चल रहे हैं, यह हिन्दी भाषा के लिये हृदयों में आशा का संचार करने वाली बात है। काशी का द्विदैनिक पत्र पं० जानकीशरण त्रिपाठीसम्पादित 'सूर्य्य' भी इस योग्य है कि उसका स्मरण किया जावे। वह शान्त भाव से अपने पथ पर अग्रसर हो रहा है और धीर भाव से धर्म और देश दोनों की सेवा कर रहा है। लीडर प्रेस का 'भारत' ही हिन्दी संसार का एक अर्द्ध साप्ताहिक पत्र है। इसका सम्पादन पं० नन्ददुलारे बाजपेयी एम० ए० करते हैं। ये प्रतिभावान और चिन्ताशील लेखक हैं। इन्होंने थोड़े दिनों से पत्र सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया है, फिर भी यह कार्य्य वे सफलता के साथ कर रहे हैं। साप्ताहिक पत्रों में विशेष प्रसिद्ध 'अभ्युदय', 'प्रताप', 'बंगवासी', 'तरुण राजस्थान', 'देश', 'आर्य्य मित्र', 'सैनिक' कर्म-वीर, आदि हैं। उन सबका सम्पादन भी योग्यता से हो रहा है और ये सब सामयिक विचारों के प्रचार और हिन्दी भाषा के विस्तार में विशेष उद्योगवान हैं। काशी से हाल में 'जागरण' नाम का एक पाक्षिक पत्र बाबू शिवपूजन सहाय के सम्पादकत्व में निकला है। बाबू शिवपूजन सहाय अनुभवी और सम्पादन कार्य्य में पटु हैं। इन्होंने दो तीन सुन्दर उपन्यास भी लिखे हैं जो भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से उत्तम हैं। आशा है, कि उनके हाथ से सम्पादित हो कर 'जागरण' हिन्दी संसार में

यथेष्ट प्रतिपत्ति लाभ करेगा। मासिक पत्रों की संख्या बड़ी है। उनमें से प्रसिद्धि-प्राप्त 'सरस्वती', 'माधुरी', 'सुधा', 'विशाल भारत', 'वीणा', 'चाँद', 'कल्याण', 'हंस', 'विज्ञान' आदि हैं जिनका सम्पादन योग्यता पूर्वक होता है। ये हिन्दी संसार में प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी देखे जाते हैं। इनमें सुन्दर से सुन्दर लेख पढ़ने के लिये मिलते हैं और उनमें ऐसी सरस कवितायें भी प्रकाशित होती हैं, जिनमें कवि कर्म्म पाया जाता है। जैसी मासिक पत्रिकाओं के प्रकाशित होने से साहित्य वास्तव में साहित्यिकता प्राप्त करता है, ये पत्रिकायें वैसी ही हैं। इनके अतिरिक्त स्त्रियों के लिये 'आर्य्य महिला', 'सहेली', 'त्रिवेणी' नाम की पत्रिकायें और बच्चों के लिये 'बालसखा', 'खिलौना', 'बानर' और 'बालक' नामक पत्र भी सुन्दरता से निकल रहे हैं एवं आदृत भी हैं। हाल में 'प्रेमा' नामक एक अच्छी पत्रिका भी निकली है। त्रैमासिक पत्रिकाओं में नागरी प्रचारिणी सभा की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' और हिन्दुस्तानी एकेडेमी का 'हिन्दुस्तानी' उल्लेखयोग्य हैं। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' चिरकाल से निकल रही है और अपने गम्भीरतामय लेखोंके लिये प्रसिद्ध है। इसके पुरातत्व सम्बन्धी लेख बड़े मार्के के और उपयोगी होते हैं। इस पत्रिका का सम्पादन बड़ी योग्यता से होता है। 'हिन्दुस्तानी' के लेख भी चुने और ऊँचे दर्जे के होते हैं। सम्पादन की दृष्टि से भी वह अभिनन्दनीय है। यह अभी थोड़े दिनों से निकल रहा है॥

अन्त में मुझको यह कहते कष्ट होता है कि उर्दू भाषा के लिये निज़ाम हैदराबाद जैसा कल्पद्रुम अब तक कोई राजा महाराजा हिन्दी को नहीं मिला। किन्तु मुझको इसका गौरव और गर्व है कि राजा महाराजाओं से भी अधिक प्रभावशाली महर्षि कल्प पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय और महात्मा गांधी उसके लिये उत्सर्गी-कृत-जीवन हैं, जिससे उसका भविष्य अधिक उज्ज्वल है। मुझको विश्वास है कि वह दिन दूर नहीं है जब हमारे राजे महाराजे भी अपना कर्त्तव्य समझेंगे और हिन्दी भाषा के विकास, परिवर्द्धन और प्रचार के सर्वोत्तम साधन सिद्ध होंगे। परमात्मा यह दिन शीघ्र लावे॥

नामों की

अनुक्रमणिका।

का

कि

कु

के

कौ

गो

गौ

गं

घ

घा

च

चि

चु

चौ

चं

छी

ज

दा

दी

दु

दू

दे

द्वा

नं

नृ

प

पा

पी

पु

पृ

प्र

बि

बी

बु

बे

बै

बो

ब्र

रा

ला

लो

व

वा

वि

वृ

श्र

स

सा

सि

सी

सु

सू

से

हृ

त्रि

ज्ञा